

मतादर्श

सामाजिक विज्ञान, मानविकी एवं वाणिज्य की शोध पत्रिका

संपादक

शैलेन्द्र सेंगर

निदेशक, एकेडमी ऑफ एडमिनिस्ट्रेटिव सर्विसेज, दिल्ली

मेखला प्रकाशन

एफ-3/139, सेक्टर-16, रोहिणी
दिल्ली-110089

वर्ष : 7 अंक : 4 □ अक्टूबर-दिसम्बर, 2014

मतादर्श

मतादर्श भारत में समाचार पत्रों के निबंधक (आर.एन.आई.) द्वारा अनुमोदित है।

सलाहकार संपादक

डॉ० गिरीश मिश्र

संपादक

शैलेन्द्र सेंगर

संपादक मंडल

डॉ० आर. एन. कुंअर

डॉ० बामेश्वर सिंह

डॉ० विद्या भूषण श्रीवास्तव

डॉ० रवीन्द्रनाथ राय

डॉ० अमरकान्त सिंह

डॉ० लक्ष्मेश्वर ठाकुर

साज-सज्जा

पंकज झा

संपादकीय सम्पर्क:

448, पॉकेट-5, मयूर विहार, फेज-1,

दिल्ली-110091

फोन : 011-49050844, 22753916, 47541851, 64683387

e-mail : editorialindia@gmail.com

मूल्य : ₹ 1500.00

मुद्रक एवं प्रकाशक अलका सिंह द्वारा एफ-3/139, सेक्टर-16, रोहिणी दिल्ली-110089 से प्रकाशित तथा बी. के. ऑफसेट, नवीन शाहदरा दिल्ली-32 से मुद्रित

नोट: पत्रिका में प्रकाशित लेखकों के विचार अपने हैं। उसके लिए पत्रिका/संपादक/संपादक मंडल को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। पत्रिका से सम्बंधित किसी भी विवाद के निपटारे के लिए न्याय क्षेत्र दिल्ली होगा।

Editorial

The key to harnessing India's demographic dividend is education. Indian higher education currently the third largest in the world, is likely to surpass the US in the next five years and China in the next 15 years to be the largest system of higher education in the world. Indian higher education has a complex structure riddled with many contradictions, still has great possibilities. By 2030, India will be amongst the youngest nations in the world. With nearly 140 million people in the college-going age group, one in every four graduates in the world will be a product of the Indian education system. Higher education in India has recorded impressive growth since Independence. University Grants Commission (UGC), by designing programmes and implementing various schemes through academic, administrative and financial support, has contributed in the growth and development of Indian higher education. In the changing landscape, entrance of private universities is a game changer. Many new institutions of medicine, science, technology and others have been introduced. We have gross enrollment ratio of about 17.9% now, while an ambitious target of 25.2% has been envisaged by the end of 12th Plan. A major concern for India is creation of employable workforce to harness our demographic dividend. According to Industry reports supported by NASSCOM, only 25% of technical graduates and about 15% of other graduates are considered employable by IT/ITES industry. Another survey conducted on 800 MBA students across different cities in India revealed that only 23% of them were considered employable. Hence, there is an immediate need for a holistic and symbiotic association between industry and academia to make employable graduates. There is also an immediate need for moving from 'generic model' of education to a 'learner-centred' model of education. The students should be mentored to make their careers in the areas of their strength and abilities.

Currently, there are lots of issues regarding governance and autonomy of such educational institutions, which create major road blocks in performance and require urgent attention. There are several legal and regulatory hurdles to create quality institutions in India. For example, ISB Hyderabad is the only B-School from India which features in Top-20 in Financial Times list, but it cannot grant a recognized MBA degree due to legal and regulatory constraints. There is an immediate need for transforming governance and leadership in higher education Institutions. Last but not the least, to achieve GER as envisaged in our 12th Plan and harness our demographic dividend, it is important to allow not-for profit institutes to bring large-scale investments from Indian promoters and global educational institutes as has been done in the Healthcare sector. This step can truly transform the Education sector and India can become the knowledge capital of the world.

—Editor

इस अंक में

इतिहास

बिहार में किसानों की स्थिति एवं समस्याएँ: एक ऐतिहासिक मूल्यांकन—अर्चना भारती	7
प्राचीन भारत की सामाजिक संरचना एवं बौद्ध धर्म की उत्पत्ति—डॉ० चन्द्र भूषण मिश्र	12
महर्षि दयानंद और भारतीय राष्ट्रवाद—शुभेश कुमार मिश्र	15
जातीय चेतना के संदर्भ में डॉ० राम मनोहर लोहिया के विचार—डॉ० अलका सहाय	21
उत्तराखण्ड के शिक्षा के विकास में मिशनरियों का योगदान—ध्रुव कुमार	25
चम्पारण में किसान आन्दोलन—शशिबाला	32
बिहार के मुसलमानों का खिलाफत आंदोलन में भूमिका—सुशील कुमार	37
संथाल एवं उनका समाज: ऐतिहासिक आईने में—संजीव कुमार	42
भारतीय संविधान में राष्ट्रपति शासन की पृष्ठभूमि—आशा रानी	45
ब्रिटिश भारत में मजदूर वर्ग का उत्थान एवं मजदूर आंदोलन (1850-1908)—मुकेश कुमार	49

हिन्दी

दलित नारी चिंतन और हिन्दी साहित्य—अखिलेश कुमार सिंह	56
हिन्दी कहानी की विकास यात्रा—विनय कुमार	66
‘चंद्रगुप्त’ में वर्णित प्रसाद की राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना—संजीव शर्मा	70
प्रेमचंद की परम्परा में मधुकर सिंह—डॉ० अशोक कुमार सिन्हा	74
नागार्जुन के उपन्यासों की भाषा-शैली—दर्शना सिंह	81

संस्कृत

संस्कृत साहित्य में ईश्वर की अवधारणा—डॉ० लाल साहब झा	85
रामायण एवं महाभारत में नारी की स्थिति—डॉ० शोभा रानी सहाय	88
स्मृति ग्रंथों में पराशर स्मृति का स्थान एवं महत्व—डॉ० अंजली सहाय	93
अष्टांग योग—डॉ० सुनिल कुमार तिवारी	97
दायभाग में स्त्रीधन स्वरूप—सुचिता यादव	101
श्रीहरिनामामृत व्याकरण का वैशिष्ट्य—चित्रा भारद्वाज	110
भारतीय दर्शन में तर्क का स्वरूप—आशुतोष कुमार	113
पर्यावरणक्षेत्रे संस्कृतम्—डॉ० चिन्मय चट्टोपाध्याय	122

राजनीति विज्ञान

एम. एन. राय एवं वामपंथी चिन्तन—ब्रज भूषण प्रसाद	125
भारतीय राजनीतिक प्रक्रिया में जाति-प्रथा की भूमिका का विश्लेषण —डॉ० विद्या भूषण श्रीवास्तव	135
सम्प्रदायिकता और भारतीय राजनीति—योगेन्द्र सहनी	146
भारत में जमीनी जनतंत्र: पंचायती राज व्यवस्था—चन्दन कुमार	152
आपातकाल के बाद प्रेस की स्वतंत्रता—कुमारी रीना	161
अरस्तू के क्रांति संबंधी विचार—शिव विवेक	164
उत्तर-पूर्वी राज्यों में अलगाववाद भारत-म्यांमार संबंध—डॉ० पप्पु कुमार	168
भारत में लोक सेवायें: साख पर सवाल—मनीष चन्द्र	182

मनोविज्ञान

माता-पिता के शैक्षणिक स्तर का बाल विकास पर प्रभाव—उपेन्द्र कुमार	189
कन्या भ्रूण हत्या का मनोवैज्ञानिक प्रभाव—डॉ० रश्मि सिंह, रजनीश कुमार सिंह	193
भारतीय समाज और महिला उत्पीड़न, शोषण एवं अधिकार (एक मनोवैज्ञानिक अध्ययन)—डॉ० घनश्याम पति त्रिपाठी	196

शिक्षा

भारत में उच्च शिक्षा: चुनौतियाँ एवं समाधान—डॉ० राम प्रवेश सिंह	204

अर्थशास्त्र

आर्थिक मानवाधिकार और विकास—डॉ० कुमारी विद्या	207
महिला आधारित आर्थिक विकास: एक विवेचन—गीता जादोन, डॉ० गगनदेव प्रसाद यादव	216

श्रम एवं समाज कल्याण

बच्चों के शैक्षणिक विकास में सामाजिक-आर्थिक स्थिति का प्रभाव—संजय कुमार गुप्ता	224

गृहविज्ञान

सरकारी विद्यालयों के बच्चों के शैक्षणिक विकास में सामाजिक-आर्थिक स्थिति का प्रभाव (बोकारो शहर के विशेष संदर्भ में)—डॉ० शोभा कुमारी	226

समाज कार्य

विकलांग कल्याण एवं समाज कार्य हस्तक्षेप की संभावनायें—हर्षुल ब्रजेश देशमुख	234

ललितकला

भारतीय संस्कृति और लोक कलाएं—सुरभि मिश्रा	240

दर्शन शास्त्र

बौद्ध और जैन दर्शन का एक समीक्षात्मक अध्ययन—कहकशाँ कौसर	245

HOME SCIENCE

- GMO Food: Nutrition and Safety—*Sushma Kumari* 253
Nutritional Status of Scheduled Castes School Going Boys and Girls in
and around Gaya of Bihar State—*Kumari Soni; Suprita Suman* 257

ENGLISH

- Acceptance of Life: A Recurrent Theme in the Major Novels
of Kamala Markandaya—*Dr. Dinesh Prasad* 261
Effects of Problems in Speaking English language by Students at
Graduate level in India—*Dr. Anupama Singh; Girija Shankar* 265
Teaching English Language in Schools in India-Problems and Remedies
—*Ms. Poonam Chaudhary* 269
Problems Faced by Students at Graduate level Study in Hindi Speaking
States in India through Open & Distance Learning System
—*Dr. Neelam Chaudhary* 275
The Sea in Nineteenth-Century English and American Literature
—*Dr. Anupama Sahay* 279

PSYCHOLOGY

- Convergent and Divergent Thinking—*Rajnish Kumar Sinha* 283
“Suicidal Feelings in Human beings”—*Mahendra Kumar Ravi* 286

ECONOMICS

- Corporate Social Responsibility: In Indian Commercial Banks
—*Kumar Sudhanshu* 290
Economic Development and Loss of Biodiversity—*Dr. Sabita Kumari* 296

COMMERCE

- E-Commerce: A Systematic Approach—*Mohammed Rubani* 301
The Internet Intermediary: Gateway to Internet Commerce Opportunities
—*Neha Chadha* 306

EDUCATION

- Instructional Technology and Design—*Ram Tirath* 312

POLITICAL SCIENCE

- Rethinking-Election Finance Reform, A Critical Review—*Dr. Binay Soren* 316
Locating Dalits in Media Sector: In Search of a New Identity—*Swadesh Singh* 321

GEOGRAPHY

- Problems of Public Amenities in Slum (Squatter Settlement):
A Case Study of Saharsa Municipal Area—*Anant Kumar* 329

JOURNALISM AND MASS COMMUNICATION

- Role of Media in Promoting Human Rights during J&K Assembly Election:
A Study of 2008 & 2014 Assembly Elections
—*Praveen Kumar; Dr. Manoj Kumar Singh; Dr. Devender Bhardwaj* 337

बिहार में किसानों की स्थिति एवं समस्याएँ: एक ऐतिहासिक मूल्यांकन

अर्चना भारती

शोध छात्रा, स्नातकोत्तर इतिहास विभाग,
तिलका माँझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

किसान आंदोलन के प्राण स्वामी सहजानंद सरस्वती के अनन्य सहयोगी यदुनंदन शर्मा ने भारतीय किसानों की वस्तुस्थिति का सही चित्रण उपस्थित करते हुए कहा है- “मेरी आँखें किसानों के कलेजे पर जो तीन बहुत भारी चट्टानों देख रही हैं वे हैं, अंग्रेजी सरकार, महाजनी प्रथा और जमींदारी प्रथा।”¹ वस्तुतः भारतीय किसानों की वर्तमान दुर्दशा के लिए मुख्यतः ब्रिटिश साम्राज्यवाद का शोषक स्वरूप जिम्मेदार रहा है। सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो. राधा कमल मुखर्जी ने लिखा है कि, “पिछले पचास वर्षों में भूमि के स्वभाविक और काश्तकारी में हुए परिवर्तनों की यदि हम छान-बीन करें तो पता चलेगा कि यह अव्यवस्थित वितरण दिनोंदिन और भी बुरा होता जा रहा है। छोटी जोत वालों की आर्थिक स्थिति खराब हुई है जबकि जमींदारों और जमीन से वंचित किये गये किसानों, लगान-वसूली करने वाले वर्ग और खून-पसीना एक करने वाले कृषि दासों के बीच जो विषमता व्याप्त है, वह कृषि संबंधी हमारे इतिहास के एक नाजुक दौर की सूचना देता है।”²

स्थिति को और भी स्पष्ट करते हुए प्रो. मुखर्जी ने आगे लिखा है, “भारी जनसंख्या के दबाव के कारण इन जोतों की संख्या इतनी कम हो गयी है और इनमें इतना बिखराव आ गया है कि अब कोई न तो अपने परिवार के सभी सदस्यों के श्रम से लाभ उठा सकता है और न ही जीवन निर्वाह स्तर कम होने के कारण अपने परिवार का भरण-पोषण कर सकता है। साथ ही जमींदार की भूमिका अब लगान प्राप्त करने वाले की हो गयी है जबकि पहले उसकी भूमिका सम्पत्ति पैदा करने वालों की थी। कृषि के कार्यों द्वारा उसने अब अपनी पुरानी और सम्माननीय भूमिका निभाना छोड़ दिया है। आज वह न तो कृषि की पूँजी की सफाई करता है और न ही खेती के कार्यों का ही संचालन करता है। जमींदार से नीचे बिचौलियों का एक वर्ग तैयार हो गया है। इन बिचौलियों ने मौजूदा भूमि प्रणाली की जटिलताओं से भरपूर लाभ उठाया है। और उन्होंने वास्तविक खेतिहारों की कष्टकर स्थिति को और भी गंभीर बनाया है। यह ओलोचना नहीं बल्कि, तथ्यों का सारांश है कि पुरानी व्यवस्था टूट चुकी है और इसके स्थान पर एक नयी व्यवस्था का जन्म अनिवार्य है जो कृषि संबंधी जीवन और सामाजिक जीवन की वर्तमान स्थितियों के अनुकूल हो।”³

सुविख्यात मार्क्सवादी चिंतक रजनी पाम दत्त ने कृषि के क्षेत्र में संकट पर टिप्पणी करते हुए लिखा है- “भारतीय किसानों की गरीबी और दुर्दशा विश्व की भयानकतम सच्चाईयों में से एक है, और भारत की कृषि समस्या को साम्राज्यवादी शासन के अंतर्गत देश की सामान्य अर्थव्यवस्था तथा साम्राज्यवादी शासन द्वारा सम्पोषित मौजूदा सामाजिक संरचना से अलग करके नहीं देखा जा सकता।”⁴

पातदत्त ने अपनी बातों को और भी स्पष्ट ढंग से रखते हुए कहा है कि “भारतीय कृषि के बढ़ते हुए संकट का कारण न तो प्राकृतिक परिस्थितियाँ हैं और न ही किसानों की कुशलता अथवा साधन संपन्नता का अभाव है। जिन सीमाओं के अंतर्गत उन्हें काम करना पड़ता है उन्हें यदि देखें तो यह

कहना गलत होगा कि भारतीय किसानों की गरीबी का कारण उनका तथाकथित पिछड़ापन है जिसकी वजह से उनका विकास नहीं हो पा रहा है। वस्तुतः इस संकट का कारण साम्राज्यवाद है और साथ ही साम्राज्यवाद द्वारा पोषित थे सामाजिक संबंध हैं जिनकी वजह से कृषि पर आबादी का दबाव बढ़ता जा रहा है, कृषि के विकास में गतिरोध पैदा हो गया है, उसमें गिरावट आने वाली है, अधिकांश किसानों को दिनोंदिन परेशान रहना पड़ता है और आधा पेट खाकर किसी तरह गुजर-बसर करना पड़ता है।¹⁵

भारत में जमींदारी प्रथा के साथ ब्रिटिश शासन का गठबंधन तो था ही और भारतीय किसान दोनों का सम्मिलित शोषण आधार था। इतना ही नहीं, “ब्रिटिश कानूनी प्रणाली” ने महाजन को कर्जदार की कुर्की करने और जमीन का हस्तांतरण करने का अधिकार देकर सूदखोर महाजनों को स्वर्ण अवसर प्रदान किया और इनकी मदद के लिए पुलिस और कानून की पूरी ताकत उनके पीछे लगा दी। इस प्रकार सूदखोर महाजन पूँजीवादी शोषण की समूची व्यवस्था की धुरी बन गया।¹⁶

इस प्रकार भारतीय कृषि संकट का अध्ययन यह बतलाता है कि किसान मुख्यतः तीन प्रकार के बोझों से दबे हुए थे- सरकार को दिया जाने वाला राजस्व और अन्य अप्रत्यक्ष कर, जमींदार को दिये जाने वाले लगान एवं अन्य गैरकानूनी सामंत कर तथा महाजन को अदा किये जाने वाले मूल कर्ज और उनके ब्याज, इस तीनों बोझ के नीचे भारतीय किसान दबा हुआ था। भारतीय किसानों के संबंध में यह प्रसिद्ध कहावत है कि वह कर्ज में जन्म लेता है, कर्ज में जीता है, कर्ज में मरता है और अपनी संतान को भी विरासत में कर्ज ही देकर जाता है। यों तो सारा देश ही पीड़ित था तथापि बिहार, संयुक्त प्रांत और उड़ीसा के किसानों की स्थिति और देश भी दयनीय थी।¹⁷

यद्यपि चिरस्थायी प्रबंध द्वारा जमींदारों को जमीन का मालिक घोषित कर दिया गया था तथापि सरकार को यह अधिकार था कि वह जमींदार और रैयत के बीच संबंधों को नियमित करने के लिए नये कानून बनाये या अन्य प्रकार से हस्तक्षेप करें। फरवरी 1790 को अपने मिनट में लार्ड कार्नवालिस ने सर जान शोर के विचारों पर टिप्पणी करते हुए लिखा था कि सरकार को यह हक होगा कि वे जमींदारों को जोत की जमीन पर नये अबवाब (तरह-तरह की सामंती कर) या अन्य करों के लगाने पर रोक लगा सके। सरकार ऐसा तभी नहीं कर सकती जब वह रैयतों को जमींदारों का पूर्ण गुलाम मान ले। कार्नवालिस ने अपने उस नोट में स्पष्ट लिखा था, “प्रत्येक टैक्स जो जमींदार द्वारा लगाया जाता है वह समझौते के विरुद्ध है तथा देश के परंपरागत नियमों का उल्लंघन है।”¹⁸ किन्तु, लार्ड कार्नवालिस के ये विचार कागज पर ही रहे और जमींदारों ने किसानों को वस्तुतः अपना दास बना लिया था। सरकार ने जमींदारों के प्रभाव में आकर बाद में कई ऐसे कानूनी संशोधन किये जिसने जमींदारों को सुविधा के साथ लगान वसूलने के नाम पर उन्हें व्यापक अधिकार दे दिया जिससे वे रैयतों को उनकी जमीन से बेदखल कर सकते थे और उन्हें रैयतों पर लगान की दर बढ़ाने और नये करों का आरोपन का, अधिकार मिलता चला गया था। 1799-1812 और 1822 में बनाये गये नियम इसी प्रकार के थे। रामनारायण सिन्हा ने अपनी पुस्तक में बिहार के एक मजिस्ट्रेट ए. टफ्टोन के कथन का उल्लेख किया है जिसमें कहा गया है कि, “हफताम कानून के द्वारा जमीन के मालिकों को, किसानों को जो बेदखल करने का अधिकार दिया गया है उसमें रैयतों के खिलाफ बहुत-सी शिकायतें बढ़ गयी हैं। उसने दो सौ उन रैयतों के खिलाफ जो जेल में डाल दिये गये थे, लगाये गये आरोपों की जांच की और उन्हें झूठा पाया।”¹⁹

लगान के बकाये के नाम पर रैयतों को जमीन से बेदखल करने की यह धारा उस समय (1800) से ही जमींदारों और किसानों के बीच झगड़े का एक मूल कारण बनी हुई थी और प्रस्तुत निबंध के

काम में भी बकायत संघर्ष उसी का एक परिणाम है। श्री सिन्हा ने लिखा है कि “1841 तक सरकार द्वारा बनाये गये जमीन संबंधी सभी कानून जमींदारों और सरकार के हित में थे, रैयतों को उससे कोई लाभ नहीं था। रैयतों के हकों को हिफाजत के नाम पर कई नियम बनाये गये थे किन्तु, ये सभी उनके अधिकारों को सुरक्षा देने में असमर्थ थे।”¹⁰ राकेश गुप्ता ने विस्तार के साथ बिहार के विभिन्न उद्घरणों के द्वारा यह बतलाया है कि पट्टा से संबंधित नियमावल्याँ लगान के संबंध में परगना दर, पटवारी संबंधी व्यवस्था और रैयतों की प्राप्ति रसीद देने की व्यवस्था, किसी प्रकार नाकामयाब सिद्ध हुई।¹¹

पट्टा नियमों के द्वारा यह उम्मीद की गयी थी कि जमींदार प्रत्येक रैयत को बंदोबस्ती के समय एक लिखित पट्टा देगे जिस पर बंदोबस्ती की शर्तें लिखी होंगी। किन्तु अधिकांश इलाकों में यह कानून लगा ही नहीं हुआ था। रामगढ़ और पूर्णिया को इस नियम से बरी कर दिया गया था। जे. ए. हुब्लैक के अनुसार, शाहाबाद में यह पूर्णतः विफल था। “बिहार और बंगाल के अन्य जगहों की तरह चंपारण में भी यह नियम लागू नहीं किया गया था। यही स्थित परगना रेट की भी हुई। परगना रेट साबित करने की जिम्मेवारी रैयतों की थी और यह काम उनके लिए सर्वथा मुश्किल था। बिहार के जमींदारों ने इस कमजोरी का लाभ उठाकर प्रायः सभी जगह लगान में अधिनियम बढ़ोत्तरी की। अशिक्षित रैयतों को कानूनी और कागजात संबंधी सहायता पहुँचाने के नाम पर पटवारी संस्था का जन्म दिया गया। यह उम्मीद की गयी थी कि पटवारी रैयतों के कागजातों को सही और सुरक्षित रखेगा किन्तु उसकी नियुक्ति और उसका वेतन जमींदारों के हाथों में था। जमींदार द्वारा नियुक्त और उनके द्वारा वेतन प्राप्त पटवारी से रैयतों के हित की सुरक्षा की कल्पना ही एक विडम्बना थी। आम तौर पर सभी जगह जमींदारों ने पटवारी की नियुक्तियाँ नहीं की और जहाँ कहीं ऐसा हुआ भी, वे जमींदारों के एजेंट मात्र साबित हुए।”¹²

1924-25 तक सरकार ने अपने प्रतिवेदन में स्वीकार किया है कि “पटवारी रेगलेशन-XII ऑफ 1817” करीब-करीब मृतप्राय हो गया था।

रैयतों को लगान प्राप्ति की रसीद प्राप्त होने का मतलब था कि उन्हें अपनी कायत की जमीन का सबूत प्राप्त होता और लगातार बारह वर्षों तक प्राप्त यह सबूत उन्हें जमीन पर अधिकार दिला सकता था किन्तु, बिहार के जमींदार आमतौर पर रैयतों को प्राप्ति रसीद नहीं देते थे। बिहार और उड़ीसा के लैण्ड रेकर्ड्स और सर्वे विभाग के डायरेक्टर जे. रीड ने इस पर टिप्पणी करते हुए लिखा था- “लगान की रसीदें देने से इंकार करना निश्चित रूप से बिहार के जमींदारों के बड़े संगठन की ईमानदारी पर एक कलंक का चिन्ह है।”

हमें इस बात के भी काफी उदाहरण मिलता है जिसमें बिहार के विभिन्न जमींदारों ने लगान में काफी वृद्धि की थी। किन्तु वे उसकी कोई रसीद नहीं देते थे। “बिहार प्रांतीय किसान सभा” द्वारा स्वामी सहजानंद सरस्वती की अध्यक्षता में गठित जाँच समिति ने गय जिले की स्थिति की जांच कर जो रिपोर्ट तैयार की थी। वह गया के किसानों की “करूण-कहानी” नाम से प्रकाशित है। इसमें भी स्पष्ट लिखा गया है कि जमींदार कानून का उल्लंघन कर रैयतों को लगान प्राप्ति की कोई रसीद नहीं देते थे। फलतः उनके पास अपनी जमीन का कोई सबूत नहीं होता था और बकाये के नाम पर उन्हें आसानी से बेदखल किया जाता था।

अपने अनुभव के आधार पर और किसानों की स्थिति बदतर होते देखकर जब बहुत सारे अंग्रेज अधिकारियों ने भी जमींदारों की गैरकानूनी हरकतों की ओर सरकार का ध्यान आकृष्ट कराया तब सरकार की ओर से रैयतों के हित की दृष्टि से भी कई कानून बनाये गये। उसमें सर्वप्रथम 1885 का “बंगाल कायतकारी कानून” है। बाद में इसमें और कई संशोधन भी किये गये। 1885 के

काश्तकारी कानून को कुछ कड़ा बनाया गया, लगान प्राप्ति की रसीद देना लाजिमी कर दिया गया और जमींदारों द्वारा लगान स्वीकार नहीं करने पर मनिआर्डर द्वारा लगान देने की व्यवस्था की गयी, किन्तु अपने पिछड़ेपन, अशिक्षा और संगठन के अभाव के कारण इन थोड़ी-सी राहतों से भी लाभ उठाने में किसान असमर्थ थे। जमींदारों की शोषण प्रक्रिया में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ था। सरकार द्वारा सर्वे सेटलमेंट के समय बड़े पैमाने पर यह बात सामने आयी कि किस प्रकार जमींदार अपने क्षेत्रों में गैरकानूनी अववाब वसलते थे और धीरे-धीरे वह लगान का ही हिस्सा बन जाता था। मुंगेर, गया और पटना जिलों में स्थिति सबसे खराब थी। शाहाबाद की रिपोर्ट में आठ प्रकार के अववाबों की चर्चा है। मुंगेर और पटना के संबंध में जे.ए. हुब्बैक ने अप ने नोट में लिखा है कि दानाबंदी प्रथा के साथ कई प्रकार के अववाब वसूल किये जाते थे। जैसे दहियक अर्थात् दसवां हिस्सा, मोचा, मांजक, अमीन खर्चा आदि। दहियक कभी-कभी फसल का 16वाँ या 32वाँ भाग भी होता था। कहीं-कहीं मन-सेरी भी होता था। इसी तरह विभिन्न जिलों में तरह-तरह की प्रथाओं द्वारा किसानों का शोषण किया जाता था।

किसानों को ने केवल गैर-कानूनी प्रथाओं का ही शिकार होना पड़ता था, बल्कि उनकी जबरदस्ती वसूली के समय उन कई तरह के अत्याचार भी किये जाते थे। गया के किसानों की “करूण कहानी” के अतिरिक्त रामवृक्ष बेनीपुरी ने भी पटना जिले के मसोढ़ी परगने के संबंध में रोमांचक रिपोर्ट तैयार की थी। दरभंगा राज की जमींदारी में स्थिति सबसे खराब थी। पूर्णिया जिले के धर्मपुर परगने के किसानों की दरयनीय स्थिति का काफी उदाहरण मिलता है। किसानों पर किये जाने वाले अत्याचारों की चर्चा करते हुए विभिन्न प्रतिवेदनों में कहा गया है कि किसानों को जूते की माला पहनायी जाती थी, उन्हें उल्टा टांग दिया जाता था, उनकी लड़कियों को बेचकर लगान वसूल किया जाता था, उन्हें कम्बल में लपेट कर कड़के की धूप में सोने के लिए मजबूर किया जाता था, जाड़े में पानी में खड़ा होना पड़ता था और पुलिस उनके घर कर मार-पीट करती थी और उन्हें जुर्माना भी किया जाता था।

उपर्युक्त परिस्थितियाँ तो बिहार के किसानों को उद्वेलित कर ही रही थी किन्तु, जिस प्रथा ने मौजूदा अध्ययन काल में बिहार में किसान आंदोलन को जन्म दिया वह अनाज के रूप में लगान देने की प्रथा थी। यह प्रथा दानाबंदी, बटाई, मनरूप, मनहुंडा आदि नामों से प्रचलित थी। दानाबंदी को भावली भी कहा जाता था। दानाबंदी प्रथा में जमींदार के अमला फसल को आंकते थे और उसकी उपज के आधार पर उस समय की बाजार दर से उसकी कीमत लगा कर देना होता था। जमींदार के अमले फसल को आंकते समय उसे अधिक दिखलाते थे और उस आधार पर जमींदार का हिस्सा तय होने पर किसान को घाटा हो जाता था। यदि अमला किसानों से रिश्वत लेकर उपज आंकने का काम करता था तो जमींदार को घाटा होता था। अमलों को दोनों में ही लाभ था किन्तु आमतौर पर किसानों को इसमें ज्यादा घाटा उठाना पड़ता था। वे भावली से बटाई को अधिक पसंद करते थे। दानाबंदी या भावली में फसल के अधिक मूल्यांकन से और उसके ऊपर लादे गये विभिन्न अववाबों के कारण किसानों को अपनी उपज का तीन चौथाई तक जमींदारों को दे देना पड़ता था। यही कारण था कि भावली को नकदी करने का आंदोलन किसानों के बीच काफी जोर पकड़ा। 1915 से 1932 के बीच भावली को नगदी करने का काम एक हद तक हुआ। किन्तु, इसमें किसानों के लिए एक नया संकट आया। जिन अधिकारियों ने भावली को नकदी करने का काम किया उन्होंने नकदी-लगान पुरानी दर पर नहीं, पास-पड़ोस के लगान के आधार पर नहीं, बल्कि तत्कालीन बाजार भाव के आधार पर किया। विश्वव्यापी अपूर्व आर्थिक मंदी आने के पूर्व तक अनाज की कीमतें बढ़ रही थीं अतः नकदी-लगान पटना, गया और मुंगेर जिलों में 15 रुपये से 40 रुपये एकड़ तक निर्धारित किये

गये। लगान की यह दर किसानों के लिए भारी पड़ने लगी, बकाया बढ़ने लगा, कर्ज का भार बढ़ा फिर भी बकाया नहीं अदा होने के नाम पर जमींदारों ने उन्हें जमीन से बेदखल करना शुरू किया। अतः इस काल में किसानों के ऊपर कर्ज का भार और उन्हें जमीन से बेदखली की घटनाएँ बढ़े पैमाने पर बढ़ने लगीं। इसी बीच विश्व-व्यापी आर्थिक मंदी ने किसानों पर दुःख का नया पहाड़ ला पटक। अनाज की कीमतें इतनी कम हो गयीं कि लगान चुकाना भी मुश्किल हो गया और किसानों के लिए जीना दुर्लभ हो गया। सोवियत लेखक के शब्दों में, “पूँजीवादी विश्व का 1929 का आर्थिक संकट भारत की जनता के लिए और भी भारी मुसीबतें लेकर आया। कृषि मालों के भाव बहुत गिर गये, किसानों की लगभग सारी फसल जमींदारों को लगान और सरकार को टैक्स चुकाने में ही जाने लगी। बकाया टैक्स अकथनीय निर्दयता के साथ वसूले जाते थे। कुछ इलाकों में तो टैक्स देने में असमर्थ किसानों को शारीरिक यंत्रणाएँ भी दी गयी। भारत में स्वर्णाभूषणों को प्राचीन काल से ही पवित्र कुलागत वस्तुएँ माना जाता था और गरीब से गरीब परिवार भी उनसे जुदा होना नहीं चाहता था किन्तु, अब यह सोना भी निर्मम कर संग्राहकों के हाथों में जाने लगा। शहरी इलाकों में छोटे-छोटे व्यवसायियों के कारोबार तेजी से उजड़ने लगे जबकि टाटा, बिड़ला आदि बड़ी इजारेदारियों का निरंतर विस्तार ही होता गया। तबाह और भूखे किसानों की संख्या में वृद्धि के कारण बेरोजगारों की भीड़ में और इजाफा हुआ।”

संदर्भ सूची

1. चिंगारी, बुकलेट, फरवरी 1938.
2. राधाकमल, मुखर्जी, लैण्ड प्रॉब्लेम्स ऑफ इण्डिया, पृ. 411, 361-362.
3. रजनी पाम दत्त, आज का भारत, पृ. 216-217, 217-238, 266
4. राकेश गुप्ता, बिहार पीजेन्टरी एण्ड दी किसान सभा, पृ. 5, 9
5. रामनारायण सिन्हा, बिहार टिनेन्टरी 1783 से 1833, बम्बई 1968, पृ. 112, 121
6. राकेश गुप्ता, पृ. 6 से 12, 249, 25-26, 31-32
7. गिरिश मिश्रा, एग्रेरियन प्रॉब्लेम्स ऑफ परमानेंट सेटलमेंट, केस स्टडी ऑफ चंपारण, पृ. 127
8. रिपोर्ट आन दी लैंड रेवेन्यू एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ दी प्रोविंस ऑफ बिहार एण्ड उड़ीसा, 1924-25, पृ. 13
9. राकेश गुप्ता, वही, पृ. 14-15, पी. डब्लू. मरफी, फाइनल रिपोर्ट आन दी सर्वे एण्ड सेटलमेंट ऑपरेशन इन दी मुंगेर जिला (1905-1912) सुपरिंटेंडेंट, रांची, पारा 79
10. नोट जे.ए. हुब्बैक, फाइनल रिपोर्ट ऑन दी सर्वे एण्ड सेटलमेंट ऑपरेशन इन दी डिस्ट्रिक्ट्स ऑफ शाहाबाद, पृ. 165
11. आर.ए.ई. विलियम्स, फाइनल रिपोर्ट ऑन द रेनट सेटलमेंट ऑपरेशन अण्डर सेक्शन 112, शाहाबाद और मुंगेर, 1943
12. संपादक अ. ज. मानफ, संक्षिप्त विश्व का इतिहास, दूसरा भाग, पृ. 241-242

प्राचीन भारत की सामाजिक संरचना एवं बौद्ध धर्म की उत्पत्ति

डॉ० चन्द्र भूषण मिश्र

एसोसिएट प्रोफेसर, प्राचीन भारतीय एवं संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग,
नव नालन्दा महाविहार (सम विश्वविद्यालय), नालन्दा

छठी शताब्दी ई०पू० का इतिहास असाधारण मानसिक और आध्यात्मिक अशांति का युग था। इसका वर्णन “विश्वव्यापी प्रश्नों” के शताब्दी के रूप में किया जाता है। इस काल में अनेक धार्मिक सम्प्रदाय (लगभग 62) का उदभव एवं विकास हुआ। कोई भी धार्मिक आन्दोलन अपने परिवेश के प्रतिक्रिया से प्रारंभ होती है उस समय सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक संरचना में तीव्र परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। बौद्ध सम्प्रदाय ने सामाजिक समानता, मित्यव्यतिता तथा अहिंसा पर बल दिया जो व्यवसायियों क्षत्रियों एवं शोषित समाज के मनोवृत्ति तथा आकांक्षा के अनुकूल थी। सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने की आशा में व्यवसायी, क्षत्रिय तथा अन्य वर्ग के द्वारा विपुल-दान बौद्ध-धर्म के आन्दोलन का प्रमुख उर्जा-स्रोत था। इतिहास के मर्मज्ञ इसे “द्वितीय नागरीकरण” या ‘बुद्ध-युग’ की संज्ञा देते हैं।

भारतीय धर्मों के इतिहास में बौद्ध मत का स्थान अद्वितीय है।¹ भावी जीवन में दण्ड और पुरस्कार की व्यवस्था ब्राह्मणवाद की आधारशिला है। बौद्ध-मत अपने द्वार समाज के सभी वर्गों के लिए खोल दिया इतना ही नहीं इसने भारत में बसे भारतीय-यूनानियों तथा भारतीय सिथियनों जैसे विदेशियों को आत्मसात् किया। धीरे-धीरे बौद्ध मत श्रीलंका, वर्मा, थाईलैंड, कम्बोडिया, मध्य एशिया, चीन, नेपाल, तिब्बत, कोरिया तक फैल गया।² संक्षेप में बौद्ध मत के माध्यम से सम्पूर्ण एशिया ने भारतीय संस्कृति परंपरा का उपयोग किया।³ बुद्ध के आगमन के पूर्व ही हिन्दू-समाज ने बौद्ध धर्म और जैन धर्म के उत्कर्ष की पृष्ठभूमि तैयार कर दी।⁴ वस्तुतः बौद्ध धर्म तथा ब्राह्मणवाद के मध्य अन्तर्सर्घर्ष एक कटु सत्य है।⁵ मौर्य समाज के पतन और ब्राह्मणों के राज्यरोहण को ब्राह्मणों के प्रतिक्रिया के रूप में देखा जा सकता है। मनुवादी व्यवस्था के पोषक के अनैतिक और विचारशून्य क्रियाकलापों के फलस्वरूप समाज अन्तर्द्वन्द्व के चरम स्थिति में पहुंच चुका था।

“ब्राह्मणों के द्वारा समाज के अंधविश्वास, अनैतिकता और घूर्त को ब्राह्मणों ने “अस्त्र” के रूप में प्रयोग किया। यज्ञों में अनैतिकता का बोलबाला था। शताब्दियों के विधि-विधान को ब्राह्मणों के द्वारा एक ऐसे “कामधेनु गाय” के रूप में विकसित किया गया। समाज में इस तथ्य को सुनियोजित ढंग से प्रसारित किया गया कि यज्ञों की दक्षिणा से ही फल की प्राप्ति संभव हो सकती है यज्ञों की संख्या अधिक से अधिक बढ़ाया जाए और प्रत्येक गृहस्थ उन्हें अवश्य निभाये जिसके फलस्वरूप यज्ञ करने की प्रवृत्ति की गतिशीलता बनी रहे। यज्ञ का स्वरूप चाहे छोटा हो या बड़ा दोनों परिस्थिति में इन्हें लाभ पहुंचता रहे। समाज में यज्ञों की आवश्यकता इस प्रकार प्रचारित किया जा रहा था कि यज्ञों के बिना जीवन निरर्थक है।⁷ सम्पूर्ण राज्य और राज्याधिकारी की चिंता “यज्ञ” करने में थी। फलतः राज्य का विकास अवरूद्ध हो गया।

पशुओं के लगातार वध, ब्राह्मणों का “सोमरस” में झुमना तथा गृहस्थियों एवं राज्य से लगातार दक्षिणा की मांग इत्यादि कर्मों ने जनता के हृदय में ब्राह्मणों के प्रति कटुता उत्पन्न कर दी।⁸ मनुस्मृति में ब्राह्मणों के “उत्कृष्टता” का वर्णन है। ब्राह्मण समाज के सुनियोजित षड्यंत्र के द्वारा जनता में इस

भ्रम को फैला दिया गया कि “तप तथा आत्मनिग्रह के द्वारा प्रकृति की शक्तियों पर प्रभुत्व प्राप्त किया जा सकता है, इस कृत्य के द्वारा तपस्वीयों और देवताओं से आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि प्राप्त किया जा सकता है।”⁹ शनैः शनैः जनता इस अंधविश्वास को समझने लगी।

हिन्दु धर्म में कई ऐसी क्रियाये मिली जो सर्वथा निरर्थक और जनसाधारण के विचार से परे थे। उपनिषद् की गहन दार्शनिकता, शास्त्र और सुत्रों की जनता के जीवन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वैदिक धर्म के उच्च विचार और उच्चादर्श, आत्मा-परमात्मा का गहन रहस्य और अन्य आध्यात्मिक धारणाएँ ऐसी थी जो जनता के समझ से परे थी। इन सभी तथ्यों के फलस्वरूप एक ऐसे धर्म की आवश्यकता पड़ी। जिसमें गहराई भले कम हो, किन्तु जनता के जीवन के कल्याणार्थ आवश्यक अंग बन सके।

ब्राह्मणों के जीवन में नैतिकता की कमी आने लगी। वे सांसारिक जीवन में उलझने लगे। उनका संचित धन उनके पतन का कारण बना।¹⁰ जाति प्रथा की कठोरता के कारण निम्न वर्ग, उच्च वर्ग की प्रबलता और बड़प्पन के भार को उतार फेंकने को आतुर था, क्योंकि उच्च वर्ग शताब्दियों से निम्न वर्ग का शोषण कर रहे थे। क्षत्रिय एवं वैश्य को समाज में वह स्थान प्राप्त नहीं था जिसके वे वास्तविक हकदार थे। शारीरिक बल और धन से श्रेष्ठ होने पर भी ब्राह्मणों के मिथ्या-अभिमान को सहना पड़ता था।¹¹ बुद्ध की शिक्षाओं की सरलता इस धर्म-विस्तार का प्रमुख कारण बनी। बौद्ध धर्म की जीवन संबंधी धारणाएँ साधारण नियमों पर आधारित थे। इस धर्म में न धन और न पुरोहितों की आवश्यकता थी। बौद्ध धर्म की दार्शनिकता तथा भाषा सरल और सुगम थी।¹² बुद्ध ने अपने सभी उपदेश जनभाषा पाली में दी, जो लोगों की प्रिय भाषा थी।

बौद्ध धर्म ने जाति-प्रथा का विरोध किया तथा इस धर्म के द्वार सभी जातियों के लिए खोले गये। बौद्धों का विश्वास था कि मनुष्य जन्म से नहीं कर्म से प्रधान होता है।¹³ वैश्यों और शुद्रों ने इसे स्वभाविक रूप से स्वीकार किया।¹⁴ धन की न के बराबर आवश्यकता ने बौद्ध धर्म के प्रति आकर्षण को और बढ़ाया।¹⁵ बौद्ध धर्म के विकास में बुद्ध का प्रभावशाली व्यक्तित्व एक प्रमुख कारण था। जब पूर्ण शुद्ध हृदयता और समान्य दयाभाव एक ही व्यक्ति में निहित हो जाते हैं तो वह व्यक्ति श्रद्धेय और आराध्य बन जाता है। जो बौद्ध-मत के उद्देश्य और प्रचार का द्योतक था।

कोई यह कल्पना तक भी नहीं कर सकता था कि एक छोटा सा “सूत्र” अपने भीतर ब्राह्मणों तक के धर्म को परिवर्तित करने की शक्ति धारण किये होगा किन्तु भय और संस्कारों से मुक्ति प्राप्त करने वाले इसके प्रवर्तक की पवित्रता और इस धर्म के नैतिक आचार की उच्चता इतनी श्रेष्ठ थी कि इसने लोगों के मन और मस्तिष्क पर जादू सा कर दिया। यह धर्म की संवेदनशीलता का ही परिणाम है कि “अलौकिक प्रेम” का एक चित्र लोगों के समक्ष उपस्थित हुआ। भिक्षु और भिक्षुणियों का धर्म के प्रति समर्पण और बुद्ध के विचार को जनसाधारण तक पहुँचाना ही इनका एक मात्र उद्देश्य था।¹⁶ बौद्ध धर्म की प्रमुख विशेषता उसकी समायोजन की क्षमता थी। स्वयं बुद्ध ने बौद्ध-सभाओं को इतनी शक्ति प्रदान कर रखी थी कि वे साधारण एवं गौण नियमों को स्वयं बना सके जिसके फलस्वरूप देश-काल के अनुसार बौद्ध धर्म में परिवर्तन होने लगा। इन समस्त तथ्यों के फलस्वरूप समाज में एक ऐसी पृष्ठभूमि तैयार हुई जिसने बौद्ध-मत के विकास में उत्प्रेरक भूमिका निभाई।

वस्तुतः “धम्म” की असाधारण क्षमता, बौद्धिक समायोजन की प्रवृत्ति, सामान्य ज्ञान, सामान्य वर्गों का निर्वहन, व्यक्ति विशेष और धर्म विशेष सम्प्रदाय विशेष का न होना स्वनैतिकता का क्रिया निर्वहन सबके लिए ये बौद्ध धर्म को सार्वदेशीक और सर्वकालिक बनाया। स्वधर्म की विशेषता और नव-मानवतावाद (Neo-Humanatism) पर विशेष बल देता है। मनुष्य में महान बनने की सहज

क्षमता विद्यमान है अपितु मानवतावादी दर्शन की चरम परिणति है जिसमें मानव के भविष्य की सभी आशाएँ निहित हैं। सामाजिक व्यवस्था का आधार बहुमत न होकर उन आध्यात्मिक रूप से स्वतंत्र व्यक्तियों की नैतिक अंतरात्मा होगी जो सामाजिक व्यवस्था और राजकीय व्यवस्था के प्रति उत्तरदायी होंगे। बौद्धिक आधारों पर निर्मित साध्यों के राज्य में ही व्यक्ति सच्चे अर्थों में स्वराज्य और मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। बौद्ध धर्म में सहृदय मानवतावादी दर्शन की अवधारणाएँ निहित हैं, जिसने बौद्ध धर्म के विकास में उत्प्रेरक भूमिका निभाई।

नैतिकता, सदाचार और अहिंसा को समय-समय पर नई दशा और दिशा देती रही है। जिसके फलस्वरूप वर्तमान गला-घोटू परिवेश में बौद्ध दर्शन की प्रासंगिकता है। यह उल्लेखनीय है कि बौद्ध धर्म में विश्व धर्म बनने की क्षमता विद्यमान है जो स्तरीय सांसारिक क्रियान्वयन पर बल देता है और कर्मयोगी बनाता है और स्वस्थ आध्यात्मिक भावना गतिमान रखता है जहाँ जाति, क्षेत्र, धर्म, व्यक्ति विशेष आड़े नहीं आते। वर्तमान उपभोगतावादी संस्कृति में बौद्ध धर्म का ही आत्मबल है जो उच्च जीवन स्तर की परिभाषा में कम से कम उपभोग को अति-विशेष स्थान दिया है। लगातार वैश्विक उपभोगवादी अर्थ-व्यवस्था, दोहनवाद पर कुठाराघात किया और नव-मानवतावाद (Neo-Humanatism) पर बल दिया ये आज भी प्रासंगिक हैं।

संदर्भ संकेत

1. जे०टी० व्हीलर, ऐन्थेन्ट एण्ड हिन्दु इंडिया, 1961, पृ. 461
2. बी०डी० महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास, 1989 पृ. 153
3. बी०डी० महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास, 1989 पृ. 1153
4. बी०आर० अम्बेदकर, द अनटचेबिल्स, 1969 पृ. 1471
5. जयशंकर मिश्रा, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, पृ. 1231
6. बी०डी० महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास, 1989 पृ. 153
7. बी०डी० महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास, 1989 पृ. 154
8. मनुस्मृति, 1.93 उत्तम अंग (मुख) से उत्पन्न होने के कारण क्षत्रिय से पहले उत्पन्न होने के कारण, वेदों को धारण के कारण ब्राह्मण की सम्पूर्ण जगत के स्वामी हैं।
9. बी०डी० महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास, 1989 पृ. 154
10. बी०डी० महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास, 1984 पृ. 156
11. बी०डी० महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास, 1989 पृ. 167
12. रोमिला थापर, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 55
13. रोमिला थापर, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ. 59
14. झा और श्रीमाली, प्राचीन भारत का इतिहास, 1984, पृ. 144
15. डा० केनेथ साण्डर्स, दी स्टोरी ऑफ बुद्धिजम.
16. बी०डी० महाजन, प्राचीन भारत का इतिहास, 1989 पृ. 164

महर्षि दयानंद और भारतीय राष्ट्रवाद

शुभेश कुमार मिश्र

एम.ए. (इतिहास), 515, ए-ब्लॉक, पश्चिमाबाद, जे०एन०यू०, नई दिल्ली

भारतीय पुनर्जागरण काल के महान नेताओं में स्वामी दयानंद सरस्वती का अनूठा स्थान है। भारत के इस महान सपूत ने करोड़ों भारतवासियों के मन पर छाए अज्ञान रूपी अंधकार को हटाने और समाज में धर्म के नाम पर व्याप्त अंधविश्वास, मिथ्यावाद, धर्मान्धता तथा अन्य कुरीतियों और दुष्प्रथाओं को समाप्त करने के लिए सतत प्रयत्न किया। उन्होंने भारतीय समाज की वैज्ञानिक और तर्कसंगत आधार पर पुनर्चना करके उसे राजनीतिक मुक्ति पाने योग्य बनाने का जो प्रयत्न किया वह अत्यंत सराहनीय है। उन्होंने भारतीय समाज और राष्ट्र का पुनर्निर्माण करने और देशभक्ति की भावना उत्पन्न करने के उद्देश्य से 1875 में आर्य समाज की स्थापना की। स्वामी दयानंद और आर्य समाज का राष्ट्रवादी भावनाओं को भारत में फैलाने में महत्वपूर्ण योगदान है।¹ इसने ही वह पृष्ठभूमि तैयार की, जिसके साये में राष्ट्रवादी और उग्रवादी विचारधाराएँ आगे चल कर फली-फूली। महर्षि दयानंद की दृष्टि भारत के धार्मिक और सांस्कृतिक पुनरुत्थान तक ही सीमित नहीं थी, बल्कि उन्होंने उन कल्पनाओं और विचारों को जन्म दिया जिनके सहारे भारतीय राष्ट्रवाद 1905 के बाद परवान चढ़ा। मानव कल्याण के लिए अपना सर्वस्व त्याग देने वाला यह व्यक्ति निश्चय ही एक महान विभूति था।

महर्षि दयानंद ने जिस समय कार्यक्षेत्र में प्रवेश किया, उस समय तक भारतीय राष्ट्रवाद पर मुख्यतया उन मध्यवर्गीय बुद्धिवादियों का ही प्रभाव था जो अंग्रेजी शिक्षा की उपज थे। उनके विचार, उनकी आशाएँ, उनकी आकांक्षाएँ सभी पश्चिमोन्मुखी थीं। वे ब्रिटिश साम्राज्य के वफादार नागरिक होने का स्वांग भी करते थे। जड़विहीन ये, श्रेष्ठ भारतीय परंपराओं और उच्च आदर्शों से बेगाने लोग प्रेरणा के लिए बर्क, बेंथम, मिल, स्पेंसर जैसे पाश्चात्य विचारकों का मुँह जोहते थे। उनमें यह कहने का साहस नहीं था कि भारत पश्चिम के समकक्ष ही नहीं, कुछ मामलों में उनसे भी श्रेष्ठ है। किंतु दयानंद ने सदैव स्वराज्य का गुणगान किया। वह देशीय राष्ट्रवाद के उन्नायक थे। उन्होंने भारतवर्ष के शानदार अतीत में विद्यमान स्वराज्य के आधार पर राष्ट्रवाद का नारा बुलंद किया। उनकी उद्घोषणा थी कि **विदेशी शासन चाहे कितना ही अच्छा क्यों न हो, वह स्वदेशी शासन का स्थान नहीं ले सकता।**²

दयानंद के राष्ट्रवाद का आधार शक्तियोग था। इसका अर्थ है स्वस्थ तन, मन एवं प्राणों की साधना। उपनिषदों में कहा गया है कि शरीर एक प्रमुख साधन है जिसका मजबूत और सुरक्षित रहना अत्यावश्यक है। स्वामी जी का सुगठित मजबूत शरीर इसका सुंदर उदाहरण था। शारीरिक शक्ति और सांसारिक विषयों की अवहेलना में रत राष्ट्र के लिए यह नया संदेश था। जब वे प्रचार कार्य में आए तो अनेक लोगों ने द्वेषवश उन पर तरह-तरह के आक्रमण किए। किंतु महर्षि ने पूरी मजबूती से आक्रमणों को झेल लिया। स्वामी जी जब चलते थे तो नवयुवकों को भी उनके साथ-साथ चलने में दौड़ना पड़ता था। शारीरिक शक्ति को इस प्रकार महत्व देकर स्वामी जी ने भारत के नौजवानों के लिए एक अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत किया। मानसिक गुलामी में जीने वाले भारतीय नवयुवकों के लिए उनका जीवन अत्यंत प्रेरणास्पद और चुनौती उपस्थित करने वाला रहा है। स्वामी जी ने अपने द्वारा लिखित सत्यार्थ प्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में शारीरिक उन्नति करने का उपदेश ही नहीं दिया, बल्कि इसे जीवन में क्रियान्वित भी किया। शरीर योग के ऊपर बल प्रदान, उनका एक विशिष्ट राष्ट्र निर्माण मूलक योगदान है।³

दयानन्द मानते थे कि आत्मविश्वास की भावना के बिना स्वराज नहीं प्राप्त किया जा सकता। स्वराज और आत्मविश्वास की चर्चा विस्तार के साथ सत्यार्थ प्रकाश के छठे समुल्लास में की गई है।⁴ राज्य के कर्तव्यों की चर्चा करते हुए दयानन्द ने स्वराज की कल्पना की है। उनके अनुसार राज्य को स्वयं अपनी रक्षा और स्थायित्व के लिए सभी नागरिकों को शिक्षा प्रदान करना चाहिए। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि अंग्रेज सरकार सभी को शिक्षा नहीं दे रही थी और ऐसा करके वह भारत के करोड़ों सामान्य नागरिकों को शिक्षा पाने के अधिकार से वंचित कर रही थी। वस्तुतः ब्रिटिश सरकार एक निरंकुश शासन चला रही थी। दयानन्द निरंकुशता के विरोधी और लोकतंत्र के समर्थक थे। उन्होंने निर्भीकतापूर्वक कहा कि देश में एक विद्यार्थ सभा, एक धर्मार्थ सभा और एक राजार्थ सभा की स्थापना की जानी चाहिए। स्वामी जी ने कहा कि निरंकुश शासक सत्ता के मद में चूर हो कर प्रजा को बर्बाद कर देता है। जिस प्रकार हिंस्र जंतु मोटे-ताजे जानवरों को खा जाते हैं ठीक उसी तरह एक निरंकुश शासक राज्य को नष्ट कर डालता है। जिस समय सारा देश राजनीतिक असंतोष से जल रहा था, उस समय दयानन्द राज्य और शासन के सामान्य कर्तव्यों की ओर लोगों का ध्यान दिला कर भारत के राष्ट्रीय पुनर्जागरण की शक्तियों का निर्माण कर रहे थे तथा लोगों के मानसिक दायरे को विस्तृत कर रहे थे। उनके अंदर जीवन और देश के प्रति उच्चतर मूल्यों का सृजन कर रहे थे। भारत में आत्म विवेचना की तीव्र पीड़ा और सांस्कृतिक तथा बौद्धिक जागृति के एक गहन दौर का अब सूत्रपात हो चुका था।

दयानन्द का राष्ट्रवाद गौरवशाली अतीत तथा पुनरुत्थानवाद पर निर्मित था। उनके पुनरुत्थानवाद ने सभी मध्यकालीन अंधविश्वासों, कुरीतियों, रूढ़ियों एवं अज्ञान से लोहा लिया। उन्होंने सत्य, नैतिकता एवं सदाचार की स्थापना की। दयानन्द ने वेदों की सहायता से भारतीय राष्ट्रवाद के लिए नैतिक और सामाजिक पृष्ठभूमि तैयार की। उन्होंने व्यक्ति के नैतिक शुद्धिकरण और सामाजिक नव-निर्माण की आवश्यकता पर जोर दिया। उनके वैदिक आदर्शवाद ने भारतवर्ष में पुनर्जागरण एवं धर्म सुधार की भूमिका अदा की।

स्वामी दयानन्द का विचार था भारत का पुनरुत्थान शिक्षा के द्वारा ही हो सकता है। उन्होंने स्त्री शिक्षा पर पर्याप्त बल दिया। वह चाहते थे कि वैदिक काल में स्त्री को जो गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त था वह उसे फिर से प्राप्त हो। उन्होंने स्त्रियों की पूर्ण विमुक्ति का समर्थन किया। दयानन्द ने बाल विवाह के खिलाफ जेहाद छेड़ दिया और अपने समर्थन में लोकमत भी तैयार किया। दयानन्द ने विधवा विवाह का समर्थन किया तथा उन्होंने यह भी सिद्ध किया कि वेदों में ऐसी अमानुषिक प्रथा का समर्थन कहीं नहीं किया गया है। आर्य समाज और उसके अनुयायियों ने उनके इन विचारों को फैलाने के लिए बड़ी संख्या में अनाथालय, विधवाश्रम और महिलाओं के लिए पाठशाला बनवाए।

दयानन्द यह बात जानते थे की अंग्रेज सरकार द्वारा उस समय अपनाई गई शिक्षा नीति बिल्कुल बेकार थी क्योंकि इसमें चरित्र निर्माण का कोई स्थान नहीं था। अतः उन्होंने एक अलग शिक्षा योजना का प्रतिपादन किया जिसमें सभी जाति वर्गों के लिए अनिवार्य शिक्षा थी। सत्यार्थ प्रकाश के तीसरे समुल्लास के अनुसार माता-पिता, शिक्षकों और रिश्तेदारों का परम कर्तव्य है कि वे बच्चों को अच्छी और ठोस शिक्षा दें तथा उन्हें सच्चरित्र और सुसंस्कृत बनाएँ। आर्य समाज ने स्वामी जी के सिद्धांतों को व्यवहार रूप में लागू किया। उनकी मृत्यु के बाद, 1886 में लाहौर में डी.ए.वी. कॉलेज की स्थापना हुई। देश के अन्य भागों में भी डी.ए.वी. स्कूल और कॉलेज खोले गए। गुरुकुल शिक्षा प्रणाली को बढ़ावा देने हेतु हरिद्वार में गुरुकुल कांगड़ी बना। इन संस्थानों से पढ़कर निकले हुए छात्रों ने

राष्ट्रीय आन्दोलन में बढ-चढकर हिस्सा लिया। ए.आर. देसाई का भी मानना है कि आर्य समाज की गतिविधियाँ राष्ट्रवादी और प्रजातांत्रिक भावनाओं से प्रेरित रहती थीं।⁵

दयानन्द का विचार था कि भारत के दलितों का उद्धार करना उतना ही जरूरी है जितना कि जाति प्रथा की कठोरता को समाप्त करना। तभी भारत का निर्माण एक ठोस आधार पर किया जा सकता है। स्वामी जी ने समाज की नीची जातियों के उत्थान कार्यों में बहुत मनोयोगपूर्वक काम किया। स्वामी दयानन्द जन्म से जाति के विरोधी थे।⁶ उनका मानना था कि हर व्यक्ति को अपना कार्य, स्वभाव, गुण और योग्यता के आधार पर मिलना चाहिए। इन आदर्शों को प्राप्त करने के लिए दो तरीके अपनाए गए। (1) जिन जातियों को यज्ञोपवीत धारण का अधिकार नहीं था उन्हें यह अधिकार प्रदान किया गया। (2) अछूतों को स्पर्श बनाया, स्पर्श जातियों के समकक्ष लाकर उन्हें उच्चतर सामाजिक आदर्शों की शिक्षा दी जाने लगी जिसका उद्देश्य अंततः यह था वे अन्य हिंदुओं के साथ बराबरी के स्तर पर आ सकें।⁷ वस्तुतः दयानन्द और आर्य समाज का उद्देश्य हिंदू सामाजिक व्यवस्था का प्रजातंत्रिकरण करना था। दयानन्द के विचारों को उनके महान शिष्य लाला लाजपत राय तथा अन्य अनुयायियों ने आगे बढ़ाया। इस तरह आर्य समाज ने जहाँ एक ओर विभिन्न जातियों के हिंदुओं को एक दूसरे के करीब लाया, वहीं उसने हिंदू समाज के अछूत वर्गों को उठाने की कोशिश की। इस प्रयत्न का महत्व इसलिए ज्यादा हो जाता है क्योंकि तब सरकार भी अछूतों तथा दलितों के कार्यों में विशेष रूचि नहीं लेती थी क्योंकि सरकार को भय था कि कहीं सरकार समर्थक उच्च जाति के लोग नाराज न हो जाएँ।

दयानन्द सरस्वती ने स्वदेशी पर बहुत जोर दिया। देश के आर्थिक नवनिर्माण और देश की सामाजिक राजनीतिक एकता के लिए यह आंदोलन चलाना बहुत जरूरी था। दयानन्द की स्वदेशी की कल्पना ने सारे देश को आकृष्ट किया। स्वामी दयानन्द ने भाव, भाषा और वेशभूषा-तीनों स्तरों पर स्वदेश प्रेम का परिचय दिया। वे स्वदेश निर्मित मोटा कपड़ा ही पहनते थे तथा वे व्यवहार एवं स्वरूप के स्तर पर विशुद्ध आर्य संन्यासी थे। उनके अनुयायियों ने स्वदेशी का जगह-जगह प्रचार किया। इस प्रकार स्वतंत्रता की राष्ट्रीय लड़ाई वर्गों तक सीमित न रह कर अब जन संघर्ष में बदल गई। सद्धर्म प्रचारक, आर्य गजट, द पंजाबी, द आर्य मैसेंजर आदि पत्रिकाओं ने स्वदेशी की वकालत की तथा भारतीयों से स्वदेशी आंदोलन में सक्रिय भाग लेने की अपील की। उन्होंने गोरक्षा के लिए गौरक्षिणी सभा की स्थापना की, जिसके पीछे आर्थिक उद्देश्य थे। किंतु कुछ वामपंथी इतिहासकारों का मानना है कि इससे सांप्रदायिकता को बढ़ावा मिला। किंतु उनका यह विचार एक पक्षीय लगता है। गौ के प्रश्न पर साम्प्रदायिक तनाव उत्पन्न करने के पीछे मुस्लिम साम्प्रदायिक तत्वों की घृणित और षड्यंत्रकारी भूमिका को नकारा नहीं जा सकता। शेखर बंधोपाध्याय का भी मानना है कि स्वामी दयानन्द जब तक जीवित रहे तब तक गौरक्षा आन्दोलन का स्वरूप मुस्लिम विरोधी नहीं था।⁸

स्वामी दयानन्द हिन्दी के प्रबल समर्थक थे और उसे राष्ट्र भाषा का दर्जा दिलाना चाहते थे। उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश भी हिन्दी में लिखा और वेदों का भाष्य भी। दयानन्द ने अपनी शिक्षा और प्रवचन भी हिन्दी में दिए। उससे उत्साहित होकर हिन्दुओं की गैर ब्राह्मण जातियों ने एक नए बौद्धिक आत्मविश्वास का अनुभव किया।

सन् 1857 की क्रांति के अनुभव से स्वामी दयानन्द को लगा कि कई देशी रियासतों की भूमिका देशभक्ति से युक्त नहीं थीं। अतः उन्होंने राजपूताने की ओर विशेष ध्यान दिया। इसका सुपरिणाम भी

सामने आया और देशी राज्यों की व्यवस्था में सुधार आने लगा। कई देशी रियासतों के शासक उनके शिष्य थे। ब्रिटिश शासन के लिए यह असह्य हो चला था कि महर्षि दयानन्द राजाओं महाराजाओं में स्वाभिमान जगाने का काम कर रहे थे। उनकी निर्भीकता और अभय के संदेश ने भारतीयों का आत्मबल बढ़ाया तथा उन्हें ब्रिटिश दासता से छुटकारा पाने के लिए व्याकुल कर दिया।

इस प्रकार आर्य समाज आंदोलन ने उत्तर भारत के एक बड़े भाग में सामाजिक एकता, आपसी सहयोग और बहुमुखी जागरण का संदेश दिया। समाज के प्रयत्नों के फलस्वरूप सभी वर्गों के हिन्दू एक दूसरे के करीब आए तथा समाज द्वारा हिन्दी के प्रयोग एवं उसके विकास से वैचारिक एकता को भी बल मिला। वस्तुतः आर्य समाज का ध्येय हिन्दू धर्म के सर्वसमन्वयवादी भावना को पुनर्जागृत करना था।⁹ सबसे बढ़कर आर्य समाज ने भारत की प्राचीन उपलब्धियों को प्रकाश में लाया। इससे देशवासियों में भरपूर आत्मविश्वास तथा आत्मसम्मान का भाव उत्पन्न हुआ। इसका भावी राष्ट्रीय आंदोलन पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

यद्यपि दयानन्द का 1883 में निधन हो गया लेकिन कालांतर में उनके द्वारा स्थापित आर्य समाज ने राष्ट्रीय आंदोलन में महती भूमिका अदा की। **वेलन्टाइन शिरोल** का मत था कि **भारतीय अशांति वास्तव में हिन्दू अशांति है और इस अशांति को फैलाने में आर्य समाज की प्रबल भूमिका रही है। शिरोल** तो आश्चर्य था कि **आर्य समाज बाहर से सामाजिक धार्मिक सुधार आंदोलन है लेकिन इसका मूल उद्देश्य तो स्वतंत्र राष्ट्रीय सरकार की स्थापना करना है।**¹⁰

दयानन्द के सार्वजनिक जीवन के संबंध में दो मत हैं। एक वर्ग उन्हें हिन्दू समाज की एकता का प्रवर्तक मानता है जबकि दूसरा वर्ग उन्हें मुस्लिम और ईसाई विरोधी मानता है। प्रो. बिपन चन्द्र यह तो मानते हैं कि दयानन्द और आर्यसमाज ने राष्ट्रवादी भावनाओं को बढ़ावा दिया, किंतु वो इसके कार्यों को साम्प्रदायिकता के बढ़ने का कारण भी मानते हैं।¹¹ यह ठीक है कि स्वामी जी वैदिक धर्म की पुनः स्थापना करना चाहते थे। वे जन्म से हिन्दू थे, हिन्दुओं के बीच में रहते थे, एक हिन्दू संन्यासी के शिष्य थे और उनके आर्य समाज को हिन्दुओं ने आर्थिक सहायता दी थी। लेकिन इस बात का भी कोई प्रमाण नहीं है कि वे मुस्लिमों के राजनीतिक तथा आर्थिक हितों के विरोधी थे। उनका विरोध तो विश्व के धर्मशास्त्रों की उन शिक्षाओं से था जिन्हें वे बुद्धि विरोधी समझते थे। उन्होंने इस्लाम और ईसाई मत की जो बातें मिथ्या थीं केवल उनका विरोध किया, ठीक उसी तरह जिस तरह हिन्दू धर्म का। लार्ड लिटन द्वारा आयोजित दिल्ली दरबार के अवसर पर उन्होंने धर्मों की सभा का आयोजन किया तथा उसमें हिन्दू और मुसलमानों की एकता पर बल दिया। उन्होंने उपदेश दिया कि सभी धर्म अपनी विभिन्न मान्यताओं के साथ जीवित रह सकते हैं। उनकी मृत्यु पर **सर सैय्यद अहमद खाँ** ने कहा था- **“स्वामी दयानन्द के अनुयायी उन्हें देवता-तुल्य जानते थे और वह निस्संदेह इसी योग्य थे। वह इतने विद्वान और अच्छे आदमी थे कि प्रत्येक धर्म के अनुयायियों के लिए सम्मान के पात्र थे।”**¹² वहीं **रेवरेण्ड सी.एफ. एण्ड्रूज** का मत था- **“स्वामी दयानन्द के उच्च व्यक्तित्व और चरित्र के विषय में निस्संदेह सर्वत्र प्रशंसा की जा सकती है वे सर्वथा पवित्र तथा अपने सिद्धांतों के अनुसार आचरण करने वाले महानुभाव थे। वह सत्य के अत्यधिक प्रेमी थे।”**¹³ **डा. ग्रिसबोल्ड** जो लाहौर में रहता था, ने कहा था- **“स्वामी दयानन्द ब्राह्मणों के प्रभाव एवं दबाव से वैसे ही मुक्त हो गए थे जैसे चर्च के प्रभाव से लूथर।”**¹⁴

यह सत्य है कि दयानन्द का आदर्श वैसा अखिल भारतीय राष्ट्रवाद नहीं था जैसा हम आज उसे समझते हैं। उन्होंने हिन्दू धर्मशास्त्रों को अपना आधार बनाया और उनका प्रभाव भी हिन्दुओं तक ही

सीमित था। ऐसे उदाहरण हैं जिनसे सिद्ध होता है कि मुसलमान दयानन्द को शत्रुता की भावना से देखते थे। किंतु इसमें दोष मुस्लिम साम्प्रदायिक दृष्टि का भी कम नहीं है। यह मानना पड़ेगा कि भारतीय राष्ट्रवाद का मुख्य तत्व हिन्दू राष्ट्रवाद ही रहा है जिसे दयानन्द के जीवन तथा शिक्षाओं से गहरी प्रेरणा मिली थी।¹⁵ **के.पी. जायसवाल तो दयानन्द का हिन्दू आत्मा को जगाने में वही योगदान मानते हैं जो मार्टिन लूथर का यूरोपीय आत्मा को जगाने में रहा है।**¹⁶ वहीं रोमा रोलां ने लिखा है—**जब सारा देश सो रहा था तब वे अकेले ही थे जिन्होंने जाग-जाग कर सबकी रक्षा की।**¹⁷ राष्ट्रवाद की सदैव यह मांग हुआ करती है कि सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन के साहचर्यमूलक बंधन सुदृढ़ हों। इसलिए यह आवश्यक होता है कि व्यक्ति अपने स्थानीय स्वार्थमूलक लगाव तथा पसंद से ऊपर उठना सीखे। अतः यदि मान भी लिया जाये कि दयानन्द हिन्दू एकता के समर्थक थे, तो भी स्वीकार करना पड़ेगा कि उन्होंने भारतीय राष्ट्रवाद को बल दिया क्योंकि यदि हिन्दू जिनका भारत में भारी बहुमत था, संगठित हो जाते तो वे निश्चय ही ब्रिटिश राजनीतिक शक्ति को चुनौती दे सकते थे।

वस्तुतः दयानन्द के राष्ट्रवाद का स्वरूप आध्यात्मिक था। यह राष्ट्रवाद आधुनिक राष्ट्रवाद से भिन्न है। आधुनिक राष्ट्रवाद मुख्यतः भौतिकवाद, जड़वाद और धर्मनिरपेक्षतावाद पर आधारित है। यह राष्ट्रवाद अधिनायकवाद, उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, प्रजातिवाद, शोषण आदि दोषों से ग्रसित पाया जाता है। दयानन्द का आध्यात्मिक राष्ट्रवाद मानव मात्र की स्वतंत्रता पर अवलम्बित है। यह घोषणा करता है कि जन्म, जाति या नस्ल से कोई ऊँचा या नीचा नहीं होता। मनुष्य की श्रेष्ठता, अश्रेष्ठता के आधार, गुण, कर्म और स्वभाव होते हैं। इटली और जर्मनी में जो राष्ट्रवाद का विकृत रूप देखने को मिला उसमें अंशतः अविवेकवाद और भावनावाद की प्रधानता थी। किंतु दयानन्द ने वैदिक साहित्य के आधार पर जिस आध्यात्मिक राष्ट्रवाद और समाज का चित्रण किया है, वह जड़वाद के स्थान पर आत्मवाद को, मानव असमानता के स्थान पर मानव समानता को और निरे अविवेकवाद के स्थान पर बुद्धिवाद और भावनावाद के समन्वय को प्रश्रय देता है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि स्वामी दयानन्द भारतीय राष्ट्र के महान निर्माता थे और उनका आधुनिक भारत के एक महान निर्माता के रूप में सदैव सम्मान किया जाएगा। भारतवर्ष के पुनरुत्थान काल में महर्षि का योगदान धर्म, समाजसुधार, राष्ट्रवाद तथा शिक्षा के क्षेत्र में असाधारण था। वस्तुतः उन्होंने आगे आने वाली सभी सामाजिक एवं राजनीतिक सुधारों तथा स्वाधीनता संग्राम की पूर्व तैयारी प्रदान की। विशेषतः उस समय जब भारतीय अपनी समस्त विरासत तथा स्वयं को हीनता की दृष्टि से देखने लगे थे। उनके पुनरुद्भववाद को कभी-कभी प्रतिक्रियावादी कह दिया जाता है किंतु यह मात्र हठधर्मिता और अल्पबुद्धिवाद है। उनके वेदवाद ने देश को शक्ति, कर्मठता, साहस और अभय प्रदान किया। उन्होंने हिन्दू धर्म को विवेक, स्वतंत्रता, आधुनिकता और लोकतंत्र के पाँवों पर खड़ा कर दिया जिससे हिन्दू एकता के आंदोलन को भारी बल मिला। किंतु उन्होंने कभी यह नहीं सोचा कि भारत में बसने वाले अन्य संप्रदायों के हितों का विरोध करके हिन्दुओं की एकता को सुदृढ़ किया जाये। दयानन्द आध्यात्मिक राष्ट्रवाद के वाहक हैं जो कि आत्मिक चैतन्य से दीक्षित हैं। आध्यात्मिक राष्ट्रवाद कोरी भावना, संकल्प, अविवेक, नेता के नेतृत्व एवं स्वराष्ट्र की सर्वोपरिता पर आधारित नहीं है। इसमें बुद्धिवाद तथा मानवतावाद का समन्वय पाया जाता है। यह उच्चतम आदर्शों से ओत-प्रोत है।

संदर्भ सूची:

1. प्रधान, रामचंद्र, राज टू स्वराज, मैकमिलन, गुड़गाँव, 2013, पृष्ठ 64
2. ग्रोवर, बी.एल., मेहता, अलका, यशपाल, आधुनिक भारत का इतिहास: एक नवीन मूल्यांकन, एस. चन्द एण्ड कम्पनी लिमिटेड, दिल्ली 2011, पृष्ठ 276
3. वर्मा, विश्वनाथ प्रसाद, आधुनिक भारतीय राजनीतिक चिन्तन, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल प्रकाशन, आगरा, 2007, पृष्ठ 114
4. सरस्वती, दयानंद, सत्यार्थ प्रकाश, षष्ठ समुल्लास, श्री घूडमल प्रह्लाद कुमार आर्य धर्मार्थ न्यास, हिण्डौन सिटी, राजस्थान, 2012, पृष्ठ 116-145
5. देसाई, ए.आर. सोशल बैकग्राउंड ऑफ इंडियन नेशनलिज्म, पॉपुलर प्रकाशन, मुम्बई, 2014, पृष्ठ 273
6. राय, लाला लाजपत, आर्य समाज, विजय कुमार गोविन्दराम हासाराम प्रकाशन, दिल्ली, 2012, पृष्ठ 153
7. राय, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 162-163
8. बंधोपाध्याय, शेखर, फ्रॉम प्लासी टू पार्टीशन: ए हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न इण्डिया, ओरियण्ट ब्लैकस्वॉन, दिल्ली, 2014, पृष्ठ 241
9. चोपड़ा, पी.एन., पुरी, बी.एन., दास, एम.एन, भारत का सामाजिक सांस्कृतिक और आर्थिक इतिहास, खण्ड 3, मैकमिलन, दिल्ली, 2009, पृष्ठ 118
10. कमल, के.एल., भारतीय राजनीतिक चिन्तन, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2010, पृष्ठ 144
11. चंद्र, बिपन, हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न इण्डिया, ओरियण्ट ब्लैकस्वॉन, दिल्ली, 2013, पृष्ठ 225
12. विद्यावाचस्पति, इन्द्र, महर्षि दयानंद, विजयकुमार गोविन्दराम हासानंद प्रकाशन, दिल्ली 2013, पृष्ठ 192
13. वही, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 193
14. गौतम, पी.एल., आधुनिक भारत का इतिहास, मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर, 2004 पृष्ठ 169
15. वर्मा, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 127
16. वर्मा, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 127
17. कमल, पूर्वोद्धृत, पृष्ठ 145

जातीय चेतना के संदर्भ में डॉ० राम मनोहर लोहिया के विचार

डॉ० अलका सहाय

शिक्षिका, राजकीय कन्या उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, छपरा

भारत में 1930 के दशक में समाजवादी आंदोलन के संस्थापकों के बीच डॉ० राम मनोहर लोहिया विलक्षण स्थान रखते हैं। संपूर्ण स्वातंत्र्योत्तर काल में लोहिया भारतीय राजनीति के एक कारक बने रहे और 1960 के दशक के मध्य से उनके विचारों के प्रभाव में बढ़ोतरी हुई जो उनकी मृत्यु के कई दशक बाद भी महत्वपूर्ण रूप से कायम है। उनके विचार सिर्फ राजनीतिक स्तर तक ही सीमित नहीं थे, बल्कि उनका विस्तार नर-नारी संबंध, भाषा की समस्या, जाति-प्रथा का निराकरण इत्यादि के हद तक हुआ था। उनके अधिकांश अनुयायियों का आज भी मानना है कि भारत में जहाँ तक पीड़ित मानवता को अभिव्यक्ति प्रदान करने का मामला है उसमें सिर्फ महात्मा गाँधी ही लोहिया से श्रेष्ठ थे और यदि गाँधी जी अधिक दिनों तक जीवित रहते तो निश्चय ही वे नेहरू की जगह पर लोहिया को अपना राजनीतिक उत्तराधिकारी घोषित करते।¹

डॉ० लोहिया ने जातिवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तैयार की थी और उसी आधार पर अपनी जाति संबंधी सिद्धांत का निर्माण किया था। वे इस संदर्भ में कहते हैं कि दुनिया के इतिहास में छोटे-छोटे गिरोहों में युद्ध हुआ और विजेता गिरोह ने पराजित गिरोह को तबाह कर डाला। किंतु भारत की यह विशेषता रही है कि उसने उन गिरोहों को नष्ट करके, उनके अधिकारों को सीमित किया और अपने जीवन का एक अंग उन्हें भी बना लिया। इस प्रकार पाँच हजार वर्षों में भारतीय समाज अनेक गिरोहों में बाँटा और इन गिरोहों का जो दलदल आज कायम है, उसमें कोई भी, सुधारक, गिरोह भी, स्वयं एक गिरोह के रूप में समा लिया जाता है।²

लोहिया ने कहा कि “अबतक का समस्त मानव इतिहास वर्ग और वर्ण के आंतरिक बदलाव और शक्ति तथा समृद्धि के एक क्षेत्र से दूसरे में बाह्य परिवर्तन का इतिहास रहा है। वह बाह्य परिवर्तन और आंतरिक बदलाव एक दूसरे से जुड़े हैं। हर वर्ग अपनी स्थिति सुधार कर ऐसी स्थिति प्राप्त करना चाहता है जिसमें मनुष्य, मनुष्य के बीच समानता हो। समस्त समाज की स्थिति में गिरावट आने पर, वर्गों का संघर्ष ऐसा रूप धारण कर लेता है कि कोई भी न्यायपूर्ण व्यवस्था तत्कालीन टूट-फूट से अधिक समतामूलक दिखाई पड़ने लगती है। वर्णों की चाहे कोई न्यायपूर्ण व्यवस्था बन पाये या नहीं किसी न किसी स्थिति में सड़ान आती ही है, और समाज का एक दो प्रयत्नों के बाद पतन आवश्यक हो जाता है। शक्ति और समृद्धि के बाह्य उत्थान से आंतरिक समानता घटती है, जबकि बाह्य शक्ति घटने पर आंतरिक असमानता बढ़ती है। एक वर्ण व्यवस्था काम करना शुरू करती है।”³

लोहिया के अनुसार, जब समाज प्रभुत्व की ओर अग्रसर होता है, तब जाति वर्ग में लुप्त हो जाती है। चूँकि उत्पादन और संपत्ति में चौतरफा बढ़ोतरी होती है, इसलिए समानता के लिए हो-हल्ला होता है। हर कोई राष्ट्रीय संपत्ति में से अपना हिस्सा बढ़ा कर लेना चाहता है। जो लोग दूसरों से कम पाते हैं वे समानता के लिए भारी हंगामा करते हैं। जब समाज ‘अधिकतम दक्षता’ हासिल कर लेता है तब उसे नीचे उतरना पड़ता है, क्योंकि प्रगति की सीमा अधिकतम दक्षता का स्तर है। वस्तुतः यह अवधारणा क्या है? किस प्रकार वह मापा जाता है? उसके निर्धारक क्या है? क्या वह सभी कालों के सभी समाजों के लिए सही है? लोहिया की ओर से कोई उत्तर उपलब्ध नहीं है।

अधिकतम कौशल प्राप्त करने के कुछ समय बाद हर सभ्यता अन्य समाजों के साथ अपने संबंध में गिरने लगती है। जब कौशल में ह्रास का गतिरोध होने से समाज के भीतर विभिन्न वर्गों की प्रतिष्ठा और उनकी आमदनी में उन्नति संभव नहीं होती, तब समानता की माँग उच्च वर्गों से छीन कर नीचले वर्ग को देने से ही पूरी सकती है।¹⁴ तब वर्ग संघर्ष विध्वंसकारी रूप धारण कर लेता है। इस अवसर पर अव्यवस्थित तारतम्य को फिर से जोड़ने की सतत् चेष्टा की जाती है और उस समय का सबसे बड़ा आदर्श न्याय बन जाता है। न्याय की माँग पर बल दिये बिना व्यवस्थित जीवन कठिन हो जाता है और असुरक्षा फैल जाती है। यदि किसी समाज में व्याप्त न्याय की भावना एक बुद्धिमत्तापूर्ण वर्ण-व्यवस्था बना पाती है जिसमें पूर्व प्रचलित समानता के विचार आमदनी और प्रतिष्ठा की ऊँचाई पर जम जाते हैं तो वह सभ्यता और कुछ काल तक चल जाती है।¹⁵ लेकिन ऐसे स्थायित्व के प्रारंभ में ही निष्क्रियता का बीज वर्तमान रहता है। उस समय तक के लिए प्रौढ़ सभ्यता का सड़ना या पिछड़ना अनिवार्य हो जाता है, जब तक कि वह कौशल की एक नई दिशा न खोज ले और उसकी रचनात्मक शक्तियाँ फिर न जाग उठें।¹⁶ एक सच्चे सनातनी हिंदू की तरह लोहिया का विश्वास था कि समाज या सभ्यता चक्रवत् आगे बढ़ती है। वही चक्र दुहराया जाता है। चक्र के ढाँचे के भीतर जाति और वर्ग के बीच दोलन होता रहता है। प्रस्तुत शोध आलेख में पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि लोहियावादी समझ यह है कि वर्ग, समानता की चाह की अभिव्यक्ति है। वर्ण, न्याय की चाह अभिव्यक्ति है।¹⁷ दूसरी बात जो लोहिया ने कही वह यह है कि यह कहना सही नहीं है कि सामंतवाद से समाजवाद का उत्थान प्रगतिशील और सर्जनात्मक है। दूसरे शब्दों में उन्होंने मार्क्सवाद के इस दृष्टिकोण को अस्वीकार कर दिया। समाज या मानव सभ्यता अपनी यात्रा में निचले स्तर के सामंतवाद के उच्चतम स्तर के पूँजीवाद में और तब समाजवाद की ओर बढ़ी है। उन्होंने मार्क्सवादियों द्वारा अपनाई गई प्रगति और सर्जनात्मकता की अवधारणा को ही अस्वीकार कर दिया।

भारत के बारे में विचार करते हुए लोहिया ने जोर देकर कहा कि उसकी तमाम गरीबी, दैन्यता और पाखंड जाति और औरत के जूड़वा कठघरे से पैदा हुआ है। जब तक जाति और औरत के कठघरे को समाप्त नहीं किया जाता, तब तक इन बुराईयों को दूर करना और देश को आगे बढ़ाना संभव नहीं है। वे उन लोगों से सहमत नहीं थे जिनका विश्वास है कि आधुनिक औद्योगिकृत अर्थतंत्र के निर्माण से ये कठघरे समाप्त हो जाएँगे। “जब तक, साथ ही साथ इन दो कठघरों को खत्म करने का सचेत और निरंतर प्रयत्न नहीं किया जाता तब तक गरीबी मिटाने का प्रयत्न छल-कपट है।”¹⁸

लोहिया का विश्वास था कि भारतीयों में दुस्साहस की भावना पैदा करने और सृजन के लिए उनकी सुप्त क्षमताओं को उन्मुक्त करने के लिए जाति व्यवस्था को विरुद्ध जंग एक आवश्यक पूर्व शर्त है। उन्होंने व्यापक रूप में फैले हुए इस विचार को उलट देने का प्रयास किया कि यातायात की सुविधाओं के विकास और लोगों की गतिशीलता के साथ औद्योगिकरण से जाति व्यवस्था अधिकांश रूप में निष्प्रभावी हो जाएगी। वे चाहते थे कि जाति-व्यवस्था पर हमले को पहली प्राथमिकता दी जानी चाहिए और इस दिशा में उनका विचार था - “एक बहुत ही मामूली कसौटी पर उसे परखा जा सकता है। जिस दिन प्रशासन और फौज में भर्ती के लिए और बातों के साथ, शूद्र और द्विज के बीच विवाह की योग्यता और सहभोज के लिए इनकार करने पर अयोग्यता मानी जाएगी, उस दिन जाति पर सही मायने पर हमला होगा। वह दिन अभी आना है।”¹⁹

जाति व्यवस्था ने शारीरिक श्रम को असम्माननीय बना दिया और उच्च जाति के लोग उसकी उपेक्षा करते हैं। इसके साथ ही उच्चतर जातियों और निम्नतर जातियों के बीच आमदनीयों की व्यापक असमानता देश में सामाजिक ठहराव के लिए जिम्मेदार है। इस स्थिति को तोड़ना आसान काम नहीं

है, क्योंकि पाँच-दस हजार वर्ष की आदतों और संस्कारों में विद्या, बुद्धि और कम से कम मौके वाली हिम्मत द्विजों में इकट्ठा हो चली है और जब तक एक तरह का अन्याय न किया जाए, शूद्रों और हरिजनों में नई सुसंस्कृत जान का लाना असंभव है।¹⁰

उन्होंने दुःख प्रकट करते हुए कहा कि देश की लगभग सभी राजनीतिक पार्टियों के नेतृत्व पर द्विजों का कब्जा है। यहाँ तक कि उनकी अपनी पार्टी सोशलिस्ट पार्टी में भी स्थिति भिन्न नहीं है। स्थिति ऐसी है कि द्विज संस्कार वाले युवा सोशलिस्ट पार्टी को कोई नया अभिमुखीकरण प्रदान करा सकने में कोई सहयोग नहीं कर रहे हैं। इस प्रकार “आठ-नौ करोड़ द्विज एक तरफ और बीस-बाईस करोड़ शूद्र दूसरी तरफ इन दोनों के बीच खाई इतनी जबरदस्त है कि अभी तक कोई राजनीतिक दल इनको पाटने के काम में लग नहीं सका।” भारत में राजनीति कभी साफ हो ही नहीं पाती है। हमेशा अपनी रिश्तेदारों और अपनी बिरादरी का ख्याल रखना, जैसे बन पड़े वैसे काम निकालना, सब तरह के लोगों को खुश रखना, और मुँह देखी बातचीत करना तथा सच्चाई के अलग-अलग पहलुओं को इस तरह देखना कि सच और झूठ में फर्क न रह जाए, बार-बार राय बदलना और सिद्धांतों की जरूरत पड़े वैसे टीका करना, कि अकृतज्ञता चरित्र का लक्षण बन जाए। जब सरकारी ओहदे पर रहे तब उदारवादी और विरोधी राजनीति चलाई तब क्रांतिकारी – ये सब द्विजों के अवगुण हैं और जहाँ जवान द्विज नेता रहे, वहाँ भी वह बहुतायत से रहे। जब तक द्विज लोग अपने और शूद्रों के बीच की खाई को लगातार सचेत होकर नहीं पाटते, तब तक उनके यह दोष रहेंगे और देश मुर्दा रहेगा।”¹¹ इस प्रकार उन्होंने कम्युनिस्टों के इस विचार को अस्वीकार कर दिया कि ये बुराईयाँ उन सामाजिक-आर्थिक अवस्था से जूड़ी हैं। जो हमारे देश में मौजूद हैं, और समाजवाद उनमें से अधिकांश को दूर कर देगा। लोहिया ने जो कुछ कहा उसका निहितार्थ था कि द्विज नेतृत्व से छुटकारा पाया जाना चाहिए और उसके स्थान पर शूद्र नेतृत्व स्थापित किया जाना चाहिए।

लोहिया ने यहाँ चेतावनी दी महज प्रतिस्थापन अनर्थकारी होगा क्योंकि “शूद्र के भी दोष हैं। जाति की संकीर्णता उनमें और भी है। अफसरों की जगह पाने के बाद शूद्र की कोशिश रहती है कि वह बिरादरी के जहर के द्वारा अपनी जगह को कायम रखें। वह अपनी दृष्टि को जल्दी व्यापक नहीं बना पाता और व्यापक विषयों की बहस में पिछड़ जाता है।”¹² इसलिए शूद्रों को सत्ता और नेतृत्व के आसन पर बिठाते हुए “इस बात को लगातार सहाय देकर और सलाह तथा बहस के द्वारा उनकी आत्मा को जगाना और सुसंस्कृत करना है, जिससे देश का बँधा पानी बहे और द्विज तथा शूद्र अपने दोषों से मुक्त हों।”¹³

लोहिया का यह विचार था कि जाति प्रथा के उन्मूलन के लिए यह आवश्यक है कि राजनीतिक नेतृत्व शूद्रों के बीच से आए, उसे व्यापक दृष्टिकोण वाला, सही मायने में राष्ट्रवादी और साथ ही समाज के सभी तबके के आदर का पात्र होना चाहिए। सत्ता और नेतृत्व के स्थान पर आने वाले शूद्रों को सिर्फ अपने समुदायों के बारे में नहीं सोचना चाहिए, बल्कि सभी के हितों और कल्याण की चिंता करनी चाहिए। लोहिया ने राय दी कि यह द्विजों के अपने हित में है कि वे जाति-प्रथा को समाप्त करने के लिए संघर्ष करें, क्योंकि जब तक जाति प्रथा बरकरार रहेगी, तब तक न तो देश विकसित होगा और न वह शक्ति ही अर्जित करेगा। फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय रूप में उसकी कोई विशेष गिनती नहीं होगी और देश के मौजूदा शासक अन्तर्राष्ट्रीय जाति व्यवस्था में अभी की तरह ही शूद्र के रूप में माने जाते रहेंगे। उन्होंने एक भविष्यवाणी की “जिस दिन द्विज यह अनुभव कर लेंगे, वे भिन्न दृष्टिकोण से जाति उन्मूलन को देखेंगे। जब अन्तर्राष्ट्रीय जाति-व्यवस्था को चकनाचूर करने के सामान्य उद्देश्य से द्विज और शूद्र एक पंक्ति में खड़े हो जाएँ तो सर्वांगीण प्रगति का होना लाजमी हो जाएगा।”¹⁴

संदर्भ-सूची

1. डॉ० राम मनोहर लोहिया, व्यक्ति और विचार, गिरीश मिश्र, ब्रजकुमार पांडेय, पृ० 5
2. जातिवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, डॉ० लोहिया हिन्दू बनाम हिन्दू, पृ० 28
3. व्हील ऑफ हिस्ट्री, राममनोहर लोहिया, पृ० 55-56
4. पूर्ववत्, पृ० 57
5. पूर्ववत्, वही
6. पूर्ववत्, वही
7. पूर्ववत्, पृ० 58
8. द कास्ट सिस्टम, राम मनोहर लोहिया, पृ० 1
9. पूर्ववत्, पृ० 04
10. पूर्ववत्, पृ० 12
11. पूर्ववत्, पृ० 13
12. पूर्ववत्, वही
13. पूर्ववत्, वही
14. पूर्ववत्, पृ० 18

उत्तराखण्ड के शिक्षा के विकास में मिशनरियों का योगदान

ध्रुव कुमार

ए.ए., गया कॉलेज, गया

औपनिवेशिक शासन की स्थापना के साथ ही कुमाऊँ की धार्मिक व्यवस्था को ईसाईयत से चुनौती मिलना स्वभाविक था क्योंकि सरकार का परोक्ष छूट ईसाई धर्म को प्राप्त था, यद्यपि कुमाऊँ से जुड़े हुए हिमालय के प्रति (मुख्यतः तिब्बत के प्रति) आकर्षण अंग्रेजों के भारत आगमन के साथ ही प्रारम्भ हो चुका था। 1624 ई० में सर्वप्रथम अन्तोनियों दे आन्द्रादे ने श्रीनगर-गढ़वाल से होकर तिब्बत की यात्रा की थी। पुनः 1625 में उसने तिब्बत यात्रा की तथा छपराड़ में गिरजाघर बनाया। सत्रहवीं सदी में ईसाई पादरियों का भ्रम था कि तिब्बत के गोरी चमड़ी वाले निवासी ईसाई के अनुयायी हैं, पर धर्म के प्रचारकों से सम्बन्ध न रहने से ईसाई मत के कुछ सिद्धान्तों को भूल चुके थे। 1936 ई में डी० पेरिस व दौस अंजोस नाम दो पादरी श्रीनगर के प्रचार केन्द्र में भेजे गये। दौस अंजोस की मृत्यु हो जाने पर 1637 में पादरी मोपलिक को श्रीनगर भेजा गया था। 1657 से जैसुइट पादरियों ने श्रीनगर में निवास बन्द कर दिया। इसके लगभग आगामी 200 वर्षों तक सम्पूर्ण उत्तराखण्ड में ईसाई धर्म प्रचारकों की गतिविधियाँ ठप्प सी हो गई।

1815 ई० में कुमाऊँ अधिकार के पश्चात् प्रारम्भ में अंग्रेजों ने स्थानीय धर्मरीति-रिवाजों में हस्तक्षेप नहीं किया और 1824 में बिशप हैबर ने इस क्षेत्र की यात्रा की और ईसाईयों को यहाँ से टारटरी तक फैलाने का सपना देखा,² लेकिन मिशनरी का सक्रिय कार्यक्रम 1850 के बाद हुआ। इस बीच मिशनरी सोसाइटी का पादरी खैरैण्ड बडन अल्मोड़ा पहुँचा तथा यहाँ पर लंदन मिशनरी सोसाइटी की स्थापना की। कुमाऊँ कमिश्नर रैमजे तथा उसके मित्रों ने बडन को सब प्रकार से सहायता देने का वचन दिया।³ बडन द्वारा कुमाऊँ (अल्मोड़े) में स्कूल खोला गया जो कि आज “रामजै स्कूल” के नाम से विख्यात है, यह स्कूल कुमाऊँ का प्रथम स्कूल था।⁴ इस स्कूल के अलावा एक लड़कियों का स्कूल, अस्पताल, एक अनाथालय, एक पुस्तकालय की स्थापना की गई। मिशन के इन कार्यों ने निर्धन तथा निम्न वर्ग के परिवारों को तेजी से प्रभावित किया, किन्तु बडन के द्वारा कुमाऊँ में ईसाई धर्म का प्रचार अधिक सरल कार्य न था, क्योंकि गो मांस का भक्षण करने वाले ईसाई धर्म के प्रति कुमाऊँ वासियों का आकर्षण होना इतना सरल नहीं था फिर भी बडन के प्रयासों से ईसाई धर्म प्रचारकों ने नैनीताल और अल्मोड़ा में प्रचार कार्य तत्परता से किया। साथ ही ब्रिटिश शासन के लिए यह सौभाग्य की बात थी कि उनको अपने साम्राज्य का विस्तार तथा स्थायित्व में ईसाई मिशनरियों के रूप में एक आक्रमक सहयोगी मिला। जिसने मानवतावादी गतिविधियों और धर्मांतरण को कोशिशों द्वारा निम्न जातीय, निम्न वर्गीय परिवारों में ब्रिटिश सत्ता के प्रति समर्थन को व्यापक रूप दिया।⁵ देखा जाय तो 1850 के बाद से ही यहाँ पर प्रभावी होते जा रहे ईसाई मिशनरियों ने मानवतावादी गतिविधियों विशेषतः शिक्षा सुविधाओं तथा स्वास्थ्य सेवाओं के विस्तार व निम्न वर्गों को उन्नत करने के बहाने से ईसाई मत का प्रचार किया। उनका उद्देश्य न केवल अधिकाधिक लोगों को ईसाई धर्म में रूपांतरित करना था, वरन् ब्रिटिश सत्ता के प्रति स्थानीय जनमत में निष्ठा व समर्थन को भी बढ़ाना था, औपनिवेशिक शासकों के प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष सहयोग और समर्थन से न केवल

उन्हें अपनी गतिविधियों के विस्तार में मजबूती मिली बल्कि साथ ही उन्होंने इसे एक आन्दोलन का रूप दे दिया। विशेषकर शिक्षण सुविधाओं व गतिविधियों में उनकी सक्रिय निष्ठा ने उनकी लोकप्रियता को उच्च जातियों में भी बढ़ा दिया। जिन्होंने अपनी आरम्भिक हिचकिचाहट के बाद मिशन स्कूलों से शिक्षा प्राप्त करना आरम्भ कर दिया।⁶ अतः इस बीच उभरने वाले स्थानीय अफसर, राजनीतिज्ञ, कवि, पत्रकार, साहित्यकार आदि की शिक्षा मिशन स्कूलों से होना इस बात की ओर इशारा करता है कि मिशनरियां शिक्षा के क्षेत्र में व्यापक व लोकप्रिय होती जा रही हैं।⁷

अब धीरे-धीरे पाश्चात्यकरण, बाह्यणवादी, कर्मकाण्डों तथा जातिगत भेदभाव से ऊबकर मिशनरियों द्वारा सरल, समतायुक्त, सामाजिक सेवा के रूप में ईसाई धर्म से प्रभावित होकर 19 वीं सदी के अन्त तक उच्च वर्ण के पाण्डे, पन्त, जोशी, सनवाल व रावत भी ईसाई बनने लगे।⁸ मगर मिशनरियों का सबसे अधिक प्रभाव निम्न जातियों पर पड़ा, उसका कारण व्यापक गरीबी, अशिक्षा तथा निम्न वर्ग के प्रति उच्च वर्ग द्वारा भेदभाव व शोषण की नीति।

उक्त बातों ने एक प्रकार से मिशनरियों के लिए उर्वर वातावरण तैयार कर दिया था और 19वीं सदी के अन्त तक मिशनरियों को निम्न जातियों के धर्मांतरण में बहुत सफलता मिली। 1881 में यहाँ के तत्कालीन चार जिलों अल्मोड़ा, नैनीताल, गढ़वाल और कुमाऊँ में ईसाई धर्म को मानने वालों की संख्या 4671 थी और 1881 व 1911 में उक्त चार जिलों की कुल जनसंख्या क्रमशः 1190130 व 153865 थी।⁹ जबकि चौका देने वाली बात यह थी कि केवल अल्मोड़ा जिले में यह संख्या- 2393 थी।¹⁰ और यह बढ़कर 1911 में 2581 हो गई।¹¹ इन चार जिलों में 1881 से 1911 तक कुल जनसंख्या क्रमशः 1190130 व 153865 थी, तथा टिहरी रियासत की 199836 और 300819 थी।¹² बद्रीदत्त पाण्डे लिखते हैं कि धर्म परिवर्तन का यह सिलसिला पिथौरागढ़ में 1884-85 के आस-पास से प्रारम्भ हुआ। उसके बाद चौदास, जोहार तथा धारचूला में तीव्र गति से आगे को फैलता चला गया।¹³ इसके साथ ही डंगोली, द्वाराहाट व बेरीनाग में चर्च की स्थापना हुई।¹⁴ मिशनरियां लोगों को बराबर अपनी ओर आकर्षित कर रही थी, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण अस्कोट के पुष्कर रजवार ने अपनी बिमारी के उपचार करने के प्रतिफल के रूप में मि० मार्या को चर्च हेतु जमीन दी।¹⁵

अन्ततः यह सत्य है कि ईसाई मिशनरियों ने समाज में अपने प्रभाव को बढ़ाने के लिए समाज सेवा का कार्यक्रम चलाया। जिसमें स्त्री शिक्षा के विस्तार पर विशेष बल दिया और उनके द्वारा नैनीताल में तीन कन्या पाठशालाएं खोली, जिनमें दो अमेरिकन मिशन के प्रबन्ध में थी और एक सरकारी स्टेट के खर्चे से चलती थी।¹⁶ इसके अलावा मिशनरियों द्वारा महिलाओं के लिए अस्पताल, अनाथाश्रम, आवासगृह तथा डिस्पेंसरी की स्थापना का प्रयास किया जा रहा था।¹⁷ अतः स्वाभाविक ही स्त्रियों के लिए शिक्षण संस्थाओं का खोला जाना और उनका विस्तार उनकी संगठनात्मक गतिविधियों का महत्वपूर्ण अंग बना, यद्यपि मिशनरियों का वास्तविक उद्देश्य मानवतावादी गतिविधियों के रूप में शिक्षणात्मक गतिविधियों के विस्तार के माध्यम से अधिकाधिक स्थानीय जनता को ईसाई धर्म की ओर आकर्षित कर उनका धर्मांतरण करना था।

स्त्री शिक्षा के प्रसार हेतु उनके प्रयासों व रुचि ने समाज में स्त्री शिक्षा के प्रति स्थायी निषेध आत्मक नकारात्मक दृष्टिकोण को परिवर्तित करने में मदद की। जहाँ तक शिक्षा के क्षेत्र में उनका अधिक ध्यान देना था। वह आकस्मिक नहीं वरन् सोची समझी रणनीति का ही एक अंग था। केवल धर्मांतरण करना किंतु लोगों को शिक्षित न करना मिशनरियों की दृष्टि में परस्पर विरोधी सत्य थे। उनका यह स्पष्ट दृष्टिकोण था कि केवल धर्मांतरण करना न केवल व्यर्थ बल्कि खतरनाक भी है।

अतः मिशनरी कार्यों की सफलता के लिए लोगों को शिक्षित किया जाना जरूरी है।¹⁸ उक्त बातों को देखते हुए मिशनरियों का प्रमुख उद्देश्य ईसाई धर्म की शिक्षाओं के प्रचार के लिए शिक्षा और शिक्षण संस्थाओं को बढ़ावा देना अति आवश्यक था क्योंकि गैर ईसाईयों के जीवन को ईसाईयत के सिद्धान्तों के माध्यम से प्रभावित किया जा सके।¹⁹ मिशनरी ने केवल यूरोप में विकसित शिक्षण की सार्वजनिक संस्थाओं से पूर्णतया परिचित थे बल्कि उसके लाभदायक परिणामों को भी अनुभूत करते थे। उनका यह निश्चित विश्वास था कि ब्रिटिश शासन के नैतिक आधार के विस्तार, सुदृढीकरण व जनता में उसकी लोकप्रियता के लिए जितनी जरूरी थी पुरुषों की शिक्षण व्यवस्था उससे कम जरूरी नहीं था। स्त्री शिक्षा का प्रसार, स्त्रियों का परिवार में केन्द्रीय महत्वपूर्ण भूमिका के चलते मिशनरियों द्वारा धर्मांतरण को स्थायी और सफल बनाने के लिए स्त्रियों को शिक्षित करने पर बल देना तथा उन्हें प्रभावित करना नितान्त स्वाभाविक ही था।

मिशनरियों में स्त्री शिक्षा हेतु अपने प्रयासों को संगठित रूप दिया “जनाना व्यवस्था” व सार्वजनिक विद्यालयों की स्थापना के माध्यम से, स्त्री-पुरुष के सह-शिक्षण की व्यवस्था के प्रति समाज के नकारात्मक दृष्टिकोण ने मिशनरियों को स्त्रियों हेतु पृथक स्कूल विद्यालयों को स्थापना हेतु प्रेरित किया।²⁰ ब्रिटिश प्रशासकों का समर्थन मिशनरियों को न केवल प्राप्त ही था। अपितु उन्हें विदेशों से प्राप्त हो रही आर्थिक सहायता भी इस कार्य हेतु आर्थिक मजबूती प्रदान करती थी। मिशनरी संगठनों ने महिला प्रचारकों (मिशनरी) के माध्यम से ताकि उन्हें भारतीय स्त्रियों का विश्वास हासिल करने में सुविधा हो। स्त्री शिक्षा हेतु “जनाना व्यवस्था” के माध्यम से ‘परिवार’ में हस्तक्षेप का अधिकार प्राप्त कर लिया था।

राष्ट्रीय स्तर पर 1840 में महिला मिशनरियों का आगमन हुआ, जिन्हें महिलाओं और मध्य कार्य करने का दायित्व सौंपा गया था। उन्होंने स्वयं को वयस्क विवाहिता महिलाओं को ईसाई धर्म में धर्मांतरित करने के उद्देश्य के प्रति समर्पित कर दिया। इन महिला ईसाई प्रचारकों को शिक्षक के रूप में घरों में प्रवेश की सुविधा हासिल हो जाती थी। जहाँ वे महिलाओं को कहानियों के माध्यम से शिक्षा देती थी, इसके अलावा उन्हें कढ़ाई-बुनाई-सिलाई का शिक्षण प्रशिक्षण देती थी और घर के सदस्यों को ईसाई धर्म की ओर आकर्षित करने का भी भरपूर प्रयास करती थी। उन्हें अपने उद्देश्य में सफलता बहुत ही कम मिलती थी। लेकिन उन्होंने अपना उत्साह न छोड़ा बल्कि अपनी भारतीय शिष्याओं और ईसाई परिवार की भारतीय महिलाओं को कन्याओं के विद्यालय में अध्यापिका के रूप में नियुक्ति दे दी गई।²¹ इन मिशनरियों ने लड़कियों की शिक्षा हेतु अलग विद्यालयों की स्थापना की, जिससे प्राइमरी तथा मिडिल स्तर की शिक्षा का प्रबन्ध किया गया। अतः यहाँ पर मिशनरियों ने बहुत लोकप्रियता प्राप्त की, माध्यमिक शिक्षा के क्षेत्र में सर्वाधिक कार्य मिशनरी विद्यालयों द्वारा किया गया जो इस प्रकार है- सर्वप्रथम 1845 में “जीसस एण्ड मैरी कान्वेंट स्कूल” की स्थापना हुई,²² साथ ही 1854 में लंदन सोसाइटी द्वारा मसूरी में “बुडस्टाक हाई-स्कूल” की स्थापना की गयी।²³ 1859 में “यू०जी०एन०आई० गल्स इण्टरमीडिएट कॉलेज” की स्थापना देहरादून में प्राइमरी स्कूल के रूप में हुई। तत्पश्चात् 1870 में इसे मिडिल स्कूल तथा 1890 में हाईस्कूल की मान्यता मिली। 1858 में इण्टरमीडिएट स्कूल बना दिया गया। 1864 में मिशनरी आर्क देक प्रेट द्वारा कन्याओं की शिक्षा हेतु मसूरी में “कैनेविले हाउस स्कूल” खोला गया।²⁴ 1867 में ब्राडबुरी द्वारा नैनीताल में “डायोसिसन स्कूल” की स्थापना की गयी जो कि प्रारम्भ में कन्या और बालकों का साथ-साथ स्कूल था। 1874 में पृथक विद्यालय के रूप में लड़कियों के लिए “आलसेंट डायोसिसन गल्स कॉलेज” की स्थापना स्टोनले कम्पाउण्ड में की गयी, जिससे कन्याओं की संख्या 1874 तक 85 हो गयी थी।²⁵

1878 में मदर सैलेसिया द्वारा नैनीताल में “सेंट मेरी कान्वेंट स्कूल” की स्थापना हुई, जिसमें उस वक्त 40 छात्राएँ पढ़ाई कर रही थीं और 1928 तक इनकी संख्या बढ़कर 200 हो गई।²⁶ शिक्षा को मजबूती देने के लिए कमिशनर रैम्जे के प्रयासों से श्रीमती ब्राडबुरी के निर्देशन में मैथोडिस्ट मिशन सोसाइटी द्वारा 1869 में कुमाऊँ में छात्र-छात्राओं के लिए एह सह-शिक्षण विद्यालय की स्थापना की। 1870 में अमेरिकन मिशन द्वारा एक अतिरिक्त छात्राओं का विद्यालय खोला गया, जिसमें छात्राओं की संख्या लगभग 20 थी।²⁷ 1869-70 में मिशनरी श्रीमती मानसेल ने चौपड़ा में एक बालिका विद्यालय की स्थापना की, जिसमें मुख्य रूप से अनाथ बालिकाओं को लिया गया।

कुछ समय पश्चात् अन्य बालिकाओं के लिए “बालिका छात्रावास” की स्थापना की गई।²⁸ 1873 में डब्ल्यू०एन० ट्राइब के डिजायन पर अल्मोड़ा में एक कन्या स्कूल खोला गया।²⁹ इसी वर्ष 1873 में लाडूर क्षेत्र (देहरादून) में यूरोशियन लड़कियों के लिए “वुडस्टाक कॉलेज” की स्थापना हाईस्कूल के रूप में की गयी, जिसे कालान्तर में कॉलेज के रूप में परिवर्तित कर दिया।³⁰ इलाहाबाद यूनिवर्सिटी से सम्बद्ध कर दिया, 1884 में अमेरिकन मैथोडिस्ट मिशन ने मिस इ०के० नोअलस के निर्देशन में मिशनरी और यूरोपीय परिवारों के बच्चों के लिए नैनीताल में “वेलेजली गर्ल्स हाईस्कूल” की स्थापना की।³¹ और अंग्रेज कमिशनर हेनरी रैम्जे के प्रश्रय में ईसाई बडन ने सर्वप्रथम अल्मोड़ा में एक कन्या पाठशाला का शुभारम्भ किया।³² “

ओकग्रोप स्कूल” 1896 में झाड़ी पानी में लड़कियों के शिक्षा हेतु स्थापित किया गया था, यह स्कूल वस्तुतः ईस्ट इण्डिया रेलवे कम्पनी ने 1888 में यूरोपीय कर्मचारियों के बच्चों की शिक्षा के उद्देश्य से स्थापित किये गये स्कूल का विस्तार था, जिसमें छात्रों की संख्या बढ़ने के कारण कन्याओं के लिए अलग से स्कूल खोलने की प्रेरणा प्राप्त हुई और 1950 में इस स्कूल में 150 कन्याएँ पढ़ने लगी।³³ इसी वर्ष 1896 के आसपास गडोली में अमेरिकन मेथोडिस्ट मिशन ने लड़कों व लड़कियों के लिए एक साथ स्कूल की व्यवस्था की, जब 1899 में इनसाइन गिल इस स्कूल का प्रबन्धक बनने के बाद से इसमें ईसाई लड़कियाँ ही प्रवेश पाने लगी, साथ ही लड़कियों के लिए छात्रावास की व्यवस्था भी की गयी। मिस गिल के प्रयासों से 1903 में इस स्कूल को मिडिल स्कूल में परिवर्तित कर दिया गया परिणाम स्वरूप स्कूल का नाम “मेरी इनसाइन गिन गर्ल्स स्कूल” रखा गया। इस कन्या स्कूल से 1905 में प्रथम बार लड़कियों ने मिडिल परीक्षा दी और लड़कियों को अध्यापिकाओं या दाईयों के रूप में प्रशिक्षण के लिए भेजा जाने लगा।³⁴

चूँकि दलित व निर्धन वर्ग हेतु शिक्षा सुविधाओं का विशेष अभाव था। अतः उनके लिए विद्यालयों की स्थापना के अतिरिक्त मिशनरियों द्वारा स्त्री शिक्षा पर ध्यान केन्द्रित करने का एक अन्य महत्वपूर्ण कारण उत्तराखण्ड में हिल स्टेशनों, सैन्य छावनियों व ब्रिटिश प्रशासनिक व आर्थिक गतिविधियों के विस्तार के फलस्वरूप बढ़ी संख्या में यूरोपीय तथा यूरोशियन जनसंख्या की उपस्थिति भी थी जिसकी उचित व कुशल शिक्षा व्यवस्था की आवश्यकता ने न केवल मिशनरी शिक्षण गतिविधियों को प्रोत्साहित किया बल्कि उसे लोकप्रिय विस्तार भी दिया, 1904 में यूरोपियन तथा यूरोशियन जनसंख्या के लिए नैनीताल व मसूरी जिलों में 21 मिशनरी शिक्षण संस्थाएँ कार्यरत थीं। जिनमें लगभग 2100 छात्र अध्ययनरत थे।³⁵

सेंशस ऑफ इण्डिया 1931, पार्ट-1 रिपोर्ट ऐसे शहरी क्षेत्रों में जो सैन्य छावनियों व हिल स्टेशनों के रूप में विकास की ओर बढ़ा, में यूरोपीय व यूरोशियन जनसंख्या बढ़ा हुआ प्रतिशत स्पष्ट करता है।³⁶

	कुल जनसंख्या				यूरोपियन व एंग्लो-इंडियन जनसंख्या				
	कुल (1)	पुरुष (2)	स्त्री (3)	स्त्रियों का प्रतिशत (4)	कुल (5)	पुरुष (6)	स्त्री (7)	स्त्रियों का प्रतिशत (8)	स्त्रियों का कुल महिला जनसंख्या के सन्दर्भ में (9)
नैनीताल नगरपालिका	17375	12167	5208	30:	1996	1047	949	48:	18:
मंसूरी नगरपालिका	17115	12362	4753	28:	3484	1706	1778	51:	37:
रानीखेत सैन्य छावनी क्षेत्र	9489	7246	2243	24:	3182	2578	604	19:	27:
चकराता सैन्य छावनी क्षेत्र	5935	4918	1017	17:	2101	1871	230	11:	23:
लंदूर सैन्य छावनी क्षेत्र	2878	2071	807	28:	310	142	168	54:	21:

इन मिशनरियों के प्रभाव से ही उत्तराखण्ड में 1920 के आस-पास महिलाओं की शिक्षा घर-घर में चर्चा का विषय बन गया। वस्तुतः उत्तराखण्ड में यह वह समय था जब राष्ट्रीय आन्दोलन की हलचलें होने लगी थी, यह भी उत्तराखण्ड के लिए सौभाग्य की बात थी कि यहाँ पर सामाजिक सुधारों और राजनैतिक चेतना के कारण महिला शिक्षा को सामाजिक समर्थन मिलना भी प्रारम्भ हो गया था और लोग समझने लगे थे कि शिक्षा वह वस्तु है जो मनुष्य को मनुष्य बनाती है, यह तो सभी कहते हैं कि शिक्षित आदमी की तीन आँखें होती हैं यह तीसरी आँख बुद्धि है जो शिक्षा से खुलती है।³⁷ 1913 में कन्या मिशन, पौड़ी के बेहतरीन परीक्षा परिणामों की प्रशंसा करते हुए “गढ़वाली” पत्र ने लिखा कि इससे हमें यही ज्ञात होता है कि गढ़वाली लड़कों की अपेक्षा लड़कियाँ चतुर होती हैं और बुद्धिमान होती हैं परन्तु शोक इस बात का है कि हमारे यहाँ के लोगों का ध्यान अभी स्त्री शिक्षा की ओर प्रायः नहीं गया है।³⁸ उसी क्रम में गढ़वाली यह भी लिखता है कि जैसे मकान की बुनियाद उसके मजबूती के लिए है उसी प्रकार समाजोन्नति के लिए विद्या है। सुतरां मान्यवर समाज सुधारकों के लिए आवश्यक है कि पहले अपने समाज में विद्या के बीज बोये,³⁹ धीरे-धीरे अब मिशनरियों द्वारा महिलाओं के शिक्षा सम्बन्धी कार्यों पर कुमाऊँनी जनता का ध्यान जाने लगा उन्हें महसूस भी होने लगा कि महिलाओं की शिक्षा न केवल सामाजिक संगठन की प्रमुख इकाई के रूप में “परिवार” को और मजबूत करेगी बल्कि भारतीय सामाजिक सांस्कृतिक परम्परा को भी सशक्त करेगी।

स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में मिशनरियों के प्रयासों की व्यापकता व महत्ता का स्पष्टीकरण इस तथ्य से आसानी से होता है कि उत्तराखण्ड आजादी के पहले विशेषतः 1911 तक स्त्री शिक्षा के प्रसार में सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान मिशनरियों का था। देहरादून जिले में शिक्षा के विस्तार में मिशनरी प्रयासों की महत्ता पर टिप्पणी करते हुए जी०आर०सी० विलियम लिखते हैं कि देहरा मिशन के प्रभाव क्षेत्र के बाहर मेजर यंग के समय से शिक्षा की सामान्य प्रगति अत्यन्त क्षीण रही। जिन्होंने कि अपने निजी व्यय पर गोरखा लाइन में एक स्कूल खोला था, ने अनुभव किया कि वे सैनिकों के बच्चों के अतिरिक्त अन्य किसी को भी विद्यालय में प्रवेश करने के लिए प्रेरित नहीं कर सकें।⁴⁰ उन्होंने आगे लिखा है कि 1874 में देहरादून क्षेत्र के उन निवासियों को छोड़कर जो कि इस क्षेत्र में, कार्यरत मिशनरियों के प्रभाव में थे।

अन्य निवासियों की शिक्षा का स्तर अत्यन्त पिछड़ा हुआ था⁴¹ बन्नीदत्त पाण्डे लिखते हैं कि भावर के स्कूलों का प्रबन्ध मिशनरियों के हाथ में था।⁴² तथापि मिशनरियों के स्त्री शिक्षा सम्बन्धित प्रयासों की लोकप्रियता विशेषतः यूरोपियन समुदाय और धर्मांतरित ईसाईयों के मध्य तक सीमित रही। नवीन

धर्मान्तरित (ईसाई धर्म में) लोगों की लड़कियों को सम्भवतः उनके भाईयों की तुलना में स्कूल में ज्यादा भेजा जाता था, क्योंकि उन्हें परिवार की आजीविका चलाने वाले सदस्य के रूप में ज्यादा देखा जाता था⁴³ निम्न जातियों के विपरीत उच्च जातियों के सम्पन्न आभिजात्य वर्ग में मिशनरी स्कूलों को संदिग्ध रूप में देखा जाता था, वे मानते थे कि इनमें उनकी लड़कियों का प्रवेश उन्हें धार्मिक, नैतिक तथा चारित्रिक रूप से भ्रष्ट कर देगा।

अतः मिशनरियों के स्त्री शिक्षा के शिक्षण संस्थाओं व प्रयासों के प्रति वे अधिकांशतः अनिच्छुक व तटस्थ बने रहे। स्त्रियों की शिक्षा हेतु मिशन स्कूलों का विस्तार तथा लोकप्रियता अधिकांशतः शहरी केन्द्रों जहाँ कि यूरोपियन तथा यूरेशियन जनसंख्या अधिकांश केन्द्रित थी, तक ही सीमित रही तथापि मिशनरियों ने स्थानीय समाज में स्त्री शिक्षा को एक लाकेप्रियता विचार के रूप में प्रभावशाली तरीके से विकसित होने में सर्वाधिक मदद की।⁴⁴ उक्त तमाम बातों को देखते हुए स्पष्ट हो जाता है कि मिशनरियों द्वारा स्त्रियों की शिक्षा के लिए किये गये संगठित प्रयासों तथा गतिविधियों ने समाज के विशेष सर्वण वर्ग के स्त्री शिक्षा के प्रति विशेषात्मक दृष्टिकोण में परिवर्तित को प्रेरित किया और यह भी सच है कि आजादी से पहले विशेषतः 1911 तक स्त्री शिक्षा के प्रसार में सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान मिशनरियों का था।

सन्दर्भ सूची

1. मुनौला, मनोहर सिंह: ब्रिटिश कुमाऊँ का सामाजिक इतिहास 1815-1947 शोध प्रबन्ध: कुमाऊँ विश्वविद्यालय नैनीताल: नवम्बर 1989 : पृष्ठ- 293।
2. हैबर, डी० डी० रेनीगाल्ड: नैरेटिव ऑफ ए जर्नी थ्रेंद अपर प्रोविन्सेज ऑफ इण्डिया: लन्दन: 1828: पृष्ठ- 324-25।
3. कैनेडी जेम्स: लाइफ एण्ड वर्क्स इन बनारस एण्ड कुमाऊँ: लन्दन: 1884: पृष्ठ- 252।
4. कैनेडी जेम्स: उक्त।
5. भट्ट, जया: बीसवीं शताब्दी के दौरान ब्रिटिश शासन का उत्तराखण्ड के समाज पर प्रभाव (स्त्रियों के विशेष सन्दर्भ में एक सामाजिक अध्ययन) 2008: शोधा प्रबन्ध: कुमाऊँ विश्वविद्यालय नैनीताल: पृष्ठ- 184।
6. उक्त: पृष्ठ- 184।
7. पाठक, शेखर: उत्तराखण्ड में सामाजिक आन्दोलनों की रूपरेखा: पहाड़ अंक-2: 1986, पृष्ठ- 98-99।
8. उक्त: पृष्ठ- 106।
9. डबलरूल, शिवप्रसाद: उत्तराखण्ड का इतिहास: भाग- 8: बीरगाथा प्रकाशन दो-गडडा गढ़वाल: 1965-78 : पृष्ठ- 150।
10. सैसस आफ इण्डिया: 1881: पृष्ठ- 2-5।
11. सैसस: 1911: पृष्ठ- 788-97।
12. सैसस: 1911: पृष्ठ- 6-7।
13. पाण्डे, बद्रीदत्त: कुमाऊँ का इतिहास: प्रेम कुटीर अल्मोड़ा-1937: पृष्ठ- 454-455।
14. भट्ट, जया: पृष्ठ- 185।
15. स्वाधीन प्रजा (हिन्दी समाचार पत्र): 13 मई, 1931: पृष्ठ- 6।
16. पाण्डे, बद्रीदत्त: पृष्ठ- 90।
17. डिस्ट्रिक्ट गजेटियर ऑफ दि यूनाइटेड प्राविंस ऑफ आगरा एण्ड अवध, सैक्शन-11, वा० XXXV, अल्मोड़ा डिस्ट्रिक्ट: पृष्ठ- 22-23।
18. भट्ट, जया: पृष्ठ- 374।
19. विलियम, जी०आर०सी०: हिस्टारिकल एण्ड स्टेटिस्टिकल मेयायर ऑफ देहरादून: रूड़की- 1874: पृष्ठ- 34।
20. भट्ट, जया: पृष्ठ- 375।

21. उक्तः पृष्ठ- 375।
22. वाल्टन, एच०जी०: डिस्ट्रिक्ट गजेटियर ऑफ दि यूनाइटेड प्राविंस, देहरादून: वाल्यूम-1: पृष्ठ- 159।
23. उक्त।
24. पाण्डे, बद्रीदत्तः पृष्ठ- 39।
25. उत्तर-प्रदेश डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, देहरादून- 1978: पृष्ठ- 201।
26. उक्त।
27. क्ले, जे०एन०: नैनीताल : ए हिस्टोरिकल एण्ड डिसक्रिप्टिव आकाउण्ट: पृष्ठ- 49-50।
28. वाल्टन, एच०सी०: अल्मोड़ा गजेटियर- इलाहाबाद, 1928: पृष्ठ- 49-50।
29. डबराल, जिवप्रसाद: उत्तराखण्ड का इतिहास: भाग- 8 : पृष्ठ- 151।
30. वाल्टन, एच०जी०: पृष्ठ- 156।
31. उक्तः पृष्ठ- 156।
32. पाण्डे, बद्रीदत्तः पृष्ठ- 39।
33. शर्मा, डी०डी०: उत्तराखण्ड का सामाजिक एवं राजनैतिक इतिहास: 2001, वाल्यूम-1, अल्मोड़ा: पृष्ठ- 210।
34. वाल्टन, एच०जी०: पृष्ठ- 157-58।
35. भट्ट, जया: पृष्ठ- 376।
36. सेंसस ऑफ इण्डिया: 1931: रिपोर्ट: पृष्ठ- 146-47।
37. गढ़वाली: हिन्दी समाचार पत्र: अगस्त 1907 भाग-3: पृष्ठ- 5।
38. गढ़वाली: जून 1913 भाग-3: पृष्ठ- 83।
39. गढ़वाली: अप्रैल 1908 भाग-3, अंक 12: पृष्ठ- 26।
40. भट्ट, जया: पृष्ठ- 318।
41. उत्तर-प्रदेश डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, देहरादून-1979: पृष्ठ- 271।
42. पाण्डे, बद्रीदत्तः पृष्ठ- 487।
43. भट्ट, जया: पृष्ठ- 381।
44. उक्त।

चम्पारण में किसान आन्दोलन

शशिबाला

शोधार्थी, इतिहास विभाग, बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

अंग्रेजों के शासन में चम्पारण के किसान, जमींदारों और साहूकारों के पंजों में जकड़े हुए थे और कहीं-कहीं उनकी दशा मजदूरों से भी बदतर थी। धन का अभाव, अज्ञानता, भाग्यवादिता तथा अपनी भूमि के प्रति उनका अत्यधिक लगाव उन्हें अपना संगठन बनाने और उत्पीड़न से मुक्ति दिलाने में बाधक बना रहा परन्तु धीरे-धीरे परिस्थितियों में परिवर्तन होना प्रारम्भ हुआ।

19वीं शताब्दी में किसानों की अशांति, विरोधों, विद्रोहों तथा प्रतिरोधों में प्रकट हुई। जिनका मुख्य उद्देश्य सामन्तशाही बन्धनों को तोड़ना था। उन्होंने बेदखली और साहूकारों की ब्याजखोरी के विरुद्ध विरोध प्रकट किया। किसानों के सुव्यवस्थित संगठन न होने के कारण किसानों के विद्रोहों ने राजनैतिक रूप धारण नहीं किया, परन्तु 20वीं शताब्दी में वर्ग जागृति आई और किसान सभाओं की स्थापना हुई। स्वतंत्रता प्रप्ति के पूर्व के दशक में किसान सभाएं अधिकाधिक वामपंथी राजनैतिक दलों, जैसा कि कांग्रेस समाजवादी दल तथा भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के प्रभाव में आई।¹

19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारतीय इतिहास का सबसे प्रमुख पक्ष यह था कि देश में बार-बार अकाल पड़े तथा भूख से लाखों किसान तथा अन्य कमजोर वर्ग के लोग मृत्यु ग्रस्त हो गए, जिसका सीधा प्रभाव चम्पारण के किसानों पर पड़ा। 1876-78, 1896-97 तथा 1899-1900 के भीषण अकालों से यह स्पष्ट हो गया कि उत्पीड़क भूमि कर नीति का क्या फल होता है। सूखे तथा अकालों से ग्रामीण क्षेत्रों में शांति तथा व्यवस्था की स्थिति इतनी बिगड़ गई कि ग्रामीण धनियों की तो बात ही क्या, नगर निवासियों तथा प्रशासकों के दिल भी हिल गए। 1880, 1898 तथा 1901 के अकाल आयोगों ने यह स्पष्ट कर दिया कि सरकार के राहत कार्यों का मुख्य उद्देश्य देश में किसानों पर परोपकार नहीं अपितु सम्पत्ति की संस्था को बनाए रखना और उसकी रक्षा करना है।² किसान आन्दोलनों से परेशान होकर 1878 ई. में अंग्रेजी सरकार ने अकाल कमीशन की नियुक्ति की तथा अकाल से संबंधित कुछ नियम बनाये। इसके साथ ही सरकार ने किसानों को जमींदारों एवं साहूकारों के चंगुल से मुक्त कराने के लिए कुछ नियम बनाये परन्तु किसानों को उनके दुःखों से मुक्त नहीं कराया जा सका। किसान आंदोलन ने उत्तर-पश्चिमी बिहार के चम्पारण में सीधे और ठोस रूप में गांधीवाद के उदय में योगदान किया। यह सत्य है कि इन स्थानों में स्थानीय मुद्दों को अखिल-भारतीय राजनीति के स्तर तक ले जाने के लिए गाँधीजी का हस्तक्षेप अपरिहार्य था, फिर भी इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि इन स्थान पर असंतोष और विरोध की भावना गाँधीजी के आगमन से बहुत पहले ही विद्यमान थी और वह भी जिसे जाक पुष्पादास अपने चंपारण के अध्ययन में 'स्वयं ग्रामीण जनसामान्य की ओर से ऊर्ध्वगामी दबाव' कहते हैं।³

चम्पारण में 1860 के दशक से तिनकठिया व्यवस्था का छिटपुट विरोध होता रहा था। इस व्यवस्था के अंतर्गत यूरोपीय प्लांटर (निलहे) रामनगर, बेतिया और मधुबन के जमींदारों से जमीन का पट्टा ले लेते थे और किसानों को बाध्य करते थे कि वे अपनी जमीन के कुछ भाग में नील की खेती करें। इसके लिए उन्हें मजदूरी भी नहीं दी जाती थी। जब 1900 के लगभग कृत्रिम रंगों की प्रतिस्पर्धा के कारण नील के व्यापार में मंदी आने लगी तो इन प्लांटर्स ने यह भार भी किसानों पर डालने का प्रयास किया। नील उगाने की बाध्यता से मुक्ति के बदले उन्होंने शरहबेशी

(लगान-वृद्धि) अथवा तावान (एकमुश्त मुआवजा) की मांग की।¹⁴ 1905-08 के बीच मोतिहारी-बेतिया क्षेत्र में इसका बड़ा विरोध हुआ। इसने 400 वर्गमील क्षेत्र को प्रभावित किया जिसमें कुछ हिंसक घटनाएँ हुईं। (ब्लूमफील्ड नाम के एक फैक्ट्री मैनेजर की हत्या), फौजदारी के 57 मामले चले और 277 सजाएँ हुईं। अधिक समृद्ध किसानों ने इस संघर्ष को अगले दशक में भी जारी रखी। वे प्रार्थनापत्र भेजते थे और मुकदमे करते थे।¹⁵ बिहार के कुछेक कांग्रेसी नेताओं एवं पत्रकारों से भी उनका संपर्क था और इसी निरंतर संघर्ष के चलते 1916 की लखनऊ कांग्रेस में राजकुमार शुक्ल का गाँधीजी से संपर्क हुआ। शुक्ल खाते-पीते किसान और छोटे-मोटे साहूकार थे। शुक्ल ने गाँधीजी से चम्पारन के किसानों के पक्ष में प्रस्ताव पारित करने की मांग की लेकिन, गाँधीजी ने इसका विरोध किया और कहा कि वे स्वयं व्यक्तिगत रूप से किसानों की स्थिति का निरीक्षण करेंगे और तभी उनके संबंध में कोई प्रस्ताव पारित किया जायेगा। महात्मा गांधी और डॉ. राजेन्द्र प्रसाद दोनों ने चम्पारन की यात्रा की और वहाँ के बहुत से किसानों के बयान दर्ज किये और उनकी दर्दभरी कहानी सुनी। जिस समय गाँधीजी इस संबंध में पूछताछ कर रहे थे, वहाँ के मजिस्ट्रेट ने उन्हें चम्पारन छोड़ने का आदेश दिया किन्तु गाँधीजी ने आज्ञा मानने से इन्कार कर दिया। अन्त में गाँधीजी के प्रयासों से चम्पारन के किसानों को कुछ सुविधाएँ प्राप्त हुई और उनका एक-चौथाई लगान माफ कर दिया गया। निःसन्देह चम्पारण के पीड़ित किसानों के लिए गाँधीजी का प्रयास अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हुआ।¹⁶ इस प्रकार से हम कह सकते हैं कि किसान आन्दोलनों को राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ जोड़ने का श्रेय मुख्य रूप से महात्मा गाँधी को है।

चम्पारण में, जैसाकि हम देख चुके हैं, निलहों के विरुद्ध असंतोष और आंदोलन का एक लंबा इतिहास रहा था। जाक पुष्पादास का विस्तृत विश्लेषण दर्शाता है कि किसान आंदोलनों में मध्यस्थता की महत्वपूर्ण भूमिका निभानेवाले कस्बे के वे बुद्धिजीवी नहीं थे जो गांधीवाद में दीक्षित हुए थे। ए.एन. सिन्हा जैसे वकील या कृपलानी जैसे मुजफ्फर कॉलेज के अध्यापक, जिन्हें ज्यूडिथ ब्राउन 'सब-कांटेक्टर्स' कहते हैं न चम्पारण आन्दोलन में बढ़-चढ़कर भाग लिये थे। वहीं समृद्ध और मंझोले किसानों की अपेक्षाकृत निम्न श्रेणी के राजकुमार शुक्ल जो गांधीजी को आमंत्रित करने के लिए लखनऊ गए थे और साथ ही संत राउत और खंडर राय जैसे स्थानीय महाजनों और व्यापारियों ने, जिन्हें साहूकारी एवं व्यापार के क्षेत्र में निलहों की प्रतिस्पर्धा से शिकायत थी, कुछ ग्रामीण मुख्तारों और स्कूल अध्यापकों में पीर मुहम्मद एवं हरबंस सहाय ने भी इस आन्दोलन में अपना भूमिका निभाई थी। अन्ततः चम्पारन के नील-उत्पादकों की जांच और प्रचार के फलस्वरूप तिनकठिया प्रथा की समाप्ति हुई। लेकिन इसका जो मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ा वह ठोस गतिविधियों से कहीं अधिक थी।¹⁷ बिहार के बेतिया जिले के एस.डी.ओ. ने 29 अप्रैल, 1917 की अपनी रिपोर्ट में लिखा: गांधीजी 'प्रतिदिन अज्ञानी जनसमुदाय की कल्पना को आसन्न स्वर्णयुग के स्वप्न दिखाकर रूपांतरित कर रहे हैं।' एक रैयत ने गांधीजी की तुलना रामचन्द्र से की और जांच समिति के समक्ष कहा कि 'अब गांधीजी आ गए हैं तो काश्तकारों को राक्षस निलहों का कोई भय नहीं है।' बाद में ऐसा भी अफवाहें फैली कि सभी स्थानीय अधिकारियों एवं निलहों को काबू में करने के लिए वायसरॉय या सम्राट ने गांधीजी को भेजा है, यह भी कि कुछ ही महीनों में अंग्रेज चम्पारण छोड़कर चले जायेंगे। ऐसे संघर्ष के संकेत भी मिले जो गांधीवादी सीमाओं को पार करने लगे थे, जैसेकि नील के कारखानों पर आक्रमण एवं आग लगाने की कुछेक घटनाएँ।¹⁸

1917 के अंत तक किसान कभी-कभी तो घटी हुई दरों पर भी 'शरहबेशी' देने से इन्कार करने लगे थे जिसे गांधीवादी व्यवस्था के अंतर्गत देना स्वीकार कर लिया गया था। गांधीजी अपने पीछे 15 स्वयंसेवकों को छोड़ गए थे जिन्होंने गांवों में रचनात्मक कार्य करने का प्रयास किया। उन्होंने

राजेन्द्र प्रसाद से कहा था कि समस्या का एकमात्र हल 'रैयतों को शिक्षित करना और उनके एवं निलहों के बीच निरंतर मध्यस्थता की प्रक्रिया' है। लेकिन ऐसे उपाय चम्पारण में अधिक सफल नहीं हुए। वहाँ मई 1918 तक ग्राम स्तर के केवल 3 कार्यकर्ता रह गए थे।⁹

अप्रैल 1935 में साउथ इंडियन फेडरेशन ऑफ पेजेंट्स एंड एग्रीकल्चरल लेबर की स्थापना की गई जिसके महासचिव एन.जी.रंगा और संयुक्त सचिव ई.एम.एस. नंबूदरीपाद थे। इसने अक्टूबर 1935 के अपने अधिवेशन में तत्काल एक अखिल भारतीय किसान संगठन बनाए जाने का सुझाव दिया। किसान आन्दोलन का आरंभिक केन्द्र चम्पारण ही था। आरम्भ में इसके प्रति अधिक उत्साहित नहीं था, क्योंकि भय था कि यह एकता मात्र औपचारिक होगी, लेकिन अंत में सहजानंद अखिल भारतीय किसान सभा के लखनऊ में होने वाले पहले अधिवेशन का सभापतित्व करने के लिए सहमत हो गए। इसके एक अन्य अग्रणी नेता इंदुलाल याज्ञिक थे जो गुजरात के जमे हुए गांधीवादी थे, किन्तु अब मोहभंग की प्रक्रिया से गुजर चुके थे और किसान बुलेटिन के संपादक बन गए थे। किसान सभा ने अपना ध्यान मुख्य रूप से उन किसानों की शिकायतों पर केन्द्रित किया जिनके पास थोड़ी जमीन थी। ये शिकायतें जमींदार, व्यापारी, साहूकार और सरकार के विरुद्ध थीं।¹⁰ अगस्त 1930 के किसान घोषणापत्र में मांग की गई थी कि जमींदारी का उन्मूलन किया जाए, वर्तमान भू-राजस्व के स्थान पर 500 रु. से अधिक की कृषि आय पर आरोही आयकर लगाया जाए, और ऋणों को निरस्त किया जाए। इसमें न्यूनतम मांगों का एक घोषणापत्र भी सम्मिलित था: राजस्व और लगान में 50% की कटौती, सभी काश्तकारों को पूरे दखली अधिकार, बेगार की समाप्ति, ऋणों एवं ब्याज की दर में कमी और पारंपरिक वन-अधिकारों की बहाली। किसानों के बीच मौजूद वर्ग-भेद और जोतधारी किसानों एवं भूमिहीन खेतिहर मजदूरों के बीच मौजूद तनाव किसान सभा (और संपूर्ण वामपंथ) के लिए सिद्धान्त और व्यवहार, दोनों ही रूपों में सदा क्लेशदायक बने रहे। किन्तु किसान घोषणापत्र में यह सुझाव था कि ऊसर पड़ी सरकारी और जमींदारी भूमि पांच एकड़ से कम जमीनवाले किसानों और भूमिहीनों में बांट दी जाए जिनके सहकारी संस्थाओं में संगठित होने की आशा की गई थी। फिर भी, जोत पर कोई आम सीमा लगाने की मांग नहीं की गई थी।¹¹

किसान बुलेटिन के एक आरंभिक अंक में सहजानंद ने खेतिहर मजदूरियों के मामले में जांच की मांग की थी और आशा की थी कि "किसानों के साथ बातचीत करके और जमींदारों एवं बागान-मालिकों के विरुद्ध खेतिहर मजदूरों की संगठित हड़ताल में सहायता करके" स्थिति में सुधार किया जा सकता है। यह भेद रोचक भले ही लगे, अस्वाभाविक नहीं था।¹² बिहार की किसान सभा ने नवंबर 1936 में मुंगेर जिले के बढैया ताल में जमींदारों द्वारा कब्जाई गई किसानों की भूमि को बकाशत में परिवर्तित किए जाने के प्रयासों के विरुद्ध एक बड़ा आंदोलन छेड़ दिया था।¹³ भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान जब 1937 में लोकप्रिय सरकारें बनीं तो किसानों ने इनसे बहुत आशाएं रखीं परन्तु उन्हें निराशा हुई। अपनी मांगों की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए बिहार विधान सभा के अधिवेशन के पहले दिन, 23,000 किसान, विधान सभा भवन के सामने एकत्रित हो गए। उनके नारे थे, "हमें पानी दो हम प्यासे हैं, हमें रोटी दो हम भूखे हैं, हमारे सभी कृषि ऋण छोड़ दो। हमें जमींदारों के शोषण से बचाओ।"¹⁴

सरकार के बकाशत भूमि अधिनियम तथा बिहार मुजारा अधिनियम के पुनः लागू करने से किसानों को कुछ राहत मिली। सरकार जमींदारों की अनुमति के बिना भी मुजारों को भूमि के हस्तान्तरण की अनुमति दे देगी। सलामी की दरें निश्चित की गईं तथा कम की गईं एवं भूमि कर भी लगभग 25% कम कर दिए गये। लेकिन किसान नेता तो चाहते थे कि कांग्रेस सरकारें किसान

राज्य स्थापित कर दें अर्थात्, जमींदारी समाप्त कर दें और भूमि, भूमिरहित किसानों में बांट दें। बिहार की कांग्रेस सरकार जिसे जमींदारों का समर्थन प्राप्त था, जमींदारी समाप्त नहीं कर सकती थी।¹⁵

विश्वव्यापी आर्थिक मंदी के बाद किसानों ने 1929-30 ई. में अपने संगठित आन्दोलन करने प्रारम्भ किये। आर्थिक कठिनाईयों ने चम्पारण के किसानों की कमर तोड़ दी और जमींदारों व साहूकारों का उत्पीड़न उत्तरोत्तर बढ़ता गया। बिहार के उत्तर पश्चिमी जिले के किसानों ने सामूहिक रूप से इसका विरोध किया और कांग्रेस ने उन्हें समर्थन प्रदान किया। किसानों ने अपनी कमेटियों का गठन करके जमींदारों के उत्पीड़न के विरुद्ध आवाज उठाना प्रारम्भ किया। धीरे-धीरे किसानों ने जिला एवं प्रान्तीय स्तर पर भी अपने संगठन बना लिये। अब तक किसान संगठनों पर साम्यवादियों का प्रभाव था परन्तु कांग्रेस ने किसानों पर अपना प्रभाव स्थापित करने के लिये 1935 ई. में “प्रान्तीय किसान संगठन” का गठन किया।¹⁶

द्वितीय विश्वयुद्ध के विस्फोटक से पूर्व अखिल भारतीय किसान सभा का चौथा अधिवेशन में लगभग आठ लाख किसानों ने भाग लिया। इस अधिवेशन में यह निश्चय किया गया कि किसानों को अपनी स्थिति को सुधारने एवं उसे मजबूत करने के लिये एक क्रांति का आयोजन करना चाहिए। किसान सभा के सदस्यों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। किसानों ने जुलूसों का आयोजन किया ताकि भू-राजस्व कम कराया जा सके, परन्तु अंग्रेजी सरकार ने अपनी कठोरता के कारण कई किसान नेताओं को बन्दी बना लिया। इस प्रकार एवं किसानों में रस्साकसी प्रारम्भ हो गयी।¹⁷ 1941-42 ई. में किसान सभा में विघटन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गयी परन्तु फिर भी उसकी सदस्य-संख्या बढ़ती गयी। साम्यवादियों के नेतृत्व में उत्साही किसानों ने जमींदारों की जमीनों पर अधिकार कर लिया। 1942 ई. में गांधीजी द्वारा चलाया गया। ‘भार छोड़ो’ आन्दोलन कुचल दिया गया और कांग्रेस के विभिन्न नेताओं को बन्दीगृह में डाल दिया गया। इस समय भी चम्पारण के किसानों को अनेक कठिनाईयों का सामना करना पड़ा। अतः किसान आन्दोलनों ने अत्यन्त साहस और उत्साह का परिचय दिया किन्तु उन्हें अधिक सफलता नहीं मिल सकी। उनके शान्त और उग्र आन्दोलन भी उन्हें न्याय नहीं दिला सके। निःसन्देह सरकार ने किसानों की दशा सुधारने के लिए इस दशा में कुछ कदम उठाये किन्तु वे संतोषजनक नहीं थे। अभी भी किसानों के लिये बहुत कुछ करना बाकी है और यह तभी संभव है जब किसान स्वयं अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हों और उन्हें कुछ ज्ञान प्राप्त हो।¹⁸ अतः आमतौर पर 1942 तक किसान आंदोलन तथा राष्ट्रीय आन्दोलन साथ-साथ चलते रहे। किसान सभा के अतिवादी तत्त्व यह चाहते थे कि कांग्रेस की असंतोषपूर्ण नीतियों के कारण कांग्रेस से संबंध विच्छेद कर लिया जाए परन्तु कांग्रेस के नेताओं ने विदेशियों के विरुद्ध एकता बनाए रखी। इससे दुःखी होकर स्वामी सहजानन्द ने 1945 में किसान सभा से त्यागपत्र दे दिया जिसके फलस्वरूप किसान सभाओं पर कम्युनिस्ट पार्टी का प्रभुत्व छा गया।¹⁹

बहुत-सी किसान सभाओं को नेतृत्व कांग्रेस समाजवादियों ने किया था। कभी-कभी आंदोलनों को प्रेरणा और नेतृत्व कम्युनिस्ट संगठनों ने किया। जहाँ कहीं पर नेतृत्व कांग्रेस के रचनात्मक कार्यकर्ताओं के हाथ में था, वहाः कुल मिलाकर किसानों की जागृति में राष्ट्रवादी और सुधारवादी रंगत थी। यदि राष्ट्रवादी आंदोलन से उसका कोई संबंध था तो वह महज आकस्मिक और बहुत दूर का था। इनमें से कुछ आंदोलनों में धार्मिक नेतृत्व आश्चर्यजनक ढंग से विद्यमान था। पिछड़े इलाकों में किसान तबके की भावना जब-तब अधकचरी नैतिकता के नारों से बहुत अधिक उत्तेजित हो उठती है।²⁰

इसी के साथ-साथ ऐसे बहुत से राजनैतिक कार्यकर्ता, जो ग्रामीण किसान वर्ग को शिक्षित और संगठित करने में लगे हुए थे, कम्युनिस्टों और कांग्रेस समाजवादियों द्वारा प्रस्तुत मार्क्सवादी विचारधारा

से तीव्रता के साथ प्रभावित हुए²¹ किसान आंदोलन और राष्ट्रीय आंदोलन का अटूट रिश्ता कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण था। वस्तुतः किसान आंदोलन वहीं उभर सके, जहाँ राष्ट्रीय आंदोलन की नींव डाली जा चुकी थी। यह सही है कि बिहार में कांग्रेस और किसान सभा के नेतृत्व में गंभीर मतभेद पैदा हो गया और कभी-कभी तो ऐसा भी लगा कि किसान आन्दोलन कांग्रेस से मुठभेड़ के रास्ते पर जाने वाला है, जहाँ वामपंथी कार्यकर्ता और कांग्रेस के दक्षिणपंथी समर्थक अपनी-अपनी जिद पर अड़ गए और एक-दूसरे के साथ चलने के लिए तैयार नहीं हुए।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में चम्पारण के किसानों की स्थिति राष्ट्रीय संग्राम के साथ अविच्छिन्न रूप से जुड़ा रहा।

संदर्भ सूची

1. ग्रोवर, बी.एल. एवं यशपाल, आधुनिक भारत का इतिहास – एक नवीन मूल्यांकन, 2002, एस. चन्द एण्ड कम्प. नई दिल्ली, पृ. 350.
2. Desai, A.R., Peasant struggles in India, Delhi, 1979, P.49, Ranga, N.G. and Swami Sahajanand Saraswati, History of the kisan Movements.
3. Desai, A.R., Peasant Struggles in India, Delhi, 1979, P.-55, 57.
4. मिश्रा, बी.बी. सेलेक्ट डाक्यूमेंट्स ऑन महात्मा गाँधीजी मूवमेंट इन चम्पारन, पटना, 1963, पृ. 25-26.
5. त्रिपाठी, डी.एन. चम्पारन की जागृति, मोतिहारी, 1935.
6. मिश्रा, गिरीश, अंग्रेजियन प्रोब्लेम्स ऑफ परमानेन्ट सेटलमेंट – अ केस स्टडी ऑफ चम्पारन, नई दिल्ली-1979.
7. प्रताप कार्यालय, चम्पारन की जांच, कानपुर, 1918.
8. प्रसाद, राजेन्द्र, चम्पारन के महात्मा गांधी, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, पटना, 1965.
9. दत्त, डॉ. डी.एम. महात्मा गांधी का दर्शन, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, 1973, पृ.50.
10. देव, नरेन्द्र, Report of the Seventh Conference of the Socialist Party, Patna, 1944.
11. Panikkar, K.N., Peasant Revolts in Malabar in the 19th and 20th Centuries, In A.R. Desai, editor, Peasant Struggles in India.
12. Mehta, Shirin, The Peasantry and Nationalism, New Delhi, 1984.
13. सिन्हा, अनुग्रहनारायण, मेरे संस्मरण, पटना, 1961.
14. Nanda, B.R., The Swarajist Interlude, In A Centenary History of the Indian National Congress, Vol. 2.
15. Kumar, Kapil, Peasant in Revolts – Tenants, Congress Landlords and the Raj in Oudh, 1886-1922, New Delhi, 1984.
16. Henningham, S., Peasant Movements in Colonial India – North Bihar, 1917-42, Canberra, 1982, Chapter, 2, 7.
17. Mahajan, Sucheta, British Policy, Nationalist Strategy and Popular National Upsurge, 1945-46, In A.K. Gupta, Myth and Reality, Struggle for freedom in India, 1945-47, New Delhi, 1987.
18. Harcourt, Max, Kisan Populism and Revolution in Rural India – The 1942 Disturbances in Bihar and East United Provinces, In D.A. Low, Editor, Congress and the Raj.
19. के.पी. जायसवाल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, हिस्ट्री ऑफ इंडियन नेशनल कांग्रेस इन बिहार, पटना, 1885.
20. Report of Congress Agrarian Reforms Committee, 1949.
21. Guidelines of the History of the Communist Party of India, Issued by central party Education Department, New Delhi, 1974.

बिहार के मुसलमानों का खिलाफत आंदोलन में भूमिका

सुशील कुमार

शोध छात्र, ति.मां. भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

खिलाफत आंदोलन सर्व इस्लामवाद का प्रतिफल है। खिलाफत शब्द खलीफा का पदबोधक होने के साथ मुसलमानों के लिए सर्वोच्च सांसारिक सत्ता है। जिसका महत्त्व संपूर्ण मुसलमानों के एक साम्राज्य एक कानून, एक किताब, एक पैगम्बर और एक खुदा के लिए प्रसिद्ध है। लेकिन समय और संसार की परिवर्तनकारी विचारों और वेशभूषा ने सांस्कृतिक संचरण को आगे बढ़ाया और एक साम्राज्य की अवधारणा खण्डित हो गई। मध्यकाल में मुस्लिम साम्राज्य तीन भागों में बँट गया—मिश्र में फातमी, स्पेन में अब्बासी और बगदाद में उमैय्या वंश। मंगोलों के शक्तिशाली होने और 1256 ई० में कुस्तुनतुनिया पर आक्रमण करने के साथ ही पूरा इस्लामी साम्राज्य की शक्ति दायम दर्जे की हो गई थी। मुबारक खिल्जी भी भारतीय सल्तनत में स्वयं को खलीफा कहने लगा था। खलीफा की प्रतिष्ठा पूर्व काल की तरह नहीं रही। फिर भी आम भारतीय मुसलमानों में खिलाफ के प्रति श्रद्धा-भाव बरकरार था। यही कारण है कि प्रथम विश्वयुद्ध में विभाजित विश्व के दो भागों— धूरी राष्ट्र और मिश्र राष्ट्र के संघर्ष में तुर्की की पराजय धूरी राष्ट्रों के साथ ही हो जाने से मुसलमान चिंतित हो गये थे। सेब्र की संधि से पूर्व अंग्रेजों द्वारा किये गये बायदे मुसलमानों में खलीफा के प्रति चिंता को परिलक्षित करते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं में मुसलमान मुकदर्शक होकर मुसलमानों के प्रति किया गया अन्याय को सहन बहुत दिनों तक नहीं कर सकते थे। इससे अंग्रेजों के खिलाफ नफरत पनपने लगा था। इन घटनाओं में 1911 में इटली द्वारा तराबलरा पर आक्रमण और ब्रिटिश सरकार तुर्की सेना का मिन्न के रास्ते तराबलरा जाने पर रोक शामिल है। इस घटना में भारतीय मुसलमानों में रोष पैदा कर दिया था। दूसरी बड़ी घटना दिसम्बर 1911 में सरकार ने बंगाल विभाजन को रद्द कर दिया। इन दुहरी मार ने मुसलमानों को उत्तेजित कर दिया। जिस पर टिप्पणी करते हुए नवाब वकारूल मुल्क को यह लिखने पर विवश होना पड़ा कि—सरकार की यह घोषणा ऐसे तोपखाने की तरह थी जो मुसलमानों की मुर्दा लाशों के ऊपर से गुजर गया। बिना यह सोचे समझे कि इन मुर्दा लाशों में से किसी में जान भी है और उनको इससे कष्ट होगा। इसी दौरान मुस्लिम विश्वविद्यालय के सवाल पर भी मुसलमानों में बड़ी बेचैनी पैदा हुई। विश्वविद्यालय की स्वीकृति के लिए सरकार ने जो शर्तें रखी थीं। मुस्लिम नेता उससे सहमत नहीं थे। अभी तराबलस का विवाद सुलझा नहीं था कि अक्टूबर 1912 ई० में यूरोप की बड़ी शक्तियों की शह पर बलकान के राज्यों ने तुर्कों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दिया। मुस्लिम नेताओं ने तुर्की का साथ देने का संकल्प लिया। एक दल ने मोर्चे पर जाकर बड़ी बहादुरी के साथ अपने दायित्वों का निर्वाह किया। इससे तुर्कों के दिलों पर सेवाभाव बैठ गया। हालाँकि यह युद्ध समझौता वार्ता के बाद समाप्त हो गया लेकिन इस घटना में ब्रिटिश सरकार की तुर्की विरोधी नीतियों से भारतीय मुसलमानों को सख्त आघात पहुँचा। इसी बीच 1914 के विश्वयुद्ध छिड़ गया जिसमें तुर्की में अंग्रेजों के विरुद्ध जर्मनी का साथ दिया। ऐसी स्थिति में भारतीय मुसलमानों की भावनाओं का अनुमान लगाया जा सकता है। जिनके दिलों में तुर्की के लिए प्रेम और श्रद्धा की भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी। ऐसी नाजुक घड़ी में मुस्लिम नेता भला हाथ पर हाथ धरे कैसे बैठे रह सकते थे

अली बंधुओं (मो० अली और शौकत अली) मौलाना अबुल कलाम आजाद, मौलाना अब्दुल बारी फिरंगी महल, शेखुल हिन्द, मौलाना महमूदुल हसन देवबंदी, हकीम अजमल खाँ, डॉ० अंसारी की अगुवाई में तुर्की को हर संभव सहायता के लिए कई केन्द्र स्थापित किए गए। अली बिरादरान ने तो सशस्त्र संघर्ष के लिए हथियार जमा करने की कोशिश की। यह सब देखते हुए अंग्रेज सरकार ने कड़ा रुख अपनाया। मौलाना मो० अली, शौकत अली, हसरत मुहानी, जफर अली खाँ, अबुल कलाम आजाद और इस प्रकार की गतिविधियों से संबंध रखने वाले नेता एक-एक करके गिरफ्तार कर नजरबंद कर दिए गए।

अली बंधुओं की नजरबंदी ने मौलाना महमूदुल हसन को सावधान कर दिया। उन्होंने अगस्त 1915 में मौलाना उवैदुल्लाह सिंधी को काबुल भेज दिया जिन्होंने अमीरे काबुल की सहायता से वहाँ स्वतंत्र भारत की अस्थायी सरकार का गठन किया। जिसका राष्ट्रपति राजा महेन्द्र प्रताप को और प्रधानमंत्री प्रो० बरकतुल्ला को बनाया गया। मौलाना महमूदुल हसन ने इस सिलसिले में बिहार के अन्दर भी अपने केन्द्र स्थापित किए थे और शस्त्र क्रांति की योजना को व्यावहारिक रूप देने के लिए उन्होंने सेना को प्रशिक्षण देने उसे पूरे तौर पर तैयार किया था। बिहार में तीन केन्द्र के प्रमुखों की नियुक्ति की गई थी जो इस प्रकार हैं— दरभंगा के मौलवी अजीज रहीमाबादी, आरा के मौलवी अब्दुल्ला गाजीपुरी और पटना के मौलवी अब्दुल रहीम अजीमाबादी।

अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने स्वशासन की माँग रखी थी। ब्रिटिश सरकार ने भारतीयों की स्वशासन की माँग पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करने के अपने आश्वासन को पूरा नहीं किया था। इतना ही नहीं, युद्ध के दौरान भारत सुरक्षा नियम के अन्तर्गत जो दमनकारी कानून बनाये गये थे उनकी भी पुष्टि सरकार ने रॉलेट एक्ट के माध्यम से कर दिया था। दूसरी बात 1912-13 में यूरोप में बाल्कन युद्ध लड़े गये थे। इसमें तुर्की के राज्य के विरुद्ध बाल्कन प्रायद्वीप की ईसाई प्रजा ने विद्रोह किया। यूरोपीय देशों के तुर्की के प्रति शत्रुतापूर्ण आचरण को देखते हुए और तुर्की की जीर्ण-शीर्ण दशा के कारण भारतीय मुसलमानों की सहानुभूति तुर्की सुल्तान के प्रति रही। दूसरी तरफ वहाबी आंदोलन की जड़ें अंग्रेजों ने उखाड़ा था लेकिन यही वहाबी नेताओं के विचार से ओतप्रोत लोगों ने ब्रिटिश सरकार के प्रति रोष व्याप्त थी और वे ऐसे माहौल का इंतजार कर रहे थे जिसमें वहाबी अपने जन-धन दिखला सकें। जालियावाला बाग हत्या कांड ने पूरे भारतीयों के मन में भय और आतंक का ब्रिटिश शासन समझकर उसके विरुद्ध विद्रोह का तेवर चढ़ा लिया। पूरा भारतीय अघोषित नारा दे रहे थे —

“सरफरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है
देखना है जोर कितना बाजुए कातिल में है।”

कांग्रेस, मुस्लिम लीग, किसान सभा के अतिरिक्त सभी भारतीय पार्टियाँ अपना रुख पंजाब की ओर कर लिया। सभी दलों ने पंजाब को अपना सम्मेलन क्षेत्र बनाया। अमृतसर में कांग्रेस और मुस्लिम लीग का वार्षिक सम्मेलन आयोजित किया गया।

उपर्युक्त कारणों से भारतीय हिन्दू और मुसलमानों में ब्रिटिश सरकार के प्रति आक्रोश बढ़ता जा रहा था। इसी समय 1919 का मान्टेग्यू चेम्सफोर्ड अधिनियम भी भारतीयों की आशाओं और विचारों पर सही नहीं उतरा था। महायुद्ध की समाप्ति 1918-19 में हो चुका था। विजेता देश युद्धकाल में ही आपसी गुप्त संधियों द्वारा पराजित धुरी राष्ट्रों का बंदरबांट की मसूबा बना चुके थे। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के रूप में राष्ट्रसंघ की स्थापना की जा चुकी थी; ताकि पुनः विश्व में इतना बड़ा धन-जन की हानि से बचाया जा सके। वह शांति संधि के पक्ष में था लेकिन क्या जर्मनी के साथ संधि पीड़ित मानवता को शांति का वरदान प्रदान कर सका? जिस प्रकार से अमानुषिक संधि हुई हजारों मील

आबाद क्षेत्र जिसमें औद्योगिक तथा आर्थिक सम्पदा के स्रोत जबर्दस्ती छीन लिए गए थे। तुर्की को यूरोपीय राष्ट्रों ने लम्बे अरसे से यूरोप का बीमार राष्ट्र कहते आ रहे थे; यूरोपीय साम्राज्यवादी लूट्टरों ने उसकी लाश का बँटवारा कर बैठा इससे दुनिया के मुसलमान बहुत ही क्षुब्ध हुए। भारतीय मुसलमान भी इसमें सम्मिलित थे। भारत में मुस्लिम सम्प्रदाय को खिलाफत के सवाल पर हिन्दुओं का समर्थन प्राप्त था यही कारण था कि दिल्ली में अखिल भारतीय खिलाफत सम्मेलन का प्रतिनिधियों ने सम्मेलन की अध्यक्षता महात्मा गाँधी से करायी थी। पूर्व काल के ब्रिटिश साम्राज्य का यह आश्वासन की अन्याय नहीं होगा; यह मात्र मुसलमानों का समर्थन लेने का हथकंडा था। मुस्लिम समर्थन लेने के लिए ब्रिटिश प्रधान मंत्री लायड जार्ज ने घोषणा की कि “हमलोग इसलिए नहीं लड़ रहे हैं कि एशिया माइनर और ग्रीस के समृद्ध और प्रसिद्ध भूभाग को जहाँ तुर्की बहुल जातियाँ हैं उसे छीन लें” इन आश्वासनों ने मुसलमानों को किसी भी प्रकार के ब्रिटिश शासन के विरुद्ध आंदोलन होने नहीं दिया। भारतीय मुसलमानों ने ब्रिटिश सरकार को पूर्व में दिए गए आश्वासनों की याद दिलाई और मांग पेश की कि मेसोपोटामिया, अरब, सीरिया, फिलिस्तीन आदि भूक्षेत्र समेत ‘जजरात-उल-अरब’ के सभी धार्मिक स्थलों को खलीफा के प्रत्यक्ष नियंत्रण में रखा जाए। इन माँगों के बावजूद ब्रिटिश सरकार ने मिस्त्र राष्ट्रों के साथ मिलकर तुर्की के भूभाग का बँटवारा कर दिया तथा तुर्की मात्र नाम का मुल्क रह गया।

ब्रिटिश सरकार की बदली हुई नीयत को देखते हुए मुसलमानों को गोलबंद होने के उद्देश्य से उल्लेमाओं ने एक अलग संगठन बनाने की कोशिश की। इस संगठन की स्थापना में हकीम अजमल खाँ और डॉ॰ अंसारी की सलाह शामिल थी। इस संगठन के काम-काज की शुरुआत में जिन बारह उलेमा ने मौलाना अब्दुल बारी का साथ दिया उनमें मौलाना सज्जाद, मौलाना सुलेमान नदवी और मौलाना शाह मुहीउद्दीन बिहार के ही थे। 21 सितम्बर 1919 को लखनऊ में अखिल भारतीय मुस्लिम सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन के आयोजन में बिहार के नेताओं नवाब सरफराज हुसैन खाँ, ख्वाजा मो॰ नूर और मौलवी सैयद नूरुल हसन ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। 17 अक्टूबर को आम हड़ताल किया गया जिसको सफल बनाने के लिए गाँधीजी ने आम हिन्दुओं को साथ देने को कहा था। उन्होंने हड़ताल को शांति के साथ मनाने की अपील करते हुए कहा था कि हम खिलाफत को एक पवित्र संकल्प समझते हुए साथ दें। 17 अक्टूबर को खिलाफत दिवस माना गया था जबकि यह दिवस उसी दिन बिहार में भी पूरे जोर-शोर से मनाया गया। पटना, गया भागलपुर, मुंगेर और दरभंगा में विशेषकर इसे अभूतपूर्व सफलता मिली। पटना में हड़ताल के कारण सारा दिन सारा व्यवसाय ठप रहे। शाम के समय पटना सिटी में गंगा के किनारे मैदान में एक जनसभा हुई जिसमें भारी संख्या में मुसलमानों, हिन्दुओं और सिखों ने अपनी भागीदारी दर्ज कराई। सभा की अध्यक्षता नवाब सरफराज खाँ ने की और नमाज हाफिज अहमद गनी ने पढ़ाई।

राष्ट्रीय स्तर पर कुछ घटनाएँ सम्पूर्ण भारतवासी को क्षुब्ध कर दिया। गाँधीजी के निर्देश पर हिन्दुओं के सहयोग के कारण मुसलमानों के उत्साह में नई जान पड़ गई। 24 नवम्बर 1919 को दिल्ली में ए०के० फजलुल हक की अध्यक्षता में अखिल भारतीय सम्मेलन आहूत किया गया। इसमें बहुत बड़ी संख्या में हिन्दू लोग भी सम्मिलित हुए। इसमें महात्मा गाँधी, पंडित मोतीलाल नेहरू, पंडित मदन मोहन मालवीय और वीर सावरकर सबसे महत्वपूर्ण थे। बिहार से सैयद हसन इमाम बिहारी मुस्लिम नेताओं की पूरी टोली साथ शामिल हुए थे। इस सम्मेलन में खिलाफत, तुर्की और पवित्र स्थान से संबंधित दूसरे प्रस्तावों के अलावा इस मामले में ब्रिटिश सरकार की वादा खिलाफी और बदनीयती की निन्दा की गई और यह तय किया गया कि सरकार की ओर से किए जाने वाले विजय उत्सव का विरोध करेंगे।

दिल्ली खिलाफत सम्मेलन के तुरंत बाद पटना के अंजुमन इस्लामिया हॉल में 30 नवम्बर 1919 को एक बहुत बड़ी सभा आयोजित की गई। पूरा हॉल खचाखच भरा हुआ था। बहुत से लोग बाहर खड़े थे और सैकड़ों को जगह नहीं मिलने के कारण लौटना पड़ा। श्री हसन इमाम ने अध्यक्ष पद के लिए मौलाना शाह रसीदुल हक का नाम प्रस्तुत किया। श्री राजेन्द्र पसाद ने उसका अनुमोदन किया। राजेन्द्र बाबू ने अपने भाषण में कहा था कि “हर आदमी अपने हृदय पर हाथ रखकर यह कहे कि क्या उसके मन में खुशी मनाने का कोई कारण दीख रहा है।

समाचार एवं पत्र-पत्रिकाओं में ब्रिटिश सरकार विरोधी आंदोलन का बिहारी मुसलमानों पर गहरा प्रभाव था। मुसलमानों ने जिन सभाओं एवं क्षेत्रों का नेतृत्व किया वहाँ आंदोलन सफल और जोरदार रहा। राँची में आंदोलन इसलिए सफल रहा क्योंकि नजरबंदी के दौर में मौलाना आजाद का प्रभाव यहाँ के लोगों पर बहुत अधिक पड़ा। इसके बाद अंग्रेजों की विजयोत्सव का विरोध पटना, मुजफ्फरपुर, गया, मुंगेर, दरभंगा, आरा, छपरा, राँची, भागलपुर में भी देखा गया क्योंकि यहाँ के जनजीवन पर मुसलमानों का प्रभाव बहुत गहरा था। गया जिले की राजनीति में ख्वाजा मो० नूर और मौलाना सज्जाद छापे हुए थे। इसके साथ काजी अहमद हुसैन, शाह उमैर और मौलाना अब्दुल हकीम भी बहुत सक्रिय थे। दरभंगा के मुसलमानों पर मौलाना इब्राहीम का काफी प्रभाव था। इनके अलावा शफी और मौलवी अब्दुल गफूर का भी शाहाबाद में, चौधरी करामत हुसैन जिला कांग्रेस अध्यक्ष के रूप में अगुवाई कर रहे थे। छपरा जिले के जन-जीवन पर मजहरूल हक का विशेष पकड़ था इसके अतिरिक्त मौलाना का बिहार के राजनीति पर उतना ही पकड़ था। वे कांग्रेस के निर्विवाद एकमात्र नेता बिहार के थे। इनके अतिरिक्त सारण के नेता डॉ० महमूद और जकरिया हाशमी की पकड़ भी थी। भागलपुर में मौलवी अबुल हसन बार एटला सबसे अधिक सक्रिय थे। वैसे मौलाना शाह मुहिउद्दीन के धार्मिक प्रभाव और मौलाना सज्जाद, मौलाना इब्राहीम दरभंगा, मौलाना खुदाबख्श, सीवान और मौलाना अब्दुल हकीम गया के थे। इन लोगों ने पूरी लगन एवं कर्मठता से बिहार खिलाफत आंदोलन में शामिल हुए राजधानी पटना के सक्रिय राष्ट्रीय मुसलमान नेता हसन इमाम और मौलाना मजहरूल हक के अतिरिक्त नवाब सरफराज हुसैन खाँ, मौलवी खुशीद हसनैन, डॉ० महमूद, मौलवी नूरुल हसन और समी जैसे राजनेता सरकार विरोधी आंदोलनों का नेतृत्व कर रहे थे।

पराजित धूरी राष्ट्रों पर लगातार हमले और क्षेत्रों का अधिग्रहण का सिलसिला थमने को नाम नहीं ले रहा था। भारत में खिलाफत आंदोलन भी गति पकड़ रही थी। मुसलमानों ने अंग्रेज समर्पित और खलीफा का मुखालफत करने वाले शरीफ हुसैन की जमकर आलोचना की। शरीफ हुसैन अरब मुल्क में ही रहकर मित्र राष्ट्रों का पक्षधर बने हुए थे। इसी बीच मार्च 1920 से इंग्लैण्ड के विजयोन्मादी सेना रातों रात कुस्तुनतुनिया पर अधिकार कर लिया इसका विरोध भारतीय मुसलमानों के साथ हिन्दू कद्दावर नेताओं ने भी किया। पटना सिटी में खिलाफत की समस्या पर इश्तेहार लगाया गया था। इनपर सर्वश्री फजुलल हक, अब्दुल कासिम, हसरत मोहानी, ताजउद्दीन और मो० अकरम खाँ के हस्ताक्षर थे। पुलिस इश्तेहार को कड़ाई से प्रतिबंधित कर दिया। इसके बावजूद श्री अब्दुल बारी, अबुल कलाम आजाद और शौकत अली के इच्छानुसार 19 मार्च 1920 को हड़ताल रही इसमें पटना में प्रांतीय खिलाफत समिति के सचिव श्री समी प्रमुख थे।

बिहार के खिलाफत आंदोलन के नेताओं के आमंत्रण पर मौलाना शौकत अली ने खिलाफत समस्या का समाधान करने के लिए सर्वस्व बलिदान करने का आह्वान किया। उन्होंने सरकारी नौकरियाँ छोड़ने और संस्थाओं का बहिष्कार करने की अपील की। इस अवसर पर वकील (High Court) मौलवी नूरुल हसन ने उत्तेजक भाषण पढ़े। मौलाना पटना के बाद मुंगेर और गया की ओर प्रस्थान

किया। 27 अप्रैल को मुंगेर की सभा को संबोधित किया, तय कार्यक्रम के कारण लोग पहले से इंतजार कर रहे थे। गया पहुँचने पर उनकी तबियत खराब हो गई और अपना राष्ट्रीय नेतृत्व का भाषण नहीं पढ़ सके। फिर भी ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रदत्त कई सम्मानों एवं प्रमाण पत्रों का परित्याग कर दिया।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद पाँच संधियाँ हुई थी जिसमें तुर्की के साथ शान्ति संधि की शर्तें 'सान रेमो सम्मेलन' में निर्धारित हुई। तुर्की सरकार मई 1920 को हस्ताक्षर किया। इसके विरुद्ध बिहार के कुछ प्रमुख मुसलमानों का एक सम्मेलन फुलवारी में 15 और 16 मई 1920 को हुई। इसमें कानपुर के कादिर आजाद सुभानी और मथुरा के अब्दुल मजीद ने भाग लिया था। पटना सिटी में गुलाम इमाम और कुछ अन्य व्यक्तियों ने दो तीन जगहों पर सभाएँ कर सरकार के साथ असहयोग और तुर्की पर आरोपित शर्तों की भर्त्सना की गई थी। बाँकीपुर मैदान में अपने प्रयत्नों की सफलता के लिए सामूहिक प्रार्थना मो० समी, ख्वाजा अब्दुल मजीद एवं डॉ० सैयद महमूद ने किया था। बाकरगंज के एक मस्जिद के उन्नीस वर्षीय मौलवी एतमाद हुसैन भी इस सभा में सम्मिलित हुए। सभी जगहों पर तुर्की के सुल्तान के प्रति आस्था पूर्वकाल की तरह रहा लेकिन प्रश्न उठता है कि जितनी आस्था एवं श्रद्धा-भाव भारतीय मुसलमान दिखा रहे थे उसका तुर्की में क्या प्रतिक्रिया हुई? इसके परिणाम हास्यास्पद बना देता है। फिर भी सर्वसम्मति से निश्चित समय 1 अगस्त को समूचे भारत में खिलाफत दिवस मनाने की बात स्वीकार किया गया। इस अवसर पर गाँधीजी ने असहयोग आंदोलन के तहत अपने सभी सरकारी सम्मान एवं पदकों को लौटाते हुए वायसराय के पास मुसलमान भाइयों प्रति अनुदार बनी सरकार का विरोध दर्ज किया था। बिहार में असहयोग आंदोलन का शंखनाद मौलवी शाह बद्रुद्दीन फुलवारी शरीफ ने अपनी पदवी शम्सुल उलेमा की वापसी से की। जबकि शाह सुलेमान फुलवारीशरीफ ने अनरेरी मजिस्ट्रेट के पद से और नूरुल हसन परिषद् की सदस्यता से इस्तीफा दे दिया। इसी दिन मुंगेर के प्रसिद्ध वकील बैरिस्टर शाह मोहम्मद जुबैर ने अपनी वकालत छोड़ दी। कुछ ऐसे भी बिहार के मुसलमान सपूत थे जो बिहार से बाहर खिलाफत और असहयोग आंदोलन में सक्रिय थे उसमें मौलाना अताउल्लाह शाह बुखारी ने पंजाब में, मौलाना शायक अहमद उस्मानी और मौलाना अब्दुल रुफ दानापुरी ने कलकत्ता में, प्रमुख भूमि निभाई।

इस प्रकार खिलाफत आंदोलन में बिहार के मुसलमान काफी सक्रिय रूप से भाग लिया। उनकी नेतृत्व बिहार के हर प्रमुख प्रमंडलों में रहा और पूरे बिहार में निर्विवाद रूप से हिन्दू-मुसलमान के बीच सबसे चर्चित मौलाना मजहरूल हक थे जिन्हें बिहार के महात्मा गाँधी कह सकते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य महापुरुषों ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। राजेन्द्र प्रसाद कद्दावर नेता थे परन्तु लोकप्रियता मौलाना को सबसे अधिक थी। आंदोलन से लेकर सभा सम्मेलन में उन्हीं के नाम पर लोग जमा होते थे।

संदर्भ ग्रन्थसूची

1. के० के० दत्त-बिहार में स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास, भाग-1.
2. ताराचंद-हिस्ट्री ऑफ़ दी फ्रीडम मूवमेंट इन इंडिया, खण्ड-2
3. तकी रहीम-स्वतंत्रता आंदोलन में बिहार के मुसलमानों का योगदान
4. राजेन्द्र प्रसाद-आत्मकथा
5. मौलाना आजाद-इण्डिया विन्स फ्रीडम, बम्बई, 1959
6. रामलखन शुक्ल-आधुनिक भारत का इतिहास
7. विपीन चंद-भारत का स्वतंत्रता संघर्ष
8. सुमित सरकार-आधुनिक भारत

संथाल एवं उनका समाज: ऐतिहासिक आईने में

संजीव कुमार

शोध छात्र, ति.मां. भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

संथाल भारत की एक महत्वपूर्ण जनजाति है तथा झारखंड की सबसे बड़ी जनजाति है। यह एक द्रविड़ जनजाति है। द्रविड़ जाति में संथालों के अतिरिक्त हो, मुण्डा और उराँव जनजाति आती है। भाषा के आधार पर इन्हें कोलारियन समूह में रखा गया है। कोलारियन जनजातियों की तुलना में संथाल एक स्थान पर अधिक दिनों तक कम ही रहते थे। शिकार करना, जंगलों को काटकर खेती युक्त बनाना, अप्रयुक्त मिट्टी को जोत कर खेती योग्य बनाना और एक जगह से दूसरी जगह लगातार भ्रमणशील बने रहना, संथाली आदिवासियों के जीवन यापन की विशेषता थी। वह अपने इस यायावरी जीवन से संतुष्ट थे।¹

संथालों की सामाजिक व्यवस्था दूसरे जनजातीय समाज की तरह आदिकालीन थी। इनके परिवार का स्वरूप पितृसत्तात्मक, पितृवंशीय तथा पितृस्थानीय होता था। वैसे कन्या के जन्म को बुरा नहीं माना जाता था परन्तु विवाह के पश्चात् कन्यायें पराई समझी जाती थी। संथाल दूसरे आदिवासियों की तरह कई गोत्रों में बंटे होते थे। प्रत्येक गोत्र का अपना गोत्र चिन्ह होता था जिसे टोटम कहा जाता था। यह टोटम पशु, पक्षी या पौधा के नाम पर होता था। जनजातिगण अपने टोटम की आराधना करते तथा अपने को इसका वंशज मानते थे। टोटम को मारना, कष्ट देना या खाना आज भी आदिवासियों के लिए सामाजिक निषेध है।²

संथाल समाज में महिलाओं का स्थान महत्वपूर्ण था यद्यपि पुरुषों की अपेक्षा उनका स्थान नीचा था फिर भी उन्हें परम्पराओं और रिवाजों के अनुरूप हर तरह के अधिकार प्राप्त थे।³ दैनिक जीवन में सुविधा और क्षमता के अनुरूप पुरुषों और महिलाओं के कार्यों का विभाजन किया गया था।⁴ घर एवं बाहर के कार्यों को सम्पादित करने में संथाल औरतें पुरुषों की तरह स्वतंत्र थी। दाह संस्कार में महिलाओं की भागीदारी वर्जित थी।⁵

जहाँ तक संथाल आदिवासियों के बीच शिक्षा के स्तर का सवाल है तो उनमें किसी भी तरह की औपचारिक शिक्षा का अभाव था। वह अपने माहौल से परम्पराओं और रिवाजों को सीखते हुए जीवन निर्वाह के पथ पर चलते थे। वस्तुतः पुराने जनजातीय समाज में औपचारिक शिक्षा अपेक्षाकृत एक आधुनिक अवधारणा है जिसमें ईसाई मिशनरियों के प्रयासों का योगदान है। अनौपचारिक शिक्षा के तौर पर युवाग्रह शैक्षिक संस्थान का काम करते थे।

दूसरे आदिवासियों उराँव, मुण्डा, हो आदि की तरह संथाल आदिवासियों के बीच भी आमतौर पर व्यस्क विवाह का प्रचलन था। उनके बीच के धनी एवं समृद्ध लोग ही उस समय अपने पड़ोस के क्षेत्रों में बसे हिन्दुओं के बीच प्रचलित विवाह प्रथा का अनुसरण कर रहे थे।⁶ संथालों के बीच मुख्यतः छः प्रकार के विवाह प्रचलित थे। 1. किरिंग बाहु; 2. धरदे जवाई; 3. किरिंग जवाई; 4. इतूत; 5. नीर बोलोक और 6. टुन्की दिलीप वाप्ला आदि।⁷ विवाह के इन तरीकों में किरिंग बाहु सबसे ज्यादा प्रचलित है। यह विवाह का परम्परागत तरीका था जिसमें बातचीत बतौर समझौता के द्वारा विवाह तय किया जाता था। किरिंग बाहु में वधू की कीमत देकर उसे अपने घर लाने की प्रथा थी।

दूसरा तरीका धरदे जवाई का था। इसका अर्थ है- सेवा के द्वारा किया गया विवाह। वधू मूल्य की अदायगी न कर पाने की स्थिति में वह अपने सास-ससुर की सेवा करता था तथा बदले में उसकी पुत्री को पत्नी के रूप में प्राप्त करता था। इस प्रकार के विवाह में वधू के लिए 'पोन' तो नहीं देना पड़ता था। लेकिन वर को पांच साल तक अपने ससुराल में रहकर काम करना पड़ता था। बाद में वर अपने वधू के साथ घर लौट आता था। किरिंग जवाई तब होता था जब किसी लड़की का कुछ लोगों के साथ संबंध हो और वह गर्भवती हो जाए। ऐसी स्थिति में अपनी पत्नी के रूप में उस लड़की को स्वीकार करने वाले को मुआवजा के तौर पर कुछ राशि दी जाती थी।

विवाह के 'इतूत' तरीके में मध्यस्थों की जरूरत नहीं पड़ती थी। वस्तुतः यह प्रेम विवाह का एक तरीका था जिसमें लोगों को तब तक पता नहीं चलता था जब तक कि लड़का उस लड़की के माथे पर सिन्दूर लगाकर उसे अपनी पत्नी न बना ले। लेकिन इस तरह के विवाह को ग्राम-समाज की मान्यता तब तक नहीं दी जाती थी जब तक कि लड़का लड़की के घर वालों को मांझी के माध्यम से हरजाने की रकम नहीं चुका देता।

'नीर बोलोक' एक प्रकार का हठ विवाह था। इस प्रकार के विवाह में लड़की पहल करती थी। लड़की जिस लड़का से शादी करना चाहती थी उसके घर में जाकर जबर्दस्ती रहने लगती थी। लड़के के माता-पिता के अपमान किए जाने पर भी वह अपने परिवार में तब तक नहीं रहती थी जब तक कि लड़के के माता-पिता उसे बहु रूप में स्वीकार न कर ले।

'टुन्की दिलीप वाप्ला' गरीबों का विवाह था। इस विवाह में वधू को उसके घर से बिना किसी समारोह के वर के घर लाया जाता था। जहां वर के द्वारा वधू के माथे पर सिन्दूर लगाकर सिन्दूरदान की रस्म पूरी की जाती थी।

इसके अतिरिक्त विवाह का एक अन्य प्रकार था- संग बाप्ला। यह विधवा या तलाकशुदा महिलाओं के लिए प्रचलित था। इस प्रकार के विवाह में छोटे समारोह का आयोजन होता है। फिर एक खास फूल से वधू के माथे पर वर सिन्दूर लगाता है।⁸ इस रिवाज से पता चलता है कि संथालों के बीच विधवा विवाह का प्रचलन था। लेकिन ऐसी स्थिति में वधू की कीमत किसी अविवाहित कन्या की तुलना में आधी होती थी।⁹

संथाल समाज आरम्भ से ही महिलाओं और पुरुषों के सहयोग पर आधारित था। लेकिन संथाल समाज में स्त्रियों को किसी की जानकारी मिलनी चाहिए और किस तरह की नहीं, इस पर पुरुषों का अधिकार था। यह समाज के महिलाओं के दूसरे दर्जे की स्थिति को दर्शाता है।¹⁰

सामुदायिकता पर आधारित संथाल समाज में आपसी विवाह को सुलझाने के लिए 'लो-बीर' नामक एक जंगल परिषद् का गठन किया गया था। हालांकि आदिवासी समाज के विकास क्रम में लो-बीर एक परवर्ती संस्था थी। यह संस्था उस नए अभिजात्य वर्ग सोक या जनगुरु के अनुकूल था जिनपर आदिवासी समाज के मूल्यों को बनाए रखने तथा धार्मिक अनुष्ठानों को सम्पादित करने का उत्तरदायित्व था।¹¹ इस अवस्था तक आते-आते संथालों के समाज में भी अन्य समाजों की तरह अभिजात्य वर्ग का उदय हो चुका था जो कई तरह के विशेषाधिकारों से सम्पन्न था। मांझी, परमनायक, जोगपरमनायक, कुदम नायक जैसे पदनामित अधिकारी इस वर्ग में आते थे।¹² समाज में इनका स्थान सबसे ऊँचा था।

संथाल समाज में ग्राम्य-समुदाय की व्यवस्था का अस्तित्व आरम्भ से ही था।¹³ इस अवस्था में गाँव का प्रधान सर्वोपरि होता था। जिसे मंडल या मांझी कहा जाता था। गाँव से सम्बंधित सभी कार्य इसी के हाथों सम्पन्न होता था। ग्राम-प्रधान की व्यवस्था संथालों की सामाजिक व्यवस्था और इसकी

आंतरिक संरचना का आधार थी। यह संथालों की जातीय-अस्मिता की भावना के साथ गहराई से जुड़ी थी। हर गाँव या परहा का प्रधान माँझी होता था जिसे संथाल होरहोपोन कहते थे। संथाल परम्परा के अनुसार जब किसी स्थान को बसने के अनुकूल समझा जाता, उस जगह पर वह माँझी के नेतृत्व में बस जाते। इस तरह माँझी गाँव का नेता होता था जिसका चुनाव गाँव के लोग मिलकर करते थे। वह गाँव के अधिकारों, नियमों एवं उत्सवों का संचालक तथा प्रशासक था।¹⁴ जैसा कि हाल के अध्ययन में बताया गया है कि स्थायी बन्दोबस्त के पूर्व जंगल-महल और इसके आस-पास को संथालों के कृषक समाज में माँझी अथवा मण्डली व्यवस्था लगभग एक स्वपर्याप्त व्यवस्था थी।¹⁵

सामाजिक तौर पर संथाल खुशमिजाज उत्साही और समारोहों को मानने की अपनी परम्पराओं को अक्षरशः पालन करने वाले लोग थे। ये लोग छोटी-छोटी खुशियों को भी मिलकर मनाते थे। संथालों की सामूहिक संरचना तथा सामाजिक मेल-जोल की परम्परा पूरी तरह से पैतृक सम्बन्धों पर आधारित व्यवस्था के अनुरूप थी। संगीत एवं नृत्य संथालों के जीवन का महत्वपूर्ण भाग था। इसमें स्त्री-पुरुष दोनों ही समान रूप से भाग लेते थे। इन लोगों में मद्यपान का पर्याप्त प्रचलन था। घर-घर में चावल की बीयर बनाई जाती थी। आवासों, खेतों तथा जानवरों की रक्षा हेतु ये कुत्ते पालते थे।¹⁶

इस तरह कह सकते हैं कि जीवन की विषम परिस्थितियों जिनका सामना संथालों को अक्सर करना पड़ता था, का सामना करने के लिए हर प्रतिरक्षात्मक समाज की तरह बड़े ही अनुशासन के साथ करते थे। संथालों में अपने सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति अधिक अभिरुचि थी जिसके फलस्वरूप इनका परिवार एवं समाज अन्य आदिवासियों की तुलना में ज्यादा जागरूक और प्रगतिशील रहा है।

संदर्भ सूची

1. एफ॰बी॰बडले वर्ट; दि स्टोरी ऑफ एन इंडियन उपलैण्ड; लंदन 1905 - पृ. 21
2. उमेश कुमार वर्मा; बिहार का जनजातीय जीवन, वाराणसी 1991, पृ. 23
3. पी॰सी॰राय चौधारी; डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, संथाल परगना, पृ. 891
4. पी॰सी॰राय चौधारी; डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स, संथाल परगना, पृ. 891
5. चारूलाल मुखर्जी; दि संथाल्स कलकत्ता, II संस्करण 1962, पृ. 97
6. पी॰सी॰राय चौधारी; पूर्वोक्त पृ. 931
7. पी॰सी॰राय चौधारी; पूर्वोक्त पृ. 931
8. पी॰सी॰राय चौधारी; पूर्वोक्त पृ. 931
9. बी॰बी॰सिन्हा; सोसाइटी इन ट्राईबल इंडिया 1982, पृ. 145
10. पी॰सी॰राय चौधारी; इनसाईड बिहार 1962, पृ. 43
11. ए॰बी॰चौधारी; दि संथाल्स रिलिजन एण्ड रिचुअल्स 1987, पृ. 17
12. एच॰एच॰रिजले; दि ट्राईबल एण्ड कास्ट्स ऑफ बंगाल भाग 1, पृ. 234-35
13. एफ॰डब्ल्यू॰ रोबर्टसन; सेटलमेंट रिपोर्ट बांकुरा, कलकत्ता 1926, पृ. 08
14. एल॰एम॰एस॰ओ॰मेली; बंगाल गजेटियर संथालपरगना 1910, पृ. 107
15. एस॰सी॰गुप्ता; एग्नेरियन रिलेशन एण्ड अली ब्रिटिश रूल इन इंडिया
16. हरिशचन्द्र उप्रेती; भारतीय जनजातियाँ 1995, जयपुर, पृ. 244

भारतीय संविधान में राष्ट्रपति शासन की पृष्ठभूमि

आशा रानी

शोध छात्रा, वीर कुंवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा

भारतीय संविधान के प्रथम अनुच्छेद में ही यह स्पष्ट किया गया है कि भारत राज्यों का एक परिसंघ है। भारतीय संविधान की मूल आत्मा के संघात्मक अथवा एकात्मक अथवा अर्द्धसंघात्मक होने के मुद्दे पर बहस होती ही रही है, फिर भी भारत को परिसंघ कहना अधिक तार्किक होगा।¹ भारत में संघीय शासन व्यवस्था की पृष्ठभूमि 1935 ई० के 'भारत सरकार अधिनियम' के पूर्व भी ब्रिटिश भारतीय संवैधानिक विकास की प्रक्रिया में देखी जा सकती है।² श्री पी. आर. दुबाशी जैसे राजनीतिक विश्लेषकों ने स्वतंत्र भारत के संविधान में प्रथम दृष्ट्या 'केंद्रीयता' की प्रवृत्ति को प्रधान प्रवृत्ति माना। किन्तु आगे इसी अध्ययन में उन्होंने भारतीय संविधान के क्रियान्वयन के प्रथम दशक में ही 'सामुदायिक विकास' के कार्यक्रमों को 'केंद्रीयता के विरोधी लक्षणों' के रूप में स्वीकार भी किया।

आज राजनीति विशारद एवं इतिहासवेत्ता यह स्वीकार करने में किंचित् भी असहजता अनुभव नहीं करते कि भारतीय संविधान में 'संघात्मकता' तथा 'एकात्मकता' का अद्भूत समन्वय हुआ है। भारतीय संविधान के निर्माताओं ने अपनी पूरी जानकारी में अत्यंत सतर्क रहते हुये भारतीय प्रशासनिक संरचना के लिए एक सशक्त केंद्रीय प्रवृत्ति के साथ संघीय व्यवस्था को अंगीकार किया।³

भारतीय संविधान निर्माता एक स्थिर एवं शक्तिशाली केंद्र चाहते थे। अतः उन्होंने केंद्र तथा संघीय राज्यों के बीच समायोजन के प्रावधान बनाए। इन प्रावधानों के अन्तर्गत कई मुद्दों पर संघीय राज्यों को स्वायत्तता दी गई तो किंचित् परिस्थितियों में केंद्र को राज्यों पर नियंत्रक एवं संतुलनक शक्तियाँ प्रदान की गईं। केंद्र को राज्यों पर नियंत्रण एवं संतुलन बनाए रख कर शक्तिशाली बनाने के लिए कुछ महत्वपूर्ण प्रावधान किये गये। ऐसे ही प्रावधानों में सर्वाधिक कार्यक्षम अस्त्र भारतीय संविधान का अनुच्छेद 356 है जिसमें भारत संघ के राज्यों में 'राष्ट्रपति का शासन' लागू करने की व्यवस्था उपबन्धित है।

यहाँ यह विचारणीय है कि भारत में संघीय राज्यों को स्वायत्तता देने की परंपरा का आरंभ ब्रिटिश शासनावधि में ही हुआ जब लंदन की संसद ने 'भारत सरकार अधिनियम' (1935) पारित किया। इस अधिनियम में स्वायत्त राज्यों को केंद्रीय नियंत्रण में रखने के उद्देश्य से अनुभाग (सेक्शन) 39 की व्यवस्था की गई थी। जब स्वतंत्र भारत के संविधान निर्माण की प्रक्रिया चल रही थी, संविधान प्रारूप समिति के अध्यक्ष डा० बी० आर० अम्बेडकर ने स्पष्ट उल्लेख किया था कि संविधान सभा ने उनको भारत सरकार अधिनियम (1935) के अनुभाग-93 को संविधान में सम्मिलित कर लेने के लिये कहा था।⁴ इससे यह स्पष्ट होता है कि 'भारत सरकार अधिनियम' (1935) में उपबन्धित प्रांतीय स्वायत्तता, प्रांतों पर केंद्रीय नियंत्रण के लिये उपबन्धित अनुभाग-93 एवं भारतीय संविधान के संघीय स्वरूप तथा सशक्त केंद्रीय व्यवस्था हेतु उपबन्धित भाग XVIII के 'आपातकालीन उपबंध' शीर्षक के अन्तर्गत अनुच्छेद 356 के मध्य ऐतिहासिक संबंध है। इस निष्कर्ष को प्रतिष्ठापित करने के लिए भारतीय संविधान के निर्माण एवं विशेषतया भारतीय संविधान के उपबंधों की पृष्ठभूमि को खंगालना होगा।

यह सामान्यतया माना जाता है कि भारत सरकार अधिनियम' (1935) का अनुभाग-93 भारतीय संविधान के अनुच्छेद 356, जिसमें आपातकालीन स्थिति में भारतीय संघ के किसी राज्य में चुनी हुई लोकप्रिय सरकार के संवैधानिक व्यवस्था के अन्तर्गत कार्य नहीं कर पाने की स्थिति में राष्ट्रपति के शासन अथवा केंद्रीय शासन का प्रावधान है, का प्रमुख आधार है। किन्तु सत्य यह है कि अनुच्छेद 356 जैसी व्यवस्था का प्राथमिक बिंदु 1931 ई० का श्वेत पत्र है।⁵ इस श्वेत पत्र में प्रान्तीय गवर्नरों को कुछ विशिष्ट शक्तियाँ एवं उत्तरदायित्व सौंपने की सिफारिश की गई थी ताकि प्रांतीय सरकारों की कार्यवाही को सुरक्षित किया जा सके। इसके लिये गवर्नर को अध्यादेश जारी करने की शक्ति प्रदान की गई थी जिसका अनुमोदन राज्य के विधानमंडल द्वारा किया जाना आवश्यक था।⁶ यह श्वेत पत्र गवर्नर को किसी प्रांत में संवैधानिक तंत्र की विफलता के समय अतिरिक्त शक्तियाँ भी देता था। इस श्वेत पत्र में उल्लिखित था- “यदि किसी समय, गवर्नर को शंका हो जाए कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें प्रांतीय सरकार संवैधानिक अधिनियम के अनुसार नहीं चल सकती तो वह उद्घोषणा द्वारा उन समस्त शक्तियों को, जो किसी प्रांतीय प्राधिकारी के पास है और जो प्रांतीय सरकार को प्रभावी ढंग से चलाने के लिए आवश्यक है, अपने हाथों में ले सकेगा। इस उद्घोषणा को, जिसका प्रभाव संसद के अधिनियम की भाँति ही होगा, गवर्नर जनरल एवं भारत मंत्री के द्वारा ब्रिटिश संसद में प्रस्तुत किया जाएगा।”

1931 के श्वेत पत्र का ज्वाइंट कमिटी ऑन इंडियन कॉन्स्टीच्यूशनल रिफार्म्स ने समर्थन किया।⁸ तत्कालीन भारतीय परिस्थितियों के मद्दे नजर ब्रिटिश सरकार को शंका थी कि प्रांतीय विधान मंडलों के सदस्य सदैव गवर्नर के साथ सहयोग नहीं करेंगे तथा इससे प्रांतीय सरकारों को सुचारू रूप से चलाने में व्यवधान आयेगा। साथ ही, यह भी माना गया कि यह प्रावधान विशिष्ट होगा तथा इसे सामान्य स्थितियों में लागू नहीं किया जायेगा।

दूसरी ओर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने श्वेत पत्र (1931 ई.) एवं ज्वाइंट कमिटी के एतत्संबंधी प्रस्तावों (1934 ई.) को सिरे से खारिज करते हुये एक संविधान सभा के गठन की मांग की। इसके बावजूद इन सुझावों को ‘भारत सरकार अधिनियम’ (1935 ई.) में अनुभाग 93 के रूप में सम्मिलित किया गया। इसके अनुसार गवर्नर को अधिकार दिया गया था कि “यदि गवर्नर को विश्वास हो जाय कि प्रांतों की सरकार अधिनियम के प्रावधानों के अनुसार नहीं चल रही है तो वह प्रांतों की निर्वाचित लोकप्रिय सरकार को अपदस्त कर सकता है।”⁹ इसके लिये गवर्नर मंत्रिपरिषद से परामर्श लेने के लिए बाध्य नहीं था। गवर्नर प्रांतीय विधानमंडल की शक्तियों का अधिग्रहण कर सकता था तथा ऐसे उपबंधों को एकत्रित कर सकता था जिसे स्थगित करना वह आवश्यक समझें।¹⁰ इसी प्रकार के आपातकालीन विशेष अधिकार केंद्र में गवर्नर जनरल को दिये गये थे।¹¹

‘भारत सरकार अधिनियम’, अनुभाग-45 के अन्तर्गत केंद्रीय सरकार में गवर्नर जनरल को यह शक्ति दी गई थी कि यदि किसी समय गवर्नर जनरल को यह विश्वास हो जाय कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें संघीय सरकार इस अधिनियम के उपबंधों के अनुरूप नहीं चल सकती तो वह उद्घोषणा के द्वारा उन समस्त शक्तियों को, जो किसी भी संघीय प्राधिकारी के पास हैं और जो संघीय सरकार को चलाने के लिए आवश्यक हैं, गवर्नर जनरल अपने हाथों में ले सकता है।¹²

संविधान सभा स्वतंत्र भारत के संविधान में ‘भारत सरकार अधिनियम’ (1935 ई.) के अनुभाग-93 को भारतीय संविधान में समाविष्ट करने के लिए तो तैयार थी किन्तु अनुभाग-45 को नहीं।¹³ अनुभाग-93 को भी नये संविधान में उपबंधित करने के प्रश्न पर संविधान सभा में मतभेद थे। मूल प्रावधान में कई संशोधन किये गये। इसके कारण भी थे। ‘भारतीय सरकार अधिनियम’

(1935 ई.) के अनुभाग 93 का ब्रिटिश भारत में कई बार अनुचित प्रयोग हो चुका था तथा इस अनुभाग को 'भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम' (1947 ई.) में स्थान नहीं दिया गया था।¹⁴ संविधान सभा की 'द मॉडल प्रॉविशियल कॉन्स्टीट्यूशन कमिटी' भी संविधान में अनुभाग-93 को सम्मिलित करने के पक्ष में नहीं थी तथा प्रमुख संविधान निर्माताओं में से एक एवं प्रबल राष्ट्रवादी नेता सरदार पटेल ने अनुभाग-93 को 'पिछले दरवाजे' से लाने के विरुद्ध चेतावनी भी दी थी।¹⁵

पर स्वतंत्रता-प्राप्ति के शीघ्र बाद देश-विदेश में घटने वाली घटनाओं ने संविधान सभा को इस दिशा में सोचने के लिए विवश किया कि नए संविधान में राज्यों की आपातकालीन स्थितियों से निपटने के लिए विशेष प्रावधान किए जाएं। बर्मा (म्यांमार) की अव्यवस्था, आंग सांग तथा उनके मंत्रीमंडल के सदस्यों की हत्या एवं तेलंगाना प्रदेश के हिंसक आंदोलन इस सोच की जड़ में थे।¹⁶ यहाँ यह भी उल्लेख है कि संविधान सभा के कुछ वरिष्ठ सदस्यों, यथा, श्री के. एम. मुंशी एवं सर अल्लादी कृष्णास्वामी अय्यर इत्यादि का मत था कि राज्यों को पहले ही पर्याप्त स्वायत्तता दी जा चुकी है एवं इसलिए संविधान में ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि राज्यों में संवैधानिक तंत्र की विफलता की स्थिति में केंद्र को विशेषाधिकार मिलें।¹⁷ इस संबंध में श्री के. एम. मुंशी के संशोधन संविधान सभा ने स्वीकार किया।

इसप्रकार 'भारत सरकार अधिनियम' (1935 ई.) के अनुभाग 93 को भारतीय संविधान में अनुच्छेद 356 में उपबंधित किया गया तथा अनुभाग 52(1) एवं अनुभाग 57 को छोड़ दिया गया।¹⁸ डा० बी० आर० अम्बेडकर प्रारंभ से इसके पक्ष में थे¹⁹ तो संविधान सभा के अन्य सदस्य श्री शिबबन लाल सक्सेना ने न तो समर्थन किया और न ही विरोध²⁰ तो एक अन्य सदस्य ने अपनी तल्लख टिप्पणी में यहाँ तक कह दिया, "हमारे संविधान निर्माताओं ने 'भारत सरकार अधिनियम', 1935 का एक पृष्ठ उठा लिया और रातों रात उसके समर्थक बन गये, जिसका एक समय व्यापक विरोध किया था।"²¹

वस्तुतः 'भारत सरकार अधिनियम', 1935 के अनुभाग 93 एवं भारतीय संविधान के अनुच्छेद 356 में इतनी अधिक समानता है कि भारतीय संविधान का अनुच्छेद 356 'भारत सरकार अधिनियम' (1935 ई०) के अनुभाग 93 का सही समानान्तर स्वरूप है।²² संविधान सभा के एक सदस्य ने तो यहाँ तक कह डाला कि अनुभाग 93 का एक बाइबिल की भाँति अनुकरण किया गया।²³

संदर्भ-सूची

1. भारतीय संविधान अनुच्छेद 1 के अंग्रेजी मूल पाठ, India that is Bharat' shall be a union of states के हिन्दी अनुवाद में 'यूनियन' शब्द का भावार्थ 'परिसंघ' लिया जाता है, 'संघ' लेने से एकताबद्ध केंद्रीयता का आभास होता।
2. एस. पी. अय्यर - द फेडरल आइडिया इन इंडिया, एस. पी. अय्यर एवं उषा मेहता (सं.) - एसेज ऑन इंडियन फेडरलिज्म, बम्बई, 1965, पृ. 1-33
3. पी. आर. दुबाशी - यूनिटरी ट्रेड्स इन ए फेडरल सिस्टम, एस. पी. अय्यर एवं उषा मेहता (सं.) - एसेज ऑन इंडियन फेडरलिज्म, बम्बई, 1965, पृ. 1. 34-53
4. कॉन्स्टीट्यूट एसेम्बली डिबेट्स (सी. ए. डी.), खंड 9, पृ. 132
5. श्वेत पत्र - प्रोपोजल फॉर इंडियन कॉन्स्टीट्यूशनल रिफॉर्म, (1931), सी. एम. एन. डी., 4268
6. इंडियन स्टेट्यूटरी कमीशन (1930) सी. एम. एन. डी. - 3568, जिल्द-1, पैरा 103-104, पृ. 327-28
7. वही, पैरा 105, पृ. 328
8. ज्वाइंट कमिटी ऑन इंडियन कॉन्स्टीट्यूशनल रिफॉर्म, 1934, एच-एल 5 (1पी. टी.1, एच-सी 5)1पी. टी.1), ऑन स्पेशल पावर्स एट पैराज, 103-111, पृ. 57, 67 ऑन स्पेशल रिस्पॉन्सिबिलिटीज एट पैराज 78-84, पृ. 43, 47
9. अनुभाग 93, भारत सरकार अधिनियम, 1935
10. वही

11. वही
12. वही
13. एस. सी. अरोड़ा (सं.) - प्रेसिडेंशियल रूल इन इंडियन स्टेट्स, नई दिल्ली, 1993, पृ. 95
14. के. वी. राव - पार्लियामेंटरी डेमोक्रेसी ऑफ इंडिया, कलकत्ता, 1961, पृ. 276
15. सी. ए. डी., खंड 5, पृ. 727
16. के. वी. राव - पूर्वोक्त, पृ. 277
17. प्रो. के. वी. राव ने अपनी पूर्वोक्त पुस्तक में दावा किया है कि उन्हें यह जानकारी संविधान सभा के एक प्रमुख सदस्य श्री के. एम. मुंशी के व्यक्तिगत कागजात से मिली थी।
18. सी. ए. डी. खंड 9, पृ. 132
19. वही, पृ. 173
20. सी. ए. डी., खंड 9, पृ. 143
21. एस. सी. अरोड़ा, पूर्वोक्त, पृ. 14
22. के. वी. राव, पूर्वोक्त, पृ. 276
23. सी. ए. डी., खंड 9, पृ. 173

ब्रिटिश भारत में मजदूर वर्ग का उत्थान एवं मजदूर आंदोलन (1850-1908)

मुकेश कुमार

यू०जी०सी० (नेट), शोध-छात्र, विश्वविद्यालय इतिहास विभाग,
तिलकामाई भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

भारतीय राष्ट्रीय परिदृश्य पर श्रमिक वर्ग का उभरना इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। जिसने आधुनिक भारत के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक इतिहास को काफी प्रभावित किया। श्रमिक वर्ग ने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई तथा जन चेतना की एक मिसाल कायम की। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के समय जो श्रमिक वर्ग उमरा वह मुख्यतः औद्योगिक श्रमिक वर्ग था, जो अंग्रेज तथा भारतीय पूंजीपतियों द्वारा स्थापित उद्योगों में कार्यरत मजदूर थे। इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में हुई थी, जबकि भारत में आधुनिक उद्योगों की स्थापना 1850 के बाद प्रारंभ हुई थी। इस दौरान भारत इंग्लैंड के उद्योगों के लिए कच्चे माल की पूर्ति करने वाला देश मात्र था। हम अच्छी तरह से जानते हैं कि जब कोई साम्राज्यवादी देश किसी उपनिवेश की स्थापना करता है तो उसका मुख्य उद्देश्य उपनिवेश का आर्थिक शोषण करना होता है। अंग्रेजों ने भी वही किया, उन्होंने भारतीय संसाधनों का दोहन इंग्लैंड के औद्योगिक विकास के लिए किया। 1800 ई० तक भारतीय उद्योग-धंधे संसार में सबसे अधिक विकसित थे, क्योंकि उस समय उद्योग केवल कुटीर उद्योग ही थे। औद्योगिक क्रांति के ग्लोबल स्वरूप विदेशों में उद्योगों का विकास हुआ और उसी के साथ-साथ भारतीय उद्योगों का पतन प्रारंभ हुआ। 1800-50 ई० के काल को हम भारतीय औद्योगिकरण का काल कह सकते हैं। इस दौरान भारत के परम्परागत हस्त शिल्प का ऐसा हास हुआ कि वह मर गया। कालें मार्क्स ने कहा था, “यह अंग्रेज घुसपैठिया था जिसने भारतीय खड्डी और चरखे को तोड़ दिया।”

अंग्रेजों के आगमन के पूर्व भारतीय अर्थव्यवस्था एक ग्रामीण अर्थव्यवस्था थी। ग्राम आत्मनिर्भर होते थे तथा अपनी जरूरत की सारी वस्तुएँ स्वयं पैदा कर सकते थे। गाँवों में कृषि तथा उद्योग साथ-साथ चलता था तथा एक-दूसरे पर आश्रित थे। कुल मिलाकर ग्रामीण समाज आर्थिक दृष्टि से स्थिरता का प्रतीक था और यह आर्थिक स्थिरता कृषि, ग्रामोद्योग और स्थानीय व्यापार की संतुलित प्रणाली पर आधारित था। भारतीय गाँव की सबसे अच्छी परिभाषाओं में से एक एल्फिंस्टन ने अपनी पुस्तक “History of India” में दी हैं। उन्होंने भारतीय गाँवों को कहा है, छोटे-छोटे गणराज्य जो अपनी जरूरत की लगभग हर वस्तु स्वयं पैदा कर सकते हैं।¹

लेकिन अंग्रेज साम्राज्यवादियों द्वारा औपनिवेशिक शासन की स्थापना ने भारतीय ग्रामीण अर्थ व्यवस्था को ध्वस्त कर दिया। अंग्रेजों की आर्थिक नीतियों ने गरीब किसानों को भूमिहीन बना दिया तथा कुटीर उद्योगों का नाश कर दिया, जिससे असंख्य लोग बेरोजगार हो गए। अब तक जो भारत एक प्रमुख निर्यात करने वाला देश था अब से आगे वह आयात करने वाला देश बन गया। भारतीय बाजार विदेशी कपड़ों और वस्तुओं से भर गया और भारतीय उद्योग तबाह हो गए। लार्ड विलियम बेंटिंक की सरकार ने भी 1834 में यह कहा था, “इस दुर्दशा का व्यापार के इतिहास में जोड़ नहीं। भारतीय बुनकरों की हड्डियाँ भारत के मैदान में बिखरी पड़ी हैं।”² 1850 के बाद जब भारत में

कारखानों की स्थापना होने लगी तब यही बेरोजगार लोग गाँव से शहरों की ओर पलायन कर गए। कारखानों में काम करने के लिए असंख्य लोग कम मजदूरी पर भी तैयार हो जाते थे। इस प्रकार भारत में सस्ता श्रम उपलब्ध था जिसने उद्योगों के विकास तथा उत्पादन के क्षेत्र में सहायता पहुँचाई।

इस प्रकार 1850 ई० के बाद भारत में एक नए वर्ग श्रमिक वर्ग का उदय हुआ। भारत में उद्योगों की स्थापना से मजदूरों की संख्या में वृद्धि हुई। आधुनिक उद्योगों की स्थापना ने पूंजीपतियों द्वारा शोषण और मजदूरों की समस्याओं को जन्म दिया। औद्योगिक क्रांति के पश्चात् पश्चिमी देशों के मजदूरों को जिस समस्याओं का सामना करना पड़ा था, वैसी ही समस्याओं से भारतीय मजदूरों को गुजरना पड़ रहा था। भारतीय मजदूरों को कम मजदूरी, लंबे कार्य के घंटे, मिलों में अस्वस्थ वातावरण, बच्चों से काम लेना तथा महिलाओं को न्युनतम मजदूरी नहीं देना, साथ ही समान्य सुविधाओं को उपलब्ध नहीं कराने की समस्याओं को झेलना पड़ता था। इसके अतिरिक्त भारतीय मजदूरों की स्थिति पश्चिमी देशों के मजदूरों से भिन्न थी। पश्चिमी देशों में मजदूरों का शोषण वहाँ के उद्योगपतियों द्वारा किया जाता था और सरकार ने उद्योगों के प्रति अहस्तक्षेप की नीति अपना ली थी, ताकि उद्योगों के विकास तथा उत्पादन में कोई बाधा उत्पन्न न हो। लेकिन भारत की परिस्थिति भिन्न थी। भारत की औपनिवेशिक सरकार की उद्योगों के विकास में कोई रूचि नहीं थी। उसकी नीति तो भारतीय उद्योग के विकास को अवरूद्ध करने की थी। वे नहीं चाहते थे कि भारतीय उद्योग इंग्लैंड के उद्योगों के साथ प्रतिस्पर्धा करें। इसलिए वे भारतीय उद्योग या मजदूर वर्ग के हित के लिये कोई कार्य नहीं करना चाहते थे।

भारत में आधुनिक उद्योगों विशेषकर सूती कपड़ा मिल तथा जूट मिलों का बड़े पैमाने पर स्थापना हुई। जिससे उत्पादन बढ़ा और भारतीय बाजारों में देशी वस्तुओं की आपूर्ति बढ़ी। भारतीय उत्पाद आयातीत उत्पाद की तुलना में सस्ते होते थे, जिसका मुख्य कारण भारत में सस्ते श्रम की उपलब्धता थी। जबकि इंग्लैंड में श्रमिक वर्ग ने अपने विभिन्न मांगों को लेकर आंदोलन चलाया और अंततः 1847 में दस घंटा विधेयक पारित कर दिया गया। इस कानून ने स्त्रियों और युवकों के लिये काम के घंटे सीमित कर दिए और पुरुष श्रमिकों के लिए 10 घंटे का दिन निश्चित कर दिया।⁴ इस कानून के प्रभाव से इंग्लैंड का उत्पादन सीमित हो गया। दूसरी तरफ भारतीय उद्योगों से उन्हें कड़ी प्रतिस्पर्धा करनी पड़ रही थी। अब लंकाशायर के उद्योगपतियों ने भारत में कपास मिल के माल पर लगे आयात शुल्कों को समाप्त करने तथा भारतीय श्रमिकों की परिस्थितियों का अध्ययन करने के लिए एक आयोग की मांग की। उन्हें डर था कि भारतीय कपड़ा उद्योग सस्ती मजदूरी के कारण उसका प्रतिद्वन्दी न बन जाए। इस प्रकार का पहला आयोग 1875 में नियुक्त किया गया।⁵ इंग्लैंड की सरकार ने 11 जुलाई 1877 को एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया जो इस प्रकार था, “इस सदन के मतानुसार भारत में आयात किए गए सूती माल पर लगा शुल्क जो निश्चित ही रक्षात्मक है स्वास्थ्य वाणिज्य नीतियों के विरुद्ध है और उसे जितना शीघ्र भारत की बित्तीय परिस्थिति अनुमति देकर समाप्त कर देना चाहिए।” ब्रिटिश सदन द्वारा पारित प्रस्ताव को स्वीकार करते हुए वायसराय लिटन ने अकाल पीड़ित भारत की आवश्यकताओं को नजरअंदाज करते हुए तथा अपने कार्यकारी परिषद के विरोध के बावजूद अपने सवैधानिक शक्तियों का प्रयोग करते हुए 1879 तक सभी शुल्कों को समाप्त कर दिया। इस प्रकार भारतीय प्रशासन की आवश्यकताओं को अंग्रेजी राजनीति पर बलिदान कर दिया।⁶ भारतीय उद्योगों में काम करने वाले श्रमिकों की स्थिति में सुधार के लिए जो आयोग 1875 में नियुक्त किया गया था उसकी अनुशंसा पर भारत सरकार ने 1881 में प्रथम फैक्टरी कानून तथा 1891 में दूसरा फैक्टरी कानून पारित किया।⁷ इस कानून के पारित होने से भारतीय श्रमिकों के मांगों को कानूनी

समर्थन प्राप्त हुआ तथा उनमें राजनीतिक जागृति आई। इस प्रकार भारत सरकार ने भारतीय श्रमिक वर्ग की परिस्थितियों को सुधारने के लिए कदम उठाए, भले ही उनका उद्देश्य इंग्लैंड के व्यापार को लाभ पहुँचाना ही था।

1881 और 1891 के फैक्टरी एक्ट का ज्यादातर राष्ट्रवादी नेताओं और राष्ट्रीय अखबारों ने विरोध किया। उनका मानना था कि सरकार ने ब्रिटिश उत्पादकों के हितों की रक्षा को ध्यान में रखकर श्रम कानून बनाने की पहल की थी। इस कानून से श्रमिकों के कार्य के घंटे कम कर दिए जाते और इस तरह भारतीय उत्पादकों की बाजार में पहले से बढ़ी हुई प्रतिस्पर्धा की ताकत कम हो जाती। उस समय के राष्ट्रवादी नेता देश की गरीबी को कम करने के लिए औद्योगिक विकास को अनिवार्य मानते थे और इस प्रकार का कोई कदम नहीं उठाना चाहते थे जिससे औद्योगीकरण की प्रक्रिया में किसी तरह की कमी आए। लेकिन जब ब्रिटिश स्वामित्व वाली कम्पनियों में काम करने वाले मजदूरों का सवाल आया तो इन्होंने राष्ट्रवादियों ने उन मजदूरों को पूरा समर्थन दिया। राष्ट्रवादियों के रूख में इस बदलाव का कारण इसलिए था कि यहाँ मालिक और नौकर एक ही देश के अभिन्न अंग नहीं थे। सुमित सरकार ने भी राष्ट्रवादियों की आलोचना करते हुए लिखा है कि राष्ट्रवादी विदेशियों के लिये काम करने वाले भारतीयों (उदाहरण के लिए, असम के कुलियों) के लिए तो मानवतावादी सरोकार प्रायः ही दिखाते रहते थे किंतु भारतीय स्वामित्व वाले कारखानों के श्रमिकों की दशा की ओर से आँख मूंद लेते थे।⁸

यहाँ पर सवाल यह उठता है कि क्या भारतीय स्वामित्व वाले कारखानों में काम करने वाले मजदूरों और अंग्रेजी स्वामित्व वाले कारखानों में काम करने वाले मजदूरों की परिस्थितियाँ एक साथ थी? क्या दोनों को एक ही प्रकार के शोषण का सामना करना पड़ रहा था? इसका विस्तृत अध्ययन करने पर हम पाते हैं कि इंग्लैंड के उद्योगों के लिये जो कच्चे माल की आपूर्ति भारत से की जा रही थी वह उच्च कोटि की नहीं थी। इस कमी को पूरा करने के लिये यह आवश्यक था कि अंग्रेज नागरिकों को भारत में मुक्त रूप से जाने तथा बसने की अनुमति हो। इसलिए चार्टर एक्ट 1833 ने यूरोपीय लोगों को भारत में बसने तथा वहाँ सम्पत्ति मोल लेने की अनुमति दे दी। अब अंग्रेजी पूंजी भारत की चाय, काफी, नील और पटसन के बगीचों में लगायी जाने लगी। भारत सरकार ने उन्हें हर प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त कराईं। आसाम बेस्टलैण्ड रूस में यह प्रावधान था कि किसी भी व्यक्ति को 3 हजार एकड़ तक भूमि क्षेत्र एक निश्चित राशि के बदले दे दिया जा सकता था और इस पर उन्हें कोई भूमि कर नहीं देना होता था।⁹

अंग्रेजी स्वामित्व वाले बगीचों और कारखानों में मजदूरों की भरती ठेकेदारों के माध्यम से अनुबंध पद्धति द्वारा की जाती थी। ऐसे मजदूरों में वे प्रवासी भारतीय मजदूर भी शामिल थे, जो फिजी, मॉरिशस, नटाल तथा बेस्टइंडीज आदि देशों में यूरोपीय उद्योगों में काम करने के लिये भेजे जाते थे। जिन्हें गिरमिटिया मजदूर कहा जाता था। ये भरती सिद्धांततः तो निःशुल्क होती थी, लेकिन ठेकेदारों के माध्यम से होने के कारण उनके बटे की मांग का बोझ भी मजदूरों पर ही डाल दिया जाता था। पूर्वी भारत के खदानों तथा बगानों के लिये श्रमिक पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार तथा मद्रास प्रसीडेंसी से आते थे। इसके विपरीत अहमदाबाद और बंबई के कारखाने श्रमिकों की भरती आस-पास के क्षेत्रों से ही करते थे। अंग्रेज मालिकों ने मजदूरों की भरती के लिये हर प्रकार की जोर-जबरदस्ती और धोखा-धड़ी की नीति अपनाई। भारत सरकार ने भी इस शोषण को कानूनी संरक्षण प्रदान किया। 1859 के Act XIII or Inland Immigration Act of 1882 द्वारा संविदा भंग करना एक फौजदारी जुर्म था।¹⁰ इस कानूनों के माध्यम से अंग्रेज मालिकों को मजदूरों को कैद करने, सजा देने तथा काम

छोड़कर जाने से रोकने का अधिकार मिल गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि अंग्रेजी स्वामित्व वाले उद्योगों में काम करने वाले मजदूरों की स्थिति दासों के समान थी। यह बड़ी ही विचित्र बात है कि एक तरफ भारत सरकार 1843 में कानून बनाकर दास प्रथा को समाप्त कर दिया और दूसरी तरफ 1859 और 1882 में कानून बनाकर अंग्रेज मालिकों द्वारा भारतीय मजदूरों को दास बनाने का अधिकार दे दिया।

दूसरी तरफ भारतीय स्वामित्व वाले कारखानों में काम करने वाले मजदूरों की परिस्थितियों का अवलोकन करें तो हम पाते हैं कि उनकी परिस्थिति तुलनात्मक रूप से बेहतर थी और यहाँ मुख्य समस्या मजदूरी और काम के घंटों को लेकर थी। बंबई के सूती कपड़ा मिल में मजदूरी करने वाले अर्जुन आत्माराम आल्वे ने असहयोग आंदोलन में शामिल होने की परिस्थितियों को व्यक्त करते हुए कहा था- “जिस समय हमारा संघर्ष चल रहा था, देश में राजनीति आंदोलन का नगाड़ा बस रहा था, कांग्रेस ने बहुत बड़ा आंदोलन शुरू किया जिसमें भारत के लिए स्वशासन की मांग रखी गई। उस समय हम मजदूर लोग स्वराज का अर्थ सिर्फ इतना समझते थे कि हमारे कर्जे समाप्त हो जाएंगे, सूदखोरों द्वारा दमन खत्म हो जाएगा, हमारी मजदूरी बढ़ेगी, मालिकों द्वारा दमन, उसके मुक्के, लात-घूँसे कानून बनाकर रोक दिए जाएंगे और इस प्रकार हम मजदूरों को दी जाने वाली यातना का अंत हो जाएगा। हम मजदूरों के मन में ये और इसी तरह के अन्य विचार उठा करते थे और बहुत सारे मजदूरों ने जिसमें मैं खुद भी था, असहयोग आंदोलन के दौरान स्वयं-सेवक के रूप में अपना नाम दर्ज कराया।”¹¹

उपरोक्त तथ्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि ब्रिटिश स्वामित्व में काम करने वाले मजदूरों की परिस्थितियाँ देशी उद्योगों में काम करने वाले मजदूरों से काफी भिन्न थी। उन्हें अधिक उत्पीड़न और शोषण का सामना करना पड़ रहा था। 1911 की 30.3 जनसंख्या में अनुमानतः 21 लाख लोग ही संगठित उद्योगों में लगे थे और इनमें बगानों के 8 लाख कामगार भी सम्मिलित थे।¹² बगानों के अलावा ब्रिटिश स्वामित्व वाले अन्य कारखानों में भी असंख्य मजदूर कार्य करते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि मजदूरों की एक बड़ी अबादी दासतापूर्ण बातावरण में काम कर रही थी। उत्पीड़न और शोषण के कारण मजदूरों में असंतोष उत्पन्न हुआ और राष्ट्रवादियों का समर्थन पाकर उन्होंने अपनी मांगों को लेकर आंदोलन प्रारंभ किया। मजदूरों की प्रथम संगठित हड़ताल ब्रिटिश स्वामित्व वाले Great Indian Peninsular (G.I.P) Railway में सिग्नल पर काम करने वाले मजदूरों ने अपनी विभिन्न मांगों को लेकर किया था। इस हड़ताल को सभी राष्ट्रवादी संगठनों और राष्ट्रीय अखबारों को भरपूर समर्थन मिला। चूँकि यहाँ शोषक विदेशी था, इसलिए यह राष्ट्रीय आंदोलन का हिस्सा बन गया।

भारतीय स्वामित्व वाले उद्योगों में काम करने वाले मजदूरों के प्रति शुरूआती राष्ट्रवादी नेताओं का जो उदासीनतापूर्ण दृष्टिकोण था, उसका एक प्रमुख कारण अंतराष्ट्रीय जगत में होने वाली घटनाएँ भी थी। फ्रांस की क्रांति के फलस्वरूप यूरोप में समाजवादी विचारों का उदय हुआ और अनेक समाजवादियों ने मजदूरों की दयनीय स्थिति की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। शुरूआती समाजवादियों जिसमें राबर्ट ओवन, लुई ब्लाक तथा सेंट साइमन आदि प्रमुख थे ने मजदूरों की स्थिति सुधारने का प्रयास किया। ये क्रांति के बदले शांतिपूर्ण परिवर्तन में विश्वास रखते थे, अर्थात् वे वर्ग संघर्ष के बदले वर्ग समन्वय के हिमायती थे। लेकिन कार्ल मार्क्स के उदय के पश्चात मार्क्सवादी विचारों का प्रसार हुआ। मार्क्स तथा एंगल्स ने 1848 में एक साम्यवादी घोषणा पत्र प्रकाशित किया, जिसमें वर्ग-संघर्ष का सिद्धांत प्रस्तुत किया गया। मार्क्स ने 1864 में First International की स्थापना लंदन में की। इसमें उन्होंने अपने भाषण में मजदूरों को संबोधित करते हुए कहा- “वे अपनी

मुक्ति स्वयं ही और अपने प्रयास द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं। जब तक कि उत्पादन के साधनों का स्वामित्व व्यक्तिगत हाथों में है तब तक मशीनों का सुधार उद्योग में विज्ञान का प्रयोग और उत्पादन कला में किसी भी सुधार से श्रमिकों की स्थिति में कोई सुधार नहीं हो सकता। इसलिए उनका अंतिम लक्ष्य पूँजीवाद का विनाश होना चाहिए।¹³ कार्ल मार्क्स हिंसा को क्रांति का अनिवार्य लक्षण मानते थे। वे मानते थे कि मनुष्य मूल रूप से बुराई का प्रतीक है और बुराई का अंत हृदय परिवर्तन से नहीं बल्कि हिंसात्मक संघर्ष से ही संभव है।

First International का सभी पूँजीवादी देशों ने विरोध किया और इसे समाप्त करने का प्रयास किया। अंत में सन् 1876 में इसे औपचारिक रूप से विघटित कर दिया गया। पुनः 14 July 1889 को पेरिस में Second International की स्थापना की गयी। जिसमें 20 देशों के लगभग 400 प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया। इस सम्मेलन में 1 मई को अंतर्राष्ट्रीय मजदूर दिवस मनाने का निर्णय लिया गया। 1 मई 1890 को सारे यूरोप और अमेरिका में मजदूरों ने हड़ताल और प्रदर्शन किया।¹⁴ Second International ने साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद का विरोध किया। समाजवादी विचारों के फलस्वरूप अनेक देशों में समाजवादियों का प्रभाव बढ़ा। मजदूर आंदोलन सशक्त हुआ, जिसके फलस्वरूप 1917 में रूसी क्रांति हुई और सर्वहारा वर्ग के शासन की स्थापना हुई।

भारत के राष्ट्रवादी नेता उपरोक्त अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं से भली-भाँति परिचित थे। उस समय भारत में साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन अपनी शैशवावस्था में था और राष्ट्रवादी नेता किसी भी हालत में नहीं चाहते थे कि भारतीय जनता भीतर से किसी भी तरह विभाजित हो। वे नहीं चाहते थे कि ब्रिटिश शासन के विरुद्ध चलाया जाने वाला संघर्ष कमजोर हो। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के दूसरे ही अधिवेशन (1886) में दादा भाई नौरोजी ने यह बात साफ कर दी थी कि “कांग्रेस को उस सवालों” तक ही सीमित रहना चाहिए, जिसमें पूरे राष्ट्र की भागीदारी हो तथा सामाजिक सुधारों और विभिन्न वर्गों के पारस्परिक समायोजन का कार्य कांग्रेस की उपसमितियों के हवाले कर देना चाहिए।¹⁵ कांग्रेस उस समय इस स्थिति में नहीं थी कि वह सीधा ब्रिटिश सरकार से संघर्ष कर सके। यदि वह ऐसे कार्यक्रमों को हाथ में लेती तो उन्हें सरकार का कोपभाजन बनना पड़ता। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का उदारवादी नेतृत्व क्रमिक और संवैधानिक नीतियों में विश्वास करता था। कांग्रेस का संगठन भी इस प्रकार का था कि इसके अधिकांश सदस्य उच्च वाणिज्य वर्गों, बैंकरों, व्यापारियों तथा भू-स्वामियों का प्रतिनिधित्व करते थे। स्वाभाविक है कि ऐसे समूहों से आमूल परिवर्तनवादी कार्यक्रम देने की अथवा अबाध जन-आंदोलन का समर्थन करने की आशा नहीं की जा सकती थी।

19वीं शताब्दी के अंतिम तथा 20वीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में एक नए दल का उदय हुआ तो पुराने नेताओं के आदर्शों तथा ढंगों का कड़ा आलोचक था। इस दल को पुराने उदारवादी की तुलना में उग्रवादी या गरम दल कहा गया। गरम दल देश के तीन भागों में अधिक सक्रिय था। महाराष्ट्र दल के नेता थे तिलक, बंगाल दल के नेता थे विपिन चंद्र पाल और अरविंद घोष तथा पंजाब दल का नेतृत्व लाला लाजपत राय कर रहे थे। समकालीन कांग्रेसी नेताओं में तिलक सबसे अधिक उग्र दृष्टिकोण रखते थे। उन्हें भारतीय असंतोष का जनक भी कहा जाता है। उन्होंने ब्रिटिश शासन के खिलाफ राष्ट्रीय आंदोलन चलाने के लिये जनता को प्रेरित करने का काम शुरू किया। 1896 में तिलक ने कपड़े पर लगे उत्पाद शुल्क के विरोध में सारे महाराष्ट्र में “विदेशी वस्त्र बहिष्कार आंदोलन चलाया। शायद वह पहले राष्ट्रवादी नेता थे, जिन्होंने इस तथ्य को पहचाना कि राष्ट्रीय आंदोलन में निम्न मध्य वर्ग, किसान, मजदूर और दस्तकार कितनी महात्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं और इसलिए इन लोगों को भी कांग्रेस के साथ जोड़ा जाना चाहिए। 1902 में उन्होंने एक

भाषण में घोषणा की- "तुम भले ही दलित और उपेक्षित क्यों न हो, तुम्हें यह मालूम होना चाहिए कि यदि तुम चाहो तो प्रशासन को पंगु बना दो। तुम्हीं तो रेल और तारों की व्यवस्था चलाते हो तुम्हीं तो हो जो बंदोबस्त करते और राजस्व की वसूली करते हो....।"¹⁶

20वीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों विपिन चंद्र पाल और जी. सुब्रमण्यम अय्यर आदि नेताओं ने मजदूरों के हितों की रक्षा के लिये कानून बनाने की मांग शुरू कर दी। 1903 में जी. सुब्रमण्यम अय्यर ने इस बात पर जोर दिया कि मजदूरों को आपस में मिलकर संगठित होना चाहिए और अपने अधिकारों को लेकर संघर्ष करने के लिये उन्हें यूनियन बनानी चाहिए और इस लक्ष्य को पाने के लिए जनता को उनकी हर तरह से मदद करनी चाहिए।

जब लार्ड कर्जन ने बंगाल के विभाजन की घोषणा की तो उसके परिणामस्वरूप स्वदेशी और बहिष्कार आंदोलन प्रारंभ हो गया। स्वदेशी आंदोलन के दौरान राष्ट्रवादी नेताओं ने मजदूरों को ट्रेड यूनियन बनाने, कोष एकत्र करने, हड़ताल करने तथा कानूनी रूप से काफी मदद पहुँचाई। मजदूरों को राष्ट्रीय आंदोलन से जोड़ने का प्रयास किया गया और इसमें वे सफल भी रहे। जो मजदूर अब तक सिर्फ आर्थिक मांगों को लेकर संघर्ष और आंदोलन कर रहे थे, उनके अपने आंदोलन और संघर्ष में उस समय के व्यापक राजनीतिक मुद्दे भी शामिल हो गया। जिस दिन बंगाल का विभाजन किया गया, 16 अक्टूबर 1905 को सारे देश में आंदोलन की लहर उठ खड़ी हुई। इसमें बंगाल के मजदूर वर्ग ने समर्थन में हड़ताल की। स्वदेशी तथा बहिष्कार आंदोलन बंगाल के बाहर भी फैल गया। विशेष तौर पर तिलक ने महारष्ट्र में इस आंदोलन का प्रचार किया। तिलक मजदूर वर्ग को राष्ट्रीय आंदोलन से जोड़ने में सफल रहे। जब 22 जुलाई 1908 को तिलक को देशद्रोह के मुकदमें में सजा सुनाई गई थी। उस दिन बंबई के सारे बाजार बंद रहे और एक हफ्ते तक यह बंद जारी रही। बंबई की सभी 80 कपड़ा मिलों और रेल मजदूरों ने छह दिन की हड़ताल की। पुलिस ने जब मजदूरों को काम पर वापस भेजने के लिये मजबूर किया, तो मजदूरों ने उसका जमकर विरोध किया। पुलिस और मजदूरों के बीच कई जगहों पर संघर्ष हुआ, ब्रिटिश सरकार ने मजदूरों के दमन के लिए सेना बुलाई। 16 मजदूर मारे गए और लगभग 50 मजदूर गंभीर रूप से घायल हुए। मजदूरों के इस संघर्ष की सराहना लेनिन ने भी की कि भारत मजदूर वर्ग अब राजनीति में सक्रिय हिस्सा लेने लगा है।¹⁷

स्वदेशी आंदोलन के दौरान श्रमिक आंदोलन इतना प्रबल रूप में उभरा कि एक Anglo-Indian अखबार Pioneer ने 27 अगस्त 1906 को लिखा कि "राजनीतिक विभाजन के संबंध और इसके विरोध में जी भर कर आंदोलन करें, किंतु अब जबकि वे अज्ञानी श्रमिकों के मन में असंतोष का बीज बोकर पूरे प्रांत के लिए खतरा उत्पन्न करना चाहते हैं। समय आ गया है कि कानून और व्यवस्था स्थापित करने वाली सरकार अपनी ताकत दिखाए।"¹⁸ सरकार ने आंदोलन को दबाने के लिए दमन का सहारा लिया। लेकिन मजदूरों के मन में जो असंतोष का बीज उत्पन्न हो गया था, उसे दबाया नहीं जा सका और इस दौरान भारतीय श्रमिक वर्ग काफी हद तक राष्ट्रीय आंदोलन की मुख्य धारा में शामिल हो गया।

स्वदेशी आंदोलन के पश्चात् एक सरकारी सर्वेक्षण कराया गया जिसका शीर्षक था- "Administration of Bengal under Andrew Preser" इसमें औद्योगिक असंतोष को 1903-08 की अवधि का महत्वपूर्ण लक्षण बताया गया था और पेशेवर आंदोलन कारियों की भूमिका को एक नितांत नवीन संवृत्ति कहा गया था।¹⁹

इस प्रकार हम देखते हैं कि मजदूर वर्ग भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का एक अभिन्न अंग बन गया। स्वदेशी आंदोलन के पश्चात जितने भी आंदोलन हुए उसमें मजदूरों ने बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। आगे

चलकर देश की जनता को महात्मा गाँधी का नेतृत्व प्राप्त हुआ जिन्हें समाज के सभी वर्गों का समर्थन प्राप्त था। मजदूर वर्ग ने भी उनके नेतृत्व में प्रत्येक आंदोलन में हिस्सा लिया और आंदोलन को सफल बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 20वीं शताब्दी के तीसरे दशक में मजदूर वर्ग वामपंथी विचारधारा से प्रभावित होने लगे। वामपंथियों ने कई मौकों पर राष्ट्रीय आंदोलन से अलगाव की नीति अपनाई। लेकिन अधिकांश मजदूरों ने राष्ट्रीय आंदोलन में भाग लेकर राष्ट्रीय एकता को बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

सन्दर्भ ग्रंथसूची

1. बी०एल० ग्रोवर, *यशपाल आधुनिक भारत का इतिहास*, नई दिल्ली, 2006, पृ०-448.
2. चोपड़ा पुरी, दास, *भारत का सामाजिक सांस्कृतिक और आर्थिक इतिहास*, भाग-3, नई दिल्ली 2012, पृ०-144.
3. बी०एल० ग्रोवर, पूर्वोद्धृत, पृ०-448.
4. एन०सी०ई०आर०टी० *विश्व इतिहास के कुछ विषय*, वर्ग-XI पटना, 2007, पृ०-210.
5. बी०एल० ग्रोवर, पूर्वोल्लिखित, पृ०-347.
6. उपरोक्त, पृ० 206-207.
7. उपरोक्त, पृ०-347
8. सुमित सरकार, *आधुनिक भारत*, नई दिल्ली, 2010, पृ०-105.
9. बी०एल० ग्रोवर, पूर्वोल्लिखित, 450.
10. उपरोक्त, पृ०-450.
11. बिपिन चन्द्र, *भारत का स्वतंत्रता संघर्ष*, नई दिल्ली, 2000, पृ०-164.
12. सुमित सरकार, पूर्वोल्लिखित, पृ०-59.
13. एन०सी०ई०आर०टी०, *इतिहास की दुनिया*, वर्ग-X, पटना, 2010-11, पृ०-27.
14. उपरोक्त, पृ०-28.
15. बिपिन चन्द्र, पूर्वोल्लिखित, पृ०-158.
16. सुमित सरकार, पूर्वोल्लिखित, पृ०-118.
17. बिपिन चन्द्र, पूर्वोल्लिखित, पृ०-74.
18. सुमित सरकार, पूर्वोल्लिखित, पृ०-137.
19. उपरोक्त - पृ०-136.

दलित नारी चिंतन और हिन्दी साहित्य

अखिलेश कुमार सिंह

व्याख्याता, हिन्दी विभाग, डी.बी.एस.डी. डिग्री कॉलेज, रामपुर, कदना, गड़खा, सारण

दलित साहित्य में स्त्री एक विवादस्पद विषय है। इसकी खासियत यह है कि तमाम बोल्लडनेस के बावजूद मुख्यधारा के साहित्य में नारी का वैसा कोई विरोध नहीं किया गया, जिससे पुरुषों को स्त्री-विरोधी कहा जा सके। इस्मत चुगताई, मृदुला गर्ग, मैत्रेयी पुष्पा, प्रभा खेतान आदि के लेखन को लेकर कुछ विवाद अवश्य उठे; पर जल्द ही सतह पर आ गये। बाद में तो पुरुषों ने ही आगे बढ़कर नारीवादी साहित्य लिखे। लेकिन दलित साहित्य में नारी पर सवालियों की झड़ी लग गयी। जाहिरन इसके दो खेमे बने—एक स्त्रियों के, दूसरे पुरुषों के। फिर स्त्रियों में भी दो-दो दल दिखायी देने लगे—एक नारीवादी, दूसरे उदारवादी। उसी प्रकार पुरुषों में भी दो परस्पर विरोधी खेमे हुए। ऐसे तमाम विवाद और विमर्श डॉ. धर्मवीर के 'जारसत्ता' सम्बन्धी विमर्शों को लेकर पैदा हुए और नारीवादी लेखिकाओं द्वारा डॉ. धर्मवीर और उनके समर्थकों को स्त्री-विरोधी करार दिया गया।

बात शुरू होती है डॉ. धर्मवीर की 'मातृसत्ता, पितृसत्ता और जारसत्ता' श्रृंखला में रचित 'प्रेमचन्द: सामन्त का मुंशी' पुस्तक के लोकार्पण से। स्त्रियों के व्यापक विरोध के कारण नामवर जी उक्त पुस्तक का लोकार्पण नहीं कर पाते हैं, फिर धर्मवीर की 'कामसूत्र की संतानें' और 'तीन हिन्दू स्त्रीलिंगों का चिन्तन' जैसी पुस्तकों पर विवाद छिड़ता है। और प्रतिक्रिया में 'मेरी पत्नी और भेड़िया' और 'प्रेमचन्द की नीली आँखें' जैसी किताबें आती हैं। इस प्रकार दलित साहित्य में स्त्री पर एक नया सवाल उठता है।

हिन्दी की मौलिक दलित आत्मकथाओं में स्त्री विमर्श के संदर्भों की बात करें तो कौसल्या बैसंत्री और सूरजपाल चौहान ने अपने अपने आत्मकथनों में अपने घर-परिवार की आमतौर पर गोपनीय रखी जाने वाली निजता को बड़े जीवट से सरेआम करने का हौसला दिखाया है। इन आत्मकथाकारों की आत्मबयानी इस हद तक अंतस् को खोलने वाला है कि पाठक इनकी करुण भावनाओं के साथ एकदम से एकाकार हो जाने को मानो विवश हो जाता है। इन दोनों आत्मकथाओं में स्वजनों-प्रियजनों के प्रति दिखलाई गई नाराजगी व शिकवे-शिकायतों में भी एक निरीहता और निश्छलता जैसी दिखती है। वैसे, मेरे इस कथन को किसी पक्षधरता का संकेतक न मान लिया जाए। इन आत्मकथाकारों के परिजनों का पक्ष जाने बिना आत्मकथाकार के बयानों, परिवादों, उलाहना-उत्तापों को सही करार देना एकपक्षीय कार्रवाई होगी।

दलित चेतना और नारी

दलित साहित्य में नारी के अध्ययन को हम दो भागों बाँटकर देख सकते हैं—एक दलित नारियों की स्थिति पर खुद नारियों और दलित लेखकों के दृष्टिकोण और दूसरा दलित रचनाओं में चित्रित नारी। बात स्त्रियों से ही शुरू करते हैं। दृष्टिकोण का सही पता आत्मवृत्तों से ही चलता है। किन्तु भारतीय साहित्य में स्त्रियों द्वारा लिखित आत्मवृत्त का घोर अभाव है। यद्यपि 'सीमान्तिनी उपदेश' जैसी कुछ रचनाएँ मिल जाती हैं, किन्तु ऐसी गुमनाम लेखिकाओं का पता लगा पाना कठिन काम है। सावित्री बाई के स्त्री स्कूल से शिक्षित होकर उनके साथ काम करनेवाली महिलाओं में फातिमा शेख और मुक्ताबाई का नाम लिया जाता है। किन्तु उनकी रचनाएँ उपलब्ध नहीं होती। महात्मा फूले

के 'सत्यशोधक समाज' आंदोलन से आने वाली ताराबाई शिन्दे को प्रथम नारीवादी विचारक कहा जाता है; किन्तु उनकी भी कोई रचना उपलब्ध नहीं है। 1814 में जन्मी मुक्ताबाई ने नवजागरण के उस आरम्भिक काल में भारतीय समाज की दुर्दशा पर अपने लेख लिखे, जब वह मात्र 14 साल की बच्ची थी। 1855 में लिखा यह आलेख महाराष्ट्र के 'ज्ञानोदय' अखबार में छपा था। उसने ब्राह्मणों को फटकार लगाते हुए कहा था, "ऐ पढ़े-लिखे पंडितो, अपने खोखले ज्ञान को तोतारटन्त शैली में दोहराना छोड़ दो और सुनो, जो मैं कहना चाहती हूँ। अपने उपर्युक्त पत्र में मुक्ताबाई ने पेशवाओं के शासन में दलितों (मांग और महार जाति के लोगों) पर ढाये जाते जुल्म का वर्णन किया था। किस तरह पेशवाओं के जमाने में दलितों को लाल सीसा/सिन्दूर पिला दिया जाता था और किस तरह उनको हवेलियों की बुनियाद में गाड़ दिया जाता था तथा किस तरह उनकी छाया से भी घृणा की जाती थी। उसने यह भी जोड़ा था कि आज भी दलित छात्र शिकायत नहीं कर सकते भले ही ब्राह्मण बच्चे उन्हें पत्थर से मारे और उन्हें घायल कर दें। वे चुपचाप सब बर्दाश्त करते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि उन्हें फिर ब्राह्मणों के दरवाजे पर ही बचा-खुचा अन्न माँगने जाना पड़ेगा।"

बाबा साहब के आंदोलन में स्त्रियों ने खुलकर हिस्सा लिया था। 1924 में स्थापित उनकी 'बहिष्कृत हितकारिणी सभा' में दलित महिलाएँ बढ़-चढ़कर भाग लेती थी। इसमें वेणुबाई भटकर और रंगूबाई शुभकर के नाम विशेष रूप से लिये जा सकते हैं। ये दोनों महिलाएँ मंचों से भाषण दिया करती थीं। 1928 में बंबई में महिला मंडल की स्थापना हुई थी, जिसकी अध्यक्ष स्वयं डॉ. अम्बेडकर की पत्नी रमाबाई थीं। 1930 के नागपुर सम्मेलन में हजारों महिलाओं ने भाग लिया था। 1942 के 'अखिल भारतीय दलित महिला सम्मेलन, नागपुर' में भी हजारों महिलाओं ने सिरकत कीं। इनमें सुलोचना डोगरे, कीर्ति पटेल, इंदिरा पाटिल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने सम्मेलन की अध्यक्षता से लेकर विभिन्न दायित्वों को सम्भाला। बाबा साहब के आंदोलन में सक्रिय भूमिका निभानेवाली प्रमुख महिलाओं में जायबाई चौधरी, तुलसीबाई बनसोडे ('चोखामेला' पत्र के सम्पादन में पति की सहयोगिनी), मुक्ता सर्वगौड़ ('मिटमेली कवाड़े' आत्मकथा की लेखिका), राजश्री सर्वगौड़ (मुक्ता सर्वगौड़ की बेटी), शांताबाई दाणी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।¹² इन तमाम दलित नारियों ने प्राथमिक तौर पर सर्वव्यापक व्यवस्था के खिलाफ लड़ाई लड़ी। उनकी शिकायत पुरुषवादी वर्चस्व से उतनी अधिक नहीं थी, जितनी ब्राह्मणवादी व्यवस्था से। दलित स्त्रियों की आरम्भिक मराठी रचनाओं में दलित पुरुषों के खिलाफ कोई आवाज सुनाई नहीं पड़ती।

नारी विमर्श और दलित साहित्य पर सहस्राधिक आज चर्चाएँ हो रही हैं अतः प्रथमतः यह जानें कि दलित साहित्य है क्या इसे जानने के लिए संक्षिप्त-रूप में यह चुभता, सत्य स्वीकार कर आगे बढ़ना चाहिए कि भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही दुर्भाग्यवशात् 'दलित' नामधारी समाज को योजनाबद्ध तरीके से बहिष्कृत समूह में डाल दिया गया है। शायद तब से जब मानव सभ्यता विकसित हुई और तथाकथित सभ्यों ने अपनी निजी स्वार्थ पूर्ति के लिए देश के एक बड़े वर्ग के नैसर्गिक हक को छल बल से छीन लिया है। ऐसी सकारात्मक सोचबद्ध मूल किये बगैर दलित साहित्य की वैचारिकी पर विमर्श, बीमार मानसिकता का द्योतक होगा। डा० चमनलाल ने 'दलित साहित्य' को परिभाषित करते हुए कहा "दलित साहित्य वह साहित्य है, जो दलितों के जीवन, उनके सुख-दुख, उनकी सामाजिक- राजनीतिक स्थितियों, उनकी संस्कृति, उनकी आस्थाओं-अनास्थाओं, उनके शोषण उत्पीड़न तथा इस उत्पीड़न- शोषण का दलितों द्वारा प्रतिरोधा की परिस्थितियों को व्यापकता तथा गहराई के साथ, कलात्मकता से प्रस्तुत करता।

यह कैसी विडम्बना है कि संस्कृत और हिन्दी उभय साहित्यों के आदि कवि वाल्मीकि दलित जगत से आते हैं किन्तु सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय में दलित दयनीय-दशा का निदर्शन कराने वाली

किसी ख्यात कवि कि कोई कृति ढूँढे नहीं मिलती। हाँ पाली साहित्य अवश्य दलितों के साथ न्याय करता दिखता है क्योंकि बौद्ध प्रभाव होने के कारण वहाँ करूणा विद्यमान है। जब जहाँ ‘करूणा’ शब्द का प्रयोग किया गया है तो इसी संदर्भ में जान लें कि दलित कौन हैं? आचार्य किशोर कुणाल के दस सूत्र वाक्य यहाँ उद्धृत करना समाचीन होगा।

दलित नारियों का दोहरा अभिशाप

किन्तु आज की मध्यम वर्गीय स्त्रियों के तेवर दूसरे हैं। आज की अधिकांश स्त्रीवादी लेखिकाओं ने बोल्ट लेखन ही किया है, जिसमें स्त्री को लेकर पुरुषवादी मूल्य-मान्ताओं का प्रतिकार हुआ है और यौन-नैतिकता प्रश्नांकित हुई है। कुछ दलित स्त्रियों ने भी पुरुषवादी मानसिकता के विरुद्ध स्त्री सवाल को उठाया है, जो दलित पुरुषों के विरुद्ध भी जाता है। इस दिशा में मराठी स्त्रियों ने प्रसंशनीय प्रयास किया है। वैसे तो मन्नू भंडारी, मैत्रेयी पुष्पा और रमणिका गुप्ता के नाम लिये जा सकते हैं, जिनकी आत्मकथाएँ आयी हैं। किन्तु दलित आलोचक उन्हें दलित रचनाकार नहीं मानते। इसलिए बात दलित स्त्री से ही करनी पड़ेगी। इस क्षेत्र में अभी तक एक ही दलित स्त्री कौसल्या बैसंत्री की आत्मकथा ‘दोहरा अभिशाप’ का नाम लिया जा रहा है। ‘दोहरा अभिशाप’ किसी दलित स्त्री की पहली आत्मकथा है, जो हिन्दी में आयी। सुशीला टाकभौरे, रजनी तिलक, रजत रानी मीनू, सुमित्रा मेहरोल आदि कुछ अन्य दलित स्त्रियों की आत्मकथाएँ भी आ रही हैं। फिलहाल ‘दोहरा अभिशाप’ पर..... दोहरा अभिशाप किसका? जाहिर है एक कामकाजी स्त्री का दायित्व-बोध पुरुष से अधिक हो जाता है—एक घर का, दूसरा बाहर का। उसी के अनुपात में उसका दुख और संघर्ष भी बढ़ जाता है। किन्तु स्त्री जब दलित हो, तो उसका संघर्ष पुरुष से कई गुणा अधिक हो जाता है। सामाजिक दृष्टि से उसे दो-दो मोर्चों पर लड़ना पड़ता है—एक पुरुषवादी वर्चस्व से, दूसरा जातिवादी व्यवस्था से। कौसल्या बैसंत्री का यह ‘दोहरा अभिशाप’ किसी एक स्त्री का अभिशाप नहीं है, बल्कि पूरी दलित स्त्री का अभिशाप है। भारतीय सन्दर्भ में स्त्रियाँ पुरुषों द्वारा सतायी जाती हैं। उनका शोषण पुरुषवादी मानसिकता का परिणाम है। किन्तु दलित स्त्रियाँ इस मानसिकता से अपने पुरुषों द्वारा तो शोषित होती ही हैं, उन्हें सम्पूर्ण समाज द्वारा दलित होने का दंश भी झेलना पड़ता है। एक स्त्री के दलित-बोध की पीड़ा स्त्री होने की पीड़ा के साथ मिलकर और बड़ी हो जाती है। स्त्रियों के मामले में सवर्ण पुरुषों की सोच और दलित पुरुषों की सोच में कोई अन्तर नहीं। “कौसल्या बैसंत्री का जीवन इस बात का प्रमाण है कि उनके व्यक्तित्व निर्माण में सर्वाधिक बाधाएँ उनकी बिरादरी के पुरुषों ने ही खड़ी कीं। उन्होंने बेवाक शब्दों में कह दिया कि बाबा साहेब के निकट सहयोगियों ने भी उसके साथ जबरन यौनाचार करना चाहा। उनकी बस्ती के लोगों ने ही उसका जीना मुश्किल कर दिया। इसलिए उसकी पहली मुठभेड़ सवर्ण पुरुष सत्ता से नहीं, दलित पुरुष सत्ता से है।”¹³ कथानायिका के लिए न तो दलित पुरुष अपने हैं और न सवर्ण स्त्री। उसे भरोसा है, तो केवल अपने आप पर। वह अपना सहारा खुद बनना चाहती है। इसलिए वह कहती है, “आज के अनुभव से हमने सीख लिया है कि हम स्वाभिमान से अपनी उन्नति करना चाहते हैं, अब हमें अपने पाँव पर खड़ा होकर अपने पर भरोसा रखकर आगे बढ़ना होगा।”¹⁴

‘दोहरा अभिशाप’ की नारी पात्र जीवन की चक्की के दोहरे पाटों के बीच पिस रही हैं। एक ओर उन्हें अपने परिवार और समाज से लड़ना पड़ता है, तो दूसरी ओर अपनी अस्मिता, मान-स्वाभिमान और जीवन की अन्य जरूरीआतों के लिए सवर्ण समाज से लोहा लेना पड़ता है। अपने स्कूली जीवन का अनुभव सुनाती हुई लेखिका कहती हैं, “मेरी कक्षा में हमारे समाज की एक लड़की पड़ती थी। वह बहुत दूर से स्कूल आती थी। कभी-कभी वह कक्षा में सो जाती थी। शिक्षक उसको बहुत डाँटते

थे। कक्षा की सभी लड़कियाँ उसका मजाक उड़ाती थीं। वह रोती थी। एक दिन उसने मुझे बताया कि वह सवेरे चार बजे उठकर बर्तन, झाड़ू, खाना बनाना वगैरह-घर का सारा काम करके आती थी। उसकी दीदी पागल-सी थी। उसके पिता दर्जी का काम करते थे। शाम को घर का काम करके वह कभी-कभी पिताजी को शर्ट-ब्लाउजों में बटन लगाने में भी मदद करती थी। सोने में बहुत देर होती जाती थी। उसके बहन-भाई भी स्कूल में पढ़ने जाते थे। घर के काम का सारा बोझ उसी पर रहता था।⁵ इस दलित छात्रा के साथ भी दोहरा अभिशाप लगा हुआ है।

कथा-नायिका अपने पति का वर्णन करती हुई कहती हैं, “यह विद्यार्थी उस वक्त एम.ए., एल.एल.बी. करके डी.लिट् कर रहा था। यह कानपुर से निकलने वाले हिन्दी अखबार ‘सावधान’ और मद्रास से निकलने वाले एक अंग्रेजी दैनिक में लेख लिखता था। मैंने उसके लेख पढ़े थे....वह ‘यू.पी. शेड्यूल्ड कास्ट फेडरेशन’ का अध्यक्ष भी था।”⁶ इस प्रकार पति एक लेखक है, और ताम्रपत्र-प्राप्त स्वतन्त्रता सेनानी है। वह उच्च पद पर नौकरी करता है और रिटायर्ड होने तक पत्नी का भरण-पोषण और पालन करता है। इधर पत्नी तमाम जिन्दगी घर में ही बैठी अम्बेडकर के नाम पर सम्मान की जिन्दगी जीने की आकांक्षी बनी रहती है। बीच में पति से मनमुटाव होता है और वह आम भारतीय औरतों की तरह पति की तमाम प्रताड़नाओं के बावजूद पत्नी बनकर घर में ही रहती है।

इस बीच उसका एक बच्चा भी मर जाता है और पांचवें बच्चे के जन्म के समय अपार मुसीबतें झेलनी पड़ती हैं। उपन्यास में लेखिका ने गिन-गिनकर पति की गलतियों को बताया है और कहा है, ‘क्या ऐसे पति से श्रद्धा और प्यार हो सकता है। इतना ही नहीं, पति द्वारा छोड़े जाने पर वह अदालत में मुकद्दमा दायर करके उससे भरण-पोषण का खर्च वसूल लेती है। उसे पति से एक नियमित गुजारा भत्ता मिलता है। इस प्रसंग की चर्चा करती हुई लेखिका लिखती हैं, “बहुत अत्याचार होने पर मैंने कोर्ट में देवेन्द्र कुमार पर केस दायर किया। आज दस वर्षों से कोर्ट में केस अटका पड़ा है। मुझे हर माह 500 रुपये मेंटेनेंस में मिलते हैं। देवेन्द्र कुमार इसे देने में भी देर लगाता है, चार-चार महीने नहीं भेजता। अपने छोटे लड़के के पास रह रही हूँ।”

यह है दलित औरतों का दोहरा अभिशाप! सवर्ण समाज और दलित पुरुषों को लेकर अधिकांश दलित स्त्रियों के पाठ ऐसे ही हैं।

दलित पुरुषों के तर्क

किन्तु एक दलित स्त्री के इस आत्मकथात्मक उपन्यास के बारे में खुद दलित लेखकों की दृष्टि क्या है? इसके लिए हम डॉ. धर्मवीर की इन पंक्तियों को देख सकते हैं—“भारत में मनुष्य का चिन्तन अभी तक ‘दोहरे अभिशाप’ तक गया है। दोहरा अभिशाप’ का शीर्षक इसलिए अधूरा है, क्योंकि कौसल्या बैसंत्री की माँ के साथ अपने पति को लेकर ऐसा कोई अभिशाप नहीं था। उनकी माँ ने ऐसा कोई अभिशप्त जीवन नहीं जीया। उस समय पिता को इस बात से शिकायत नहीं रही कि वे पति से आगे रही हैं। लेखिका के माँ-बाप दोनों एक-दूसरे के होकर रहे हैं। माँ ने घर में निर्णय लिए हैं। कौसल्या बैसंत्री की नानी ने भी अपने जीवन के बारे में स्वतन्त्र और निजी निर्णय लिये हैं और उनके सामने मेरा सिर झुकता है। मेरा विश्लेषण है कि कौसल्या बैसंत्री दलित नारी की तरह से अपने जीवन में निर्णय नहीं ले पायी। केवल एक विवाह का निर्णय उनका था और वही सफल नहीं हो पाया।”⁸

डॉ. धर्मवीर का साफ मानना है कि दलित औरतें सवर्ण औरतों की तरह परावलम्बी नहीं होतीं। वे कुल-मर्यादा के नाम पर घूँघट काढ़कर घर में नहीं बैठतीं। वे भी पुरुषों के साथ या अकेली घर और बाहर का काम करती हैं। उनके नौकर नहीं होते और होते भी हैं, तो वे नौकर नहीं उनके

सहायक होते हैं, जिन्हें घर के अन्य सदस्यों की तरह उचित मान-सम्मान मिलना चाहिए। वे अपना निर्णय लेने में खुद सक्षम होती हैं और पुरुष के नालायक होने या उनसे बनाव नहीं होने पर वे अपने जीवन का निर्णय खुद ही ले सकती हैं। मगर कौसल्या बैसंत्री में ये बातें नहीं हैं। वह पढ़ी-लिखी थीं। पति से नहीं बनने पर नौकरी कर सकती थीं या दूसरा कोई काम करके एक उदाहरण पेश करतीं। केवल पति की कमाई पर आम हिन्दू औरतों की तरह आराम से अधिकार जताना और उसको भला-बुरा कहके उससे अच्छे व्यवहार की आशा करना दलित औरतों का काम नहीं है। इस प्रकार डॉ. धर्मवीर ने सामाजिक-सांस्कृतिक तर्कों द्वारा विषय का रुख ही बदल दिया है।

डॉ. धर्मवीर के अनुसार, “यह दलित परम्परा की बात बिल्कुल नहीं है कि अपने अनचाहे पति से पाँच सौ रुपये महीने की भिखारिन बनी पड़ी है! वह ब्रिटिश भारत के कालिजों में पढ़ी है, उसके खाते-कमाते बच्चे हैं। दलित पत्नी ऐसे पैसों को फेंककर मारती है। यदि दस वर्ष से केस कोर्ट में अटका पड़ा है तो कानून बदलो, संसद से कहो। गाँव या शहर की किस दलित पंचायत ने आज तक दस वर्ष तक वैवाहिक मामलों के फ़ैसले रोके रखे हैं? दलित नारी होने के बावजूद, पीछे माँ और नानी की महान परम्परा होने के बावजूद लेखिका द्विज नारी बनकर क्यों बैठ गयी हैं? वास्तव में पति से भरण-पोषण माँग कर कौसल्या बैसंत्री ने दलित नारी के सम्मान और उसकी स्वतन्त्रता की नाक काटकर रख दी है।”⁹

समन्वय के बिन्दु

डॉ. धर्मवीर के तर्क दलित औरतों के लिए आदर्श संहिता कहे जा सकते हैं, आम तौर से दलित सर्वहारा औरतें बहुत हद तक आत्मनिर्भर होती हैं; किन्तु यौन-सम्बन्धों को लेकर उन्हें कहीं-न-कहीं मजबूरी में अपने मालिकों से भी समझौता करना पड़ता है। इसलिए ऐसा सोचना एकतरफा और पुरुषवादी ही कहा जायेगा। “दलित महिलाओं के भी सपने होते हैं और ये सपने किसी सवर्ण महिला के सपनों से अलग नहीं होते। दलित विचारक माने या न माने- दलित आन्दोलन का एक उद्देश्य उन्हें समाज की मुख्यधारा में लाना भी रहा है। जब तक दलितों द्वारा कोई पुष्ट धारा नहीं बन जाती, सवर्ण समाज की धारा ही मुख्यधारा है। अर्थात् बेहतर जीवन शैली में आज वे ही बातें आती हैं, जिनकी कौसल्या बैसंत्री को अपेक्षा है। इसलिए एक दलित पत्नी भी पति से वे ही सारी अपेक्षाएँ रखती हैं, जो कोई सवर्ण पत्नी रखतीं। ऐसे में धर्मवीर का तर्क एकांगी कहा जाएगा। कौसल्या ने एक आम भारतीय नारी का पक्ष रखा है, चाहे वह दलित हो या सवर्ण। थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाये कि कौसल्या बैसंत्री को दलित महिलाओं की तरह स्वावलम्बी बनने का प्रयास करना चाहिए, तो इसमें दो बातें हो सकती हैं। पहली तो यह कि इस स्थिति तक आते-आते बहुत देर हो चुकी होगी। दूसरी यह कि कौसल्या बैसंत्री जिस सामाजिक स्तर पर जी रही थीं, वह दलितों से काफी ऊँचा समर्थ सवर्ण का जीवन स्तर था। यहाँ पति से अपेक्षा या अधिकारों की माँग उसी सम्भ्रान्तता के तहत ही की जा रही है।”¹⁰ इसीलिए डॉ. धर्मवीर के तर्क का समणिका गुप्ता सहित अधिकांश दलित औरतों ने विरोध किया है।

दलित साहित्य में चित्रित नारी

दलित साहित्य में नारियों के चित्रण को दो भागों में बाँटा जा सकत है—एक दलित साहित्यकारों द्वारा चित्रित नारी, दूसरी गैर-दलित साहित्यकार और विचारकों द्वारा चित्रित नारी। दलित साहित्यकारों में जारसत्ता को लेकर डॉ. धर्मवीर के तर्क को देखा जा चुका है। कुछ अन्य दलित साहित्यकारों की रचनाओं पर हम आगे विचार करेंगे। इस बीच गैर-दलित साहित्य में चित्रित नारी के स्वरूप को देखें।

दलित नारियाँ प्रेमचन्द के साहित्य में सर्वाधिक चित्रित हुई हैं। उनके कुछ चर्चित नारी चरित्रों में गांगी (ठाकुर का कुंआ), बुधिया (कफन) और सिलिया (गोदान) हैं। गांगी में जो भय और धर्मभीरुता है, वह समाज द्वारा सदियों के शोषण और भेदभाव के कारण उत्पन्न हुआ है। इसलिए वह साहस करके भी अपने बीमार पति के लिए ठाकुर के कुँए से पानी नहीं भर पाती। बुधिया की प्रसव-पीड़ा और उसके प्रति पति और ससुर की संवेदनहीनता को प्रेमचन्द ने भूख की मारक त्रासदी में घटित किया है। इसलिए दलित साहित्यकारों ने कफन को दलित विरोधी कहानी माना है। किन्तु सिलिया के माध्यम से सवर्णों द्वारा दलित नारियों से जारकर्म के विरुद्ध एक समाजशासीय विमर्श उभरकर आया है। मातादीन ब्राह्मण के मुँह में सरेआम हड्डी घुसेड़कर उसे चमार बनाने की कोशिश में चमारों के संघर्ष देखने लायक है। किन्तु दलित साहित्यकारों ने प्रेमचन्द तमाम दलित चिन्तन को सिरे से खारिज कर दिया है। डॉ. धर्मवीर ने प्रेमचन्द के खुद के चरित्र और उनके साहित्य में आये जारकर्म को लेकर उन्हें सामंत का मुंशी तक कह दिया है। डॉ. धर्मवीर लिखते हैं कि “दलित की समस्याओं का वर्णन करने से दलित साहित्य का सृजन नहीं हो जाता। दलित की भूख, पीड़ा और त्रासदी के बखान में उसकी इतिश्री नहीं होती। दलित साहित्य का असली सृजन तब होता है, जब उसमें दलित का चिन्तन आता है। सारे गैर-दलित लेखक उसके इसी चिन्तन से घबराते हैं। एक प्रेमचन्द की अलग से क्या कही जाये, कोई भी अन्य गैर-दलित लेखक इसका अपवाद नहीं हो सकता। दलित साहित्य उसे ही कहा जाएगा, जिसमें पारिवारिक जीवन में तलाक की अनुमति हो, स्त्री के लिए भरण-पोषण पर रोक लगे तथा जारकर्मों को जारकर्म की जिम्मेदारी से नवाजा जाये। प्रेमचन्द समेत कौन-सा गैर-दलित हिन्दू लेखक है, जो इन बातों को सपने में भी सोच सकता है? बचाव में आकर वह कभी वेद में डुबकी लगाएगा तो कभी महाभारत में कूदना चाहेगा, लेकिन जारकर्म से बचने के लिए उसे कहीं ठौर नहीं है।”¹¹

जारकर्म पर छिड़ी बहस

प्रेमचन्द के दलित साहित्य को लेकर हिन्दी साहित्य की पूरी समाजशास्त्रीय चेतना ही प्रश्नों के घेरे में आ गयी है। और दलित स्त्रियों की सबसे बड़ी त्रासदी बलात्कार और रखैल बनने की मजबूरी पर तमाम विवाद हुए हैं। ‘जनसत्ता’ के सम्पादकीय आलेख ‘दलित स्त्रियाँ किसकी सम्पत्ति हैं?’ में राजकिशोर ने धर्मवीर पर प्रश्न खड़ा करते हुए उन्हें स्त्रियों के प्रति अनुदारवादी और दलित अलगाववादी भी करार दिया है। और अन्ततः प्रेमचन्द की काट में वे कहते हैं कि “एक ही समय में दो स्त्रियों से सम्बन्ध बनाना जारकर्म नहीं है, अगर इनमें से कोई भी किसी अन्य पुरुष की पत्नी नहीं है। हमें भूलना नहीं चाहिए कि तब तक ‘हिन्दू विवाह कानून’ (हिन्दूकोड बिल) नहीं बना था और बहुविवाह या बहुगमन सामाजिक रूप से अमान्य नहीं था।...कामसूत्र तो और पहले की रचना है।”¹² मोहनदास नैमिशराय कहते हैं कि तो राजकिशोर जी के अनुसार हम मान लें कि तब महिलाओं के खिलाफ जारकर्म या व्यभिचार करना हिन्दू धर्म तथा नियमावली के तहत ठीक था।¹³

राजेन्द्र यादव लिखते हैं कि “‘दरअसल ‘जार’ धर्मवीर का अब्सेशन है। वे हर चीज में जारसत्ता ढूँढ लेते हैं। मैनेजर पांडे ने धर्मवीर को पैदाइशी स्त्री विरोधी बतलाया है।”¹⁴ “अगर कोई स्त्री किसी पुरुष से मैत्री कर लेती है या दोनों साथ-साथ रहने लगते हैं, तो वहाँ ‘रखैल’ शब्द क्या अर्थ रखता है?”¹⁵ प्रेमचन्द के इस ‘पुनःपाठ’ में दलित साहित्यकार भी आमने-सामने खड़े दिखायी पड़ते हैं। कंवल भारती और सूरजपाल चौहान जैसे दलित लेखक और विचारक जहाँ प्रेमचन्द के पक्ष में खड़े हैं, वहीं श्यौराज सिंह ‘बेचैन’ और मोहनदास नैमिशराय आदि डॉ. धर्मवीर के प्रेमचन्द-विरोधी स्वरों के साथ हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि और जयप्रकाश कर्दम जैसे लोग बीच-बचाव की मुद्रा में तटस्थ-से हैं।

अपने लेख ‘धर्मपत्नियाँ-कर्मपत्नियाँ’ में अनामिका लिखती हैं कि “ब्राह्मणी आदेशों से अपेक्षाकृत स्वतन्त्र और आनुष्ठानिक शुचिता-अशुचिता के प्रतिमानों से मुक्त जार समाज में पुरुष दलित स्त्रियों से सम्बन्ध स्थापित कर जो बच्चे पैदा करते हैं, वे भी उनके ही होते हैं। दक्षिण में कहीं-कहीं तो दलित स्त्रियों से बच्चे पैदा करनेवाले द्विज जनेऊ बदलकर ‘पवित्र स्नान’ कर लेते हैं और पा जाते हैं छुट्टी। ...स्त्री मिट्टी का घड़ा है, मर्द पीतल का बटुवा। घड़ा भीतर से अशुद्ध होता है, पीतल का बटुवा धो-खंगालकर फिर से हाजिर।”¹⁷

डॉ. धर्मवीर की समाजशास्त्रीय चिन्ता अधिक वैधानिक और पारिवारिक है। वे प्रेमचन्द के सन्दर्भ में कहते हैं कि तीसरी औरत किसी की पत्नी भी होती हैं। ऐसे में मामला ज्यादा संगीन बन जाता है। उस घर के सारे सुख-चैन लूट जाते हैं। यह भारतीय परिवार व्यवस्था में एक भारी विक्षोभ और विसंगति है। हिन्दी साहित्य का पूरा का पूरा रीतिकाल और कृष्णकथा इसी परकीया-प्रेम पर आधारित है। ऐसे में “बच्चों का पिता कौन होगा? —चमार घीसू का बेटा माधव चमार? पर इसे ही घीसू और माधव मानने को तैयार नहीं है—चाहे बुधिया मरे और चाहे बुधिया के पेट का बच्चा मरे। बुधिया की और बुधिया के बच्चे की फिक्र प्रेमचन्द को होनी चाहिए। ‘कफन’ कहानी लिखकर उन्होंने यह फिक्र भी की है कि घीसू और माधव को साहित्य के संसार में बदनाम करके रख दिया है। उधर, माधव भी प्रसव-शैय्या-अर्थात् मृत्यु शैय्या पर पड़ी हुई बुधिया के बारे में अपने बाप से चिढ़कर बोलता है—‘मरना ही है तो जल्दी मर क्यों नहीं जाती? देखकर क्या करूँ?’¹⁸ यहाँ घीसू, माधव और बुधिया की नियति पर धर्मवीर का मानना है कि बुधिया के पेट का बच्चा माधव का बच्चा हो ही नहीं सकता। वह जमींदार के बेटे या अन्य किसी सम्पन्न व्यक्ति का बच्चा होगा, जिसे माधव जानता होगा। इसलिए उसके प्रति उसकी यह निर्दयता है। यदि प्रेमचन्द ने कहानी में यह लिख दिया होता कि बुधिया के पेट का बच्चा जमींदार के बेटे से था, तो कहानी दलित कहानी बन जाती और तब इसकी धार दूसरी होती। मगर ऐसा नहीं हुआ है। सामान्य परिस्थिति में भूखे-से-भूखे और पतित से पतित व्यक्ति भी ऐसा नहीं कर सकता, जो घीसू और माधव ने बुधिया के साथ किया है। मानवीय संवेदना आज भी इतनी मरी नहीं है।

जारकर्म सामन्ती सोच और प्रवृत्ति का परिचायक है। किसी भी समाज में ऐसे सम्बन्ध निन्दनीय है। फिर भी ऐसे सम्बन्ध हैं। जहाँ तक गैर-दलित पुरुषों का दलित स्त्रियों के प्रति आकर्षण और सुलभता की बात है, तो ऐसा दलित पुरुषों का गैर-दलित स्त्रियों के साथ भी होता रहा है। सच तो यह है कि मानवीय प्रवृत्ति के अनुरूप स्त्री या पुरुष यौन-सम्बन्धों में जाति या धर्म नहीं देखते। ये बन्दिशें केवल शादी-विवाह जैसे सामाजिक सम्बन्धों में ही देखी जाती हैं। स्त्री-पुरुष सम्बन्धों का जीवविज्ञान प्रायः पुरुष सम्बन्धों के समाज विज्ञान से अधिक उदार और मानवीय होता है। इसलिए इस पर गहराई से विचार करने की जरूरत है।

दलित उपन्यासों में चित्रित नारी

दलित स्त्रियों के यौन-शोषण और बलात्कार मुख्य समस्या है। मालिकों द्वारा दलित औरतों के यौन-शोषण और सामूहिक बलात्कार आम घटनाएँ हैं। दलित उपन्यास और कहानियों में इसकी जमकर चर्चा हुई है। जयप्रकाश कर्दम के उपन्यास ‘छप्पर’ की कमला भी एक ऐसी ही दलित स्त्री है, जिसके साथ ईंट भट्टे के मालिक और उसके साथियों द्वारा सामूहिक बलात्कार होता है। मालिकों के रोब और आतंक के कारण कोई आवाज नहीं उठाता। उसका बाप जब पुलिस में इसकी रपट लिखवाता है, तो उसे मारकर अधमरा कर दिया जाता है। पैसे और ताकत के सामने उसकी आवाज

तो दब जाती है, किन्तु उसके मन का अपमान और प्रतिरोध भाव नहीं दबता। वह अपनी बेटी की जिन्दगी बर्बाद करनेवाले दरिन्दे से प्रतिशोध लेने की ठान लेता है। वह 'गँड़ासा' उठाता है और मालिक की खोज में चल पड़ता है। और जब एक जगह मालिक अकेला मिल जाता है, तो उपन्यासकार के शब्दों में, 'उसने आव देखा न ताव और गँड़ासा उठाकर (मालिक) के सिर पर दे मारा।' दलित चेतना की जोरदार अभिव्यक्ति इस उपन्यास की विशेषता है।

प्रेम कपाड़िया का चर्चित उपन्यास 'मिट्टी की सौगन्ध' भी बलात्कार के समाजशास्त्र पर आधारित है। उपन्यास की मुख्य नायिका शीला दसवीं पास है। किन्तु एक तो सुन्दर, दूसरी जवान और तीसरी दलित और गरीब औरत—समाज के दरिन्दों से वह कब तक बच सकती है? अन्ततः उसकी इज्जत लूट ली जाती है। गाँव के ठाकुर मदन सिंह को शीला की हेठी देखकर ताज्जुब और मलाल होता है—“वह आज तक हमारी सेज पर क्यों न सजी?” और वह अपनी सेज सजवाने पर तुल जाता है। शीला के प्रतिवाद करने पर वह परम्परा और प्रचलन का हवाला देकर उसकी सामाजिक औकात बता देता है, “साली चमारिन होकर इतने नखरे दिखा रही है!”¹⁹ यह है दलितों के प्रति सवर्णों का समाजशास्त्र। हद तो तब हो जाती है, जब मदनसिंह द्वारा बलात्कारित शीला से उसका (मदन सिंह का) प्रगतिशील बेटा विजेन्द्र शादी करना चाहता है, तो उसकी दादी अपने सामन्ती चरित्र का गुणगान करने लगती है, “हमारा खानदान जमींदारों का है....हमारे खानदान के लड़के ऐय्यासी तो बड़े शौक से करते हैं, लेकिन ऐय्यासी के लिए चुनी गयी लड़की या औरत जमींदार घराने की बहू नहीं बनाई जा सकती है। वे हमारे लिए अच्छूत हैं। और एक अच्छूत हमारा रिश्तेदार कैसे बन सकता है?”²⁰ किन्तु एक पढ़ी-लिखी लड़की, चाहे वह दलित ही क्यों न हो, इसे कब तक बर्दास्त कर सकती है? शीला प्रतिशोध की ज्वाला में जल उठती है। शीला को उसकी जीवटवाली मौसी से ताकत मिलती है। वह उसे प्रेरित और प्रोत्साहित करती हुई कहती है, “किसी से बदला लेने के लिए अपने अन्दर ताकत इकट्ठी करनी पड़ती है.....पहले उठ, तब मैं तुझे बताऊँगी।”²¹ ठाकुर मदन सिंह ने इसी तरह रंधिया की भी इज्जत लूटी थी, जिसने कुएँ में छलाँग लगा ली। अन्त में दलितों में इन दलित स्त्रियों के साथ बारी-बारी से हो रहे अत्याचार के खिलाफ बदला लेने की सामूहिक चेतना जगती है और वे सौगन्ध खाकर ठाकुरों से बदला लेते हैं।

‘जस तस भई सवेर’ दलित जीवन की विवशता और प्रतिरोध के द्वन्द्व की मार्मिक कथा है। इसमें दलित जीवन में बलात्कार जैसी स्त्री-त्रासदी का समाजशास्त्रीय विवेचन हुआ है। यहाँ इस जघन्य अपराध के विरुद्ध दलित प्रतिरोध और संघर्ष का शंखनादी विद्रोह भी है। उपन्यास की कथा रामरती, धुसिया और सन्नो की विवशता और प्रतिरोध के बीच घूमती है। तीनों गाँव के जमींदार चौधरी देवीपाल से बारी-बारी से बलात्कारित होती हैं। आरम्भ में अपने आर्थिक-सामाजिक प्रभाव से जमींदार उसके प्रतिरोध को कुंद कर पाने में सफल हो जाता है। विवश होकर ये स्त्रियाँ समाज के सामने मूक बनी रह जाती हैं। किन्तु जब शोषण और अत्याचार चरम सीमा पर पहुँच जाता है, तो विद्रोह का लावा फूट पड़ता है। तीनों रणचंडी बन जाती हैं। पहले जब धुसिया का बलात्कार होता है, तो सन्नो उसका प्रतिरोध करती है और रामरति से कहती है, “अभी हम तीनों मिलकर उस पापी को सबक सिखा सकती हैं। पुलिस में भी रपट करा सकती हैं।”²² किन्तु रामरति पुलिस की हकीकत जानती है। वह चुप रह जाती है। फिर सन्नो का भी बलात्कार हो जाता है। और अन्ततः चौधरी रामरति को भी बलात्कार का शिकार बनाकर उसे बार-बार इस कृत्य के लिए विवश करता है। पहले तो वह अपने पुत्र और पति की रक्षा के लिए विवश होकर ऐसा करती रहती है। किन्तु एक दिन जब उसके साथ बलात्कार होते हुए उसका सात वर्षीय बेटा देख लेता है, तो चौधरी का सफेद चेहरा स्याह

हो जाता है। वह इस छोटे बच्चे से भी भयभीत हो जाता है। कहीं उसकी कलाई खुल न जाये, इसलिए वह रामरति के उस छोटे बच्चे को कुएँ में फेंककर मार डालता है। इस जघन्य अन्याय से वह रणचंडी बन जाती है। वह गरज उठती है, “आज मैं सारे गाँव के सामने तुम भलेमानुषों की कलाई खोलकर रख दूँगी। आज मैं तुम्हें सबक सिखाऊँगी। देवीपाल, अब धुसियावाली बात नहीं रही। निकल बाहर, लुच्चे, लम्पट ...”²³ हद तो तब हो जाती है जब रामरति का पति पुलिस के पास रपट लिखवाने पहुँचता है। पुलिस की सामन्तवादी मानसिकता दारोगा के शब्दों में यहाँ व्यक्त हुई है, “साले, मादरचोद, हरामी की औलाद, तुमलोग इज्जतदार और शरीफ लोगों के खिलाफ झूठे मामले बनाते रहते हो! तुमलोगों को इज्जतदार लोगों की इज्जत से खेलते हुए शर्म नहीं आती। ‘हरिजन एक्ट’ का दुरुपयोग करते हो! अरे, नालायक के बीज, तेरी इज्जत ही क्या है, जो बिगाड़ जाएगी।”²⁴

दलित रचनाओं में दलित नारियों के बलात्कार, वेश्या बनने, भूख, गरीबी आदि का ही चित्रण के साथ-साथ उनके बहादुरीपूर्ण कारनामों का भी व्यापक वर्णन मिलता है। उक्त उपन्यासों के अलावा जयप्रकाश कर्दम के उपन्यास ‘छप्पर’, मोहनदास नैमिशराय के ‘वीरांगना झलकारी बाई’, ‘आज बाजार बंद है’, ‘क्या मुझे खरीदोगे’, भगवान दास मोरवाल के ‘काला पहाड़’, ‘बाबूल तेरे देश में’ और ‘रेत’ उपन्यास आदि में दलित नारी की समस्याओं को प्रमुखता के साथ उठाया गया है। आज बाजार बंद है और क्या मुझे खरीदोगे’ में वेश्या जीवन की त्रासदी, और ‘रेत’ उपन्यास में कंजर (नट) जाति के स्त्री जीवन प्रमुखता के साथ चित्रित है।

दलित कविता और कहानियों में चित्रित नारी

दलित लेखक-लेखिकाओं की आत्मकथा और उपन्यासों में दलित नारियों की त्रासदी का वर्णन तो हुआ ही है; उनकी कविता और कहानियों में भी दलित नारियों का विशद चित्रण है। मोहनदास नैमिशराय की कविता और कहानियाँ, ओमप्रकाश वाल्मीकि की कविता संग्रह ‘सदियों का सन्ताप’, ‘बस्स बहुत हो चुका’ की अनेक कविताएँ और ‘जंगल की रानी’ जैसी कहानियाँ, जयप्रकाश कर्दम की कविता संग्रह ‘गूँगा नहीं था मैं, तिनका-तिनका आग’ की कविताएँ, सूरजपाल चौहान, दयानन्द बटोही, सुदेश तनवर, कसुम वियोगी, श्यौराज सिंह ‘बेचैन’, मुसाफिर बैठा, अनिल चमड़िया, मुकेश मानस आदि दलित लेखकों की कविता और अनेक कहानियों में दलित स्त्रियों का जीवन शिद्दत के साथ चित्रित हुआ है। प्रह्लाद चन्द्र दास की कहानियाँ ‘नचनी काकी’ इस दृष्टि से खासा महत्वपूर्ण है। ‘नचनी काकी’ में डोम जाति की एक नाचनेवाली लड़की के जीवन की त्रासदियों का चित्रण है। लेखिकाओं में मैत्रेयी पुष्पा, रजनी तिलक, रमणिका गुप्ता, सुशीला टांकभौर, रजत रानी ‘मीनू’, अनिता भारती, कावेरी, सुशीला टांकभौर की कविता संग्रह ‘स्वातिबूँद और खारे मोती’ तथा ‘यह तुम भी जानो’ की कविताएँ तथा कई कहानियाँ इस दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण हैं। उनकी ‘सिलिया’ कहानी में दलित चरित्र सिलिया के माध्यम से एक दलित बालिका की शिक्षा और सामाजिक संघर्ष का यथार्थपूर्ण अंकन हुआ है। एक बड़े सवर्ण घराने के नेतानुमा लड़के के विवाह प्रस्ताव को सिलिया द्वारा दुकराये जाने की घटना का चित्रण कर लेखिका ने दलितों के प्रति सवर्णों द्वारा किये जानेवाले दिखावे और ढोंग का पर्दाफाश किया है। रमणिका गुप्ता की कहानी ‘बहु जुटाई’ दलित स्त्रियों के यथार्थ पर एक मारक कहानी है। स्त्रियों की ओर से लिखी गयी तमाम कहानी और कविताओं में दलित स्त्री की प्रमुख समस्याओं को बारीकी से उकेरा गया है।

इस प्रकार दलित साहित्य में दलित नारी का विषद वर्णन मिलता है, जिसमें आज के जीवन का यथार्थ भी है आनेवाले कल का संकेत भी।

संदर्भ सूची

1. सुभाष गाताडे का आलेख, 1857: निरंतरता और परिवर्तन, उद्भावना, अंक-75, सं-प्रदीप सक्सेना, पृ.-284
2. दोनों गालों पर थप्पड़ : मोहनदास नैमिशराय, आधुनिकता के आईने में दलित, सं.- अभय कुमार दुबे, वाणी प्रकाशन, पृष्ठ-231-32 के आधार पर
3. बजरंग बिहारी तिवारी का आलेख, 'हंस', जुलाई, 2000
4. दोहरा अभिशाप, लेखिका-कौसल्या बैसन्नी, पृ-17
5. वही, पृ.-102
6. वही
7. वही
8. 'हंस', दलित विशेषांक, अगस्त-2004
9. वही
10. दलित साहित्य का समाजशास्त्र, ले.-हरिनारायण ठाकुर, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, पृष्ठ-497
11. प्रेमचन्द : सामन्त का मुंशी, पृष्ठ-63
12. दलित स्त्रियाँ किसकी सम्पत्ति हैं? : 'जनसत्ता', 3 अक्टूबर 2005
13. दलित कथाकारों में बैटवारे की राजनीति, 'दलित साहित्य वार्षिकी-2005', पृष्ठ-43.
14. पल-प्रतिपल, जून-सित. 2005
15. हंस, नव. 2005, सम्पादकीय
16. गोदान, पृष्ठ-208-09
17. दलित कथाकारों में बैटवारे की राजनीति, 'दलित साहित्य वार्षिकी-2005', पृष्ठ-44
18. प्रेमचन्द : सामन्त का मुंशी
19. मिट्टी की सौगंध, ले.-प्रेम कपाड़िया
20. वही
21. वही
22. जस तस भयी सवेर, लं.-सत्य प्रकाश
23. वही, पृ.-51
24. वही ।

हिन्दी कहानी की विकास यात्रा

विनय कुमार

शोधकर्ता, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

कहानी व्यक्ति की अनुभूतियों के क्षय का विस्तार है। यह विस्तार स्वानुभूति के साथ परानुभूति को भी स्वानुभूति के स्तर पर अभिव्यक्त करता है। कविता इस रूप में कहानी के समीप जान पड़ती है। दोनों में अन्तर केवल कथन का है। कविता लय में जीती है, कहानी भंगिमा में। इसी भंगिमा में कहानी का सौन्दर्य निहित है। इसके बावजूद कहानी की जगह कविता ही आलोचकों को प्रिय रही है। इसका प्रमुख कारण कहानी विधा की प्रकृति को माना जाता है। कहानी वैसी चुनौती प्रस्तुत नहीं कर सकती, जितनी कविता। विश्लेषणसह्य कविताएँ अधिक होती हैं, जबकि कहानियाँ कम। यह इसलिए कि कहानी का मूलधर्म घटनात्मकता है, जबकि कविता का मूलधर्म भावात्मकता है। इसी तरह उपन्यास और कहानी दोनों ही साहित्य की गद्य विधा है। इसमें जीवन की व्याख्या एक निश्चित उद्देश्य से होता है। इन दोनों में मुख्य रूप से मूल अंतर यह है कि उपन्यास में जीवन का तुलनात्मक अधिक व्यापक चित्रण होता है और कहानी में एक घटना अथवा व्यक्ति विशेष का चित्रण होता है। कहानी सचमुच साहित्य की एक विधा है, जिसका मूल उद्देश्य है जीवन की व्याख्या के साथ-साथ मनुष्य की अनुभूतियों को आन्दोलित करना और उसे अपरिमित मनोरंजन अथवा रस प्रदान करना।

आधुनिक युग में कहानी साहित्य की एक सशक्त विधा के रूप में उभरी है। कहानी के स्वरूप तथा महत्व को समझने के लिए आवश्यक है कि पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों द्वारा दी गयी इसकी परिभाषा को ठीक से जाना जाए। प्रेमचन्द के अनुसार 'कहानी वह ध्रुपद की तान है, जिसमें नायक महफिल शुरू होते ही अपनी पूर्ण प्रतिभा दिखा देता है। एक क्षण में चित्र को अपने माधुर्य से परिपूरित कर देता है, जितना रात भर कहानी सुनने से भी नहीं हो सकता।' इसी प्रकार राधाकृष्ण कहानी को सौन्दर्य की एक झलक का रस स्वीकारते हैं। उनके अनुसार यह झलक इतनी होती है कि उसकी स्थाई रेखा अपने अन्तर्पट में अंकित हो जाती है। श्यामसुन्दर दास की दृष्टि में 'कहानी का एक निश्चित लक्षण है तथा इसका प्रभाव नाटकीय आख्यान है'।

जैनेन्द्र कुमार के अनुसार- 'कहानी तो एक भूख है, जो निरंतर समाधान पाने की कोशिश करती है। हमारे अपने सवाल होते हैं, आशंकाएँ होती हैं, चिंताएँ होती हैं, हम ही उसका उत्तर देने, उसके समाधान किये जाने और पाने का सतत् प्रयत्न करते रहते हैं। हमारा प्रयोग होता रहता है, उदाहरण और खोज होते रहते हैं। कहानी उस खोज के प्रयास का एक उदाहरण है।'

अज्ञेय के विचार में- 'कहानी जीवन की परिभाषा है और जीवन स्वयं अधूरी कहानी है, एक शिक्षा है जो उम्र भर मिलती है और समाप्त नहीं होती।' इलाचंद जोशी के अनुसार 'जीवन का चक्र नाना परिस्थितियों के संघर्ष में उल्टा-सीधा चलता रहता है।' इस सुवृहद् चक्र की विशेष परिस्थिति की स्वाभाविक गति का प्रदर्शन ही कहानी होती है।

डॉ० गगनदेव चौधरी की दृष्टि में- 'कहानी जीवन की मार्मिक घटनाओं की सकारात्मक अभिव्यक्ति है। वह अनंत अतीत से चलकर अनंत भविष्य की ओर जा रही है और जाती रहेगी। उसमें जीवन धड़कन मापने की अद्भुत क्षमता होती है।'

सामान्यतः कहानी के छह तत्त्व माने गये हैं-

1. कथावस्तु
2. पात्र एवं चरित्र-चित्रण
3. कथोपकथन एवं संवाद
4. भाषा एवं शैली
5. वातावरण एवं देश काल
6. उद्देश्य एवं विषय।

अभिव्यक्ति की दृष्टि से सामान्यतः कहानी की निम्नांकित शैलियाँ प्रचलित हैं-

- क) वर्णनात्मक शैली (साधारण शैली)
- ख) आत्मकथात्मक शैली (आत्मचरितात्मक शैली)
- ग) कथोपकथन शैली (वार्तालाप-डायलॉग)
- घ) पत्रात्मक शैली
- ङ) डायरी शैली

कहानी के लिए 'गल्प', 'आख्यायिका', 'गाथा', 'आख्या', 'वृत्तान्त' आदि पर्याय का प्रयोग हुआ है। 'कथा' का साधारण अर्थ 'जो कहा जाए' है। कथा शब्द ही अप्रभ्रंश में 'कहा' का रूप ग्रहण कर अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि भाषाओं में कहनी, कहानी आदि पदों में बदल गया है। 19वीं सदी के आरंभ में ईशा अल्ला खाँ ने अपनी रोमानी गद्य-कथा 'रानी केतकी की कहानी' और सदल मिश्र ने अपनी पौराणिक कथा को 'नासिकेतोपाख्यान' कहा है। 19वीं शताब्दी के पहले तीन चरणों में मुद्रित हिन्दी कथाओं के लिए 'कहानी', 'उपाख्यान', 'वृत्तान्त' आदि पद प्रचलित थे। 'सरस्वती' के प्रकाशनारंभ (1900 ई०) के साथ इसके पहले अंक में प्रकाशित रचना 'इन्दुमती' को गोस्वामी जी ने जहाँ 'आख्यायिका' कहा है, वहीं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसे 'कहानी' कहा। संभवतः प्रथम बार हिन्दी में आख्यायिका शब्द का प्रयोग बाबू श्यामसुन्दर दास ने किया। प्रेमचन्द में 1908 ई० में 'सोजेवतन' में इसे कहानी पद के रूप में प्रयोग किया। शुक्लजी की स्वीकृति की मुहर लगने के बाद चौथे दशक में शॉर्ट स्टोरी के लिए लघु-कथा (संक्षेप में कहानी) पद आलोचकों और कहानीकारों दोनों के बीच लगभग सर्वमान्य हो गया।

आधुनिक हिन्दी कहानी का विकास जहाँ एक ओर परम्परा से संबद्ध था, वहीं दूसरी तरफ पश्चिम की परिकल्पना का संयोजन हुआ। हिन्दी की प्रथम कहानी को लेकर हिन्दी समाज में मतैक्य का अभाव है। कुछ आलोचक 'रानी केतकी की कहानी' (1803) तो कुछ शिव प्रसाद सितारे हिंद

विरचित 'राजा भोज का सपना' (1886) को प्रथम कहानी घोषित करते हैं। परंतु कथा बुनावट एवं शैली मध्यकालीन न होने के कारण इस उद्घोषणा में दम नहीं है। हिन्दी में आधुनिक ढंग की कहानियों का लिखा जाना 20वीं शताब्दी के पहले दशक में प्रारंभ हुआ। 'सरस्वती' में प्रकाशित मौलिक कहानियों की सूची आचार्य शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में इस प्रकार दी है-

इन्दुमती (किशोरी लाल गोस्वामी)	-	1900 ई०
गुलबहार (किशोरी लाल गोस्वामी)	-	1902 ई०
प्लेग की चुड़ैल (मास्टर भगवान दास)	-	1902 ई०
ग्यारह वर्ष का समय (रामचन्द्र शुक्ल)	-	1903 ई०
पंडित और पंडितानी (गिरजादत्त वाजपेयी)	-	1903 ई०
दुलाई बाई (बंग महिला)	-	1907 ई०

'इन्दुमती' को शेक्सपीयर के नाटक 'टेम्पेस्ट' के कथानक की छाया होने के कारण उसे हिन्दी की प्रथम कहानी नहीं मानी जा सकती है। सन् 1968 में श्री देवी प्रसाद वर्मा ने माधव राव सप्रे द्वारा रचित कहानी 'एक टोकरी भर मिट्टी' (1901) के पक्ष में मत रखा है। परंतु यह भी आधुनिक ढंग की नहीं है। इस दृष्टि से आचार्य शुक्ल की कहानी 'ग्यारह वर्ष का समय' को हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी मानी जा सकती है। उपर्युक्त सभी हिन्दी की प्रारंभिक कहानी है। कथा-शिल्प की दृष्टि से इनमें अपरिपक्वता मौजूद है। रूप की दृष्टि से ये सीधी-सादी वर्णनात्मक कहानियाँ हैं। 'दुलाई बाई' का अंत थोड़ा नाटकीय अवश्य है परन्तु ये कहानियाँ शैशवावस्था को ही दर्शाती हैं। प्रसाद और प्रेमचन्द एक ही युग के रचनाकार होते हुए भी अपनी प्रेरणा, भावना, रचनादृष्टि के धरातल पर एक-दूसरे से काफी भिन्न थे। यहाँ भिन्नता को परस्पर विरोधी न मानकर परस्पर पूरक और सहयोगी कथा-धाराएँ मानना चाहिए। आगे भी इसी पथ पर अनेक कहानीकार सक्रिय रहे तथा अपना-अपना रचनात्मक योगदान दिया।

प्रेमचंदोत्तर हिन्दी कहानी

'नई कहानी' आंदोलन के समानांतर इस काल (1950-60) में आंचलिक कहानी का विशेष आंदोलन उभरकर सामने आया। आगे नयी कहानी की आत्मपरकता और रूपवादी प्रकृति के विरोध में 'सचेतन कहानी' (1960-65 ई०) की धारा चली। इस कहानी-धारा के प्रवर्तक 'महीप सिंह' हैं। सन् 1972 में कमलेश्वर ने समानांतर कहानी-आंदोलन की नींव डाली। सन् 1979 में राकेश वत्स ने अपनी पत्रिका मंच-79 के द्वारा 'सक्रिय कहानी' का आंदोलन खड़ा किया, जिसमें चित्र मुद्गल, रमेश बतरा, स्वदेश दीपक आदि ने प्रबल योग दिया। सन् 1982 में दिल्ली में जनवादी लेखक संघ की स्थापना एवं उसके राष्ट्रीय अधिवेशन के साथ ही हिन्दी में जनवादी लेखन को काफी प्रोत्साहन मिला। जनवादी कहानी अपनी मूल प्रकृति में सामान्य जन के संघर्ष का हिमायती है। समकालीन हिन्दी कहानी से अभिप्राय उस कहानी से है जो आज की परिस्थितियों का साक्षात्कार करती है और

बिना किसी पूर्वाग्रह के काल-सत्य को ईमानदारी के साथ चित्रित करती है। समकालीन कहानी कोई आंदोलन नहीं होकर, बल्कि वह स्वातंत्र्य रीति से साहित्य-साधना को प्रश्रय देती है। सृजय, उदयप्रकाश, राजी सेठ, मन्नू भंडारी, कृष्णा सोबती, निरूपमा सोवती, चित्रा मुद्गल, अब्दुल विस्मिल्लाह, प्रभा खेतान, मदन मोहन, शिवमूर्ति आदि समकालीन हिन्दी कहानी-धारा के प्रमुख हस्ताक्षर हैं।

सन्दर्भ

1. हिन्दी साहित्य: बदलते प्रतिमान, डॉ० आर. एन. वास्नेय
2. हिन्दी कहानी: पहचान और परख, इन्द्रनाथ मदान
3. हिन्दी कहानी: दो दशक की यात्रा, डॉ० रामदरश मिश्र

‘चंद्रगुप्त’ में वर्णित प्रसाद की राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना

संजीव शर्मा

शोधार्थी, पीएच०डी०, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

अपने अधिकांश नाटकों का कथानक इतिहास से लेने के बाद भी प्रसाद, वर्तमान से जुड़े हुए; भविष्य में विलीन हो जाते हैं। वे अपने नाटकों में ‘मुक्ति’ के स्वर को प्रमुखता प्रदान करते हैं। यह ‘मुक्ति’ भारत और भारतीयों की मुक्ति मात्र न होकर, संपूर्ण मानव-जाति की मुक्ति है। अपनी ‘मुक्ति’ की इसी विशिष्ट अवधारणा के कारण प्रसाद अपने नाटकों की ‘रेंज’ में देश प्रेम, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक गौरव-गाथा को प्रमुख स्थान प्रदान करते हैं। प्रो. रमेश गौतम के शब्दों में कहें तो “प्रसाद की ‘एप्रोच’ शुद्ध भारतीय सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की रही।”¹

प्रसाद ने जहाँ भी ‘इतिहास’ का प्रयोग किया, वहाँ वह रचना भारतीयों में साहस-वीरता-गौरव की भावना भरकर, पराधीनता से मुक्ति का माध्यम बनी। प्रसाद ने अपने राष्ट्रीय-सांस्कृतिक चेतना को ‘इतिहास’ के आवरण में व्यक्त करने के कारण को स्पष्ट करते हुए कहा- “इतिहास का अनुशीलन किसी भी जाति को अपना आदर्श संगठित करने के लिए अत्यंत लाभदायक होता है, क्योंकि हमारी गिरी हुई दशा को उठाने के लिए हमारी जलवायु के अनुकूल जो हमारी अतीत सभ्यता है उससे बढ़कर उपयुक्त और कोई भी आदर्श हमारे अनुकूल होगा कि नहीं इसमें हमें पूर्ण संदेह है। मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के उन महत्वपूर्ण घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है। जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है।”² भारतीयों को शारीरिक के साथ-साथ मानसिक तौर पर भी गुलाम बनाने के लिए भारतीय इतिहास, सभ्यता और संस्कृति को पाश्चात्य विद्वानों ने किस प्रकार विद्रूपित किया; यह पूर्व प्रकरण में हम देख चुके हैं।

प्रसाद ने अपने नाटकों द्वारा भारतीयों में भारतीय सभ्यता-संस्कृति के प्रति गर्व की भावना जगाने का प्रयास किया। अंग्रेज बार-बार कहते थे- भारत न एक राष्ट्र था, न है, ना ही भविष्य में होगा। ‘चंद्रगुप्त’ नाटक के माध्यम से प्रसाद ने अंग्रेजों की इस कुटनीति का विरोध कर ‘संपूर्ण आर्यावर्त’ को हमारे सामने रखा और हमें यह संदेश देने का प्रयास किया- भारत शुरू से एक राष्ट्र था, है और रहेगा। भारत की जिस विविधता को अंग्रेज सबसे बड़ी कमजोरी मानते थे, प्रसाद के लिए ‘अपनी विभिन्नता में एकता’ ही तो भारतीयों की सबसे बड़ी सांस्कृतिक विरासत है।

प्रसाद के समय का भारत पराधीन था परंतु प्रसाद ने ‘चंद्रगुप्त’ द्वारा यह अच्छी तरह दर्शाया कि प्राचीन काल से ही भारतीयों को अत्याचारी शासक को दंड देना अच्छी तरह आता है। आलोच्य नाटक में ‘चाणक्य’ नंद को उसके अत्याचारों के बारे में बताता है, तब जनता के पास सुनने का भी समय नहीं था। जनता अत्याचारी राजा नंद को जल्द से जल्द खत्म कर देना चाहती है -

“**नागरिक :** (बीच में रोककर हल्ला मचाते हुए)- पर्याप्त है। यह पिशाच लीला और सुनने की आवश्यकता नहीं, सब प्रमाण यहीं उपस्थित हैं।

चंद्रगुप्त : ठहरिये - (नंद से) कुछ उत्तर देना चाहते हो।

नंद : कुछ नहीं। (वध करो, हत्या करो का आंतक फैलता है।)”³

अपने युग की कुंठित जनता को प्रेरित करने के लिए प्रसाद ने उन्हें दिखलाया- भारत वह भूमि है। जिसका गुणगान विदेशी तक करते थे। ‘कानैलिया’ द्वारा भारत के प्रति श्रद्धा भाव दर्शाते हुए ‘अरुण वह मधुमय देश हमारा’ गीत गवाना, यह कहलाना ‘अन्य देश तो मानव की जन्मभूमि है भारत मानवता की जन्मभूमि है’; का यही आशय था। भारतीय संस्कृति के आध्यात्मिक गुणों से प्रभावित होकर सिंकदर जैसा योद्धा भी नतमस्तक होते हुए कहता है - “धन्य है आप। मैं तलवार खींचे हुए भारत में आया, हृदय देकर जाता हूँ।”⁴ इस प्रकार सांस्कृतिक अस्मिता की समस्या से जूझ रहे भारतीयों को प्रसाद ने नवीन गौरव बोध प्रदान करने का प्रयत्न किया। सांस्कृतिक गौरव बोध के साथ-साथ भारतीयों को राष्ट्रीय स्वतंत्रता हेतु अपना सर्वस्व त्याग करने को प्रेरित करना आवश्यक था। प्रसाद ने ‘चंद्रगुप्त’ नाटक में मालविका, अलका, चाणक्य, सिंहरण, चंद्रगुप्त जैसे आदर्श पात्रों की रचना इसी उद्देश्य से किया था। मालविका तो राष्ट्र-हित में अपने प्राणों का बलिदान हैंसते-हैंसते कर देती है।

अनेक लोगों की मान्यता है कि भारतीयों का सिद्धांत पूर्णतः अहिंसावादी है। प्रसाद ने उन लोगों के इस भ्रम को सिंहरण, चाणक्य के माध्यम से तोड़कर दिखलाया कि भारतीय आवश्यकतानुसार हिंसा का मार्ग प्राचीनकाल से ही प्रयोग करते रहे हैं-

“सिंहरण : आर्य, मालवों को अर्थशास्त्र की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी अस्त्रशास्त्र की।”⁵

“चाणक्य : एक जीव की हत्या से डरने वाले तपस्वी बौद्ध सिर पर मँडराने वाली विपत्तियों से रक्त-समुद्र की आँधियों से आर्यावर्त की रक्षा करने में असमर्थ प्रमाणित होंगे।”⁶

“चाणक्य : अब केवल पाणिनि से काम न चलेगा अर्थशास्त्र और दंड-नीति की आवश्यकता है।”⁷

“चाणक्य : मेरे पास पाणिनि में सिर खपाने का समय नहीं। भाषा ठीक करने से पहले मैं मनुष्यों को ठीक करना चाहता हूँ, समझो।”⁸

उपरोक्त कथनों के आलोक में हम कह सकते हैं कि प्रसाद आवश्यकतानुसार ‘हिंसा’ के प्रयोग का भी समर्थन करते हैं।

‘चंद्रगुप्त’ नाटक में प्रसाद ने ‘अलका और मालविका’ के चरित्रों द्वारा भारतीय नारियों को राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेने को प्रेरित किया है। अलका द्वारा प्रसाद भारतीयों को विशुद्ध ‘कर्म’ का संदेश देकर, क्रांति का पथ दिखलाते हैं -

“हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती
स्वयंप्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती
अमर्त्य वीरपुत्र हो दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पथ है - बड़े चलो, बड़े चलो।
असंख्य कीर्ति-रश्मियाँ विकीर्ण दिव्य दाह-सी।
सपूत मातृभूमि के रूकों न शूर साहसी
अराति सैन्य सिंधु में - सुवाड़वाग्नि से जलो।
प्रवीर हो जयी बनो, बड़े चलो, बड़े चलो।”

‘चंद्रगुप्त’ के रचनाकाल (1931) का भारत सर्वत्र पराधीनता की बेड़ियाँ काटने को उद्धत था। विवेच्य नाटक में भारतीयों की इस मनःस्थिति को ‘अलका’ व्यक्त करते हुए कहती है - “‘पराधीनता से बढ़कर विडंबना और क्या है?’”¹⁰ इसके पूर्व जवाहरलाल नेहरू ‘पूर्ण स्वराज्य’ की माँग कर चुके

थे। प्रसाद ने नेहरू के स्वर में स्वर मिलाते हुए 'चंद्रगुप्त' द्वारा भारतीयों की स्वतंत्रता का घोषणा-पत्र ही घोषित करवा दिया - "प्रत्येक निरपराध आर्य स्वतंत्र है, उसे कोई बंदी नहीं बना सकता।"¹¹ प्रसाद मात्र भारतीयों की स्वतंत्रता की ही बात नहीं करते। 'चाणक्य' द्वारा संपूर्ण मानव-जाति की स्वतंत्रता की स्पष्ट घोषणा करवाते हुए कहते हैं - "स्मरण रखना होगा कि ईश्वर ने सब मनुष्यों को स्वतंत्र उत्पन्न किया है, परंतु व्यक्तिगत स्वतंत्रता वहीं तक दी जा सकती है, जहाँ दूसरों की स्वतंत्रता में बाधा ना पड़े।"¹²

पूर्वोक्त उद्धरण में 'दूसरों की स्वतंत्रता में बाधा ना पड़े' की बात करके प्रसाद ने इतिहास को कालातीत करते हुए, एक ही वाक्य में तीनों कालों को समन्वित कर दिया। वहीं दूसरी ओर 'ब्रिटेन' के उस दोगलेपन को दर्शाया, जिसके अनुसार अंग्रेज स्वयं तो अपने देश में स्वतंत्रता के बड़े-बड़े दावे करते थे, हकीकत में संपूर्ण विश्व को परतंत्र बनाने के बहाने ढूँढ़ते रहते थे।

भारत की संपूर्ण स्वतंत्रता के लिए अंग्रेजों के साथ-साथ देशी राजाओं से भी मुक्ति आवश्यक थी। 'नंद' को मारकर प्रसाद ने, जनता को इन विलासी देशी राजाओं से मुक्ति का मार्ग दर्शाया है। साथ ही साथ 'मुक्ति' का साधन भी प्रसाद ने दिखलाया है। किसी भी आंदोलन की सफलता हेतु एक योग्य तथा कुशल नेतृत्व की परिकल्पना 'चाणक्य' के रूप में जनता के समक्ष प्रसाद ने प्रस्तुत किया था। अंग्रेजों की 'फूट डालो, राज करो' के कारण भारतीयों में बढ़ते अलगाववाद की भावना को उन्होंने 'राष्ट्र-मुक्ति' के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा माना। अंग्रेजों एवं उनके देशी राजवाड़ों ने इस अलगाववादी नीति का लाभ उठाकर किस प्रकार हिंदु-मुसलमान का शोषण किया, यह प्रसाद ने अच्छी तरह देखा था। 'चंद्रगुप्त' नाटक में 'हिंदू-बौद्ध' के संघर्ष के द्वारा नंद की इस चाल को पहचाना और 'दूसरे ब्राह्मण' द्वारा इसका सजीव चित्रण करवाया- "महापद्म का जारज-पुत्र नंद केवल शस्त्र-बल और कूटनीति के द्वारा सदाचारों के सिर पर तांडव-नृत्य कर रहा है वह सिद्धांत विहीन, नृशंस, कभी बौद्ध का पक्षपाती कभी वैदिकों का अनुयायी बनकर दोनों में भेद-नीति चलाकर बल-संचय करता रहता है। मूर्ख जनता धर्म की ओट में नचायी जा रही है।"¹³ क्या अंग्रेजों ने भी हिंदु-मुसलमान को ऐसे ही धर्म के नाम पर मूर्ख बनाकर नहीं नचाया था? इसी नाटक में प्रसाद ने यह भी दर्शाया है कि शोषकों-अत्याचारियों का कोई एक धर्म विशेष नहीं होता। अपने शोषण-चक्र में शोषक किसी को धर्म के नाम पर रियायत नहीं देता - "चाणक्यः सच है बौद्ध अमात्य, परंतु यवन आक्रमणकारी बौद्ध और ब्राह्मण का भेद न रखेंगे।"¹⁴

अंग्रेजों ने भारतीयों के मध्य 'अलगाववादी' भावना को धर्म के साथ-साथ रंग, नस्ल, भाषा, जाति, प्रांत हर स्तर पर व्याप्त कर दिया था। भारत को एक राष्ट्र न मानने के पीछे अंग्रेजों की यही मंशा थी। प्रसाद का 'चाणक्य' इस समस्या की ओर ध्यान आकृष्ट करवाकर, इसका समाधान भी बतलाता है- "तुम मालव हो और यह मागध, यहीं तुम्हारे मान का अवसान है न? परंतु आत्म-सम्मान इतने से ही संतुष्ट नहीं होगा। मालव और मागध को भूलकर जब तुम आर्यावर्त का नाम लोगे, तभी वह मिलेगा।"¹⁵ प्रसाद के लिए भारत के किसी एक भाग का कष्ट, संपूर्ण भारत का कष्ट था। 'सिंहरण' 'गांधार' की दुरावस्था पर प्रसाद की 'राष्ट्रीयता' की इसी भावना को व्यक्त करते हुए कहता है- "गांधार आर्यावर्त से भिन्न नहीं है, इसलिए उसके पतन को मैं अपना अपमान समझता हूँ।"¹⁶

सार रूप में यह कहा जा सकता है कि प्रसाद भारत की तत्कालीन दुरावस्था को प्राचीन भारतीय गौरवपूर्ण इतिहास के चित्रण द्वारा दूर करना चाहते थे। वे इतिहास को चेतना का अविच्छिन्न प्रवाह मानते थे। उनकी इतिहास दृष्टि में दर्शन का भी महत्वपूर्ण स्थान था।

भारतीय इतिहास की कमी को पूरा करने के लिए उन्होंने अपने तौर पर इतिहासान्वेषण का भी प्रयास किया। अपनी इतिहास चेतना का मुख्य लक्ष्य भारतीय राष्ट्रीय-सांस्कृतिक जागरण को बनाकर भारतीयों को कुंठा से निकालकर, उनमें भारत के प्रति गर्व की भावना भरने का प्रयास किया। प्रसाद इतिहास को भविष्य की घटनाओं की पुनरावृत्ति मानते हुए भी, भविष्य में नयी घटनाओं के घटित होने की आशा रखते थे। पाश्चात्य विद्वानों द्वारा भारतीय इतिहास को विद्रुप होने से बचाने के लिए उन्होंने भारतीय इतिहास की खोज कर उसका वर्तमान से संवाद स्थापित करने का प्रयास किया। काल की अखंड अनुभूति एवं शाश्वत चेतना को इतिहास का मूल समझने के कारण प्रसाद ने इतिहास को मानव जीवन से संयुक्त करके प्राणवान बनाने का प्रयास किया है। उनके अनुसार कोरी भौतिक घटनाएँ मानव जीवन की दृष्टि से एकांगी है। मानव-जीवन को मुख्य मानते हुए प्रसाद ने दर्शन को उसकी अंतः प्रेरणा तथा इतिहास को बाह्य विकास माना है। प्रसाद की दृष्टि में इतिहास को सजीवता प्राप्त करने के लिए दर्शन के साथ-साथ राष्ट्रीय संस्कृति को अविच्छिन्न अंग बनाना होगा। तात्पर्य यह कि दर्शन, जीवन, इतिहास, संस्कृति और राष्ट्रीयता सभी मिलकर वास्तविक इतिहास की सृष्टि करते हैं।

संदर्भ ग्रन्थसूची

1. रंगानुभव के बहुरंग : प्रो. रमेश गौतम, पृष्ठ-65
2. विशाख : जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ-5
3. चंद्रगुप्त : जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ-127
4. वही, पृष्ठ-111
5. वही, पृष्ठ-39
6. वही, पृष्ठ-53
7. वही, पृष्ठ-60
8. वही, पृष्ठ-61
9. वही, पृष्ठ-143-144
10. वही, पृष्ठ-95
11. वही, पृष्ठ-41
12. वही, पृष्ठ-128
13. वही, पृष्ठ-51
14. वही, पृष्ठ-54
15. वही, पृष्ठ-42
16. वही, पृष्ठ-43

प्रेमचंद की परम्परा में मधुकर सिंह

डॉ० अशोक कुमार सिन्हा

एसोसिएट प्रोफेसर,

स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, राजेन्द्र कॉलेज, छपरा, बिहार

हिन्दी-साहित्य में प्रेमचन्द एक युग प्रवर्तक साहित्यकार के रूप में प्रतिष्ठित हैं। इन्होंने हिन्दी कथा-साहित्य को तिलस्मी, जासूसी और अस्वाभाविक कल्पना के परिवेश से निकालकर भारतीय समाज की जीवन्त घटनाओं एवं समस्याओं से जोड़ दिया। इनकी रचनाओं में भारतीय ग्रामीण जीवन की सच्ची झांकी मिलती है। सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक सभी दृष्टिकोणों से इनका साहित्य यथार्थ के धरातल पर आधारित है। इनका उपन्यास एवं कहानी-साहित्य समाज में व्याप्त शोषण, उत्पीड़न, गरीबी, अशिक्षा, अंधविश्वास को उजागर करते हुए मानव-मन का सूक्ष्म अन्तर्विश्लेषण प्रस्तुत करती है। प्रेमचंद समाज की विविध समस्याओं को अंकित करते हुए उसके समाधान के लिए हमें बाध्य करते नजर आते हैं। इनकी रचनाओं में भारतीय किसान, मजदूर, जमींदार, पटवारी, सूदखोर, महाजन, ढोंगी, अत्याचारी अंग्रेज एवं समाज का शोषक-शोषित वर्ग सभी चित्रित हैं। “प्रेमचंद शताब्दियों से पददलित, अपमानित और उपेक्षित कृषकों की आवाज थे, पर्दे में कैद, पग-पग पर लांछित और असहाय, नारी की महिमा के जबर्दस्त वकील थे, गरीबों और बेबसों के महत्व के प्रचारक थे। अगर आप उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार-विचार, भाषा-भाव, रहन-सहन, आशा-आकांक्षा, सुख-दुःख और सूझ-बूझ को जानना चाहते हैं तो प्रेमचंद से उत्तम परिचायक आपको नहीं मिल सकता। झोपड़ियों से लेकर महलों तक, खोमचे वालों से लेकर बैंकों तक, गाँव से लेकर विधान सभाओं तक, आपको इतने कौशलपूर्वक और प्रामाणिक भाव से कोई नहीं ले जा सकता। सर्वत्र ही आप एक बात लक्ष्य करेंगे, जो संस्कृतियों और सम्पदाओं से लद नहीं गए हैं, जो अशिक्षित और निर्धन हैं, जो गंवार और जाहिल हैं, वे उन लोगों की अपेक्षा अधिक आत्मबल रखते हैं और अधिक न्याय के प्रति सम्मान दिखाते हैं, जो शिक्षित हैं, जो सुसंस्कृत हैं, जो सम्पन्न हैं, जो चतुर हैं, जो दुनियादार हैं, जो शहरी हैं”¹

प्रेमचंद के उपन्यास-साहित्य में भारतीय समाज के विविध दृश्य अंकित हैं। ये दृश्य मुख्यतः ग्रामीण जीवन से संबंधित हैं पर प्रसंगानुकूल लखनऊ, गोरखपुर, कलकत्ता आदि शहरों के उल्लेख भी मिलते हैं। प्रेमचंद का जन्म बनारस के पास लमही गांव में हुआ। फलतः गांव के किसानों के जीवन को इन्होंने अत्यन्त निकट से देखा और एक संवेदनशील साहित्यकार की तरह मर्माहत हुए। डॉ० रामविलास शर्मा इनके उपन्यासों की समीक्षा करते हुए लिखते हैं- “प्रेमाश्रम का आधार किसान-जमींदार का संघर्ष है, गोदान की समस्या किसान-महाजन की है। कर्मभूमि में अछूत आंदोलन और रंगभूमि में नए उद्योग-धंधों से गांवों में परिवर्तन का चित्रण किया गया है। समाज के इतने विविध स्तरों का व्यापक ज्ञान संसार के बहुत कम साहित्यिकों में मिलेगा। प्रेमचंद के विचार बहुत स्पष्ट नहीं थे, परन्तु उनमें कलाकार की सच्चाई की कमी न थी। उन्होंने परिस्थितियों को घटा-बढ़ाकर नहीं चित्रित किया, अपने युग की निर्धनता, दासता और पीड़ितों की आर्त-वेदना को जैसा उन्होंने अनुभव किया था, वैसा दूसरों ने नहीं।”²

प्रेमचंद की तरह मधुकर सिंह ग्रामीण जीवन के कथाकार हैं। इनकी रचनाओं में खेत, खलिहान, फसल, बाग-बगीचे, तालाब आदि ग्रामीण वातावरण के दृश्य हैं। इस ग्रामीण वातावरण में रहनेवाले

किसान-मजदूर एवं अन्य ग्रामीणों की स्थिति अत्यन्त दयनीय है। उनमें शिक्षा का अभाव है। वे सामाजिक रूढ़ि, अंधविश्वास और शोषण के शिकार हैं। कहीं अंग्रेज तो कहीं सम्पन्न भारतीय इनका शोषण करते रहते हैं, और ये विवश होकर सबकुछ सहते रहते हैं। यदा-कदा विरोध के स्वर भी उठते हैं। आपसी ईर्ष्या, द्वेष, कलह, लड़ाई-झगड़े, मुकदमेबाजी आदि भी गांव में होते रहते हैं। मधुकर सिंह ने अपनी रचनाओं में इन सबों का विस्तार से उल्लेख किया है। वस्तुतः इन्होंने प्रेमचंद की तरह गांवों की समस्याओं, उसकी परिस्थितियों एवं क्रिया-कलापों को अपनी रचना का विषय बनाया है। अगर प्रेमचंद ने लमही और उसके आसपास के गांवों की परिस्थितियों का अनुभव किया तो मधुकर सिंह ने आरा के धरहरा का। सभी गांवों की परिस्थिति एक होती है- मेहनतकश किसान-मजदूर का जीवन और उसे तबाह करते हुए शोषक वर्ग, पर कथाएँ अलग-अलग होती हैं। लमही और धरहरा तथा प्रेमचंद और मधुकर सिंह के साथ भी यही बातें हैं। मधुकर सिंह के संबंध में 'विद्याधर शुक्ल' लिखते हैं - "पात्रों के माध्यम से गांव की स्थितियों को उजागर करने की कला प्रेमचंद से ही सीखकर मधुकर सिंह गांवों के समकालीन परिवेश को उक्रेने में सफल हो सके हैं। मधुकर सिंह सही अर्थों में प्रेमचंदीय परम्परा को आगे बढ़ाने वाले कहानीकार हैं। कहानीपन जिसके कारण प्रेमचंद की कहानियाँ जनप्रिय हुई, वह मधुकर सिंह की कहानियों में भी सर्वत्र मौजूद है। आसपास का विश्वसनीय परिवेश, बोलचाल की गंवाई बोली जैसी भाषा, सामाजिक विसंगतियों पर व्यंग्य करते चलने की दक्षता, शोषित-पीड़ितों की तरफदारी करते हुए उनके दुःख-दर्द का बयान और इन भयावह स्थितियों से मुक्ति पाने की राह का संकेत मधुकर सिंह की कहानियों को धारदार एवं कारगर बनाता है।"³

प्रेमचंद के समय भारत पर अंग्रेजों का शासन था। इस शासन-काल में भारतीय जनता अत्यन्त त्रस्त थी। शोषण, दमन और अत्याचार चरमसीमा पर पहुँच गया था। अंग्रेजों के शोषण का सबसे अधिक शिकार गांव के किसान हुए। अंग्रेजों ने जमीनों को जमींदार के अधीन कर लगान की व्यवस्था की। जमींदार अत्यन्त कड़ाई से लगान की वसूली करने लगे। इस लगान-वसूली के संबंध में इतिहासकार विपिन चन्द्र लिखते हैं- "लगान के बोझ से किसान पस्त था, वह कर्ज-पर-कर्ज लेता जा रहा था। ईस्ट इण्डिया कम्पनी का एक ही मकसद था, ज्यादा से ज्यादा कर वसूलना। बतौर उदाहरण 1812 ई० में बरेली में कर उगाही का काम 10 महीने में पूरा कर लिया गया। यह एक रिकार्ड था। कर की दर बढ़ा दी गयी थी, जिससे 14 लाख 17 हजार रुपये ज्यादा वसूल हुए। सरकार ने कर उगाहने वाले अफसरों को बधाई दी। सरकार ने यह नहीं सोचा कि इतना अधिक पैसा इतने कम समय में कैसे वसूला गया।"⁴ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल अंग्रेजों की इस भूमि-व्यवस्था और कर के बोझ के संबंध में लिखते हैं- "उपन्यासकारों को यह भी देखना चाहिए कि अंग्रेजी राज जमने पर भूमि की उपज या आमदनी पर जीवन निर्वाह करने वालों की तथा नगर के रोजगारियों या महाजनों की परस्पर क्या स्थिति हुई। राजकर्मचारियों का वर्ग उससे प्रायः बचा रहता है। भूमि ही यहाँ सरकारी आय का प्रधान उद्गम बना दी गई।"⁵ जनता से बलपूर्वक वसूले जाने वाले टैक्स का वर्णन 'भारतेन्दु हरिश्चन्द्र' ने उस समय के लोकप्रिय पत्र 'सारसुरानिधि' में होली गीत के माध्यम से इस प्रकार किया-

इत अकाल उत टिकस लगाओ, कर सब पै बरजोरी।

तेज अनाज ठीक कहूँ नाहीं, मरत प्रजा सब ढोरी॥

भीख मांगत लै झोरी॥⁶

प्रेमचंद के उपन्यासों में इस लगान-वसूली से उत्पीड़ित जनता का अत्यन्त मार्मिक चित्रण है। 'गोदान' उपन्यास का नायक होरी है। वह गांव का साधारण किसान है। वह खेतों में अनाज उपजाता

है। नकद फसल के लिए ईख की खेती करता है। मुश्किल से उसका परिवार चलता है। लगान की व्यवस्था करना उसकी प्राथमिकता में है। उसे चिंता रहती है कि लगान नहीं देने पर उसे खेत से बेदखल कर दिया जाएगा। उपन्यास के आरंभ में ही इस बेदखली एवं लगान की चिंता की चर्चा है, जो होरी और उसकी पत्नी धनिया के संवाद के रूप में आयी है। होरी कहता है- “यह इसी मिलते-जुलते रहने का परसाद है कि अब तक जान बची हुई है, नहीं तो पता न चलता कि किधर गये। गांव में इतने आदमी तो हैं, किस पर बेदखली नहीं आयी, किस पर कुड़की नहीं आयी। जब दूसरे के पांव तले अपनी गर्दन दबी हुई है, तो उन पांवों को सहलाने में ही कुशल है। धनिया इतनी व्यवहार-कुशल न थी। उसका विचार था कि हमने जमींदार के खेत जोते हैं, तो वह अपना लगान ही तो लेगा। उसकी खुशामद क्यों करें, उसके तलवे क्यों सहलाएँ। यद्यपि अपने विवाहित जीवन के इन बीस बरसों में उसे अच्छी तरह अनुभव हो गया था कि चाहे कितनी ही कतर-व्योत करो, कितना ही पेट-तन काटो, चाहे एक-एक कौड़ी को दाँत से पकड़ो, मगर लगान का बेवाक होना मुश्किल है।” जमींदार न केवल लगान बल्कि समय-समय पर उपहार भी वसूलते रहते थे। होरी अपने जमींदार राय साहब के यहाँ लगान चुकाने में कुछ राहत मांगने की इच्छा से जाता है। वहाँ जाने पर पता चलता है कि दशहरे के अवसर पर रामलीला होने वाली है। राय साहब होरी से कहते हैं - “तुम्हारे गांव से मुझे कम-से-कम पांच सौ रुपये की आशा है”(पृ० 16)। फसल होने पर मंगरू साह, सहुआइन, पंडित दातादीन सबों को कुछ न कुछ कर्ज चुका कर होरी पाता है कि अब भी लगान के पचीस रुपये बांकी है। मि० मेहता और राय साहब के बीच के वार्तालाप में भी लगान का प्रसंग आता है। ‘प्रेमाश्रम’ उपन्यास की कथा लखनपुर गांव की है। यहाँ का जमींदार ज्ञानशंकर है। “जमींदार के नीचे, इलाके के अफसर कारिंदा थे। लगान-वसूली की मशीन में इनका महत्व था। लखनपुर के कारिंदा गौस खाँ थे। प्रभाशंकर के समय में वह दबे रहते थे, ज्ञानशंकर के समय में उन्हें मनमाना मालिक मिल गया और किसानों पर मनमाना अत्याचार भी होने लगा। लगान वसूल करने में अबकी उन्होंने कौड़ी भी न छोड़ी। लगान बढ़ाने के नये-नये उपाय सोचने लगे।⁸ ‘कर्मभूमि’ उपन्यास में सलीम कहता है - “लगान हम दे नहीं सकते। वह लोग कहते हैं, हम लेकर छोड़ेंगे। तो क्या करें? अपना सब कुछ कुर्क हो जाने दें।”

मधुकर सिंह के उपन्यास ‘जगदीश कभी नहीं मरते’ के आरंभ में ही लगान-वसूली की डुगडुगी है- “हरपुर के काश्तकार और मजदूर अभी उठकर अपने-अपने धन्धे की तजवीज में ही लगे थे कि ठीक पांच बजे मोर में उसी गांव के फिकिर दुसाध ने ढोलक को डुगी की तरह पीट-पीटकर बजाया- डुग-डुग-डुग-डुग.....भई रे! सरकार बहादुर के खजाने की जरूरत के मुताबिक रजगढ़िया के अपने मालिक बाबू रूपन सिंह के तहसीलदार आज नयी लगान के लिए आयेंगे। इसलिए सभी आदमी सवेरे से हाजिर रहो। डुग-डुग-डुग-डुग। मोहन ठाकुर ने पीछे से लपककर ढोलक छीन ली और मेदनी अहीर की चरनी पर पटक दी। लुढ़कती हुई ढोलक भैंस के पाँव-तले आ गयी और उसके खुरों से कर्-कर् फटती हुई तहस-नहस हो गयी।”¹⁰ फिकिर दुसाध जमींदार का खास आदमी था। वह मालिक से कहकर खम्बे में बांधकर पिटवाने की धमकी देकर चला गया। इसघटना के बाद तहसीलदार भगवतीलाल आ धमकता है। वह मोहन के बाप को पकड़कर लाने का हुक्म देता है। गांव के लोग उसके सामने हाथ जोड़े रखे रहते हैं। मोहन के बाप भरोसी ठाकुर को देखते ही भगवती लाल आग-बबूला हो जाता है- ‘सुन ले भरोसी ठाकुर! सरकार बहादुर के 1873 के कानून का सीधे उल्लंघन तुम्हारे बेटे ने किया है। बाबू साहब के कान तक बात पहुँची नहीं थी, इसलिए मार-बांध से बच गये हो। मगर अबबाब और सलामी तो देना ही पड़ेगा।’¹¹ वह लोगों को कहता है- तुम सभी नकदी का इन्तजाम करो! फसल मारी गयी तो इसमें मालिक का क्या दोष?

ईश्वर की दी हुई राजा को आंख मूंदकर स्वीकार करो' (पृ० 17)। जब वह चलने लगा तो सभी अपने घर की ओर दौड़े। कोई अपने छप्पर से कोहड़ा तोड़ लाया तो कोई लौकी। दूध, दही, मछली, सब्जी आदि से उपहार भगवतीलाल को दिये गये। अनराहित बहू अपनी पाढी ही उठाकर ले आयी। इस पर तहसीलदार भगवतीलाल भी उदारता दिखलाता है। वह रुपये का इन्तजाम करने के लिए पन्द्रह दिनों का समय दे देता है। लगान के अतिरिक्त रैयतों को अतिरिक्त कर भी देना पड़ता था। यह बात उजागिर बहू और भगवतीलाल के बीच के बातचीत से स्पष्ट हो जाती है। भगवतीलाल कहता है- 'बाबू साहब की बिटिया की पच्छिम में कहीं उनसे ये भारी जमींदार के यहाँ शादी हो रही है। शादी के खरचा-बरचा के लिए अलग से कर लगेगा। इसी वैशाख में शादी है। महाराजा के यहाँ रैयतों को तो शादी-ब्याह, मरनी-श्राद्ध, पर्व-त्यौहार सभी समय अतिरिक्त कर देना पड़ता है' (पृ० 16)। प्रेमचन्द के 'गोदान' में भी राय साहब, होरी से दशहरे के अवसर पर रामलीला हेतु अतिरिक्त कर की चर्चा करते हैं। प्रेमचंद के 'प्रेमाश्रम' में मनोहर नामक किसान अबबाब का विरोध करता है तो मधुकर सिंह के इस उपन्यास में मोहन ठाकुर। 'जगदीश कभी नहीं मरते' उपन्यास का नायक जगदीश महतो भी इस कर वसूली अभियान का विरोध करता है। वह हरपुर गांव में आये कांग्रेसी नेता से कहता है- 'इनकी तो जुल्म सहते-सहते जुवान ही बंद हो गयी है। मनमानी अबबाब, सलामी और लगान लेकर रसीद नहीं देना- आखिर ऐसी जमींदारी कब तक हम पर अत्याचार करती रहेगी। आप तो हमारे नेता हैं। हमारी लड़ाई तो दोतरफा है। गोरे साहब और जमींदार दोनों परेशान करते हैं, सताते हैं।'¹² मधुकर सिंह के 'बाजत अनहद ढोल' उपन्यास में भी इस लगान वसूली का उल्लेख मिलता है। जमींदारों द्वारा कठोरता से वसूले जाने वाले लगान से आदिवासी त्रस्त नजर आते हैं। सिद्धू-कानू दो भाई आदिवासियों के नेता के रूप में उभरते हैं। ये अंग्रेजों को कर नहीं देने की बात कहते हैं। उपन्यास के आरंभ में ही इस प्रसंग का उल्लेख है- 'मुगलों की शासन-व्यवस्था धीरे-धीरे खिसकती हुई ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथों में चली गयी थी। लगान वसूली का काम कम्पनी ने अपने हाथों में ले लिया था। कम्पनी सिर्फ इतना जानती थी कि शांति व्यवस्था उसका काम नहीं है, उसका काम सिर्फ बासगीतों से लगान-मालगुजारी वसूलना है।'¹³ संधालपरगना में अंग्रेजों के लगान-वसूली और सिद्धू-कानू द्वारा इसका विरोध किये जाने का उल्लेख मधुकर सिंह के 'समकाल' उपन्यास में भी मिलता है। यहाँ आदिवासी जंगल काटकर जगह साफ करते हैं। फिर उसे जोत-कोड़ कर खेती लायाक जमीन बनाते हैं। जब खेती लायक जमीन तैयार हो जाती है, तब अंग्रेज कुछ भी सहयोग नहीं करते हैं, सारा श्रम आदिवासियों का ही रहता है। 'समकाल' उपन्यास में इस प्रसंग का उल्लेख इस प्रकार है- 'अब ब्रिटिश हुकूमत ने उस जमीन पर मालगुजारी बांधनी शुरू कर दी। सन् 1836-37 में संधालों से जहाँ दो हजार छः सौ सत्तर रुपये मालगुजारी वसूली गयी, वहीं सन् 1854-55 में उन्हीं संधालों से अट्ठावन हजार तैंतालीस रुपये वसूल किये गये। संधालों में यह चेतना आयी कि जब खेती के लायक जमीन हमने बनायी तो फिर हम मालगुजारी क्यों दें।'¹⁴

अंग्रेज न केवल मनमाने ढंग से लगान वसूलते थे, बल्कि बलात्कार करने से भी नहीं चूकते थे। प्रेमचंद और मधुकर सिंह दोनों के उपन्यासों में अंग्रेजों के इस काले कारनामों का उल्लेख है। प्रेमचंद कृत 'कर्मभूमि' उपन्यास में मुन्नी अंग्रेजों के बलात्कार का शिकार होती है। मुन्नी को एक अंग्रेज पकड़कर अरहर के खेत में ले जाता है। खेत के किनारे एक अंग्रेज सैनिक खड़ा रहता है। वह इधर आने वाले लोगों को धमकाता है। लोगों को छड़ी दिखलाता है और भाग जाने के लिए कहता है। कुछ समय बाद वह युवती खेत से निकलती है। प्रेमचंद इस घटना का उल्लेख इस प्रकार करते हैं- 'एक युवती खेत से निकली और मुँह छिपाये, लंगड़ाती, कपड़े संभालती एक तरफ चल पड़ी। अबला लज्जावश किसी से कुछ कहे बिना सबकी नजरों से दूर निकल जाना चाहती थी। उसकी जिस वस्तु

का अपहरण किया गया था, उसे कौन दिला सकता था। दुष्टों को भले मार डालो, इससे तुम्हारी न्याय-बुद्धि को संतोष होगा, उसकी तो जो चीज गई सो गई।¹⁵ इस घटना के बाद मुन्नी घर-द्वार छोड़ देती है, वह सीने में कटार छिपाये बदला लेने के लिए घूमती रहती है। उसकी वेशभूषा भिखारिन की तरह हो जाती है। एक दिन अमरकान्त की दुकान के सामने अंग्रेज दिखलाई पड़ते हैं। मुन्नी कटार लेकर उस पर टूट पड़ती है। कटार उसकी पसली में पहुँच जाता है। वह वहीं पर ढेर हो जाता है। अंग्रेजों का यह हवसी चरित्र मधुकर सिंह के 'समकाल', 'सहदेव राम का इस्तीफा', 'जगदीश कभी नहीं मरते', 'बाजत अनहद ढोल' आदि उपन्यासों में भी दिखलाई पड़ता है। 'समकाल' उपन्यास में सन् 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन का विस्तार से उल्लेख मिलता है। इस आंदोलन को दबाने के लिए अंग्रेज फौज के साथ निकल पड़ते। आन्दोलनकारियों को पकड़कर जेल में ठूस देते। ये सामान्य जनता के साथ भी अमानवीय व्यवहार करते। 'समकाल' उपन्यास में इसका उल्लेख इस प्रकार है- 'दूसरे दिन चार बजे से ही पूरे बिसुनपुर को घेर लिया। घरों में घुसकर बहू-बेटियों को नोंचना शुरू कर दिया। कईयों की जानें ले ली। इस कुकृत्य से मन नहीं भरा तो कप्तान हरनाम सिंह के घर में घुसकर एक कमरे में उनकी बेटी के साथ बन्द हो गया। कप्तान को उनके घर का स्वाद मिल गया। वे गाहे-बगाहे सुराजियों के बहाने उनकी हवेली पर आने लगे।'¹⁶ 'सहदेवराम का इस्तीफा' मधुकर सिंह का लोकप्रिय उपन्यास है। इस उपन्यास में भी इसी तरह का दृश्य है। माधो सिंह का परिवार अंग्रेजों का स्वामीभक्त परिवार है। अंग्रेजों की खुशामद कर इस परिवार ने काफी सम्पत्ति बना ली। एक बार रेडफोर्ट नाम का एक अंग्रेज जिले में कलक्टर बनकर आया। माधो सिंह एवं उसकी सेना जी-हजुरी में लग गया। उसे एक जलसे में अपना गांव बुलाया गया। जलसे में रेडफोर्ट ने काफी शराब पी ली। शराब के नशे में वह बेकाबू हो गया है और माधो सिंह की बहन के साथ जबरदस्ती कर बैठा। 'बाजत अनहद ढोल' उपन्यास में अंग्रेजों के इस काले कारनामों की चर्चा है- 'सुकल की प्रतीक्षा में खड़ी जोवा को लपककर पोटन साहब (अंग्रेज) गट्टा पकड़ लेता है। जोवा उसकी मुट्ठी में मुर्गी की तरह फड़फड़ाती है। पुरोहित अवश चुपचाप खड़ा देखता रहता है। सुकल युवकों को ललकारता है। सभी मांदर फेंक-फेंककर अपने-अपने घरों से तीर-धनुष लाते हैं। पोटनकी हत्या के बाद युवक फिर होश में आते हैं।'¹⁷ अंग्रेजों द्वारा किये गये बलात्कार के इस प्रसंग को हम 'स्त्री-विमर्श' के अन्तर्गत भी विवेचित कर सकते हैं।

प्रेमचंद एवं मधुकर सिंह के उपन्यास में 'दलित-विमर्श' के प्रसंग भी मिलते हैं। इस दृष्टि से प्रेमचंद का उपन्यास 'गोदान', 'कर्मभूमि', 'रंगभूमि' आदि महत्वपूर्ण है। 'गोदान' उपन्यास में पंडित दातादीन का पुत्र मातादीन, हरखू चमार की बेटी सिलिया से प्रेम करता है। चमार टोली के लोग मातादीन को विवाह के लिए कहते हैं। एक दिन चमार टोली के लोग मातादीन के मुँह में हड्डी लगाकर चमार बन जाने के लिए कहते हैं। 'कर्मभूमि' उपन्यास में अमरकान्त अपना घर छोड़कर चमार की बस्ती में रहने लगता है। वहाँ वह उनकी दशा सुधारने का काम करने लगता है। इन कथाओं से स्पष्ट है कि समाज के धनी वर्ग दलित वर्ग को अपनी कामवासना का शिकार बनाते हैं। फिर समाज में ऐसे लोग भी हैं जिन्हें समाज एवं दलित वर्ग की चिंता है। ये भाव एवं चित्र मधुकर सिंह के उपन्यास में भी मिलते हैं। 'जगदीश कभी नहीं मरते' उपन्यास में एक दृश्य द्रष्टव्य है- 'धरमपुर के जमींदारों ने चमार के ही एक दुसाध की बेटी के साथ बलात्कार किया। लछमनपुर के मास्टर केसरी सिंह कलक्टर के बंगले पर इंसफ केलिए गये थे। वे कलक्टर के सामने चीत्कार कर उठे- हुजूर कुछ कीजिए!'¹⁸ इसी उपन्यास में एक दलित परिवार की बेटी के लिए मास्टर जगदीश क्रांतिकारी कदम उठाते हैं। जगदीश को जानकारी मिलती है कि 'परमेश्वर चमार की बेटी को पड़ोस के बाबू लोग उठाकर ले गये हैं। पहले तो परमेश्वर ने चुप्पी साध ली, बहुत बहाना बनाया कि एकाध

महीने के लिए बेटी अपने ननिहाल गयी है, परन्तु इन्हें सही बात का पता चल गया।¹⁹ जगदीश और उसके साथी उस बाबू के घर पहुँचते हैं। वह कुछ लोगों के साथ ताश खेल रहा था। पहुँचते ही जगदीश ने पूछा, परमेश्वर की बेटी कहाँ है? जगदीश के साथी मुन्नी उसे पटककर गला दबाने लगा। जगदीश ने कहा कि इसका हाथ तोड़ दो ताकि इस हाथ से कोई पाप करने लायक न रहे। परमेश्वर की बेटी मुक्त हो गयी। इसी तरह का दृश्य मधुकर सिंह के उपन्यास 'सबसे बड़ा छल' में है। इसमें रामदेव सुराजी है और जेल में जयप्रकाश नारायण आदि स्वतंत्रता सेनानियों के साथ रह चुका है। वह निर्भीक, साहसी और अन्याय का खुलकर विरोध करने वाला व्यक्ति है। चौधरी बेला सिंह द्वारा गांव की एक दलित लड़की को उठा लेने की घटना सुनकर उसका खून खौल उठता है। वह चौधरी बेला सिंह के घर में घुस कर उसे इतना पीटता है कि सारा शरीर फूट जाता है। चौधरी रामदेव का पैर पकड़ लेता है। रामदेव कहता है- 'हैण्डनोट के जितने भी कागज तुम्हारे पास है उन्हें लाओ और नाथू चमान की बेटी को फौरन हाजिर करो।'²⁰

'औद्योगीकरण की समस्या' को प्रेमचंद 'रंगभूमि' उपन्यास में और मधुकर सिंह 'सीताराम नमस्कार' में उठाते हैं। इन उपन्यासों में उद्योगपतियों की स्वार्थपरता और धन के लिए सब कुछ करने की मानसिकता पर प्रकाश डाला गया है। उद्योगीकरण के कारण गाँव उजड़ जाते हैं। 'रंगभूमि' की कथा पाण्डेपुर गाँव की है। इस गाँव में जॉन सेवक कारखाना लगाना चाहता है। वह चापलूस, कूनीतिज्ञ और चतुर व्यवसायी है। वह चालाकी से पाण्डेपुर की जमीन लेना चाहता है। सूरदास अपनी जमीन छोड़ने के लिए तैयार नहीं है। वह प्रलोभन तथा धमकियों से नहीं डरता है। वह दृढ़तापूर्वक कहता है- 'अगर जमीन जाएगी तो इसके साथ मेरी जान भी जाएगी।' मधुकर सिंह के उपन्यास 'सीताराम नमस्कार' में बनवारी सिंह एम०एल०ए०, सीताराम पाण्डे के गाँव में वर्तन का कारखाना खोलने की योजना बनाते हैं। वे वहाँ के बी०डी०ओ० को अपने पक्ष में कर लेते हैं। बी०डी०ओ०, सीताराम पाण्डे को बताते हैं कि गाँ के दक्षिण भाग में चमरटोली है। वहाँ की अधिकांश जमीन गैरमजरूआ है। वहीं फैक्टरी खुलेगी। चमरटोली के लोग इसका विरोध करते हैं। वे बनवारी सिंह से पूछते हैं कि अब हमलोग कहाँ रहेंगे। चनर ठाकुर गाँव के गाँधी चबूतरे पर खड़ा होकर कहता है- 'कारखाना खोलना है तो अपनी जमीन में खड़ा कीजिए। आपके पास सैकड़ों एकड़ जमीन है। हम गाँव उजाड़ कर कारखाना नहीं खोलने देंगे।'²¹

'वर्ग-संघर्ष' का संकेत 'प्रेमचंद' के उपन्यास में मिलता है और 'मधुकर सिंह' के उपन्यास में इसका विस्तार रूप। 'गोदान' का गोबर समाज के शोषक वर्ग का विरोध करता है। वह जमींदार राय साहब के बारे में कहता है कि उनके पास दर्जनों मोटर गाड़ियाँ हैं, सैकड़ों नौकर-चाकर हैं, वहीं हम खाने-खाने को मुहताज हैं। पंडित मातादीन को वह सीधे कहता है- तुम्हें किस बात की कमी है। जनम में लो, मरन में लो, शादी में लो, लेन-देन करते ही हो। मधुकर सिंह के उपन्यास में क्रांति एवं विद्रोह का यह स्वर अत्यन्त प्रखर रूप में है। 'जगदीश कभी नहीं मरते' में जगदीश समाज में व्याप्त शोषण, अत्याचार एवं सामंती प्रवृत्ति का विरोध करते हैं। 'सबसे बड़ा छल' का रामदेव, 'समकाल' का महेन्द्र सभी शोषण के विरुद्ध आवाज उठाते हैं। मधुकर सिंह के उपन्यासों में वर्ग-संघर्ष के इतने स्वरूप ने तेज नारायण किशोर को इतना प्रभावित किया कि उन्होंने डॉ० दीनानाथ सिंह, आचार्य एवं अध्यक्ष, स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग, वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा, बिहार के निर्देशन में इस पर शोध-कार्य ही कर डाला। उनके पीएच०डी० के शोधप्रबन्ध का शीर्षक है- 'मधुकर सिंह के उपन्यास-साहित्य में वर्ग-संघर्ष'। प्रेमचंद की परम्परा के अमर साहित्यकार मधुकर सिंह पर शोध-कार्य को और गति मिलेगी, क्योंकि इनका साहित्य अत्यन्त समृद्ध एवं विविध प्रसंगों से युक्त है।

संदर्भ-सूची

1. हजारी प्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य, पृ० 435
2. रामविलास शर्मा, प्रेमचंद, पृ० 10
3. मधुकर सिंह, माई, पृ० 13 (विद्याधर शुक्ल की भूमिका)
4. विपिनचन्द्र, भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, पृ० 5
5. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० 365
6. रामविलास शर्मा, भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास-परम्परा, पृ० 34
7. प्रेमचंद, गोदान, पृ० 7
8. रामविलास शर्मा, प्रेमचंद, पृ० 81
9. प्रेमचंद, कर्मभूमि, पृ० 296
10. मधुकर सिंह, जगदीश कभी नहीं मरते, पृ० 14
11. वही, पृ० 17
12. वही, पृ० 53
13. मधुकर सिंह, बाजत अनहद ढोल, पृ० 5
14. वही, समकाल, पृ० 57
15. प्रेमचंद, कर्मभूमि, पृ० 24
16. मधुकर सिंह, समकाल, पृ० 34
17. वही, बाजत अनहद ढोल, पृ० 11
18. वही, जगदीश कभी नहीं मरते, पृ० 63
19. वही, पृ० 69
20. वही, सबसे बड़ा छल, पृ० 30 (समय कथाचक्र)
21. वही, सीताराम नमस्कार, पृ० 186 (समय कथाचक्र)

नागार्जुन के उपन्यासों की भाषा-शैली

दर्शना सिंह

साधनापुरी, छपरा, बिहार

किसी भी उपन्यासकार को परखने की सही कसौटी उसकी भाषा और शैली होती है। “उपन्यासकार जिस ढंग से अपने विचार और भावनाओं को व्यक्त करता है उसे शैली कहते हैं। शैली भाषा के माध्यम से भावों को अभिव्यक्त करने की शक्ति है। भाषा की गति प्रवाह व दिशा शैली ही है।” भाषा उपन्यास ही नहीं साहित्य की विभिन्न विधाओं का अनिवार्य तत्व होती है। नागार्जुन हिन्दी, मैथिली, संस्कृत, पालि, प्राकृत, बांग्ला, सिंहली, तिब्बती आदि अनेकानेक भाषाओं के ज्ञाता थे। नागार्जुन के उपन्यासों की भाषा हिन्दी की सरल सजीव भाषा रही है। उन्होंने किसानों एवं सामान्य जन के बीच अपनी भावना और सहानुभूति के साथ जीवन की सहज प्रक्रिया से निर्मित भाषा को बहुत ही सरलता तथा यथार्थबोध के साथ उपन्यासों में जगह दी है। उन्होंने कहीं से भी चमत्कारिक भाषा का प्रयोग नहीं किया तथा मर्मस्पर्शी तथा प्रभावपूर्ण ढंग से अपनी बात सामने रखी है। नागार्जुन की भाषा पात्रों के अनुसार बदलती है। नागार्जुन पर यह आरोप है कि उन्होंने मिथिलांचल में प्रयुक्त होने वाले वैसे शब्दों और मुहावरों का प्रयोग किया है, जो न केवल परिनिष्ठित हिन्दी में स्वीकृत नहीं हैं वरन् जिनसे हिन्दी का सामान्य पाठक परिचित भी नहीं है। पर यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि नागार्जुन किसी अनुशासन के कायल नहीं हैं। यही सबसे बड़ी विशेषता है। भाषा के दो प्रमुख उद्देश्य होते हैं -

- (1) वह रचना शैली को सजीव और प्रभावोत्पादक बनाती है तथा
- (2) जीवन की वास्तविकता का उद्घाटन करती है।

उपर्युक्त दोनों उद्देश्यों की पूर्ति नागार्जुन ने अपने उपन्यासों में की है। “नागार्जुन की भाषा गाँव के आदमी की भाषा है जो बहुत नहीं बोलता है और अक्सर चुप रहता है, मगर जब भी बोलता है, अक्सर कोई गहरी मार करने वाली बात कहता है।” नागार्जुन ने जनभाषा, बोली, उपबोलियों का सर्जनात्मक प्रयोग किया है। उनके उपन्यासों में उर्दू शब्द, अंग्रेजी शब्द, संस्कृत शब्द, तद्भव व देशी शब्दों तथा आवृत्तिमूलक शब्दों का प्रयोग देखने को मिलता है। साथ ही साथ मुहावरों तथा लोकोक्तियों का प्रयोग कर नागार्जुन ने अपने उपन्यासों को स्वाभाविक बना दिया है।

“उपन्यास यदि यथार्थ और यथार्थवादी चेतना का विस्तार है तो भाषा उसकी प्रकृति और सम्भावनाओं को व्यक्त करने वाली एकमात्र शक्ति।”⁵

नागार्जुन जब बिहार के मिथिलांचल के जीवन का चित्रण करते हैं तो वे परिनिष्ठित हिन्दी में मैथिली को पात्रों की प्रकृति के अनुसार मिश्रण करते हैं। उनकी भाषा प्रसंगानुकूल होती है। वरुण के बेटे में बाढ़ के पश्चात् दुःखी एवं मुसीबत से पीड़ित गाँव वाले स्टेशन पर खड़ी गाड़ी के डिब्बों पर सवार हो जाते हैं। किन्तु रेलवे स्टेशन के अधिकारी गण जबर्न डिब्बे खाली कराने की कोशिश करते हैं। ऐसी विकट स्थिति में एक युवक की आवेशपूर्ण भाषा उल्लेखनीय है -

“हमने आराम के लिहाज से उन्हें डब्बे में रखा था। और वो जो लड़का लड़खड़ाता-सा खड़ा है!..... अठारह रोज से बुखार से उबल रहा है और वह चिलकाउर (सद्यःप्रसूता) बेचारी..... आइए कामरेड, देखिए राक्षसों का यह

ताण्डव बड़े मियाँ तो बड़े मियाँ, छोटे मियाँ सुभान अल्लाह। रेलवे वालों के दिमाग तो जाने किस धातु के बने हैं! वह बूढ़ी मेरे गाँव की परदादी है, तिरानबे साल की उमर है उनकी कामरेड, मैं आग लगा दूँगा स्टेशन में, ईट से ईट बजा दूँगा मैं इनकी तो।”⁴

नागार्जुन के उपन्यासों की भाषा पात्रानुकूल होती है। नागार्जुन ने प्रायः पात्रों की जाति, सामाजिक स्थिति तथा धर्म के अनुसार ही भाषा का व्यवहार किया है। बाबा बटेसरनाथ में गाँव में तलाशी के लिए आए अंग्रेज आफिसर की भाषा देखिए –

“गोरा पुलिस आफिसर गरज उठा- माइ गॉड, इटने हठियार।”⁵

प्रदेश का भाषा पर पूरा प्रभाव पड़ता है। यह कहावत है कि हर दस कोस पर भाषा बदल जाती है। वरुण के बेटे’ में एक बंगाली बाबू की भाषा द्रष्टव्य है-

“हाँ, ठाँढा - माफिक शोचने से शोब (सब) काम सुमिशता (सुभीता) से हो जाएँगी। बाबू, आप आ गया, शो (सो) आच्छा हुआ।”⁶

नागार्जुन ने अपने उपन्यासों की भाषा में चित्रात्मकता को स्थान दिया है। उन्होंने शब्द चित्रों के माध्यम से लोक जीवन को प्रतिबिम्बित कर दिया है। नई पौधा की यह चित्रात्मक भाषा द्रष्टव्य है-

उमर उसकी साठ से कम की तो क्या होगी, दो -एक वर्ष अधिक ही होगी। चेहरा रोबीला था। कान छोटे - छोटे, आँखें बादामी। नाक न खड़ी, न पड़ी। होंठ पतले। बाल पके हुए। मूँछें बारीकी से छँटी हुई सिल्क का कुर्ता, टसर की पगड़ी, रसमी चादर। सिकिया कोर की फस्ट क्लास धोती। हिना और केवड़े की तेज खुशबू से लोगों की नाक भर-भर उठती थी। गेहुँआ कपार पर गीले सेंदूर का गोल टीका पेट्रोमैक्स की तेज रोशनी में बड़ा भला लग रहा था।

नागार्जुन की भाषा परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती है। जहाँ उपन्यासकार को अपनी कथा कहनी होती है, वह सरल हिन्दी का प्रयोग करते हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य का चित्रण करते हुए वह प्रकृति पर मुग्ध हो जाते हैं। चूँकि गाँव के लोग परिनिष्ठित भाषा नहीं बोलते वहाँ आँचलिक भाषा का प्रयोग किया है। पर नागार्जुन अपने उपन्यासों में आँचलिक शब्दों को जबरन नहीं टूँसते जैसा कि राजेन्द्र अवस्थी पर यह आरोप है-

आँचलिकता कुछ लोगों का फैशन है जिनमें राजेन्द्र अवस्थी का नाम लिया जा सकता है। मसीहापन की होड़ में लिखे उनके उपन्यास इसके उदाहरण हैं जिनमें आँचलिकता के सायास दर्शन होते हैं। विविध प्रदेशों में घूमकर वहाँ की बोलियों-उपबोलियों से एकत्रित शब्द जब उपन्यास में टूँस दिये जाते हैं तो वे कृति में रचपच नहीं पाते और कृति के समग्र प्रभाव को तोड़ते दृष्टिगत होते हैं।⁷

नागार्जुन की भाषा की एक प्रमुख विशेषता उसमें निहित व्यंग्य है। “नागार्जुन की भाषा किस तरह पात्रों के अनुसार बदलती है, यह देखना हो तो बाबा बटेसरनाथ और अभिनंदन की तुलना की जाए। नागार्जुन की भाषा के दो छोर आपको मिल जाएंगे। बाबा बटेसरनाथ की भाषा में गहरी करुण, आर्द्रता और दर्द है। यह एक ऐसे बुजुर्ग की सीझी हुई भाषा है जो पाठक को अपनी संवेदना से जोड़कर आगे चलती है। लेकिन अभिनंदन में शुरू से आखिर तक भाषा में वक्रता, व्यंग्य और चतुराई है- इसलिए कि यह ऐसे घाघ लोगों की कथा है जिनके सभ्य चेहरों के नीचे स्वार्थ और कुटिल राजनीति की बहुत परते हैं।”⁸

औपन्यासिक भाषा में स्वाभाविक प्रवाह का होना आवश्यक होता है। साथ ही सहजता एवं गंभीरता आदि गुणों का होना आवश्यक है। इन विशेषताओं के अभाव में अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता है। भाषा ही एकमात्र आधार है जिसके सहारे उपन्यासकार पात्रों के व्यक्तित्व को साकार करता है तथा विभिन्न परिस्थितियों का चित्रण कर उसकी व्याख्या करता है। नागार्जुन की भाषिक सजगता अत्यन्त सराहनीय है। उच्च वर्ग-निम्न वर्ग, ग्रामीण-नागरिक, स्त्री-पुरुष आदि के बौद्धिक अंतर को नागार्जुन ने सफलतापूर्वक व्यंजित किया है। नागार्जुन की भाषा में कहीं भी अस्वाभाविकता नहीं है। पर कहीं-कहीं प्रचारवाद तथा मार्क्सवाद का प्रचार करते हुए नागार्जुन भाषा की सामान्य परिपाटी से खिसक जाते हैं। उनकी भाषा के सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि उनकी भाषा हिन्दी उपन्यास साहित्य में रेखांकन योग्य है।

नागार्जुन के उपन्यासों की शैली वर्णनात्मक, आत्मकथात्मक, चित्रात्मक, नाटकीय आदि है। “नागार्जुन कथा पर जरूरत से ज्यादा कभी डिपेंड नहीं करते वह जिस दृश्य को पकड़ते हैं, उसी के साथ-साथ आगे चलते जाते हैं और कथा खुद-ब-खुद बनती जाती है। कथा प्रवाह कहीं-कहीं अवरुद्ध होता है, लेकिन नागार्जुन के उपन्यासों में पदार्थ या ‘सब्सटेंस’ काफी है और यह पढ़कर पाठक को निराश होना पड़े या कुछ हासिल न हो- ऐसा कभी नहीं होता।”¹⁰

सभी प्रचलित शैलियों के माध्यम से वे अपनी कथाएँ प्रस्तुत करते हैं। वस्तुतः किसी भी शैली का महत्व तभी होता है जब लेखक उक्त शैली के माध्यम से अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा का समुचित उपयोग कर सके। नागार्जुन रतिनाथ की चाची में प्रेमचंद की तरह धारावाहिक कथा-शिल्प अपनाते हैं। बलचनमा मे जीवनीपरक कथा शैली है तो उग्रतारा, कुम्भीपाक जैसे उपन्यासों में समस्या केन्द्रित नाटकीय शैली के दर्शन होते हैं।

नागार्जुन परिस्थितियों के संदर्भ में अपनी शैली बदलते रहते हैं। नागार्जुन के उपन्यासों की शैली ने हिन्दी साहित्य को गतिशील एवं समृद्ध किया है। उनके उपन्यासों की शैलीगत नवीनता एवं वस्तुमुखी दृष्टि के कारण उन्हें प्राचीनधारा से सरलता से अलगया जा सकता है।

“उनके उपन्यासों में न तो खंडचित्रों का अकारण विस्तार है और न इतिवृत्तात्मकता का मोह जो किसी-ना-किसी रूप में प्रायः सभी प्रगतिशील लेखकों में मौजूद है।”¹¹

नागार्जुन की शिक्षा का माध्यम संस्कृत था अतः उनके उपन्यासों में लोक में प्रचलित संस्कृत भाषा के शब्दों का प्रयोग हुआ है। नागार्जुन के उपन्यासों में मिथिलांचल उनकी भाषा के माध्यम से मूर्त हो उठा है। स्थानीय एवं देशज शब्दों के माध्यम से नागार्जुन ने अपने उपन्यासों में प्राण फूंक दिये हैं।

संदर्भ ग्रंथसूची

- (1) नागार्जुन के उपन्यासों में लोक जीवन-डॉ० सुमित्र, पृष्ठ संख्या 149, प्रथम संस्करण 2007, के० एल० पचौरी प्रकाशन, गाजियाबाद ।
- (2) जनकवि नागार्जुन, पृष्ठ संख्या 73, निदेशक प्रकाशन विभाग, नयी दिल्ली, प्रकाशित 2004 ।
- (3) हिन्दी उपन्यास का इतिहास, प्रो० गोपाल राय, पृष्ठ संख्या 466, पहली आवृत्ति 2005, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पटना।
- (4) नागार्जुन रचनावली (भाग 4), पृष्ठ संख्या 506, पहला संस्करण 2003, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पटना।

- (5) नागार्जुन रचनावली (भाग 4), पृष्ठ संख्या 409, पहला संस्करण 2003, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पटना।
- (6) नागार्जुन रचनावली (भाग 4), पृष्ठ संख्या 507, पहला संस्करण 2003, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पटना।
- (7) नागार्जुन रचनावली (भाग 4), पृष्ठ संख्या 277, पहला संस्करण 2003, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, पटना।
- (8) आँचलिक उपन्यास संवेदना और शिल्प- डॉ० ज्ञानचन्द गुप्त, पृष्ठ संख्या 13, प्रथम संस्करण, अभिनव प्रकाशक, दिल्ली-6।
- (9) जनकवि नागार्जुन, पृष्ठ संख्या 73-74, निदेशक प्रकाशन विभाग, नयी दिल्ली, प्रकाशित 2004 ।
- (10) जनकवि नागार्जुन, पृष्ठ संख्या 66, निदेशक प्रकाशन विभाग, नयी दिल्ली, प्रकाशित 2004 ।
- (11) हिन्दी उपन्यास सार्थक की पहचान-मधुरेश, पृष्ठ संख्या 141, प्रथम संस्करण 2002, स्वराज प्रकाशन, दिल्ली।

संस्कृत साहित्य में ईश्वर की अवधारणा

डॉ. लाल साहब झा

बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

संस्कृत साहित्य में आत्मा परमात्मक विषयक तत्त्वज्ञान भरा पड़ा हुआ है। भारतीय समाज में आत्मा परमात्मा विषयक धारणा पर भ्रम फैलाया गया है। साहित्य के प्रमाणों के विकृत करके प्रस्तुत करने अन्वेषकों की आदत के कारण ये होता है हम सर्वप्रथम भारतीय तत्त्वज्ञान की विकसित समझे जाने वाली परमेश्वर विषयक कल्पना का अवलोकन करेंगे तत्पश्चात वेदों की ऋचा के आधार पर उसका मूल्यांकन करेंगे।

श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है कि यह संपूर्ण विश्व अव्यक्त है। इसका अर्थ यह है कि सृष्टि का मूलतत्त्व अव्यक्त है तथा उसी अव्यक्त मूल तत्त्व में सृष्टि अन्त में विलीन हो जाती है। केवल मध्य का जो काल है उसमें सृष्टि व्यक्त दशा में रहती है। इस सृष्टि में भी जड़ चेतन उपभोग्य व उपभोक्ता, ज्ञाता एवं ज्ञेय का द्वन्द्व दृष्टिगोचर होता है। इस द्वन्द्व को ही भारतीय तत्त्वज्ञो ने सृष्टि का मूल तत्त्व माना है और उसका कथन है कि जड़ चेतन्य का यह द्वन्द्वात्मक प्रवाह अनादि सिद्धि है। इस द्वन्द्व के स्वरूप एवं उसके कार्य का वर्णन करते हुए गीताकार कहते हैं-

पुरुषं प्रकृति चैवं विद्वयनादी उभावपि

विकाराश्च गुणाश्चैव विद्धि प्रकृति संभवात् ॥ (1) संदर्भ-1

प्रकृति और पुरुष दोनों को ही तु अनादि मान, विकार और गुण प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं।

कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते

पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥ (2) संदर्भ-र

कार्य अर्थात् देह कारण अर्थात् इन्द्रियो का कारण प्रकृति है और कर्ता न होकर भी सुख दुःख के उपभोग का कारण है।

इस विषय में लोकमान्य तिलक कहते हैं “यदि नानात्व के मूल को प्रकृति द्रव्य के एकत्व में खोजने की सांख्यादि द्वंद्ववियोगी पद्धति युक्तियुक्त एवं शास्त्रीय मानी जाये तो इस द्वंद्व तक आकर रूक जाना अर्थात् प्रकृति पुरुष सप्त द्वंद्व का भी अन्तर्भाव किसी एकत्व में करना आवश्यक हो जाता है और इसीलिए प्रकृति पुरुष के परे एक तीसरी सर्वव्यापक अव्यक्त तत्त्व तक हम पहुंचते हैं। और यह तत्त्व सृष्टि के मूल में विद्यमान है उसकी इच्छा शक्ति से जड़शक्ति कार्य प्रवण होती है और व्यवहार करती है प्रकृति सगुण है सगुण पदार्थ नाशवान है। यह जगत् का अनुभव है इस कारण यह एकमात्र अद्वितीय तत्त्व निर्गुण है अतः वही सृष्टि का वास्तविक एवं नित्य तत्त्व है गीताकार भी आगे कहते हैं।

अविनाश तुं तद्विद्धि तेन सर्वमिदं ततम्।

विनाशम व्ययस्यास्य नं कश्चित्कर्तुं मर्हती॥ गीता- 2-छ7॥ संदर्भ-3

इस जगत में जिसका विस्तार अथवा व्याप है मूल आत्मा स्वरूप ब्रह्मअविनाशी है। इसे तू ध्यान में रख इस अव्यक्त तत्त्व का नाश करने में भी कोई समर्थ नहीं है।

आगे भगवान् विश्वरूप दर्शन में ईश्वर की सर्वव्यापकता अव्यक्तता प्रगट करते हैं।

इस प्रकार गीता के अनुसार परमेश्वर तत्त्व सर्वत्र एकरस स्वप्रतिष्ठित तथा स्वयंप्रज्ञ है। वह अद्वितीय होने के कारण उससे भिन्न इस जगत में कुछ भी नहीं है।

उपनिषदों में व्यक्त परब्रह्म

उपनिषद् काल में भी जगत जगदीश्वर के संबंध में भारतीय तत्त्वज्ञान ने पूर्णता प्राप्त की थी। उपनिषद् के कुछ भागों को यहां उद्धृत किया है।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमदं पूर्णाति पूर्णमुदच्यते।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥ ईशावास्योपनिषद्॥ संदर्भ-4

वह परब्रह्म पूर्ण है। उपाधि सहित ब्रह्म भी पूर्ण ही है। वह कार्यात्मक ब्रह्म उस पूर्ण अर्थात् कारणात्मक ब्रह्म से उत्पन्न होता है परंतु उत्पन्न होकर विलग होने पर भी उसका पूर्णत्व बना रहता है तथा अवशिष्ट रहनेवाला ब्रह्म भी पूर्ण ही रहता है।

अणोरपीयान्महतो महीयानात्मडस्य जन्तोर्निर्दिता गृहायाम्।

तमऋतु पश्यति वीतशोको धातु प्रसादान्महिमानमात्मन॥ कठोपनिषद् 2 ॥ संदर्भ-र

आत्मतत्त्व सूक्ष्मतम अणु से भी अधिक सूक्ष्म एवम् महत् परिमाणवान् पदार्थ से भी अधिक वह समस्त प्राणियों के हृदय में वास करता है। संकल्पहीन श्रेष्ठ पुरुष ही उसको देख सकते हैं तथा उसे देखकर शोक रहित हो जाते हैं।

यदोर्णानाभिः सृजते गृहणते च यथा पृथिवामोषयः संभवन्ति।

यथा सतः पुरुषोत्केशलोमनि तथा ङक्षराम्संभवतीह विश्वम्। मुंडकोपनिषद्॥ संदर्भ-6

जिस प्रकार मकड़ी तंतुओं को उत्पन्न करती है पुनः उन्हें अपने शरीर में वापस खींच लेती है जिस प्रकार पृथ्वी में औषधियां उत्पन्न होती हैं अथवा जिस प्रकार केश-लोम उत्पन्न होते हैं उस प्रकार अक्षर से इस संसार मंडल में विश्व की उत्पत्ति होती है।

मुंडकोपनिषद् में परब्रह्म को विश्व पुरुष की संज्ञा दी गई है और अमृतमय कहा हो गया है सारांश यह कि उपनिषदों के मतानुसार कालः देश कार्य कारण संबंध से मर्यादित जो यथार्थ है वह मिथ्या है।

दिवकालातीत एवम् एकमेवाद्वितीय परब्रह्म ही वास्तव में सत्य है, यह परमात्मा अपने देह में विद्यमान आत्मा एक ही है। 'अयमात्मा ब्रह्म', 'तत्त्वमसि', 'सर्वखट्विदम् ब्रह्म' एवम् अहं ब्रह्मास्मि इन चार महावाक्यों के आधार पर ही भारतीय तत्त्वज्ञान का विशाल मंदिर खड़ा है।

वेद में परब्रह्मविषयक तत्त्वज्ञान

वैदिक ऋषियों ने परमात्मा का साक्षात्कार करके उसके संबंध में अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। ऋग्वेद में अनेक देवताओं के विलक्षण महत्व का वर्णन किया गया है। ये देवता कौन थे। इस संबंध में स्पष्टीकरण करेंगे। ऋग्वेद में देवता अनेक भले हो उनका मूल स्वरूप कुछ भी क्यों न रहा हो और इस कारण यह मानने की प्रवृत्ति सी बन गई है की ऋग्वेदीय लोग अनेक देवतावादी थे आगे चलकर वे क्रमशः एक देवत्व की ओर अग्रसर हुए। किन्तु ऋग्वेद को देखने पर वह बात गलत मालूम पड़ती है। ऋग्वेद में स्पष्ट कहा गया है कि वास्तव में एक ही तत्त्व सर्वत्र व्याप्त है। वही भिन्न-भिन्न नामों से व्यक्त है।

अचिकि त्वात्र चिकितुष चित् अत्र कवीन् पृच्छामि विदमने न विद्वान्।

दियः तस्तंभषल् इमां रजासि अजस्थ रूपे किं अपि स्वित् एकम्॥ संदर्भ-8

इस संबंध में मेरी समझ में कुछ नहीं आता। मैं अज्ञानी जो ठहरा समझने के लिए जिन्हें ये सारी बातें समझने आती हैं उन्हीं से मैं पूछता हूँ कि क्या यह सत्य है कि इन छहों लोकों को धारण करनेवाले उस जन्मरहित ईश्वर के स्वरूप में एकात्मकता है।

अहम् इन्द्रः वरूण ते इतिः महिडत्वा उर्वी (इति) गभीरे (इति) रजसी (इति)
सुमेके (इति)। सुडमेके/विष्टाडरव विश्वा भुवनानि विद्वान् सम् एश्यन् रोदसी
(इति) धारयम् च। (संदर्भ-8)

मैं इन्द्र हूँ। मैं ही वरूण हूँ। अपनी महिमा के कारण अति विस्तीर्ण गहरे रम्याकृति बने हुए थे (दो रजोलोक) भी मैं ही हूँ। मैं ही सर्वज्ञ देव हूँ तथा मैंने ही त्वष्टा के समान यच्चायावत् भुवनो को चालना देकर सम्भाला हुआ है।

और आगे सहस्राविध मस्तक नेत्र चरण वाले परमात्मा का वर्णन प्राप्त होता है। वेद में भी परमात्मा को ही दृश्य जगत् का कारण बताया है वही सर्वशक्तिमान है निर्गुण है। निराकार है और इस जगत् का कर्ता है इस तरह वैदिक युग में भी जगत् जगदीश्वर विषयक सिद्धांत परिपूर्ण था। उसके आगे के काल में भी उन तत्त्व सिद्धांतों में महत्वपूर्ण नहीं पाया जाता है।

संस्कृत साहित्य में परमात्मा संबंधी तत्त्वज्ञान जो पाया जाता है यह बुद्धिविकास के लिये नहीं है उससे जीवन का गठन करने का उद्देश्य है मनुष्य जीवन महत्वपूर्ण है जो मनुष्य इस ज्ञान का प्रयोग अपने जीवन में करे तो वह परमात्मा को प्राप्त कर सकता है और अपने जीवन को धन्य कर सकता है।

संदर्भ ग्रंथः

- RC-1 श्रीमद् भगवद्गीता – गीताप्रेस, गोरखपुर
- RC-2 श्रीमद् भगवद्गीता – गीताप्रेस, गोरखपुर
- RC-3 श्रीमद् भगवद्गीता – गीताप्रेस, गोरखपुर
- RC-4 इशावास्यम् उपनिषद् – गीताप्रेस, गोरखपुर
- RC-5 कठोपनिषद् – गीताप्रेस, गोरखपुर
- RC-6 मुंडकोपनिषद् – गीताप्रेस, गोरखपुर
- RC-7 ऋग्वेद संहिता-भाग-२ – श्री रामशर्मा आचार्य जी
- RC-8 ऋग्वेद संहिता भाग-२ – श्री रामशर्मा आचार्य जी

रामायण एवं महाभारत में नारी की स्थिति

डॉ० शोभा रानी सहाय

शिक्षिका, छपरा सेन्ट्रल स्कूल, छपरा

भारतीय समाज में नारी एक विशिष्ट गौरवपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठित है। आर्य-पुरुष ने सदा ही उसे अर्द्धांगिनी माना है। यही नहीं व्यवहार में पुरुष मर्यादा से नारी सदा ही उत्कृष्ट मानी गई है। आर्य पुरुषों का यह कथन आज भी भारतीय नारी को गौरवान्वित कर रहा है।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।

यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला क्रियाः।¹

शास्त्र के इस कथन के अनुसार स्त्री-धर्म की रक्षा से ही भारत देवताओं का स्थान बना था। देवताओं को अमर-लोक से मृत्यु लोक में उतरने के लिए एक नारी धर्म ही समर्थ है।

सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा ने अपने को दो रूपों में विभक्त किया, आधे-से वे पुरुष एवं आधे से नारी हो गए।² धर्मप्राण भारत वेद पुराण, स्मृति आदि ग्रन्थों ने सद्देतुसंवलित तर्कों के द्वारा तथा प्राकृतिक विज्ञान के द्वारा भी स्त्रियों को पुरुषों की अर्द्धांगिनी माना है। धर्म कार्यों में पत्नी सहित पति का निषेध किया गया है। पाणिनि ने पत्नी शब्द की व्युत्पत्ति ही यज्ञसंयोग में की है।

पाणिनि यत्युर्नो यज्ञ संयोगो

भारतीय पद्धति के अनुसार किसी भी धार्मिक सामाजिक एवं लौकिक कृत्य में स्त्री व पुरुष के उत्तरीय वस्त्रों के छोरों से ग्रन्थिबन्धन किया जाता है। बिना ग्रन्थिबन्धन किए कोई भी धार्मिक यज्ञ-यज्ञादि कर्म तथा सामाजिक मंगल-कृत्य नहीं किए जाते हैं। सभी गृहस्थों के घर में स्त्रियां लक्ष्मी समझी जाती हैं। ईंट-पत्थर से बना घर ही घर नहीं है। वस्तुतः पत्नी ही घर है।

न गृहं गृहभित्तिर्गृहिणी गृहमुच्यते।³

नारी को सदा अवधया बतलाया गया है। कैसी भी नारी क्यों न हो उसे मारना घोर पाप है। नारी के अंगों में देवताओं का वास है। विभिन्न वैदिक दर्शनों में जीव सृष्टि की दो धाराएं बतायी गयी हैं। एक स्त्री धारा एवं दूसरी पुरुष धारा। मीमांसा दर्शन ने सिद्ध कर दिया है कि मूल प्रकृति से स्त्री धारा का विशेष सम्बन्ध है। इस कारण यदि यह कहा जाय कि स्त्री मात्र ही प्रकृति रूपिणी है तो विज्ञान-विरुद्ध नहीं होगा।

सप्तशती-चण्डी एवं देवी भागवत में कहा गया है।

विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः

स्त्रियाः समस्ताः सकला जगत्सु

या याञ्च ग्राम्यदेवः स्युस्ता सर्वाः प्रकृतेः कलाः।

कलांशांशसमुद्भूजताः प्रतिविश्वेषु योशितः।

शैवागमों में नारी सुख का मूल, त्रिभुवन का आधार एवं त्रैलोक्यरूपा के रूप में प्रशंसित रही है।⁴ संस्कृत साहित्य में महर्षि वाल्मीकि कृत रामायण आदिकाव्य समझा जाता है एवं वाल्मीकि आदि कवि माने हुए हैं। वाल्मीकि की रामायण “महनीय कला” का सर्वश्रेष्ठ निदर्शन है। “मानव सौख्य

की अभिवृद्धि, दीन-आर्तजनों का उद्धार परस्पर में सहानुभूति का प्रसार हमारे और संचार के बीच सम्बन्ध के विषय में नवीन या प्राचीन सत्त्यों का अनुसंधान जिससे इस भूतल पर हमारा जीवन उदात्त तथा ओजस्वी बन जाय या ईश्वर की महिमा झलके। “फलाडवेर के द्वारा किया गया “ग्रेट आर्ट” का यह लक्षण रामायण पर अक्षरशः घटित होता है। जीवन को ओजस्वी तथा उदात्त बनाने के लिए रामायण में जिन आदर्शों को चित्रित किया वे केवल भारतवर्ष के लिए ही मान्य एवं आदरणीय नहीं है। अपितु वे मानव मात्र के सामने उच्च-नैतिक स्तर व सामाजिक उदात्तता की भावना को प्रस्तुत करते हैं।

वाल्मीकि ने गृहस्थ धर्म की जिस श्रेष्ठता को प्रतिष्ठित किया व ही अन्य काव्यों एवं सामाजिक जीवन में आदर्श बन गई। राम-कथा में स्त्री का अनेक रूपों में वर्णन हुआ है। माता कौशल्या, विमाता कैकयी, विद्वशी अनुसूया, विरहिणी उर्मिला, पतिव्रता मन्दोदरी, सती सुलोचना आदि रूप में नारी के अनेक चरित्रों को प्रस्तुत किया गया है। परन्तु सर्वाधिक उदात्त एवं मनोहर चित्रण है कथा की नायिका सीता का चित्रण मुग्धा एवं स्वकीया के रूप में किया गया है। सीता अपने समस्त शील एवं सौन्दर्य के साथ कवि की लेखनी से चित्रित की जाती हुई भारतीय जनमानस पर छा जाती है। एवं पतिव्रत्य धर्म का पवित्र आदर्श प्रस्तुत करती है। बारम्बार प्रार्थना करने वाले रावण का पूर्णतया तिरस्कार करने वाली सीता भारतीय नारी का गौरव है। जानकी का चरित्र भारतीय पत्नियों के महान् आदर्श का प्रतीक है। रावण के विषय में उसके अवहेलना सूचक वचन भारतीय नारी का गौरव सदा उद्घोषित करते रहेंगे। सीता कहती है—

“इन निशाचर रावण से प्रेम करने की बात दूर रही मैं तो इसे अपने पैर से नहीं-नहीं, बाये पैर से-भी नहीं छू सकती।⁵ रामायण काल में नारी के शील पर अधिक ध्यान दिया जाता था। सीता की अग्नि-परीक्षा इसी बात को पुष्ट करती है। पर-पुरुष के स्पर्श मात्र से ही नारी को दूषित मानकर कठोर परीक्षा लेने का विधान था। रावण की मृत्यु के अनन्तर राम ने सीता की विशुद्धि को सामान्य जनता के सामने प्रकट करने के लिए अनेक कटु वचन कहे उसके प्रत्युत्तर में कहे गए सीता के वचन अत्यन्त मर्मस्पर्शी हैं।

“हे नर-शद्विल क्रोध का ही आचरण करते हुए तुम्हारे द्वारा लघु मनुष्य के समान स्त्रीत्व ही आगे रखा गया। बाल्यकाल में किए गए पाणिग्रहण मेरी भक्ति एवं मेरा शील आपके द्वारा पीछे ढकेल दिया गया।⁶

अनादृता भारतीय ललना के ये उद्गार सुनते ही सहृदय व्यक्तियों की आँखों में सहानुभूति के आँसू छलक पड़ते हैं।

परन्तु गृहस्थ जीवन में नारी को विशेष महत्व दिया गया था। भारतीय गृहस्थ जीवन का वर्णन ही रामायण का मुख्य उद्देश्य है। राम-जानकी का भयानक युद्ध भी इस काव्य का उद्देश्य नहीं है। वह तो राम-जानकी पति-पत्नी की परस्पर विशुद्ध प्रीति को पुष्ट करने का उपकरण मात्र है। पितृ ऋण से उन्मत्त होने के लिए मनुष्य को गृहस्थाश्रमी होकर सन्तति प्राप्त करनी होती है। पितृ ऋण से उन्मत्त करने के कारण ही पुत्र पिता को नरक से बचाने वाला बताया गया है।⁷ रामायण में स्त्री को प्रेयसी सहधर्मचारिणी मित्र एवं सहयोगी के रूप में प्रस्तुत किया गया है। रामायण अन्य काव्यों के लिए निःस्सन्देह प्रेरक काव्य है। राम-सीता के कथानक को लेकर अनेक काव्यों की रचना हुई। भवभूति ने तो उत्तराचरितम् में सीता को त्याग की पूर्ति तपस्विनी एवं मुग्धा के रूप में वर्णित किया है। रामायण में उर्मिला विरहिणी प्रोषित-पतिका के रूप में ही चित्रित की गई है। जबकि सीता परित्याग से पूर्व सदा ही स्वाधीन पतिका है। सीता उर्मिला दोनों की उत्तमा कोटि की नायिकाएं हैं।

इसी प्रकार रावण की पत्नी मन्दोदरी का चरित्र-चित्रण भी अत्यन्त सुन्दर रूप में प्राप्त होता है। रावण पर स्त्री हरण के कारण अधम कोटि के गुणों से युक्त एवं प्रतिनायक के रूप में वर्णित है। परन्तु उसकी पत्नी मन्दोदरी पति की परम हितैषिणी एवं सखा तथा सहधर्मचारिणी के रूप में उत्तमा नायिका के गुणों से युक्त है। वह सदा ही पति को हितोपकारक उपदेश देने वाली पत्नी है। स्वकीया नायिका है। परन्तु स्वाधीनपतिका नहीं है। क्योंकि उसका पति निरन्तर अन्यासक्ति में रत है।

पत्यन्तर को प्राप्त हुई बालि की पत्नी तारा है। जिसे हम “पुनर्भू” कह सकते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि रामायण काल में अनार्य जातियों में शत्रु सम्पत्ति पर अधिकार के साथ उसकी पत्नी पर भी अधिकार हो जाता था।

इसी प्रकार पवित्र आचरण वाली अहिल्या विद्वता की प्रतिमूर्ति अनसूया आदि अनेक नारी पात्र तत्कालीन समाज में नारी की स्थिति को सूचित करते हैं।

रामायण के पश्चात् महाभारत के रचयिता व्यास ही श्रेष्ठ कवि हुए। उनका काव्य आर्ष काव्य कहलाता है। रामायण का जिन आदर्शों के कारण जनमानस में प्रतिष्ठित स्थान है। उन आदर्शों की अवहेलना महाभारत में बहुलतया पाई जाती है। रामायण में वर्णित भ्रातृ-प्रेम, मातृ-प्रेम, पति-पत्नी के कर्तव्यादि पारिवारिक एवं सामाजिक आदर्श महाभारत में किंचिद् स्थान भी प्राप्त नहीं करते वस्तुतः महाभारत इतिहास ग्रन्थ होने के कारण जीवन के यथार्थ एवं व्यावहारिकता के अधिक निकट है। राजनीतिक षडयन्त्र, छल-कपट, भ्रातृवंचना आदि विशम स्थितियाँ महाभारत में यत्र-तत्र बहुलतया मिलती हैं। हिन्दू धर्म का विस्तृत एवं पूर्ण चित्रण महाभारत में उपलब्ध है। केवल इसी ग्रन्थ के अध्ययन से हम अपनी संस्कृति के विशुद्ध का परिचय पा सकते हैं। महर्षि व्यास ने अनेक आख्यानो एवं उपाख्यानों के माध्यम से जीवन के सत्य को सिखलाया है। लौकिक व्यवहार का उपदेश दिया है। महाभारत में कौरवों पाण्डवों के युद्ध का वर्णन है। विश्व प्रसिद्ध धार्मिक ग्रन्थ गीता भी महाभारत का ही अंश है। इन राजनीतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक परिवेश में गुथी घटनाओं में नारी का महत्वपूर्ण स्थान है। महाभारत में गृहस्थ धर्म को महत्व दिया गया है। पत्नी को पुरुष का आधा अंग माना गया है। वही पुरुष की परम मित्र है। त्रिवर्ग का मूल है

अर्ध भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा।

भार्या मूल त्रिवर्गस्य भार्या मित्रं मरिष्यतः।⁸

नारी का सदैव सम्मान करने का एवं वस्त्राभूषणों एवं अन्नादि से पूजा करने का निर्देश भी महाभारत में प्राप्त होता है।⁹ महाभारत में दाम्पत्य का सार इस प्रकार बतलाया गया है।

स भार्या या गृहे दक्षा या भार्या या प्रजावती ।

स भार्या या पतिप्राण सा भार्या प्रतिव्रता।¹⁰

महाभारत काल में यद्यपि गृहस्थ धर्म का रामायण के सदृश उच्च आदर्श नहीं था, परन्तु फिर भी गृहस्थ धर्म को श्रेष्ठ एवं गृहस्थाश्रम को ही श्रेष्ठ आश्रम माना गया है एवं सन्यासाश्रम को पापिष्ठा वृत्ति तक कह डाला है।¹¹ महाभारतकाल ने अन्य सब आश्रमों का पालन करने वाले एवं सामाजिक कल्याण की ओर उन्मुख रहने वाले गृहस्थाश्रम को ही अन्य सब आश्रमों का मूल माना है। महाभारत में गृहस्थाश्रम के महत्व को प्रतिपादित करने वाले अनेक आख्यान मिलते हैं। ऋषि कुणि गर्ग की अविवाहित तपस्यारत कन्या अन्त में अपनी तपस्या का अर्ध-भाग गालव-पुत्र श्रृंगवान को देकर एवं उससे विवाह करने के पश्चात् ही पुण्यलोकों की अधिकारिणी बन सकी¹² इसके अतिरिक्त पुत्रप्राप्ति के उद्देश्य ने भर गृहस्थाश्रम के महत्व को बढ़ाया है। जरूत्कारू नामक मुनि

एवं अगस्त्य मुनि ने पितृ ऋण से उद्धरण होने के लिए ही विवाह किया था। पुत्र को वंश की प्रतिष्ठा बताया गया है।¹³ कौटुम्बिक जीवन में दाम्पत्य का उच्च आदर्श पार्वती-शिव, सावित्री-सत्यवान्, दमयन्ती-नल, सीता राम आदि की चरित गाथाओं में मिलता है। महाभारत में संस्कृति रक्षा का श्रेय स्त्री वर्ण को देते हुए कहा गया है—

वैशम्यमपि सम्प्राप्ता गोपयन्ति कुलस्त्रियः।

आत्मानमात्मना सत्यो जितः स्वर्गो न संशयः॥

महाभारत काल में भी कन्या को अपना वर चुनने की अनुमति प्राप्त थी। इसके लिए स्वयंवर प्रथा प्रचलित थी। परन्तु कहीं-कहीं इसके लिए वीर्य शुल्क भी प्रदान करना पड़ता था। अर्जुन द्रौपदी का विवाह इसी प्रकार का विवाह था। गान्धर्व विवाह का भी प्रचलन था। दुष्यन्त-शकुन्तला, पुरुरवा-उर्वशी आदि के विवाह इसी प्रकार के थे। राक्षस-विवाह के भी अनेक उदाहरण महाभारत में प्राप्त होते हैं। मरणोपरान्त पति के साथ सह-गमन की महाभारत में प्रशंसा की गई है।¹⁴

महाभारत में द्रौपदी कथा नायिका के रूप में वर्णित हैं। उसका पतिव्रता ओजस्विनी एवं स्वाभिमान नारी के रूप में चित्रण किया गया है। वह उत्तमा कोटी की नायिका है। पहले परकीया के रूप में एवं बाद में सर्वत्र स्वकीया के रूप में उसका परिचय प्राप्त होता है। उसका स्वाधीनपतिका रूप ही प्राप्तः देखने को मिलता है। इसी प्रकार शकुन्तला, दमयन्ती आदि नायिकाएं भी पहले परकीया एवं तत्पश्चात् स्वकीया के रूप में प्राप्त होती हैं। इन नायिकाओं का प्रोशितपतिका स्वरूप भी हमें प्राप्त होता है। उर्वशी साधारण नायिका के रूप में हमारे समक्ष आती है। परन्तु पुरुरवा से विवाह करके वह स्वकीया नायिका बन जाती है। सावित्री एवं गान्धारी का पातिव्रत्य भारतीय नारी का गौरव है। एवं उनके उत्तमा स्वरूप को प्रतिपादित करता है। महाभारत काल में भी विवाह के लिए उच्चकुलोत्पन्न शारीरिक सौन्दर्य से सम्पन्न कन्या को ही मान्यता दी गई है। यद्यपि विधवा विवाह एवं नियोग का भी प्रचलन था।

महाभारत काल में ही स्त्रियों की दशा निरन्तर गिरती चली गई उनकी इस हीन दशा के लिए उस समय का समाज उत्तरदायी था महाभारत काल में कुछ ऐसी प्रथाओं को बल मिल गया था जिससे स्त्री की दशा अत्यधिक निम्न होती गई इन प्रथाओं में नियोग प्रथा एवं सती प्रथा विशेष है। सन्तानहीन विधवा एवं पति के नपुंसक होने पर सन्तान प्राप्ति के लिए स्त्रियों में नियोग प्रथा का प्रारम्भ हुआ। यह प्रथा नैतिकता से परे थी इस प्रकार रामायण एवं महाभारतकालीन नारी की स्थिति का ज्ञान प्राप्त होता है। सीता, दमयन्ती, शकुन्तला, उर्वशी आदि का सौन्दर्य बाद में महाकवियों की लेखनी से अत्यन्त मधुर बन पड़ा है।

निष्कर्ष

अतः निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है। कि महाभारत और रामायण काल में नारी की स्थिति महत्वपूर्ण थी। उस समय स्त्री को समाज में उचित सम्मान प्राप्त था। उस समय नारी को प्रेयसी, सहर्धचारिणी मित्र एवं सहयोगी के रूप में स्वीकार किया गया है। और सबसे सर्वश्रेष्ठ स्थान पत्नी को प्राप्त था। महाभारत में पत्नी को पुरुष का आधा अंग स्वीकार किया गया है। उस समय नारी को सदा सुखी तथा वरु और आभूषणों से सजा कर रखने की प्रथा थी। तथा नारी को समाज में पूजनीय स्थान प्राप्त था। आज के इस वर्तमान समय में भी नारी की स्थिति सम्माननीय है। आज के समाज में नारी का स्थान सर्वोपरि है।

सन्दर्भ सूची:

1. मनुस्मृति 3/56
2. वृहदारण्यक उपनिषद् 14/1/3
3. निरुक्त, 3/21/2
4. नारी त्रैलोक्यजननी नारी त्रैलोक्यरूपिणी।
नारी त्रिभुवना धारा नारी देहस्वरूपिणी॥ (शक्तिसयंत्र तन्त्र, नारायण खण्ड 13,44)
5. चरणेनापि सव्येन न स्पृशेयं निशाचरम्।
रावणं किं पुनरहं कामयेयं विगर्हितमत्॥ (वाल्मीकी रामायण 5-26-10)
6. त्वया तु नरशार्दूल। (वाल्मीकी रामायण)
7. वाल्मीकी रामायण 2/107/12
8. महाभारत आदि पर्व 68/41
9. महाभारत आदि पर्व 69/43
10. महाभारत आदि पर्व 68/39
11. महाभारत 12-10-22
12. महाभारत 9-52,3-33
13. महाभारत 9,94,14,1,74,98
14. याऽपि चैवविधा नारी भर्तारमनुवर्तते।
विराजते हि सा क्षिप्रं कपोतोव दिवि स्थिता ॥ (महाभारत शान्ति पर्व 145/15)

स्मृति ग्रंथों में पराशर स्मृति का स्थान एवं महत्व

डॉ० अंजली सहाय

छपरा (सारण)

धर्मप्राण भारतीय समाज की समस्त सामाजिक व्यवस्थाएँ धर्म के साथ सम्बन्धित होकर मानव के लिए मार्ग प्रदर्शन का कार्य करती हैं। वेद भारतीय साहित्य और संस्कृति के अमूल्य निधि हैं। ये मानव को समाज के अनुकूल आचरण करने की शिक्षा प्रदान करते हैं। किन्तु ये मानवों के आचार को सुव्यवस्थित ही नहीं करते बल्कि इनका प्रतिपाद्य क्षेत्र बहुआयामी है। स्मृति ने उन्हीं आचारगत नियमों से एकत्र कर उसको एक सुसम्बद्ध स्वरूप प्रदान किया। वेदों अथवा श्रुतियों के सिद्धान्तों की इसमें व्याख्या हुई। कदाचित् इसी कारण से कालिदास ने 'रघुवंशम्' में स्मृतिग्रन्थों को श्रुतियों का अनुसरण करने वाला कहा है- 'श्रुतेरिवार्थ स्मृतिरनवगच्छत्।'

स्मृति शब्द स्मृ+क्तिन् से निष्पन्न है जिसका तात्पर्य स्मरण और प्रत्यस्मरण आदि से है।² अतः स्मृति स्मरण का विषय है और यह परम्परागत रूप से चला आ रहा धार्मिक साहित्य है। तैत्तिरीय आरण्यक में भी 'स्मृति' शब्द का प्रयोग हुआ है। स्मृति शब्द को श्रुति से विपर्यास प्रदर्शित करने के लिए प्रयोग किया गया है। पुरातन काल में लेखन परम्परा की अनुपलब्धता के कारण ऋषि अर्जित ज्ञान से अपने शिष्यों को कण्ठस्थ करा देते थे। यह परम्परा कुछ काल तक अनवरत रूप से चलती रही। शिष्य को सुनाकर कण्ठस्थ करा दिए जाने के कारण से श्रुति परम्परा का ग्रन्थ माना गया। इस परम्परा के अन्तर्गत चारों वेद आते हैं। किन्तु स्मृति शब्द का प्रयोग ऋषि प्रकाशित अथवा ऋषि दृष्ट वाङ्मय (श्रुति) से भिन्न अर्थ के लिए हुआ है।³ इसका सीधा तात्पर्य स्मरण से है। स्मृति का श्रुति परम्परा से स्पष्ट भेद किया जा सकता है। स्मृति स्मरण शक्ति को प्रभावित करती है। इसके लिए किसी विशेष शिक्षा या साधन की आवश्यकता नहीं पड़ती है।⁴

स्मृति शब्द से पारिभाषिक और सामान्य दोनों अर्थों में प्रयोग किया जा सकता है। गौतम और बोधायन ने स्मृति को 'वेद को जानने वालों का स्मरण' माना है।⁵ पूर्ववर्ती आचार्यों की व्याख्या को स्वीकार करते हुए मनु ने भी स्मृति शब्द का अर्थ 'वेदज्ञों का स्मरण' माना और उसका प्रयोग धर्मशास्त्र के अर्थ में किया है।⁶ धर्मशास्त्रकारों का ये विचार अत्यन्त संकुचित प्रतीत होता है।

पी.वी. काणे ने स्मृति का व्यापक अर्थ ग्रहण किया है। उनके मतानुसार 'स्मृति का तात्पर्य वेद वाङ्मय से इतर ग्रंथों — तथा पाणिनीय + व्याकरण, श्रौतसूत, गृह्यसूत्र और धर्मसूत्रों, महाभारत, मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्यस्मृति और अन्य ग्रंथों से है।'⁷ किन्तु सामान्यतः स्मृति का तात्पर्य संकुचित अर्थ में केवल स्मृति ग्रंथों से ही लिया जाता है तथा मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति आदि।

स्मृति ग्रंथों की प्राचीनता और परम्परा के सम्बन्ध में निर्णायक रूप से कुछ कह पाना बड़ा कठिन है। उपलब्ध स्मृति ग्रंथों में अनेक स्मृतिकारों का नामोल्लेख प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त भी अन्य ग्रंथों तथा विदेशियों के यात्रा वृत्तान्तों में विविध स्मृति-ग्रंथों का उल्लेख मिलता है। अलबेरूनी के अनुसार स्मृति वेद से उद्भूत है। ब्रह्मा के बीस पुत्रों ने बीस स्मृति ग्रंथों की रचना की। वे इस प्रकार हैं—

आपस्तम्ब, पराशर, शतपथ (शातातप), सामवर्त, दक्ष, वशिष्ठ, अंगिरस, यम, विष्णु, मनु, याज्ञवल्क्य, अत्रि, हारीत, लिखित, शंख, गौतम, बृहस्पति, कात्यायन, व्यास और उशनस्।

मनु और याज्ञवल्क्य की तरह पराशर ऋषि का भी उल्लेख वैदिक साहित्य में प्राप्त होता है। ऋग्वेद में वे शत्यातु और वशिष्ठ के साथ उल्लिखित हैं। पराशर नाम अति प्राचीन है। तैत्तिरीय आरण्यक एवं बृहदारण्यक (वंश में) में क्रमशः व्यास पराशर्य एवं पाराशर्य नाम की चर्चा है। निरुक्त उन्हें वशिष्ठ का पुत्र बतलाया है। पाणिनि के अनुसार भी भिक्षुसूत्र नामक ग्रंथ पराशर-कृत् है। पराशर स्मृति की भूमिका में यह स्पष्ट कहा गया है कि ऋषि लोग ने व्यास के पास जाकर उनसे प्रार्थना की कि वे कलयुग में मानवों के लिए आचार-सम्बन्धी धर्म की बातें बतायें। व्यास जी उन्हें बदरिकाश्रम में शक्तिपुत्र अपने पिता पराशर के पास ले गए और पराशर ने उन्हें वर्णधर्म के विषय में बतलाया। अतः पराशर स्मृति एक अति प्राचीन स्मृति है। क्योंकि याज्ञवल्क्य ने प्राचीन धर्मवेत्ताओं के रूप में पराशर की गणना की है। ऐसा प्रतीत होता है कि उपलब्ध प्रति प्राचीन प्रति का संशोधित रूप है गरुडपुराण ने पराशर स्मृति के 39 श्लोकों सारांश लिया है। तुलना करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि पराशर के श्लोकों का अक्षरशः अथवा कुछ परिवर्तन के साथ आशय लिया गया है।⁸ कौटिल्य ने पराशर या पराशरों के विचारों का छः बार दिग्दर्शन कराया है। पराशर ने राजनीति पर भी लिखा था इससे यह स्पष्ट हो जाता है। महाभारत में पराशर व्यास के पिता के रूप में चित्रित है। एतदर्थ व्यास को पराशर्य अथवा पाराशरि कहा जाता है। अतः पराशर स्मृति पर्याप्त प्राचीन है।

पराशर का काल-निर्णय विवादास्पद है। डॉ. पी.वी. काणे ने लिखा है कि 'विश्वरूप मिताक्षरा अपरार्क, स्मृतिचन्द्रिका, हेमाद्रि ने पराशर को अधिकतर उद्धृत किया है। इससे स्पष्ट है कि नवीं शताब्दी में यह स्मृति विद्यमान थी। इसे मनु की कृतिका ज्ञान था।

अतः यह प्रथम शताब्दी तथा पांचवीं शताब्दी के मध्य में कभी लिखी गई होगी।⁹ पिछले पृष्ठों में यह कहा गया है कि स्मृतियों का पौर्वाचर्य का निर्धारण करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। एतदर्थ उनका काल भी विवाद के जाल में फँस जाता है। इसका प्रमुख कारण एक ही नाम से भिन्न-भिन्न ग्रंथों में पाया जाता है। पराशर के काल-निर्णय में प्रायः सभी ने डॉ. काणे के मत का समर्थन किया है। अतः इनका मत अत्यधिक समीचीन प्रतीत होता है।

पराशर नाम पर कई स्मृति ग्रंथों का उल्लेख मिलता है। एक बृहत्पराशर-संहिता भी है जिसमें बारह अध्याय और 3300 श्लोक हैं। लेकिन यह बाद की रचना प्रतीत होती है। यह पराशर स्मृति का संशोधन है। इसमें विनायकस्तुति की गई है। इस संहिता को मिताक्षरा, विश्वरूप या अपरार्क ने उद्धृत नहीं किया है। लेकिन चतुर्विंशति मत के भाष्य में भट्टोजिदीक्षित तथा दत्तकमीमांसा में नंद पण्डित ने इससे उद्धरण लिया है। अपरार्क के द्वारा एक पराशरनामी स्मृति का उल्लेख है जिसे वृद्धपराशर कहा जाता है। किन्तु यह पराशरस्मृति एवं बृहत्पराशर से भिन्न स्मृति है। हेमाद्रि और भट्टोजिदीक्षित द्वारा ज्योति पराशर का उल्लेख है जिससे वे उद्धरण लिए हैं। परन्तु पराशर स्मृति के नाम से जो मान्य स्मृति ग्रंथ है उसमें बारह अध्याय तथा 593 श्लोक हैं। इसमें चातुर्वर्ण्याचारादि कथन, सभी वर्णों का साधारण धर्म निरूपण आचार एवं विधि प्रकार के प्रायश्चित्त का विवेचन है। इस ग्रंथ का कई बार प्रकाशन हो चुका है। इस पर माधव की विस्तृत टीका अधिक प्रसिद्ध है। पराशर ने अन्य 19 स्मृतिकारों का नाम गिनाया है।

पराशर में कुछ विलक्षण बातें पायी जाती हैं—केवल चार प्रकार के पुत्र (औरस, क्षेत्रज, दत्त और कृत्रिम)। यद्यपि यह ग्रंथ से स्पष्ट नहीं हो पाता कि वे अन्यो को नहीं मानते। सती-प्रथा की उन्होंने खूब स्तुति की है। पराशर ने अन्य धर्मशास्त्रों के मतों की चर्चा की है। मनु का नाम कई बार आया है। बौधायन धर्मसूत्र की बहुत सी बातें पायी जाती हैं। पराशर ने उशना, प्रजापति, वेद, वेदांग, धर्मशास्त्र स्मृति आदि की स्थान-स्थान पर चर्चा की है।

पराशरस्मृति के रचयिता पराशर एक प्राचीन ऋषि हैं, लेकिन उनके नाम से उपलब्ध स्मृति बाद की रचना प्रतीत होती है। पराशर ने अपने स्मृतिग्रंथ में आचार और प्रायश्चित्त का विशद विवेचन किया है, किन्तु दैनंदिन जीवन के लिए सर्वथा उपयोगी व्यवहार पक्ष को लगभग छोड़ दिया है। मानवों के लिए अकार्य श्रेणी के विषयों की विवेचना विस्तृत रूप से हुई है। वस्तुओं की उपादेयता और हेयता का भी विस्तृत वर्णन है। कौन-सा आचरण स्वीकार्य है और कौन-सा त्याज्य अथवा कौन-सा वस्तु ग्राह्य और अग्राह्य है इस विषय का प्रतिपादन सम्यक् ढंग से हुआ है। राजा के कर्तव्यों का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा है कि 'क्षत्रिय को चाहिए कि प्रजा की रक्षा करे। हाथ में शस्त्र धारण किए ही रहे। दण्ड भलीभाँति दे और दूसरे की सेनाओं को जीतकर धर्मपूर्वक पृथ्वी का पालन करें।

क्षत्रियो हि प्रजारक्षन् शस्त्रप्राणिः प्रदण्डवान्।

निर्जित्य परसैन्यानि क्षितिं धर्मेण पालयेत्॥

इसी क्रम में उन्होंने लक्ष्मी को कुक्रमानुगत न मानकर शस्त्रोपार्जित माना है और वीरभोग्या वसुन्धरा का सिद्धान्त स्थापित किया है—

न श्रीः कुलक्रमाज्जाता भूषणोल्लिखिताऽपि वा।

खड्गेनाक्रम्य भुञ्जीत वीरभोग्या वसुन्धरा॥¹⁰

वैश्यों और शूद्रों की वृत्तियों का भी पराशर ने उल्लेख किया है। कृषि कार्य करने वाले लोगों के लिए यह विधान बतलाया गया है कि किस प्रकार के पशुओं को हल में जोते और किस प्रकार को नहीं जोते। मद्य और मांस बेचने अभक्ष्य के भक्षण करने और अगम्य स्त्री का गमन करने से शूद्रों का पतन हो जाना और वेद अक्षरों का विचार करने से नरकगामी होना (शूद्रस्य नरक ध्रुवम्) इस बात की ओर संकेत करते हैं कि मनु की तरह ये भी उनके प्रति अधिक कठोर हैं। यह संकेत व्यवस्थाओं में तो परिलक्षित होते ही हैं, सांस्कृतिक सामग्री में भी झलकते हैं। ये शासन व्यवस्था और राजनीति, धार्मिक विश्वास और सम्प्रदाय, सामाजिक स्थिति, आर्थिक जीवन, शिक्षा पद्धति आदि अनेक क्षेत्रों में देखे जा सकते हैं।

लेकिन इस आरोप का परिष्कार किया जा सकता है। विधि और विधान किसी काल की सांस्कृतिक परिस्थितियों को परिलक्षित करने में कितने समर्थ होते हैं यह विचारणीय है विधि में एक आदर्श विधान होता है जो भविष्य की गतिविधियों और परिस्थितियों को नियमित करने का प्रयास करता है। विधि, देश, काल और परिस्थिति के अनुरूप होती है। वह कल्पना लोक में नहीं विचरती। अतीत के परिवर्तन और विकास के परिणामस्वरूप ही ये होते हैं। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि — 'वे तत्कालीन यथार्थ से सीधे जुड़े होते हैं। वे समकालीन परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में ही बनाये जाते हैं। विधि की व्यवस्था कदम-कदम पर अपने काल की दिशा की ओर संकेत करती है, उसी को व्यवस्थित और नियमित करना चाहती है। इस काल की दशा की पृष्ठभूमि में ही उसे हम समझ सकते हैं।'¹¹

अकार्य कृत्तियों के किए जाने पर उसका प्रायश्चित्त और दण्ड का विस्तार से उल्लेख पराशर ने किया है। संभव है उनके समय तक सामाजिक परिस्थितियों के कारण सती-प्रथा की अनिवार्यता हो गयी हो। मानवों के दैनंदिन जीवन के पक्षों का विस्तृत उल्लेख करने के कारण समाज ने पराशरस्मृति को कलियुग के लिए प्रधानस्मृति मान लिया — कलौ पराशर स्मृतः। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि मनु और याज्ञवल्क्य की महत्ता अधिक है फिर भी अन्य स्मृतिकारों में पराशर महत्वपूर्ण स्थान के अधिकारी हैं।

संदर्भ सूची

1. रघुवंशम् सर्ग-2 श्लोक 2
2. वी.एस.आम्टे – संस्कृत हिन्दी कोश पृ. 1153
3. याज्ञवल्क्यस्मृति (अनु. – उमेशचन्द्र पाण्डेय), पृ. 27
4. अल्फ्रेक्ट, बेबर, भारतीय साहित्य (अनु. – उमेश चन्द्र पाण्डेय) इलाहाबाद, 1968, पृ. 11
5. गौतमधर्मसूत्र 1-2, बौधायनधर्मसूत्र-1-1-3
6. श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रः तु वे स्मृतिः। मनु-2-10 मनु ने स्मृति शब्द को धर्मशास्त्र के पर्याय में रखकर उसका क्षेत्र संकुचित कर दिया। तैत्तिरीय आरण्यक (1-2) एवं पूर्व मीमांसा 6-8-23, 12-4-24 में स्मृतिशब्द कुछ व्यापक अर्थ में आया है। वेदान्तसूत्र में भी 'स्मृति' का व्यापक अर्थ लेते हुए उसमें सांख्यदर्शन को भी ग्रहण किया गया है। वेदान्त सूत्र 3-1-14-21, 4-2-14
7. पी.वी. काणे – धर्मशास्त्र का इतिहास भाग - 1, पृ. 40
8. गरुडपुराण अध्याय-107
9. धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग - 1, पृ. 55
10. पराशरस्मृति अध्याय-1, श्लोक-66-67
11. डॉ. राजदेव दूवे – स्मृतिकालीन भारतीय समाज एवं संस्कृति प्राक्कथन-पृ. 6

अष्टांग योग

डॉ० सुनिल कुमार तिवारी

एम.ए., पीएच.डी., मगध विश्वविद्यालय, बोधगया

भारतीय दर्शन छः प्रकार की विचारधारा है। सांख्य योग (कपिल पतंजलि मुनि रचित है न्याय वैशेषिक दर्शन के पुरष्कर्ता कणाद जैमिनी ऋषि है। पूर्व मिमांसा उत्तर मिमांसा के पुरष्कर्ता कुमारिल भट्ट है। षट् विचारधारा अपने आपसे महत्वपूर्ण है परंतु योगदर्शन अधिक महत्वपूर्ण इसलिए है कि वह हिन्दुजीवन की जीवनशैली पद्धति से सीधा संबंधित है और अधिक व्यावहारिक एवम् उपयोगी है।

योग शब्द संस्कृत में युज् धातु से बना है जिसका अर्थ जोड़ना होता है, आत्मा-परमात्मा का मिलन, जीवात्मा का शिवात्मा से जोड़ना आदि अर्थ इससे अभिप्रेत है।

पतंजलि मुनि ने योग के आठ अंग बताये हैं। पतंजलि योगसूत्र जीवन जीने की कला सिखाता है। साधन पाद-2.11 सूत्र में अष्टांग योग का उल्लेख मिलता है।

यमन्यिमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽष्टावङ्गानि॥29॥

(संदर्भ-1 पतंजलि योगदर्शन)

अर्थात् यम नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ योग के अंग हैं।

अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रह यमाः॥30॥ (संदर्भ- पतंजलि योगदर्शन)

इस सूत्र में सूत्रकार पतंजलि ने पांच यम बताये हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यम हैं।

शौचसंतोषतपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः। (संदर्भ-3 पतंजलि योगदर्शन)

शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर शरणागति- ये पांच नियम हैं।

अहिंसा

अहिंसा का अर्थ हिंसा न करने, अपने स्वार्थ के लिये, अपने उपयोग के लिये, अपने आनंद के लिये, किसी को भी हानि नहीं करना, किसी को मारना, किसी की हत्या करना ही हिंसा नहीं है, किसी का मन से बुरा चाहना भी हिंसा है। द्वेष भाव भी हिंसा है, मानहानि करना भी हिंसा है। अहिंसा का अर्थ एवं भाव बहुत विशाल है। मन में किसी के प्रति नफरत या बैर का भाव न होना, सब प्राणी के प्रति सद्भावना रखना भी अहिंसा है। भगवान पतंजलि कहते हैं कि अपने मन में अहिंसा का भाव दृढ़ होने से परस्पर बैर रखने वाले प्राणी भी बैर भावना छोड़ देते हैं। इसलिए महावीर स्वामी ने भी कहा है “अहिंसा परमो धर्मः”।

सत्य

सत्य को साक्षात् ईश्वर माना गया है। जो भाव मन में है वैसा ही वाणी रखना और ऐसा ही आचरण करना सत्य के पालन से द्वेष, ईर्ष्या, कपट-अप्रमाणिकता जैसे दोष भी दूर रहते हैं क्योंकि इन सब में असत्य भाषण करना पड़ता है।

मन में किसी को मारने की, गाली देने की इच्छा आदि आचरण करना असत्य है। सत्य का आधार एवम् मूल अहिंसा है।

मन में द्वेष रखना और मुख से मधुर भाषण करना भी असत्य है।

सत्य से वाणी प्रभावी बनती है, आशीर्वाद और शाप का असर होता है, इसलिए सत्य भाषण का बड़ा ही प्रभाव होता है।

अस्तेय

दूसरे के स्वत्व का अपहरण करना, छल से या अन्य किसी उपाय से अन्याय पूर्वक उसे अपना बना लेना चोरी है। इसमें सरकारी टेक्स या चोरी और घुसखोरी भी शामिल है। इन सब प्रकार की चोरियों के अभाव का नाम अस्तेय है। अपने बिना हक की वस्तु अपने पास रखना भी चोरी है। इन सब प्रकार की चोरियों के अभाव का नाम अस्तेय है।

अस्तेय मनुष्य को संयमित बनाता है।

ब्रह्मचर्य

गरुड़ पूर्व आचार 237/6 में कहा गया है- “.....कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा सर्वत्र मैथुन त्यागी ब्रह्मचर्यं प्रयक्षते”।।

मन वाणी और शरीर से होने वाले सब प्रकार के मैथुनों को सब अवस्थाओं में सदा त्याग करके, सब प्रकार से वीर्य की रक्षा करना ब्रह्मचर्य है। अतः साधक को चाहिये कि न तो कामदीपन करने वाले पदार्थों का सेवन करे, न ऐसे दृश्यों को देखे, न ऐसी बातों को सुने, न ऐसे साहित्य को पढ़े और न ऐसे विचारों को ही मन में लावे। स्त्रियों का और स्त्री से आसक्त पुरुषों का संग भी ब्रह्मचर्य में बाधक है। अतः ऐसे संग से सदा सावधानी के साथ अलग रहे।

दूसरे अर्थ में लिया जाये तो ब्रह्मचर्य आत्म संयम का दूसरा नाम है। आत्मसंयमी मनुष्य आध्यात्मिक प्रगति करते हैं।

अपरिग्रह

अपने स्वार्थ के लिये ममतापूर्वक धन, संपत्ति और भोग सामग्री का संचय करना परिग्रह है और इसके अभाव का नाम अपरिग्रह है।

अपनी आवश्यकताओं को न्यून कर सादगीपूर्ण जीवनचर्या का पालन करना अपरिग्रह है। अपने जीवन में वस्तुओं का मोह न रखना अपरिग्रह का मूलमंत्र है। अपरिग्रहधारी मनुष्य कभी दरिद्र नहीं होता। अकिंचन होने पर भी समृद्ध होता है। अपरिग्रह ऐसा गुण है जो मनुष्य को नीतिमान एवं प्रामाणिक बनाता है।

यह पांच यम महाव्रत है जो सार्वभौम है। देश-स्थान-काल की सीमा से परे है। उसका पालन मनुष्य के लिये उन्नति कारक है।

नियम भी पांच है।

शौच: शौच यानि पवित्रता शुद्धि, स्वच्छता। हरिप्रसाद गोयंका लिखते हैं कि जल मृत्तिकादि के द्वारा शरीर, वस्त्र और मकान आदि के मल को दूर करना बाहरी शुद्धि है। इसके सिवा अपने वर्णाश्रम और योग्यता के अनुसार न्यायपूर्वक धन को, शरीर निर्वाह के लिये आवश्यक अन्न आदि पवित्र वस्तुओं को प्राप्त करके उनके द्वारा शास्त्रानुकूल शुद्ध भोजनादि करना तथा सबके साथ यथायोग्य पवित्र बर्ताव करना— यह भी बाहरी शुद्धि के ही अन्तर्गत है। जप तप और शुद्ध विचारों के द्वारा एवं

मैत्री आदि की भावना से अन्तःकरण के राग द्वेषादि मलों का नाश करना भीतर की पवित्रता है।
(पतंजलि योगदर्शन- संदर्भ- 5)

संतोषः संतोष श्रेष्ठ गुण है। कर्तव्य पालन करते हुए जो भी प्रारब्ध के अनुसार मिले, उसमें संतुष्ट रहना संतोष है। असंतोष मनुष्य को अस्वस्थ कर देता है। अनीति अप्रमाणिकता की ओर ले जाता है। 'संतोषी नर सदा सुखी' यह कहावत सार्थक है। साधना मार्ग में संतोष व्यवधान डालते हैं।

तपः उदात्त लक्ष्य के लिये कठोर परिश्रम करना तप है। कष्ट को सहना प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करना तप है। तप अग्नि के समान है— तप से मन की अशुद्धि जल जाती है। जिस प्रकार सोना अग्नि में तप कर शुद्ध होता है, उसी तरह मनुष्य भी तप से शुद्ध एवं पवित्र होता है। बिना तप के इष्ट की प्राप्ति नहीं होती।

स्वाध्यायः 'स्वेन अधीयते इति स्वाध्यायः' अर्थात् स्व-अध्ययन करना ही स्वाध्याय है। प्राप्त ज्ञान का चिंतन-मनन करना, ज्ञान को आत्मसात करना आदि योग के साधकों के लिये जितना आवश्यक है, उतना ही लक्ष्य प्राप्ति के इच्छुक प्रत्येक व्यक्ति के लिये स्वाध्याय आवश्यक है।

स्वाध्याय का दूसरा अर्थ स्व का अध्ययन करना होता है अर्थात् स्व मूल्यांकन, आत्मनिरीक्षण, आत्म परीक्षण आदि। स्वाध्याय से बुद्धि स्पष्ट और निर्मल होती है।

ईश्वर प्रणिधान

ईश्वर प्रणिधान यानि ईश्वर प्रति दृढ़ श्रद्धा। ईश्वर कहता है कि हम तो केवल निर्मित हैं। सुख और दुःख दोनों को ईश्वर का प्रसाद समझकर सहर्ष स्वीकार करना ईश्वर प्रणिधान परमात्मा प्राप्ति का सरल मार्ग है। यम-नियम योगाभ्यास के लिये नींव के पत्थर के समान है। वह ऐसा सद्गुण है जो मनुष्य को देवत्व, शिवत्व प्राप्त कराते हैं। बिना सद्गुण से अगर योग से सिद्धि प्राप्त हो भी गई तो मनुष्य उसका उपयोग ध्वंस के लिये ही करेगा। यम-नियम मनुष्य को सज्जन बनाता है और सज्जन के पास जो शक्ति होती है, वह समाज के हित में ही होती है।

आसन

योग का तीसरा अंग है आसन।

आसन से शरीर स्वस्थ, सुदृढ़ एवं संतुलित होता है। एक स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन का वास होता है। इसलिये आसन से मन भी स्थिर, एकाग्र शांत रहता है— 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'। योग का प्रथम सोपान है शरीर को स्वस्थ रखना, जो आसन से प्राप्त होता है।

प्राणायाम

प्राण के आयाम को प्राणायाम कहते हैं। प्राण को सुव्यवस्थित, सुनियंत्रित करना ही प्राणायाम है। प्राण जीवन शक्ति है। प्राण जितना बलवान होता है, जीवनशक्ति उतनी ही प्रबल होती है। ये प्राण प्राणायाम से बलवान होता है। प्राणायाम से नाड़ी शुद्धि, रक्त शुद्धि होती है। बुद्धि विकसित होती है। अज्ञान-जनित अंधकार का नाश होता है। ज्ञान का प्रकाश प्रदीप्त होता है।

प्रत्याहार

हमारी ज्ञानेन्द्रियां बाह्य जगत् के संपर्क में होती हैं। श्रोत्र, नेत्र, जिह्वा, त्वचा, नासिका बाह्य जगत् के संपर्क में होता है। इन्द्रियाँ विषयों में लीन रहती हैं। इन्द्रियों को विषयों से खिंचना-जिहवा

स्वाद का अनुभव करती है, परंतु मन को इस स्वाद से अलिप्त रखने का नाम ही प्रत्याहार है। इन्द्रियों का विषय वे साथ जो संपर्क है वह मन के पास न आये, उसको ही प्रत्याहार कहा गया है। प्रत्याहार से मन का अंतर्जगत् के साथ संपर्क प्रारंभ होता है।

धारणा

योगशिक्षा में कहा है- “इन्द्रियां प्रत्याहार से अंतर्मुखी होते जाने से मन का भटकना बंद हो जायेगा। इसलिये मन पसंद के विषय पर एकाग्र हो जाता है। इसे ही धारणा कहते हैं।” (संदर्भ-6) मानसिक शक्ति का विकास होता है, एकाग्रता प्राप्त होती है।

ध्यान

परिपक्व धारणा को ही ध्यान कहते हैं। साधक की उच्चतम दशा है। ध्यान सहज होता है।

समाधि

समाधि परमात्मा का साक्षात्कार होता है। ध्यान और समाधि अनुभव के विषय हैं। इसमें शिव-जीव का एकात्म होता है। साधक की आध्यात्मिक उच्चतम सिद्धि ही समाधि है।

सामान्य मनुष्य और आध्यात्मिक के पथिक दोनों के लिए अष्टांग योग जीवन जीने की संजीवनी है। महर्षि पतंजलि कृत योगसूत्र में वे अष्टांग योग प्राण होता है। मनुष्य मुक्ति प्राप्त करके परम लक्ष्य तक पहुँच सकता है।

संदर्भ-ग्रंथ

1. महर्षि पतंजलिकृत, योग दर्शन पृ.53
2. महर्षि पतंजलिकृत, योग दर्शन पृ.55
3. महर्षि पतंजलिकृत, योग दर्शन पृ.55
4. गरुड पूर्व आचार, (237/6) पृ. 60
5. योगदर्शन हिन्दी व्याख्यासहित, पृ. 6
6. योग शिक्षा, पृ. 30।

दायभाग में स्त्रीधन स्वरूप

सुचिता यादव

एम०फिल्०, शोधच्छात्रा,
विशिष्टसंस्कृताध्ययनकेन्द्र, जवाहरलालनेहरु विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

प्रस्तुत पत्र में दायविभाग के अन्तर्गत स्त्रीधन के स्वरूप विषय को आधार बनाकर विवेचनात्मक वर्णन प्रस्तुत किया गया है जो आज की एक ज्वलन्त समस्या के रूप में समाज में चारों तरफ गंभीर बीमारी के रूप में तेजी से फैल रहा है। प्रस्तुत पत्र के विषय के माध्यम से यह प्रदर्शित किया जा रहा है कि स्त्रियों को प्राचीनकाल से ही एक अभिन्न दर्जा प्रदान किया गया है जिसमें उसे सभी प्रकार के अधिकार प्रदान किये गये थे जिसमें शैक्षिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक अधिकारों के साथ-साथ सबसे महत्वपूर्ण अधिकार सम्पत्ति का अधिकार प्रदान किया गया था जिससे स्त्रियां स्वावलंबी बन चुकी थी और उन्हीं अधिकारों को वर्तमान समय में उच्च तथा उच्चतम न्यायालय तथा संविधान द्वारा भी मान्यता प्रदान की गई है। अतः उन्हीं प्राचीनकाल तथा आधुनिककाल के स्त्रियों के स्त्री धन के स्वरूप का निबन्धन प्रस्तुत पत्र के माध्यम से किया जा रहा है।

धर्मशास्त्र के अन्तर्गत तीन प्रकार के विषयवस्तु का वर्णन प्राप्त होता है-

1. आचाराध्याय
2. व्यवहाराध्याय
3. प्रायश्चित्ताध्याय

इसमें व्यवहाराध्याय में व्यवहार सम्बंधी विषयों का विवेचन प्राप्त होता है। व्यवहार का अर्थ है जो अनेक संदेहों को हटाता है या दूर करता है। कात्यायन ने कहा है-

विनानार्थेऽव सन्देहे हरणं हार उच्यते।

नानासन्देहहरणाद् व्यवहार इति स्मृतः॥¹

यह व्युत्पत्त्यर्थ न्याय शासन या न्याय विधि की ओर संकेत करता है। इसके अतिरिक्त व्यवहार झगड़े या मुकदमे या विवाद को कहते हैं। किन्तु याज्ञवल्क्य विवाद को लॉ-सूट कहते हैं और व्यवहार को जुडिशियल प्रोसीड्योर कहते हैं। 'व्यवहारः तस्य पदं विषयः' अर्थात् व्यवहार के विषय को व्यवहारपद कहते हैं। सर्वप्रथम मनु ने अठारह तथा याज्ञवल्क्य ने बीस व्यवहारपदों को गिनाया है जो इस प्रकार हैं- ऋणादान, निक्षेप, अस्वामिविक्रय, सन्भूय-समुत्थान, दत्तस्यान्याद, वेतनादान, संविद्-व्यतिक्रम, क्रय-विक्रयानशय, स्वामिपालविवाद, सीमाविवाद, वाक्पारुष्य, दण्डपारुष्य, स्तेघ, साहस, स्त्रीसंग्रहण, स्त्रीपुंभर्म, दायविभाग और द्यूतसमाहव्य।

इन्हीं विवादों में दायभाग एक प्रकार का विवाद है जिसका विवेचन इस प्रकार है-

मिताक्षरा के याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार दाय का अर्थ वह धन है जो उसके स्वामी के संबंध में किसी अन्य की सम्पत्ति हो जाती है- 'दायशब्देन यद्धनं स्वामी सम्बन्धादेव निमित्तादन्यस्य स्वं भवति तदुच्यते।'² नारद ने दायभाग उसको कहा है जिसमें पुत्र अपने पिता के धन के विभाजन का प्रबन्ध करते हैं-

विभागोऽर्थस्य पित्र्यस्य पुत्रैर्यत्र प्रकल्पते।

दायभाग इति प्रोक्तं तद्विवादपदं बुधैः॥³

याज्ञवल्क्यस्मृति की मिताक्षरा के टीकाकार के अनुसार धन के मूल स्वामी के साथ रक्त संबंध के कारण स्वामी के धन पर संबंधी के अधिकार हो जाने का नाम 'दाय' है। इसके दो रूप हैं- अप्रतिबन्ध तथा सप्रतिबन्ध। दादा का पोते को तथा पिता का पुत्र को मिलने वाला धन अप्रतिबन्ध है। इसके विपरीत चाचा तथा भाई आदि के पुत्र के संबंध में भावी स्वामी के न होने पर, दूसरों को मिलने वाला धन सप्रतिबन्ध है। विभाग वह है जहाँ संयुक्त स्वामित्व हो वहाँ सम्पूर्ण सम्पत्ति के भागों की निश्चित व्यवस्था की जाती है-

‘विभागो नाम द्रव्यसमुदाय विषयाणानेकस्वाम्यानां तदेकदेशेषु व्यवस्थापनम्।’⁴

दायभाग के चार प्रमुख विषय होते हैं- विभाजनकाल, विभाजनसम्पत्ति, विभाजनविधि और विभाजन अधिकार।

दायभाग में स्त्रीधन अथवा स्त्रियों का सम्पत्ति पर अधिकार

दायभाग के अन्तर्गत स्त्रीधन विषय पर विवेचन किया गया है। प्राचीनकाल में पितृसत्तात्मक पारिवारिक संगठन में पुरुष सदस्य ही परिवार का मुखिया एवं सम्पूर्ण सम्पत्ति का स्वामी माना जाता था। इस काल में स्त्री को साम्पत्तिक अधिकारों से वंचित रखा गया। ऐसी स्थिति में स्त्री के साम्पत्तिक अधिकार का प्रारंभ कैसे हुआ? इस विषय में कोई ठोस तथ्य दृष्टिगत नहीं होता। संभवतः इसका प्रारंभ विवाह के समय पुत्री को दहेज में उपहारस्वरूप दिये जाने वाले आभूषण तथा वस्त्र तथा गृहस्थी के अन्य उपकरणों से हुआ। जैसे-जैसे समाज में परिवर्तन होता गया, समाज में स्त्री के साम्पत्तिक अधिकारों का विकास होने लगा। इस प्रकार स्त्री धन से तात्पर्य स्त्री के सम्पत्ति से है।

वैदिक साहित्य में स्त्री धन संबंधी अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद में विवाह के अवसर पर पतिगृह जाते समय वधू को उपहार देने का उल्लेख प्राप्त होता है। अथर्ववेद में विवाह के अवसर पर परिधान, स्वर्ण, आभूषण आदि कन्या को देने का स्पष्ट वर्णन है।

तैत्तिरीयसंहिता में पत्नी को घर का स्वामिनी कहा गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य का संन्यास लेने से पूर्व अपनी दोनों पत्नियों मैत्रेयी एवं कात्यायनी के बीच सम्पत्ति का विभाजन करने संबंधी उल्लेख मिलता है।

इन उल्लेखों से कहा जा सकता है कि स्त्रियाँ साम्पत्तिक स्वत्व की अधिकारिणी होती थी तथा उनको विशेष अवसरों पर उपहारादि भी दिए जाते थे। तथापि स्त्री के उस अधिकार की क्या सीमाएं थी, इसका स्पष्टीकरण प्राप्त संदर्भों से नहीं होता है।

उत्तरवर्ती सूत्रकाल में धर्मसूत्रकार गौतम ने स्त्री की निजी सम्पत्ति का उल्लेख नहीं किया है पर स्त्रीधन के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में पुत्री को उत्तराधिकारिणी स्वीकार किया गया है।

बौधायन संभवतः स्त्री को माता से मिले धन को अथवा अन्य वस्तु को जो उसे उपहार में मिली हो, उसे स्त्रीधन स्वीकार करता है-

मातुरलङ्कारं दुहितरस्साम्प्रदायिकं लभेरन्नयद्वा।⁵

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में सर्वप्रथम स्त्रीधन की स्पष्ट व्याख्या की है। उनके अनुसार स्त्रीधन दो प्रकार के हैं- वृत्ति तथा आबध्य। वृत्ति स्वरूप स्त्रीधन जीविका के लिए दी हुई भूमि अथवा धन है। यह कम से कम दो सहस्र पण हो सकता है। आबध्य रूप स्त्रीधन आभूषणादि हैं - ‘वृत्तिराबध्यं वा स्त्रीधनम्। परिद्विसाहस्रा स्थाप्या वृत्तिः। आबध्यानियमः।’⁶

मिताक्षराकार विज्ञानेश्वर के अनुसार स्त्रीधन शब्द यौगिक है, पारिभाषिक नहीं है—

स्त्रीधन शब्दश्च यौगिको न पारिभाषिकः।

योगसंभवे परिभाषाया आयुक्तत्वात्॥

‘स्त्रिया धनं स्त्रीधनं’ इस व्युत्पत्ति के अनुसार स्त्री की सम्पूर्ण सम्पत्ति ही स्त्रीधन है। चाहे वह सम्पत्ति स्त्री को दाय में प्राप्त हुई हो या विभाजन के द्वारा या अन्य किसी प्रकार से।

दूसरी ओर दायभाग के रचयिता जीमूतवाहन के अनुसार स्त्रीधन शब्द पारिभाषिक है। इनके अनुसार वही स्त्रीधन है, जिसमें स्त्री का स्वत्व हो अर्थात् जिसे स्त्री को पति या अन्य किसी से पूछे बिना स्वेच्छानुसार दान, विक्रय एवम् उपभोग करने का अधिकार है।

स्मृतियों ने स्त्री धन के शाब्दिक अर्थ स्त्री की सम्पत्ति शब्दार्थ को उस प्रकार की सम्पत्ति के विशिष्ट प्रकार तक सीमित रखा है जो स्त्री को विशिष्ट अवसरों या जीवन के विभिन्न स्तरों पर प्राप्त होते हैं। याज्ञवल्क्य ने स्त्रीधन के लिए कहा है—

पितृमातृपतिभ्रातृदत्तमध्यग्न्युपागतम्।

आधिवेदनिकाद्यं च स्त्रीधनं परिकीर्तितम्॥

बन्धुदत्तं तथा शुल्कमन्वाधेयकमेव च॥⁷

पिता, माता, पति या भाई द्वारा दिया गया धन, विवाह के समय अग्नि के समीप प्राप्त धन, तथा पति द्वारा अन्य स्त्री से विवाह के समय प्राप्त धन ये ही स्त्री धन कहे जाते हैं। पिता के बन्धुओं द्वारा दिया गया धन, परिणय के शुल्क के रूप में दिया गया धन, विवाह के बाद पति या पितृकुल से प्राप्त धन भी स्त्री धन कहलाता है।

स्त्रीधन के प्रकार

याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार छः प्रकार के स्त्री धन का वर्णन किया गया है। मनुस्मृति में मनु ने भी छः प्रकार के स्त्रीधन की चर्चा की है—

1. **अध्यग्नि स्त्रीधन** – विवाह के समय अग्नि के समक्ष जो धन दिया जाता है, वह अध्यग्नि स्त्रीधन कहलाता है।
2. **अध्यावाहनिक स्त्रीधन** – पति के घर जाते समय जो कुछ स्त्री पिता के घर से पाती है, वह अध्यावाहनिक स्त्रीधन कहलाता है।
3. **प्रीतिदत्त स्त्रीधन** – श्वसुर या सास के द्वारा जो कुछ स्नेह से दिया जाता है और श्रेष्ठजनों का वन्दन करते समय जो कुछ दिया जाता है, वह प्रीतिदत्त स्त्रीधन है।
4. **शुल्क स्त्रीधन** – जो बरतनों, भारवाही, पशुओं, दुधारु पशुओं, आभूषणों और दास-दासियों के रूप में प्राप्त होता है।
5. **अन्वाधेय स्त्रीधन** – विवाहोपरान्त पतिकुल या पितृकुल के बन्धुजनों से जो कुछ प्राप्त होता है उसे अन्वाधेय स्त्रीधन कहा जाता है।
6. **आधिवेदनिक स्त्रीधन** – पति द्वारा अन्य स्त्री से विवाह के समय जो कुछ प्राप्त होता है उसे आधिवेदनिक कहते हैं।

इनके अतिरिक्त सौदायिक स्त्री धन है जो विवाहित स्त्री को या कुमारी को अपने पिता या पति के घर से मिलता है या भाई से या माता-पिता से मिलता है—

अध्यग्न्यध्यावाहनिक दत्तं च प्रीतिकर्माणि।

भ्रातृमातृपितृप्राप्तं षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम्।⁸

मनु ने अन्य दो प्रकार के स्त्रीधन भी बताये हैं- अन्वाधेय एवं यौतुकम्। अन्वाधेय से अभिप्राय विवाह के बाद मिलने वाला द्रव्य है। इसी प्रकार यौतुक से अभिप्राय विवाह के समय प्राप्त धन से है।

विवाहकाले लब्धं यौतुकम्।⁹

नारद के अनुसार-

अध्यग्न्यध्यावाहनिकं भर्तृदायस्तथैव च।

भ्रातृदत्तं पितृभ्याश्च षड्विधं स्त्रीधनं स्मृतम्।¹⁰

नारद ने भी मनु की भांति ही छः प्रकार का स्त्रीधन कहा है किन्तु मनु के प्रीतिकर्म में दिए गए धन के स्थान पर भर्तृदाय (पति द्वारा दिया गया धन) का उल्लेख किया है।

कौटिल्य ने शुल्क, अन्वाधेय, आधिवेदनिक और बन्धुदत्त को स्त्रीधन के प्रकारों में स्वीकार किया है।

मिताक्षरा के मत से किसी प्रकार का धन स्त्रीधन कहा जा सकता है, चाहे वह स्त्री द्वारा किसी पुरुष की विधवा के रूप से उत्तराधिकार में प्राप्त हो या माता के रूप में प्राप्त हो या पत्नी के रूप में प्राप्त हो।

स्त्री धन पर स्त्री का आधिपत्य

स्त्री धन पर स्त्री का आधिपत्य तीन बातों पर निर्भर करता है। सम्पत्ति प्राप्त करने का उद्गम, प्राप्ति के समय उसकी स्थिति कि वह कुमारी है या सधवा है या विधवा है तथा वह सम्प्रदाय जिसके अनुसार उस पर स्मृति का शासन होता है।

सौदायिक धन के विनियोग के सम्बन्ध में कात्यायन ने स्त्री को पूर्ण स्वतन्त्रता दी है। यहाँ तक कि सौदायिक स्थावर सम्पत्ति के दान एवं विक्रय की पूर्ण स्वतन्त्रता है। पति या पुत्र और पिता या भाई को किसी स्त्रीधन को व्यय करने का अधिकार नहीं है। कुछ परिस्थितियों में पति को सौदायिक स्त्री धन को व्यय करने का अधिकार है। याज्ञवल्क्य का कथन है-

दुर्भिक्षे धर्मकार्ये च व्याधौ संप्रतिरोधके।

गृहीतं स्त्रीधनं भर्ता न स्त्रियौ दातुमर्हति।¹¹

दुर्भिक्ष, धर्मकार्य, व्याधि में तथा ऋणदाता, राजा या शत्रु द्वारा बन्दी बनाये जाने पर पति द्वारा यदि स्त्रीधन का व्यय किया जाय तो उसे लौटाने के लिए उसे बाध्य नहीं किया जा सकता है। कौटिल्य ने इस व्यवस्था को बढ़ाते हुए इतना जोड़ दिया है कि स्त्री अपनी जीविका के लिए या अपने पुत्र या पुत्रवधू की जीविका के लिए व्यय कर सकती है।

जीमूतवाहन ने स्त्रीधन के दो प्रकार की सम्पत्ति का उल्लेख किया है-

1. ऐसी सम्पत्ति जिसका उपयोग केवल स्त्री कर सकती है, किन्तु दान-विक्रयादि नहीं। इस प्रकार की सम्पत्ति में पति द्वारा प्रीतिपूर्वक दिए गए धन का समावेश है जिसमें जीमूतवाहन ने स्त्री को पति के धन में अमुक्तहस्त से उपभोग करने का अधिकार दिया है-

इदममुक्तहस्तताज्ञापनार्थम्।¹²

व्यास और जीमूतवाहन के अनुसार पति द्वारा पत्नी को दो सहस्र धन देने का अधिकार है, जिसका स्त्रियाँ स्वतंत्र रूप से उपभोग करती हैं। पुत्रहीन पति की मृत्यु के पश्चात् प्राप्त होने वाले धन पर स्त्रियों का सम्पूर्ण रूप से आधिपत्य रहता है। जीमूतवाहन के अनुसार स्त्री की विभाजन में प्राप्त सम्पत्ति स्त्री धन नहीं है। स्त्री द्वारा उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति पर भी स्त्री को केवल उपभोग करने का अधिकार है। विधवा पत्नी द्वारा प्राप्त सम्पत्ति के विनियोग के सम्बन्ध में कात्यायन का मत है कि पुत्रहीन विधवा जो पति की शय्या को पवित्र रखते हुए, गुरुजनों के साथ स्वनियंत्रण में रहती हैं, उसे आजीवन पति की सम्पत्ति के उपभोग का अधिकार है। उसकी मृत्यु के बाद उस धन के उत्तराधिकारी पति के दायद होते हैं।

इसी प्रकार स्त्री द्वारा अपने पति के उत्तराधिकार में प्राप्त सम्पत्ति के संदर्भ में जीमूतवाहन का कथन है कि उस स्त्री की मृत्यु हो जाने पर उस सम्पत्ति को धन के पूर्वस्वामी अर्थात् उस स्त्री के पिता के दायद प्राप्त करते हैं।

2. जीमूतवाहन ने जो दूसरे प्रकार की सम्पत्ति कही है, उसमें स्त्री का पूर्ण स्वत्व है अर्थात् उसे दान, विक्रय एवं उपभोग करने की पूर्ण स्वतंत्रता है। इस प्रकार की सम्पत्ति में सौदायिक सम्पत्ति का समावेश रहता है। इस प्रकार जीमूतवाहन ने स्त्री को पति द्वारा दी गई स्थावर सम्पत्ति के दान विक्रयादि करने का निषेध किया है-

स्थावरेऽपि भर्तृदत्तमात्रे स्त्रिया दानाद्यनधिकारः।¹³

स्थावर से अतिरिक्त धन का स्त्री दान, व्यय आदि कर सकती है।

स्त्रीधन का उपयोग करने के लिए दण्ड की व्यवस्था

जीमूतवाहन ने कात्यायन का उल्लेख करते हुए कहा है कि स्त्रीधन का ग्रहण पति, पिता, भाई कोई भी नहीं कर सकता है। यदि वह करता भी है तो उसे ब्याजसहित वापस करना चाहिए और राजा द्वारा उसे दण्ड दिया जाना चाहिए। यदि कोई प्रीतिपूर्वक अनुमति लेकर उसका उपयोग करता है तो उसे धनवान होने पर केवल मूलराशि वापस करनी चाहिए। जीमूतवाहन के अनुसार पति यदि स्त्री का धन लेकर दूसरी पत्नी के साथ रहने लगता है तो राजा द्वारा पति से बलपूर्वक धन ग्रहण करके पूर्व पत्नी को दिलवाना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि जीमूतवाहन के अनुसार स्त्री स्त्रीधन का विनियोग करने में पूर्ण स्वतंत्र है, वह स्वेच्छा से उस धन का दान, विक्रय तथा उपभोग कर सकती है।

स्त्रीधन के उत्तराधिकारी तथा विभाग

इस विषय में हिन्दू व्यवहारशास्त्र में बहुत मत-मतान्तर पाये जाते हैं किन्तु एक बात में सबका मत एक है। स्त्रीधन का उत्तराधिकार सर्वप्रथम कन्याओं को प्राप्त होना चाहिए। मिताक्षरा ने कहा है कि पुत्री में पुत्र की अपेक्षा माता के शरीर का अंश अधिक रहता है अतः उसे स्त्री धन की प्राप्ति में वरीयता मिलती है। किन्तु आगे चलकर पुत्रों को कन्याओं के साथ जोड़ दिया गया और कुछ स्त्रीधन में पुत्रों को वरीयता दे दी। इसका संभवतः कारण यह था कि आगे चलकर स्त्री धन की सम्पत्ति का विस्तार हो गया और लोगों को यह बात नहीं रुचिकर लगी कि स्त्रियों को लम्बी सम्पत्ति मिले।

अविवाहित कन्या के धन के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में धर्मशास्त्रकारों द्वारा कहा गया है कि कन्या के मर जाने पर सहोदर भ्राता तदुपरान्त माता और तत्पश्चात् पिता धन प्राप्त करता है-

मृतायां दत्तमाद्यात् परिशोध्योभयाव्ययम्।

याज्ञवल्क्य के अनुसार विवाह के प्रतिश्रुत हो जाने पर विवाह के पूर्व कन्या मर जाती है तो दोनों के पिता व्यय का शोध करके जो शेष बचे उसे वर को दे दे।

सप्रजा स्त्रीधन के सम्बन्ध में गौतम के अनुसार पुत्रियों को धन मिलता है। उसमें भी प्रथम अप्रजा (अवाग्दत्ता¹⁴) का उसके उपरान्त प्रजा का और इनके अभाव में विवाहित स्त्री का अधिकार है-

स्त्रीधनं दुहितृणामप्रजानामप्रतिष्ठितानाञ्च।

विवाहित पुत्रियों में भी पुत्रवती एवं संभावित पुत्री और तत्पश्चात् बन्ध्या और विधवा पुत्री का अधिकार समझना चाहिए। पुत्रियों के अभाव में पुत्रों का अधिकार होता है। तथा याज्ञवल्क्य, नारद तथा कात्यायन ने कहा है कि मातृधन को दुहिताओं के अभाव में पुत्र प्राप्त करता है। दूसरी ओर मनु के अनुसार सहोदर भाई एवं भगिनी दोनों का तुल्य अधिकार प्राप्त होता है-

मातुर्दुहितरोऽभावे दुहितृणां तदन्वयः।¹⁵

दुहितृणामभावे तु रिक्थं पुत्रेषु तद् भवेत्।¹⁶

मातुर्दुहितरः शेषमृणात्ताभ्यः ऋतेऽन्वयः।¹⁷

जनन्यां संस्थितायान्तु समं सर्वे सहोदराः।

भजेरन् मातृकं रिक्थं भगिन्यश्च सनाभयः।¹⁸

कौटिल्य के अनुसार सधवा रूप में स्त्री के मर जाने पर पुत्र एवं पुत्रियां स्त्री धन बांट लेते हैं। पुत्र के अभाव में पुत्रियां तथा पुत्रों एवं पुत्रियों के अभाव में पति ले लेता है। किन्तु शुल्क, अन्वाधेय एवं स्त्रीधन के अन्य प्रकार, जो सम्बन्धियों से प्राप्त होते हैं, वे सम्बन्धियों को ही मिल जाते हैं। दायभाग के अन्तर्गत व्यभिचारिणी पुत्री को उत्तराधिकार नहीं मिलता है। किन्तु मिताक्षरा ने उसे भी अधिकार दिया है। किन्तु कुमारी या विवाहित पुत्रियों के उपरान्त ही उसे ऐसा अधिकार मिलता है। अतः व्यभिचारिणी का स्त्रीधन उसके भाई या बहन, पति अथवा पति के सम्बन्धियों को मिल जाता है।

दुहिता के अभाव में दौहित्र का धन में अधिकार माना जाता है क्योंकि ऐसा माना जाता है कि पुत्री अपने पुत्र के माध्यम से पार्वण, श्राद्ध एवं पिण्डदान करती है।

दायभाग के टीकाकार श्रीकृष्ण ने दौहित्र तथा बन्ध्या एवं विधवा पुत्री के बीच सपत्नी पुत्र, पौत्र तथा प्रपौत्र का अधिकार माना गया है क्योंकि ये भी मृत स्त्री के पति द्वारा भोगे जाने वाले पिण्ड का दान देते हैं।

निःसन्तान स्त्री के स्त्रीधन के उत्तराधिकारी

याज्ञवल्क्यस्मृति में स्त्रीधन के स्वरूप में बन्धुदत्त, शुल्क एवं अन्वाधेयक धन का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार के धन पर स्त्री के निःसन्तान मरने पर उसके भाईयों का अधिकार हो जाता है-

बन्धुदत्तं तथा शुल्कमन्वाधेयकमेव च।

अप्रजायायामतीतायां बान्धवास्तदवाप्नुयुः।¹⁹

मनुस्मृति एवं नारदस्मृति में ब्रह्मादि-दैव-आर्ष-गान्धर्व एवं प्राजापत्य विवाह विधियों से परिणीता स्त्री के निःसन्तान मरने पर उसके धन का उत्तराधिकारी उसका पति होता है-

ब्राह्मदैवार्षगान्धर्वप्राजापत्येषु यद्धनम्।

अप्रजायामतीतायां भर्तुरेव तदिष्यते।²⁰

स्त्रीधनं तदपत्यानां भर्तुगाम्यप्रजासु तु।

ब्रह्मादिषु चतुष्वाहः पितृगामीतरेषु च॥²¹

जबकि आसुर-राक्षस एवं पैशाच विवाह विधियों से परिणीता अन्नपत्या स्त्री के धन के उत्तराधिकारी माता-पिता होते हैं-

यत्त्वस्याः स्याद्धनं दत्तं विवाहेष्वरादिषु।

अतीतायामप्रजायां बान्धवास्तदवाप्नुयुः मातापित्रोस्तदिष्यते॥²²

जीमूतवाहन के दायभाग के अनुसार निःसन्तान स्त्री के उत्तराधिकार का वर्णन

स्त्री के भर्तृपर्यन्त उत्तराधिकारियों के अभाव में जीमूतवाहन के पिण्डदान की प्रत्यासत्ति के आधार पर क्रमशः देवर, देवर-पुत्र, पति के ज्येष्ठ भ्रातृपुत्र, भर्तृभगिनीपुत्र, भ्रातृपुत्र एवं पुत्री के भर्ता का अधिकार स्वीकार किया गया है। जीमूतवाहन का कथन है कि देवर मृत स्त्री को उसके पति द्वारा दिए जाने वाले तीन पितृपूर्वजों का पिण्डदान करता है। अतः पिण्डदान करने से वह मृत स्वामिनी का अधिकारी होता है। पुत्री के भर्ता का श्वाश्रू के धन में अधिकार होता है क्योंकि वह सास ससुर का पिण्डदान करता है।

प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व में याज्ञवल्क्यस्मृति में पिता के सम्पत्ति में पुत्र के न रहने पर पुत्री को पूरा अधिकार दिया गया है। और, कहीं-कहीं वर्णन मिलता है कि भाई पिता की सम्पत्ति के चौथाई भाग से स्त्री का विवाह करे या तो उपहारस्वरूप दे।

आधुनिककाल में स्त्रीधन का स्वरूप

हिन्दू स्त्री का सम्पत्ति अधिकार अधिनियम 1937

इसके अनुसार विधवा, विधवा पुत्रवधू और विधवा पौत्र वधू को उत्तराधिकार के अधिकार दिये गये। इस प्रकार से प्राप्त सम्पत्ति को स्त्री स्त्री-सम्पदा के रूप में लेती थी न कि स्त्रीधन के रूप में। विधवाओं को ये अधिकार न केवल हिन्दू की पृथक् सम्पत्ति में दिए गये थे बल्कि उन्हें मिताक्षरा सहदायिक के अविभक्त हित में भी दिए गये थे।

हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम 1956, धारा 14(1)

इसके अनुसार स्त्रीधन एवं नारी सम्पदा के मध्य अन्तर समाप्त कर दिया गया है तथा महिलाओं द्वारा काबिल सभी सम्पत्ति उनकी पूर्ण सम्पत्ति हो गई है। वर्तमान अधिनियम एक स्त्री द्वारा अधिकृत सारी सम्पत्ति के सम्बन्ध में चाहे वह इस अधिनियम के आरंभ के पूर्व या पश्चात् अर्जित की गई थी, स्त्रीधन विषय पर अन्य बातों के साथ प्राचीन विधि पर अधिभावी है। इस अधिनियम की धारा 14 घोषणा करती है कि ऐसी सारी सम्पत्ति उसके द्वारा पूर्ण स्वामी के रूप में धारण की जायेगी। यह अधिनियम नारी उत्तराधिकारी पर पूर्ण दाय योग्य क्षमता प्रदान करती है तथा यह धारा सम्पत्ति धारण करने तथा उसका व्ययन करने के लिए हिन्दू नारी की शक्तियों पर पारस्परिक सीमा को हटाती है। हिन्दू नारी अपना स्त्रीधन रखने के लिए स्वतंत्र है। यह अधिनियम हिन्दू नारी द्वारा अधिकृत सम्पत्ति का जो या तो सीमित सम्पदा के रूप में है अथवा स्त्रीधन के रूप में है, उत्तराधिकार का एक रूप क्रम प्रतिपादित करती है। इस प्रकार स्त्रीधन सम्पत्ति के निगमन के विभिन्न ढंगों को समाप्त करती है।

धारा 15

निर्वसीयत मरने वाली हिन्दू नारी की सम्पत्ति धारा 15 में लिखे गये नियमों के अनुसार न्यायगत होगी-

1. पहले पुत्रों और पुत्रियों (किसी पूर्वमृत पुत्र अथवा पुत्री की सन्तान सहित) तथा पति पर।
2. पति के उत्तराधिकारियों पर।
3. पिता और माता पर।
4. पिता के उत्तराधिकारियों पर।
5. अन्त में माता के उत्तराधिकारियों पर।

उपधारा-1 में निहित नियम

1. अपने पिता अथवा माता से प्राप्त कोई सम्पत्ति एक हिन्दू नारी द्वारा मृतक के किसी पुत्र या पुत्री की अनुपस्थिति में उपधारा-1 में सन्दर्भित अन्य उत्तराधिकारियों से उसमें निर्धारित क्रम से न्यायगत नहीं होगी।
2. अपने पति अथवा श्वसुर से प्राप्त सम्पत्ति का मृतक के पुत्र या पुत्री की अनुपस्थिति में उपधारा-1 में सन्दर्भित अन्य उत्तराधिकारियों में न्यायगत नहीं होगी किन्तु पुत्र के उत्तराधिकारियों में न्यायगत होगी।

मिताक्षरा विधि द्वारा शासित एक हिन्दू नारी एक पुत्र, एक पुत्री तथा एक सहोदर भाई को अपनी स्त्रीधन सम्पत्ति को छोड़कर मरती थी। लेकिन यह अधिनियम के पूर्व लागू थी।

उच्चतम न्यायालय में यह टिप्पणी की गई है कि एक हिन्दू विवाहिता नारी की सम्पत्ति के स्त्रीधन की स्थिति पाश्चात्य काल में पूर्णतया असंदिग्ध है। वह अपनी सम्पत्ति की पूर्ण स्वामिनी है और अपनी इच्छानुसार किसी प्रकार व्यवहार कर सकती है। वह इसका पूरा व्ययन कर सकती है और पति को संदर्भित किये बिना अपनी इच्छानुसार इच्छापात्र को दान कर सकती है। सामान्यतया पति इसमें कोई अधिकार नहीं रखता है, जिसका एकमात्र अपवाद यह कि घोर आपदा की स्थिति में जैसे अकाल, बीमारी में पति इसका प्रयोग कर सकता है। किन्तु नैतिक रूप से इसे पुनर्स्थापित करने के लिए बाध्य है अथवा वह इसका मूल्य देगा जब वह ऐसा करने में सक्षम होगा।

स्त्रीसम्पदा का विस्तृत अर्थ है सारी सम्पत्ति जो एक स्त्री के पास किसी स्रोत से आयी है और जिसमें दोनों सम्पत्तियां सम्मिलित हैं जिसमें वह पूर्ण हित (स्त्रीधन) तथा सीमित हित रखती है।

उपसंहार

दायभाग प्रकरण में स्त्रीधन के स्वरूप से यह विदित होता है कि प्राचीन काल में भी स्त्रियों की दशा समुन्नत थी। उन्हें आदर सम्मान, शिक्षा तथा सम्पत्ति पुरुषों के समान ही प्रदान की गई थी। परन्तु मध्यकाल में आकर स्त्रियों की दशा निम्न होने लगी थी लेकिन राजा राममनोहर राय, दयानन्द सरस्वती, महात्मा गांधी तथा स्वामी विवेकानन्द आदि समाज-सुधारकों तथा विचारकों के द्वारा स्त्रियों की स्थिति में सुधार किया गया और उन्हें समाज में पुनः सम्मान का स्थान प्रदान किया गया। आज वर्तमान समय में स्त्रियों की दशा काफी समुन्नत हो गयी है। आज उन्हें पुरुषों के समान बराबर का अधिकार एवं सम्मान दिया गया है। साथ ही सम्पत्ति में भी उन्हें पिता की सम्पत्ति में भाई के बराबर ही हिस्सा दिया गया है। पुत्र की सम्पत्ति की तो वह स्वामिनी मानी गई है। अतः निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि वर्तमान समय में स्त्रियों के धन का स्वरूप विस्तृत हो गया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. कात्यायनस्मृति
2. याज्ञवल्क्यस्मृति - मिताक्षरा व्याख्या
3. नारदस्मृति
4. मिताक्षरा
5. बौ. ध. सू. 2.2.3.44
6. कौ. अर्थ.
7. याज्ञवल्क्यस्मृति, दायभागप्रकरण 143-144 श्लोक
8. मनुस्मृति 9.94
9. दायभाग, जीमूतवाहन 4.2.14
10. नारदस्मृति 13.4
11. याज्ञवल्क्यस्मृति 2.147
12. दायभाग 4.1.1
13. दायभाग 4.1.23
14. गौ. ध. सू. 3.10.22
15. ना. स्मृ. 13.2
16. का. स्मृ. 9.8
17. याज्ञ. स्मृ. 2.117
18. मनुस्मृति 9.192
19. याज्ञवल्क्यस्मृति 2.144
20. मनुस्मृति 9.196
21. नारदस्मृति, पृ. सं. 226
22. मनुस्मृति 9.117

श्रीहरिनामामृत व्याकरण का वैशिष्ट्य

चित्रा भारद्वाज

शोधच्छात्रा, संस्कृत-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

जीवगोस्वामी प्रणीत श्रीहरिनामामृत व्याकरण मुख्य व्याकरण ग्रन्थ है, क्योंकि धातु संग्रह और सूत्रमालिका में इसी व्याकरण से सम्बद्ध सूत्रों एवं धातुओं की चर्चा है।

1. प्रभु नाम संकीर्तन के साथ व्याकरणाध्ययन

जीवगोस्वामी प्रणीत श्रीहरिनामामृत व्याकरण के अध्ययन में प्रवेश करते ही मनुष्य में भगवत् प्रेम का बीज स्फुटित हो उठता है तथा तदनुकूल संस्कारों का भी सृजन होता है। प्रभु नाम संकीर्तन ग्रन्थ प्रणयन का प्रमुख उद्देश्य है, इसी की अभिव्यक्ति स्वयं जीवगोस्वामी ने भी की है—

“कृष्णमुपासितुमस्य स्रजमिव नामावलिं तनबै।

त्वरितं वितरेदेषा, तत्साहित्यादिजामोदम्॥”¹

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि जीवगोस्वामी को व्याकरणों के सूत्रों के आश्रय से प्रभु भक्ति इप्सित है। परन्तु इस प्रभु नाम संकीर्तन के उद्देश्य की परिणति के साथ हम यह भी पाते हैं कि जीवगोस्वामी के समय तक आते-आते संस्कृत जन सामान्य की भाषा नहीं रही थी। चैतन्य के भक्ति आंदोलन के परिणामस्वरूप वैष्णव सम्प्रदाय के मनुष्य भक्ति में अत्यधिक तल्लीन थे, इस प्रकार का समाज व्याकरणाध्ययन से दूर हो गया था। इसी व्याकरणाध्ययन के पुनर्जागरण के लिए श्रीहरिनामामृत व्याकरण जैसे भक्ति परक व्याकरण ग्रन्थ की संरचना की गई है। जिसके फलस्वरूप प्रभु नाम संकीर्तन के साथ व्याकरणाध्ययन रूपी उद्देश्य भी सफल हुआ।

2. प्रभु स्मरण से संसार के बन्धनों से मुक्ति

श्रीहरिनामामृत व्याकरण के भक्तिपरक कलेवर से मनुष्य को व्याकरणाध्ययन के साथ-साथ प्रत्येक क्षण येन-केन प्रकारेण प्रभु का स्मरण होता ही रहता है। जिसके फलस्वरूप जीवन लुब्ध मनुष्य की तृष्णा की निवृत्ति भी होती है क्योंकि वह भगवान् की भक्ति में भी अनायास ही संलग्न होता जाता है। जिससे मनुष्य पापों से निवृत्त होकर भव बन्धन से मुक्त हो जाता है। व्याकरण जैसे शुष्क विषय में भक्ति का रसास्वादन अत्यन्त आकर्षक तथा अनूठी उपलब्धि है, जो कि श्रीहरिनामामृत व्याकरण में प्रत्येक सूत्र में प्राप्त होती है।

“व्याकरणे मरुनीवृत्ति, जीवनलुब्धाः सदाघ संविध्नाः।

हरिनामामृतमेतत्, पिवन्तु शतधावगाहन्ताम्॥”²

3. श्रीहरिनामामृत व्याकरण की सूत्र शैली

श्रीहरिनामामृत व्याकरण में जीवगोस्वामी की सूत्र संरचना पूर्ववर्ती पाणिनीयेतर वैयाकरणों से प्रभावित है। यथा संज्ञा प्रकरण के सूत्रों पर कातन्त्र व्याकरण का प्रभाव, कारक लक्षण पर सुपद्य व्याकरण का प्रभाव परिलक्षित होता है, परन्तु इसके साथ-साथ व्याकरण के सूत्र में प्रयुक्त भक्ति का पुट उनकी स्वयं की कृति है। इस प्रकार के सूत्र शैली प्रयोगों में वह पूर्ववर्ती वैयाकरणों के ऋणी है।

4. वैदिकी प्रक्रिया का अभाव

वैदिकी प्रक्रिया का अभाव श्रीहरिनामामृत व्याकरण से पूर्ववर्ती पाणिनीयेतर व्याकरणों में भी था। जिसके फलस्वरूप प्रत्ययों का स्वरूप परिवर्तन हो गया, किन्तु श्रीहरिनामामृत व्याकरण में पूर्ववर्ती पाणिनीयेतर व्याकरणों के द्वारा प्रयुक्त प्रत्ययों में हरिनाम संकीर्तन की पद्धति का समावेश करके कुछ नूतन प्रत्यय प्रयोग किए गए हैं। यथा- माधवफ³, नृसिंह-वु⁴, इत्यादि।

5. संज्ञाओं के लक्षण का निरूपण

जीवगोस्वामी के समय तक संस्कृत लोक व्यवहार की भाषा नहीं रह गई थी, इसी कारण पाणिनीय कालीन प्रसिद्ध संज्ञाएँ भी जनसामान्य के लिए दुर्बोध्य हो गयी थी। इसी को ध्यान में रखकर जीवगोस्वामी ने इन संज्ञाओं के लक्षणों को सूत्रबद्ध किया। यथा- क्रियासम्बन्धविशेषि कारकम्⁵, अन्तर्भिन्नपदत्वेप्येकनामत्वेन योजनं समासः⁶, समासवाक्यं विग्रहः⁷ इत्यादि। इस प्रकार के प्रयोगों से कहा जा सकता है कि जीवगोस्वामी ने संस्कृत व्याकरण की सामान्य संज्ञाओं के सूत्र निबन्धन के द्वारा व्याकरण को सरल रूप में जनमानस तक पहुँचाने का प्रयास किया तथा मनुष्य को प्रारंभिक संस्कृत व्याकरण के ज्ञानोपार्जन में सहायता प्रदान की।

6. प्रत्यय प्रयोग

जीवगोस्वामी ने संस्कृत व्याकरण के सरलीकरण तथा संक्षेपीकरण की ओर अपना ध्यान केन्द्रित रखा। इसी उद्देश्य से आदेशों तथा आगमों को संयुक्त कर स्वतंत्र प्रत्यय के रूप में उन्हें स्वीकार किया। यद्यपि इस प्रकार का प्रयोग श्रीहरिनामामृत व्याकरण से पूर्ववर्ती अन्य पाणिनीयेतर व्याकरणों में भी द्रष्टव्य है, किन्तु जीवगोस्वामी ने इस प्रकार के अध्याहार हेतु जो सूत्र निर्माण किये, वह भी भक्ति परक है। वह अद्वितीय है।

7. भक्ति परक संज्ञाकरण के दोष

जीवगोस्वामी ने व्याकरणाध्ययन हेतु जो प्रभु नाम संकीर्तन की पद्धति प्रयोग की, वह कई स्थानों पर व्याकरण पर भारी पड़ती प्रतीत होती है। चूँकि इस प्रकार के संज्ञाकरण में कोई वैज्ञानिकता नहीं है, तो उसे स्मरण करना अत्यन्त दुष्कर होता है। यह प्रयोग अधिकांश स्थानों पर अन्य व्याकरणों के लघ्वक्षर प्रयोग की अपेक्षा अधिक बड़े जाते हैं। यथा - पाणिनीय 'टी' संज्ञा के लिए जीवगोस्वामी ने 'संसार' संज्ञा प्रयोग का किया है।

जीवगोस्वामी के द्वारा प्रणीत इन नवीन संज्ञाकरण का अन्य व्याकरणों में कहीं भी प्रयोग नहीं हुआ, जिसके कारण इसका क्षेत्र श्रीहरिनामामृत व्याकरण तक ही सीमित रह गया। जीवगोस्वामी का यह संज्ञाकरण किसी एक साम्प्रदायिक वर्ग को ही आकर्षित करता है, जिससे इस व्याकरण के प्रणयन के साथ ही इसका प्रचार क्षेत्र सीमित हो गया तथा अन्य पाणिनीयेतर व्याकरणों के साथ लोकप्रियता की प्रतिस्पर्धा में यह व्याकरण काल का ग्रास बन गया।

8. दार्शनिक तथ्यों का अभाव

श्रीहरिनामामृत व्याकरण के प्रणेता जीवगोस्वामी एक उत्कृष्ट कोटि के दार्शनिक हैं तथापि उनके व्याकरण में दार्शनिक तथ्यों का अभाव है। इसके विषय में मंथन करने पर कहा जा सकता है कि दार्शनिक व्याख्या तो परवर्ती व्याख्याकार का ही कार्य होता है, किन्तु इस व्याकरण के प्रति

व्याख्याकारों की उदासीनता के कारण इसका दार्शनिक विश्लेषण नहीं हो सका है। संस्कृत व्याकरण दर्शन के क्षेत्र में जीवगोस्वामी ने एक विषय प्रदान किया है, जिसके अन्वेषण की आवश्यकता है।

अन्त में कहा जा सकता है कि प्रत्येक रचना के कुछ गुण तथा कुछ दोष अवश्य होते हैं, जीवगोस्वामी विरचित श्रीहरिनामामृत व्याकरण, संस्कृत व्याकरण जगत् की एक अमूल्य धरोहर है, जिसमें भक्ति का सागर ग्रन्थ के प्रारंभ से अन्त तक प्रवाहित होता है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. हरि.व्या.म., कारि. 1, पृ. 1
2. हरि.व्या.म., कारि. 3, पृ. 4
3. हरि.व्या., सू.सं. 2358, पृ. 1078
4. हरि.व्या., सू.सं. 2402, पृ. 1100
5. हरि. व्या., सू.सं. 961, पृ. 373
6. हरि.व्या., सू.सं. 1695, पृ. 733
7. हरि.व्या., सू.सं. 1696, पृ. 734

भारतीय दर्शन में तर्क का स्वरूप

आशुतोष कुमार

शोधच्छात्र, संस्कृत-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

1. भूमिका

तर्क भारतीय दर्शन का एक महत्वपूर्ण तत्त्व है। तर्क शब्द की निष्पत्ति तर्क भाषायाम् और कृति छेदने धातुओं से घञ् प्रत्यय लगाकर हुई है¹। धात्वर्थ से इतना अर्थ ही निकलता है कि तर्क वह वाक्य है, जो संदेह का छेदन या नाश करता है। प्राचीन काल से ही तर्क के स्वरूप एवं इसकी भूमिका के विषय में विविध मत रहे हैं। किसी ने तर्क को प्रमाणों का सहकारी (सहायक) कहा है², तो किसी ने ज्ञान विशेष रूप³, किसी ने तर्क को अनुमान का अङ्ग ही मान लिया है।⁴ संशय की निवृत्ति एवं तत्त्व निर्णय के लिए तर्क की ही आवश्यकता होती है। न्यायकन्दलीकार (श्रीधर) ने तर्क या ऊह को अलग से ज्ञान रूप स्वीकार नहीं किया है।⁵ पाश्चात्य तर्कशास्त्र में इसे इन्डाइरेक्ट प्रूफ (अप्रत्यक्ष साधक) या हाइपोथेटिकल आर्ग्यूमेंट के नाम से जाना जाता है।

2. भारतीय दर्शन में तर्क का स्वरूप

न्यायसूत्रकार के अनुसार तर्क का स्वरूप है – जिस वस्तु का तत्त्व या अर्थ ज्ञात नहीं होता है, उस वस्तु के तत्त्व (अर्थ) को जानने के लिए जो विचार (ऊह) कारणों का औचित्य दिखलाते हुए किया जाता है, वह ‘तर्क’ कहलाता है⁶। इस प्रकार तर्क का आश्रय तत्त्व (अर्थ) ज्ञान के लिए लिया जाता है। न्यायभाष्यकार ने न्यायसूत्र प्रदत्त तर्क लक्षण को और अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया है– ‘जिस पदार्थ के तत्त्व का निश्चय नहीं होता, उसके तत्त्व निर्णय के लिए उसमें कारण रूप प्रमाण के निश्चय से जो ऊह (विचार) किया जाता है, उसी को तर्क कहते हैं।’ इसका अभिप्राय यह हुआ कि कोई प्रमाता, जिसे किसी वस्तु के तत्त्व या स्वरूप का ज्ञान नहीं है। उसके द्वारा तत्त्व को जानने की इच्छा से, उस जिज्ञासित वस्तु के दो विरुद्ध धर्मों पर दो अलग-अलग दृष्टिकोणों से विचार किया जाता है। विचार के पश्चात् वह किसी एक धर्म के बारे में कारणोपदान से ऐसा ही है या ऐसा नहीं है। इस प्रकार के दोनों विरुद्ध धर्मों में से किसी एक धर्म को कारण की उपपत्ति के पश्चात् स्वीकार कर लेता है। इस तरह के ऊह (मानस ज्ञान) को तर्क कहा जाता है।⁷

न्याय के अनुसार तर्क प्रमाण नहीं है और प्रमाण के फल का निश्चय भी नहीं है, क्योंकि यह केवल एक पक्ष का समर्थन मात्र करता है। उसका निश्चय नहीं करता है, अपितु वह प्रमाण का सहकारी तथा ज्ञान विशेष रूप है।⁸ एक अन्य मत में तर्क सम्भावनात्मक ज्ञान है। यह संशय रूप नहीं है। यद्यपि संशय और तर्क दोनों में अनिश्चयावस्था रहती है तथापि दोनों में पर्याप्त भेद है। संशय में निश्चय नहीं रहता। साथ ही निश्चय के लिए प्रयत्न भी नहीं होता है। जबकि तर्क में निश्चय न रहने पर भी निश्चयोन्मुख प्रयत्न रहता है और उसके फलस्वरूप तर्क के उत्तरक्षण में निश्चयात्मक ज्ञान की कोटि तक प्रमाता पहुँच जाता है। अतः तर्क संशय रूप नहीं है। निर्णय में निश्चय रहता है, जबकि तर्क निश्चय से पूर्व अनिश्चय की अवस्था होती है। अतः तर्क निर्णय स्वरूप भी नहीं है, क्योंकि निर्णय का लक्षण है – संदेह करके पक्ष का साधन और उसका प्रतिपक्ष जिस अर्थ का निश्चय करते हैं, वह निर्णय है।⁹ प्रायः न्याय दार्शनिक इस मत से पूर्णतया सहमत हैं कि ‘तर्क’ प्रमाणों का सहकारी है। तर्क दो विरोधी धर्मों के बीच संशय निवृत्ति करने में सहायक होता है। यह प्रतिकूल पक्ष की

असम्भाव्यता दिखाकर प्रकारान्तर से स्वपक्ष की सम्भाव्यता बताता है। यही सम्भावना या अनुज्ञा तर्क है।¹⁰ यह ऊह अर्थात् तर्क प्रमाण नहीं है एवं प्रमाण के फल का निश्चय भी नहीं है, अपितु प्रमाण का सहकारी ज्ञान विशेषात्मक है।

नैयायिक उदयन की तर्क लक्षण की व्याख्या पूर्ववर्ती आचार्यों की अपेक्षा कतिपय भिन्न है। यहाँ तर्क को अनिष्ट की संज्ञा दी गई है और तर्क को इस प्रकार पारिभाषित किया है – अनिष्टप्रसङ्गस्तर्कः¹¹ अर्थात् अनिष्ट पदार्थ के प्रसङ्ग की आपत्ति ‘तर्क’ है। द्वैत वेदान्ती मध्वाचार्य ने अपने ग्रन्थों में ‘व्याप्य के अङ्गीकार में व्यापक के अनिष्ट प्रसङ्ग (आपत्ति) को तर्क माना है’¹² अर्थात् व्याप्य को मानकर जो व्यापक को नहीं मानता हो, उसके प्रति व्यापक का प्रसङ्ग तर्क है। यथा – पर्वत पर व्याप्य प्रत्यक्ष धूम को मानकर अग्नि को नहीं मानना तर्क है। केशव मिश्र के अनुसार भी ‘जब दो पदार्थों में एक के उपस्थित होने से दूसरे की सत्ता का होना सिद्ध होता है, तो एक की सत्ता होने पर दूसरे की सत्ता न चाहते हुए भी माननी पड़ती है, अनिष्ट की इस प्रकार की आपत्ति को तर्क कहते हैं’¹³ विशिष्टाद्वैत वेदान्ती वेंकटनाथ भी व्याप्य के अङ्गीकार में व्यापक के अनिष्ट प्रसङ्ग को ही तर्क मानते हैं¹⁴। मध्व और वेंकटनाथ के तर्क लक्षण में साम्य है। सम्भवतः वेंकटनाथ ने इसे मध्व से ग्रहण किया हो, किन्तु जयतीर्थ के अनुसार किसी धर्म के अङ्गीकार में अर्थान्तर का प्रतिपादन ‘तर्क’ है¹⁵। जो नवीन उद्भावना प्रतीत होती है, क्योंकि यहाँ इसे किसी प्रकार से अनिष्ट रूप नहीं कहा गया है।

तर्क के स्वरूप को सरलतया इस प्रकार से समझाया जा सकता है – यदि पर्वत पर अग्नि का अभाव होता है, तो धूम का अभाव भी रहता है। इसमें अग्नि का सद्भाव प्रतिपादित करने के लिए निर्धूमत्व (अनिष्ट) की आपत्ति की जाती है। यहाँ अग्न्याभाव (व्याप्य) के आरोपण से निर्धूमत्व (व्यापक) भी आरोपित हो जाता है, क्योंकि ‘पर्वत पर धूम का ज्ञान’ हमें प्रत्यक्ष रूप से हो रहा है। जयतीर्थ के अनुसार यहाँ निर्धूमत्व का प्रसङ्ग आवश्यक न होते हुए भी लाया जाता है। ‘वह्नि शून्य पर्वत पर वह्नि का अस्तित्व (सत्ता) स्वीकार करने से होने वाली ‘वह्नि की सिद्धि’ आपत्ति या अनिष्ट प्रसङ्ग रूप होने से तर्क है। सामान्यतः तर्क (अनिष्ट) के दो कार्य होते हैं –

1. स्वपक्ष का समर्थन एवं 2. परपक्ष में दोष की उद्भावना।

3. तर्क (अनिष्ट) के प्रकार

सामान्यतया अनिष्ट दो प्रकार का माना गया है – प्रामाणिक पदार्थ का परित्याग करना और अप्रामाणिक पदार्थ का परिग्रहण करना।¹⁶ तर्क के इन दोनों स्वरूप को दृष्टान्त के माध्यम से सरलता से समझा जा सकता है। यथा – किसी ने कहा ‘पानी पीने से प्यास नहीं बुझती है’, अतः पानी नहीं पीना चाहिए, किन्तु यह तथ्य सभी जानते हैं कि ‘पानी पीने से प्यास बुझ जाती है’। इसमें ‘पानी का परित्याग’ प्रथम प्रकार के अनिष्ट का उदाहरण है। यही अनिष्ट की आपत्ति है। इसी प्रकार किसी के अनुसार ‘पानी पीने से अन्तर्दाह होता है’, अतः पानी नहीं पीना चाहिए, किन्तु यहाँ ‘पानी पीने से अन्तर्दाह’ प्रमाण से सिद्ध नहीं है। अतः यह अनिष्ट का द्वितीय प्रकार है। यह दोनों प्रकार के अनिष्ट की आपत्ति ही भारतीय दर्शन में तर्क कहलाते हैं।¹⁷

4. तर्क के अङ्ग अथवा तर्क के भेद एवं उनका स्वरूप

न्याय परम्परा में सर्वप्रथम उदयन ने अपने आत्मतत्त्वविवेक¹⁸ में ‘तर्क’ के अङ्गों का उल्लेख किया है। जिन्हें वरदराज ने अपनी तार्किकरक्षा¹⁹ में और वेंकटनाथ ने अपनी न्यायपरिशुद्धि²⁰ में

संग्रहीत किया है। न्यायसूत्र, भाष्यादि परम्परा में तर्क भेद सम्बन्धी कोई विचार उपलब्ध नहीं होता है। उदयन²¹ ने अपने आत्मतत्त्वविवेक में पाँच प्रकार के तर्कों का निरूपण किया है- (1) आत्माश्रय, (2) इतरेतराश्रय (अन्योन्याश्रय), (3) चक्रक, (4) अनवस्था एवं (5) अनिष्टप्रसङ्ग। जिनका परवर्ती दार्शनिकों ने नामशः ग्रहण किया है।

तर्क के अनिष्टप्रसङ्ग भेद को बाधितार्थप्रसङ्ग भी कहा जाता है। यहाँ प्रसङ्ग शब्द का अर्थ आपत्ति है। जो पदार्थ प्रमाण से बाधित है, उस अनिष्ट (अस्वीकृत) पदार्थ की आपत्ति ही बाधितार्थप्रसङ्ग है।

यद्यपि तर्क के पाँच भेद आत्माश्रयादि बाधितार्थप्रसङ्ग ही हैं, तथापि प्रत्येक तर्क में कुछ वैशिष्ट्य है। इसलिए उनका निरूपण स्वतंत्र नामों से किया जाता है। आत्माश्रयादि चारों तर्कों से भिन्न पाँचवे प्रकार का तर्क बाधितार्थप्रसङ्ग अनिष्टापत्ति ही है। न्यायसूत्रवृत्तिकार विश्वनाथ इसे 'तदन्यबाधितार्थप्रसङ्ग'²² कहते हैं। वरदराज ने तर्क के आत्माश्रयादि पाँच भेदों का ही परिगणन किया है।²³

भारतीय दर्शन परम्परा में इन उपर्युक्त पञ्चविध तर्कों के अतिरिक्त इतर प्रकार के तर्क भेदों का निरूपण भी प्राप्त होता है, मीमांसक नारायण ने तर्क के चार भेदों में दो अन्य भेदों को जोड़कर तर्क के छः प्रकारों को माना है।²⁴ अद्वैत वेदान्ती श्रीहर्ष ने भी अपने ग्रन्थ में पूर्वोक्तलिखित षड्विध तर्क के अतिरिक्त और पाँच प्रकार के तर्क भेदों का निरूपण किया है।²⁵

कल्पना गौरव भय से संक्षेप में विभिन्न मतों में वर्णित तर्क भेदों का निरूपण निम्न तालिका में किया गया है-

	निरूपण कर्ता	तर्क के भेदों का निरूपण
1.	उदयन (नैयायिक)	आत्माश्रय, इतरेतराश्रयत्व (अन्योन्याश्रय), चक्रक, अनवस्था, अनिष्टप्रसंग
2.	वरदराज (नैयायिक)	आत्माश्रय, इतरेतराश्रयत्व, चक्रक, अनवस्था, अनिष्टप्रसंग
3.	श्रीहर्ष (अद्वैतवेदान्ती)	आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, अनवस्था, व्याघात, प्रतिबन्दी, अविनिगम (विनिगमनविरह), उत्सर्ग, कल्पनागौरव, कल्पनालाघव, अनौचित्य (वैजात्य)
4.	विश्वनाथ (न्याय)	आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, अनवस्था, बाधितार्थप्रसंग, उत्सर्ग, लाघव, गौरव, प्रथमोपस्थित्व, विनिगमनविरह
5.	वैकटनाथ (विशिष्टाद्वैत)	आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, अनवस्था, प्रतिबन्दी, केवलानिष्टप्रसंग (विरोध एवं असम्भव), समवचन, उभयतस्पाशा
6.	श्रीनिवासटीका (विशिष्टाद्वैत)	आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, अनवस्था, प्रतिबन्दी, केवलानिष्टाप्रसंग, समवचन, उभयतस्पाशा, गौरव, लाघव
7.	मीमांसक नारायणभट्ट	आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, अनवस्था, गौरव, लाघव
8.	माधवाचार्य (औलुक्य दर्शन)	व्याघात, आत्माश्रय, इतरेतराश्रय (अन्योन्याश्रय), चक्रकाश्रय, उत्सर्ग, अनवस्था, प्रतिबन्दी की कल्पना, कल्पनागौरव, कल्पनालाघव, अपवाद, वैजात्य
9.	जयतीर्थ (द्वैतवेदान्त)	आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, अनवस्था, केवलानिष्टप्रसंग

1. **आत्माश्रयत्व** – किसी पदार्थ की उसी से सिद्धि मानने पर आत्माश्रय तर्क दोष होता है अर्थात् जो पदार्थ अपनी उत्पत्ति, स्थिति और ज्ञान के लिए अपनी ही अपेक्षा करता है, उससे अनिष्ट की जो आपत्ति होती है, वह आत्माश्रय तर्क है। यथा – यह वहि यदि उत्पत्ति के लिए इसी वहि को कारण बनाती है, तो इस वहि से भिन्न होती। यहाँ उत्पत्ति को लेकर अनिष्टप्रसङ्ग है। इसी प्रकार यह घट स्वयं का उत्पादक है, तो वह स्वतः ही पूर्वभावी होगा। घट स्वयं का कारण नहीं हो सकता। यह आपादन और यह अनिष्टप्रसङ्ग है। स्व की अपेक्षा से प्राप्त पूर्वभावित्व अप्रामाणिक होने से आत्माश्रयत्व दोष से ग्रसित है, क्योंकि यदि घट के निर्माण में वह स्वयं कारण है, तो घट की उत्पत्ति ही असम्भव हो जाएगी। यहाँ एक घट की उत्पत्ति में स्वयं को कारण माना गया है, जो सम्भव नहीं है, क्योंकि घट स्वयं की उत्पत्ति में कारण नहीं हो सकता है, अपितु मिट्टी, चाक, कुम्हारादि इसके कारण रूप है। घट स्वयं का कारण नहीं हो सकता। उसी प्रकार घटज्ञान यदि इसी घट के ज्ञान से होता तो इस घटज्ञान से भिन्न होता।
2. **अन्योन्याश्रय** – दो पदार्थों की परस्परश्रित सिद्धि को अन्योन्याश्रय तर्क दोष कहा जाता है अर्थात् जब दो वस्तुएँ एक दूसरे पर निर्भर करती हैं। इतरेतरपूर्वभावी होना ही अन्योन्याश्रय तर्क दोष है। किसी पदार्थ के ज्ञान में किसी अन्य पदार्थ की अपेक्षा हो और उस अन्य पदार्थ के ज्ञान के लिए यदि पुनः उसी पहले पदार्थ की ही अपेक्षा होने से जिस अनिष्ट की आपत्ति होती है, वह अन्योन्याश्रय या इतरेतराश्रय है। जिस तर्क में उल्लिखित दो पक्ष अपनी सिद्धि के लिए एक दूसरे पर आश्रित होते हैं। वह अन्योन्याश्रयत्व से युक्त होते हैं। यथा- ‘अ’ पदार्थ ‘आ’ का कारण अथवा आश्रय है और ‘आ’ पदार्थ ‘अ’ पदार्थ का कारण है। इन दोनों पदार्थों की उत्पत्ति का हेतु एक दूसरे पर आश्रित हैं, जो सम्भव नहीं है। इसी कारण से यहाँ अन्योन्याश्रयत्व दोष है। यहाँ एक कार्य का कारण दूसरा और दूसरे कार्य का कारण पहला है, जो कदापि सम्भव नहीं हो सकता है, क्योंकि कारण सदा पूर्वभावी होता है। अतः वह एक कार्य में सम्भव है, किन्तु एक-दूसरे में सम्भव नहीं है। यथा- हे श्याम ! उठो, यह वाक्य सुनने से श्याम जागता है और जागने पर ही श्याम सुन सकता है, तो जागना कारण है या सुनना?, जागना कार्य है या सुनना? दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं। अतः यहाँ अन्योन्याश्रय तर्क दोष है।
3. **चक्रकाश्रय** – एक पदार्थ की सिद्धि दूसरे पदार्थ से, दूसरे की तीसरे और तीसरे की सिद्धि प्रथम से मानने पर चक्रक तर्क दोष प्रसक्त होता अर्थात् चक्र की भाँति एक-दूसरे को कारण-कार्य रूप मानने पर चक्रक की आपत्ति होती है। यहाँ एक लम्बी श्रृंखला है, जो एक-दूसरे की कार्य-कारण प्रणाली से सम्बन्धित है। यथा – जब हम यह कहते हैं कि ‘क’ ‘ख’ से उत्पादित है, ‘ख’, ‘ग’ से उत्पादित है एवं ‘ग’ ‘क’ से उत्पादित है, तो यहाँ पहिए के चक्र की भाँति एक-दूसरे को कारण-कार्य रूप मानने पर चक्रक तर्क दोष की आपत्ति होती है।
4. **अनवस्था** – तीसरे पदार्थ की सिद्धि प्रथम से न मानकर चतुर्थ से, चतुर्थीदि की पञ्चादि से मानने पर अनवस्था तर्क दोष प्रसक्त होता है। उपपाद्योपपादकप्रवाहोऽनवधिरनवस्था- अवधि (सीमा) से रहित उपपाद्य तथा उपपादक साध्य-साधक – कार्य-कारण का प्रवाह अनवस्था कही गई है। यथा – जाति में जाति मानकर उस जाति में भी दूसरी जाति मानना। जिस आपत्ति का कहीं भी विश्राम नहीं होता है, इस प्रकार की धारावाहिक आपत्ति अनवस्था है। अनिश्चित

एवं असिद्ध उत्पत्ति कारणों की अपेक्षा होने के कारण जहाँ कार्य का ही विलोप हो जाए, उसे अनवस्था कहते हैं। एक तर्क की पुष्टि के लिए दूसरा, दूसरे तर्क की पुष्टि हेतु तीसरा, तीसरे के लिए चतुर्थ। इसी प्रकार के तर्कों की एक लम्बी शृंखला बन जाती है, जिसका कहीं और कभी अन्त नहीं होता। ऐसी स्थिति में तर्क अनवस्था दोष से ग्रसित हो जाता है, क्योंकि यह ही ज्ञात नहीं हो पाता कि कौन किसका कारण है और किसका कार्य। यथा- परमाणु को सावयव मानने पर उस अवयव का अवयव, पुनः उसका भी अवयवादि धारावाहिक क्रम मानने से पर्वत और सरसों में तुल्य परिमाण की अनिष्टापत्ति हो जायेगी, जिससे यहाँ अनवस्था तर्क दोष प्रसक्त हो जाएगा।

5. **केवलानिष्टापादन** - अनवस्थादि दोषों से रहित प्रामाणिक पदार्थ की हानि और अप्रामाणिक पदार्थ की कल्पना रूप अनिष्टापादन ही केवलानिष्टापादन है। जो पदार्थ प्रमाण से बाधित है, उस अनिष्ट (अस्वीकृत) पदार्थ की आपत्ति ही अनिष्टापादन है। यथा- यदि ईश्वर सर्वज्ञ नहीं है, तो वह जगत् का कर्त्ता भी नहीं है। यहाँ श्रुति परम्परा में ईश्वर सर्वज्ञ सिद्ध है, किन्तु उसका परित्याग करके अनिष्टप्रसङ्ग रूप ईश्वर की सर्वज्ञता पर प्रश्न चिन्ह लगाया गया है।
6. **विरुद्धसमुच्चयो व्याघातः** - विरुद्ध दो धर्मों का एक धर्म में समुच्चय (सम्बन्ध) व्याघात तर्क दोष है। यथा- एक माता को वन्ध्या कहना, क्योंकि वह गृहिणी माता है, तो वन्ध्या धर्म उस गृहिणी में नहीं हो सकता है। उसी प्रकार जो पशु अगौ अर्थात् गौ नहीं है उसको गौ कहना अर्थात् उसमें गौ धर्म का ग्रहण करना। यहाँ विरुद्ध दो धर्मों का एक धर्म में व्यवहार किया गया है, जिस कारण व्याघात तर्क दोष प्रसक्त हुआ है।
7. **स्वाभ्युपगतदोषतुल्यता प्रतिबन्दी** - अपने पक्ष के दोष की तुल्यता को अन्य पक्ष में प्रतिपादित करना प्रतिबन्धी तर्क दोष कहलाता है अर्थात् वादी द्वारा प्रतिवादी में कोई दोष दिखाने के लिए दिया गया ऐसा तर्क जिसमें स्वयं वादी में भी वही दोष सिद्ध हो जाए, तुल्यदोष या प्रतिबन्धी तर्क दोष कहलाता है यथा- वादी प्रतिवादी को पुरुष होने के कारण चोर कहता है तो अपने आप को भी चोर सिद्ध कर देता है, क्योंकि वादी भी तो पुरुष ही है।
8. **विकल्पेनान्वयावगमयोग्येऽनेकस्मिन्नभ्युपगते तदेकदेशान्वयनियमनिर्द्धारणाऽशक्यत्वमविनिगमः** - वाक्य में विकल्प से अन्वय बोध के योग्य अनेक अन्वयों के उपस्थित होने पर उनमें से किसी एक अन्वय विषयक किसी एक नियम के निर्द्धारण में अशक्यता या असमर्थता अविनिगम तर्क दोष कहलाती है। यथा- भूतत्व और मूर्तत्व दोनों में जातित्व के अन्वय की योग्यता है, यहाँ दोनों में जाति मानने पर वर्ण संकर होगा। अतः एक को ही जाति मानना चाहिए, किन्तु किसी एक में जाति को मानने में समर्थ नहीं होने से यहाँ अविनिगम तर्क दोष प्रसक्त होता है।
9. **बाहुल्यादृष्टमपेक्ष्य बाहुल्यदृष्टतयाऽदुर्बलस्योपगमाहृतोत्सर्गः** - बहुलता से प्राप्त और अदृष्ट की अपेक्षा (अप्रसिद्ध की अपेक्षा) से बहुलता से प्राप्त और दृष्ट होने के कारण अदुर्बल (प्रबल) को स्वीकार कर लेना, उत्सर्ग तर्क दोष कहलाता है। उत्सर्ग सामान्य नियम को कहते हैं। यथा- स्वस्थ (निर्दोष इन्द्रिय शरीर वाले) और जागते हुए मनुष्य के ज्ञान को प्रामाण्य अप्रामाण्य के निर्णायक प्रमाण की अनुपस्थिति में अविशेष होते हुए बाधा के बिना जो अप्रमाण मानते हैं, उनके प्रति उत्सर्ग रूप तर्क प्रवृत्त होता है कि ज्ञान उत्सर्ग (सृष्टि मात्र से या सामान्य रूप से) स्वस्थादि अवस्था में प्रमाण होता है, कहीं दैवयोग से बाधक के मिलने पर ही अप्रमाण होता है, अन्यथा नहीं।

10. एवं 11. कल्पनालाघव और कल्पनागौरव में कल्पनाओं का क्रमशः संकोच और विस्तार है। सुगमासुगमयोरसुगमदुर्बलत्वं कल्पनागौरवम्- सुगम एवं असुगम (सुबोध और दुर्बोध) में जो असुगम में भी दुर्बल होता है, उसके प्रति कल्पनागौरव तर्क दोष होता है। यथा - दृष्ट जातीय (अध्ययन के परिणाम अर्थज्ञान) की अपेक्षा, अदृष्ट जातीय पुण्य स्वर्गादि दुःख से समझा जाता है तथा स्वल्प की अपेक्षा दुःख से समझा जाता है। यह अनुभव सिद्ध है।
- नैयायिक कार्यत्व हेतु के द्वारा क्षिति आदि में कर्तृत्व का प्रतिपादन करता है। इस कारण इन नैयायिकों के प्रति पृथिवी आदि में प्रत्येक कार्य के लिए भिन्न-भिन्न अनेक कर्ता होने चाहिए। इस आपादन में दूषण के अनुकूल होने से यह कल्पनालाघव तर्क दोष है। सौगत के प्रति अनेक समर्थ कारणों के प्रत्येक के समान एक देश में सभी कार्य उत्पन्न होने चाहिए, इस कारण यह दूषण कल्पनागौरव और उस गौरव के व्यतिरेक (अभाव) से कल्पनालाघव स्वपक्ष के साधन के अनुकूल होता है।
12. **प्रामाणिकाव्यवहार्यत्वमसाधेयजातीयमनौचित्यम् वैजात्यनामकम् तस्य भेदाः प्रश्नवैजात्यादयः**
 - प्रामाणिकों (नैयायिकों) के व्यवहार के अयोग्य एवं सर्वथा समाधान के अयोग्य अनौचित्य और वैजात्य (वेयात्य) नामक दूषण होता है। यथा- प्रमाणादि को यथार्थ मानकर प्रमाण का व्यवहार करने वाले नैयायिकों के प्रति यदि सौगत प्रश्न करता है कि 'अवस्तुनि विधि निषेधयोः किमिच्छसीति' - अवस्तु में विधिनिषेध में से किस को प्रामाणिक मानते हैं। प्रतिवादी के प्रति दोष प्रश्नवैजात्य तर्क प्रसक्त होता है। अपवाद विशेष नियम को कहते हैं।

5. तर्क की प्रामाणिकता

तर्क स्वयं कोई प्रमाण नहीं है, किन्तु अन्य प्रमाणों का अनुग्राहक है। यथा - यदि 'पर्वत अग्नियुक्त अथवा अग्निविहीन है' इस प्रकार का सन्देह होने पर यदि कोई यह समझ लें कि 'पर्वत निरग्निक है', तो उसकी इस मान्यता के निराकरणार्थ इस प्रकार के तर्क की सहायता ली जा सकती है कि 'यदि पर्वत निरग्निक है, तो वह निर्धूम भी होगा। क्योंकि 'जहाँ अग्नि का अभाव होता है, वहाँ धूम का अभाव होता है।' इसे ही तर्क कहते हैं। इस तर्क के द्वारा वह्नि के अनुमान में हेतु धूम के होने से अनुमान विषयक अग्नि की सिद्धि होती है।

इस पर पूर्वपक्षी कहता है कि²⁶ तर्क स्वयं अनुमान रूप होने से प्रमाणों का अनुग्राहक नहीं हो सकता है। तर्क में अनुमान के आपादक या आपाद्य का अङ्गीकार नहीं हो सकता है, क्योंकि प्रत्यक्ष के द्वारा इसका बाध हो जाता है। पराभ्युपगम से तर्क प्रवृत्त होता है। परन्याय के द्वारा ही इसमें दूषण सिद्ध किया जाता है, जिसके कारण स्वमत में असिद्ध भाव ही दूषण होता है। हेतु के असिद्ध रूप की सिद्धि को ही बाध और अपसिद्धान्त कहा गया है।

पूर्वपक्षी की शंका का समाधान करते हैं - तर्क्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या तर्कोऽनुमानम्²⁷। अतएव निर्धूमत्व अङ्गीकार्य ज्ञान के फल रूप में भी प्रमा ही है। सिद्धान्त विरुद्ध सद्भाव के प्रतिपादन से अपसिद्धान्त दोष नहीं है। अतः परसिद्धान्त न्याय से दूसरे के उक्त का दूषण हो जाता है। दूषण अनुमान अपसिद्धान्त का जनक है।

जिस प्रकार साधनानुमान में व्याप्ति मात्र अथवा पक्षधर्मता ज्ञान मात्र साध्य की प्रमिति के साधन नहीं होते, अपितु सम्मिलित रूप से अनुमान की सिद्धि में सहयोग देते हैं, उसी प्रकार अनिष्टापादन और विपर्यय पर्यवसान अलग-अलग रूप से नहीं, अपितु सम्मिलित रूप से अनुमिति के साधन होते हैं। तर्क का पर्यवसान तर्क के स्वरूप तक ही सीमित नहीं होता, उसका पर्यवसान विपरीतानुमान में

होता है, जो तर्क विपरीतानुमान में फलित नहीं होता, वह तर्क न होकर 'तर्काभास' होता है। इसलिए तर्क अनुमान का अंग है और वह समुचित रूप से (प्रमाण रूप होने से) अनुमान का सहायक है।²⁸

इस पर पूर्वपक्षी पुनः शङ्का करता है कि तर्क अयथार्थ ज्ञान है अथवा यथार्थ ज्ञान है? क्योंकि आपादक ज्ञान और आपद्य ज्ञान दोनों ही भ्रमात्मक है और अयथार्थ ज्ञान का ही अंग स्वरूप होते हैं, क्योंकि तर्क सामान्यतः दो सम्भावना उत्पन्न करता है— अनिष्टापादन एवं विपर्यय में पर्यवसान। उद्योतकर ने 'न्यायवार्तिक' में तर्क के स्वरूप से सम्बद्ध विभिन्न मतों का उल्लेख किया है। तदनुसार किसी के मत में तर्क को संशय रूप में, तो किसी के मत में निर्णय रूप में, तो किसी के मत में स्वतंत्र प्रमाण रूप में स्वीकार किया गया है, तो किसी के मत में अनुमान में ही तर्क का अन्तर्भाव किया गया है।²⁹ नैयायिकों की दृष्टि में तर्क भी अप्रमा या अप्रमाण है। यद्यपि वह उस तरह का अप्रमाण या अप्रमा नहीं है, जिस प्रकार का विपर्यय है। वस्तुतः तर्क प्रमा न होने के कारण अप्रमा है, न कि अप्रमा के लक्षणों के कारण। इसके विपरीत विपर्यय प्रमा के विरोधी धर्मों से युक्त होने के कारण प्रमा का बाधक होता है, जबकि तर्क प्रमा के अवधारणा में सहायक होता है।³⁰ भाष्यकार वात्स्यायन का कथन है कि 'तर्क प्रमाणों के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता है, किन्तु प्रमाणों का अनुग्राहक होने से तत्त्व ज्ञान में सहायक हो सकता है।'³¹

इसके विपरीत जयतीर्थ इसे प्रमाण का अनुग्राहक होने के साथ अनुमान का अङ्ग भी मानते हैं। उनका कहना यह है कि यदि हम 'विपर्यय पर्यवसान' का परीक्षण करते हैं, तो यह निश्चित होता है कि वह प्रमात्मक ज्ञान है। आपादक एवं आपाद्य रूप में यह सही स्थिति को प्रतिस्थापित नहीं करता, किन्तु अनिष्टापादन एवं विपर्यय पर्यवसान दोनों को निर्देशित करने पर यह समानस्थिति को निरूपित करता है, इस तर्क को प्रमाण अथवा यथार्थ ज्ञान मानने में किसी भी प्रकार की शंका और कठिनाई नहीं होती है। तर्क अनुमान को एक स्थिति प्रदान करता है, क्योंकि साधनानुमान तर्क भी साध्य प्रमा को ही निर्देशित करते हैं।³²

प्रमाणपद्धति के टीकाकार जनार्दन के अनुसार तर्क प्रमाण रूप में अर्थात् साधक या बाधक रूप में ही शंका निवारणार्थ सहायक होता है।³³ जयतीर्थ के अनुसार तर्क सदैव अनुमान का अङ्ग नहीं होता है, कतिपय स्थलों पर यह केवल विपरीत शंका को निरस्त करके अनुमान का अनुग्राहक मात्र ही होता है।³⁴

संदर्भ ग्रंथ

1. अमरकोश, 1.5.3.
2. 'तर्कः प्रमाणानामनुग्राहकम्', तर्कभाषा, पृष्ठ 342 एवं तर्कसंग्रह, पृष्ठ 561.
3. 'यतः सर्वेषां प्रमाणानां क्वचिद्विषये तर्कानुगृहीतामेव स्वार्थनिश्चयहेतुत्वम् तर्को हि नामार्थस्वभावविषयेण वा सामग्री विषयेण वा निरूपणेनार्थ विशेषे प्रमाणं व्यवस्थापयत् तदितिकर्तव्यतारूपमूहापरपर्यायं ज्ञानम्', न्यायपरिशुद्धि, वेंकटनाथ, पृष्ठ 324-25.
4. प्रमाणपद्धति, अनुमान परिच्छेद पृष्ठ 351.
5. न्यायकन्दली, पृष्ठ 415.
6. 'अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तिस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः', न्यायसूत्र, 1.1.40., पृष्ठ 320.
7. 'अथ जिज्ञासितस्य वस्तुनो व्याहतौ (1) धर्मौ विभागेन विमृशति किंस्विदित्यम् आहोस्विन्नेत्यमिति (2) विवृश्यमानयोध 'र्मयोरेकं' कारणोपपत्त्याऽनुजानाति सम्भवत्यस्मिन् कारणं प्रमाणं हेतुरीति कारणोपपत्त्या स्यादेवमेतत् नेतरदिति', न्यायभाष्य, 1.1.40., पृष्ठ 321.

8. 'कथं पुनरयं तत्त्वज्ञानार्थो न तत्त्वज्ञानमेवेति? अनवधारणात् अनुज्ञानात्ययमेकतरं धर्म कारणोपपत्त्या न त्ववधारयति न व्यवस्यति न निश्चिनोति एवमेवेदमिति', न्यायभाष्य, 1.1.40., पृष्ठ 322.
9. 'विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः', न्यायसूत्र, 1.1.41.
10. 'यद्यपि संशयस्य पश्चादेव जिज्ञासा भवति तथाऽपि जिज्ञासायाः परस्तादपि संशयो भवति, स चात्र विवक्षित स्तर्कप्रवृत्त्यङ्गत्वात् तर्केण हि प्रसङ्गापरनाम्ना द्वयोः पक्षयोरेकरनिषेधेनैकतरः प्रमाणविषयतयाऽभ्यनुज्ञातव्य इतिविषयप्रत्यासत्त्या तर्कप्रवृत्तिं संशयस्येति.....अत्र च कारणव्याख्यानं प्रमाणमिति, उपपत्तिव्याख्यानं संभवतीति, अनुज्ञाव्याख्यानम् एवमेतन्नेतरदिति', न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, 1.1.40.
11. क. 'स्वरूपमनिष्टप्रसङ्गः स चात्माश्रयेतरेतराश्रयचक्रकानवस्थाप्रमाणबाधितार्थप्रसङ्गभेदेन पञ्चविधः', न्यायवार्तिकतात्पर्यटीकापरिशुद्धि, पृष्ठ 304,
ख. 'तर्कोऽनिष्टप्रसङ्गः', तर्कभाषा, पृष्ठ 342.
12. क. 'व्याप्याङ्गीकारेऽनिष्टव्यापकप्रसञ्जनं तर्कः', प्रमाणलक्षण, पृष्ठ 54.
ख. विष्णुतत्त्वविनिर्णय, पृष्ठ 324.
13. 'तर्कोऽनिष्टप्रसङ्गः', तर्कभाषा, पृष्ठ 342.
14. 'व्याप्याङ्गीकारे व्यापकानिष्टप्रसञ्जनं हि तर्कः', न्यायपरिशुद्धि, पृष्ठ 324.
15. 'कस्यचिद्धर्मस्याङ्गीकारेऽर्थान्तरस्यापादनं तर्कः', प्रमाणपद्धति, अनुमान परिच्छेद, पृष्ठ 203.
16. क. 'आपाद्यस्यानिष्टत्वं तद्विधिवद् प्रामाणिकहानमप्रामाणिककल्पनं चेति', प्रमाणपद्धति, अनुमानपरिच्छेद, पृष्ठ 205.
ख. 'तर्कोऽनिष्टप्रसङ्गःस्यादनिष्टं द्विविधं मतम्। प्रामाणिकपरित्यागस्तथेतपरिग्रहः', तार्किकरक्षा, श्लोक 70.
ग. 'अनिष्टञ्च द्विविधं प्रामाणिकपरित्यागोऽप्रामाणिकपरिग्रहश्च', आत्मतत्त्वविवेक, पृष्ठ 235.
17. क. 'व्यापकाभाववत्त्वेन निर्णीते व्याप्यस्याहर्द्यारोपाद् यो व्यापकस्याऽऽहर्द्यारोपः सः तर्कः', न्यायसूत्रवृत्ति, 1.1.40.
ख. 'व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः। स चैकादराविधः। व्याघातात्माश्रयचक्रकाश्रयानवस्थाप्रतिबन्धकल्पना-लाघवकल्पनागौरवोत्सर्गापवादवैजात्यभेदात्', सर्वदर्शनसंग्रह, पृष्ठ 400.
ग. 'व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः यथा यदि वह्निर्न स्यात्तर्हि धूमोऽपि न स्यादिति', तर्कसंग्रह, पृष्ठ 125.
18. 'स चात्माश्रयेतरेतराश्रयचक्रकानवस्थानिष्टाप्रसङ्गभेदेन पञ्चविधो', आत्मतत्त्वविवेक, पृष्ठ 404.
19. 'व्याप्तिस्तर्काप्रतिहतिरवसानं विपर्यये। अनिष्टाननुकूलत्वे इति तर्काङ्गपञ्चकम्', तार्किकरक्षा, श्लोक 72.
20. 'प्रसञ्जकस्य प्रसञ्जनीयेन व्याप्तिः प्रतितर्केण प्रतिघातः प्रसञ्जनीय विपर्यये पर्यवसानं प्रसञ्चितस्यानिष्टत्वं परपक्षासाधकत्वं चेति तदङ्गानि', न्यायपरिशुद्धि, पृष्ठ 340.
21. क. 'स चात्माश्रयेतरेतराश्रयचक्रकानवस्थानिष्टाप्रसङ्गभेदेन पञ्चविधो', आत्मतत्त्वविवेक, पृष्ठ 404.
ख. 'स चात्माश्रयेतरेतराश्रयचक्रकानवस्थाप्रमाणबाधितार्थप्रसङ्गभेदेन पञ्चविधः', न्यायवार्तिकतात्पर्यपरिशुद्धि, 1.1.40 पृष्ठ 304.
22. 'स चायं पञ्चविधः आत्माश्रयान्योन्याश्रयचक्रकानवस्थातदन्यबाधितार्थप्रसङ्गाभेदात्', न्यायसूत्रवृत्ति, 1.1.40. पृष्ठ 325.
23. 'आत्मश्रयादिभेदेन तर्कः पञ्चविधः स्मृतः', तार्किकरक्षा, श्लोक 71.
24. मानमेयोदय, श्लोक 12-14.
'स्वेनैव स्वस्य सिद्धिर्या तदात्माश्रयदूषणम्। अनेनान्यस्ततश्चायमित्यन्योन्याश्रयं भवेत्॥
अनेनान्यस्ततश्चायततोऽसाविति चक्रकम्। अतीतास्पृष्टमन्यान्यग्रहणं त्वनवस्थितिः॥
गौरवं लाघवं चेति तर्कौ सार्वत्रिकावुभौ। गौरवं कल्पनाधिक्य लाघवं त्वल्पकल्पना॥'
25. 'अपरे विषयभेदात्तर्कभेदा आत्माश्रयादिवन्मन्तुमचिताः। तद्यथा अविगमः, उत्सर्गः कल्पनागौरव-लाघवेचानौचित्यं चेति', खण्डनखण्डखाद्य, पृष्ठ 738.
26. 'ननु तर्के निरग्नकत्वनिर्धूमत्वरूपापादकापाद्यगोचरज्ञानयोर्यथाक्रमं करणत्वेन फलत्वे नाभिमतयोर्द्वयोरपि भ्रमत्वा कथं तर्कस्य प्रामाण्यमित्यतो मैवं फलकरणभाव किन्त्वन्यथैवेति।', प्रमाणपद्धति, अनुमान परिच्छेद, राधवेन्द्रतीर्थ टीका, पृष्ठ 215-16.
27. 'तर्क्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या तर्कोऽनुमानमुपपरिवत्', विट्ठल टीका, पृ० 214.

28. 'सोऽयं क्वचिद्विपरीतशङ्कानिरसनद्वारेण तर्कोऽपि प्रमाणमेव प्रमाणानुग्राहकः', प्रमाणपद्धति, अनुमान परिच्छेद, जनार्दन टीका, पृष्ठ 215.
29. 'सामान्याधिगतस्य विशेषज्ञापनार्थम् यस्यैव सामान्यमधिगतं तद्वर्तिनो विशेषा अप्यवगन्तव्या इति। ते च विशेषाः संयोगिनः समवायिश्च भवन्तीति। कारणेपपत्तिः प्रमाणेपपत्तिः (2) उपपत्तिसम्भवः प्रमाणविषयमनेन विविनक्ति अयमर्थे युक्त इति। प्रमाणानि पुनः प्रवर्तमानानि तर्कविविक्तयर्थं तथाभूतमवगमयन्तीति। ऊह संशयनिर्णयाभ्यां न भिद्यत इति केचित्त्रापरे त्वुमानमेव तर्कं युक्तपक्षं वर्णयन्ति' न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका, 1.1.40., पृष्ठ 326.
30. 'अयं तर्कः प्रमाणानामनुग्राहकः', तर्कभाषा, पृष्ठ 342.
31. 'तर्को न प्रमाणं संगृहीतो न प्रमाणान्तरं प्रमाणानामनुग्राहकस्तत्त्वज्ञानाय कल्पे', न्यायभाष्य, 1.1.1, पृष्ठ 53.
32. 'अनुमितिसाधनं भवतीति। साधनानुमानवत्स्वातन्त्र्येणाग्निप्रमापको भवतीत्यर्थः पर्वतोऽग्निमान्न वेति प्रतिपत्तौ साधनानुमानं विनैव यदि निरग्निः स्यात्तर्हि निर्धूमः स्यात्। न चायं निर्धूम इति तर्करूपानुमाननैवाग्नि-सिद्धेरनुमान-सिद्धत्वादिति भावः', प्रमाणपद्धति, अनुमान परिच्छेद, वेदेशतीर्थ टीका, पृष्ठ 216.
33. 'तर्कोऽपि प्रमाणमेवप्रमाणानामनुग्राहकः। साधकं बाधकं वा प्रमाणमेव हि शंकानिवर्तकमित्यर्थः', प्रमाणपद्धति, अनुमान परिच्छेद, जनार्दन टीका, पृष्ठ 215.
34. 'सोऽयं क्वचिद्विपरीतशङ्कानिरसनद्वारेण प्रमाणानामनुग्राहकोऽपि भवति', प्रमाणपद्धति, अनुमान परिच्छेद, पृष्ठ 214-15.

पर्यावरणक्षेत्रे संस्कृतम्

डॉ० चिन्मय चट्टोपाध्याय

व्याख्याता, जंगीपुर महाविद्यालय, जंगीपुर, प० बंगाल

‘आत्रियते परितः समन्तात् लोकोनेनेति पर्यावरणम्’ पृथिवी जलं तेजो वायुराकाशश्चेति पञ्चभूतानि प्रकृतेः प्रमुख तत्त्वानि। एतैः तत्त्वैरेव पर्यावरणस्य रचना भवति। परिष्कृत प्रदूषणरहितं च पर्यावरणं अस्मभ्यं सर्वविधं जीवनं सुखं ददाति। यथा जातः शिशुः मातृगर्भे सुरक्षिततिष्ठति तथैव मानवः पर्यावरणं कुक्षौ।

परन्तु स्वार्थान्धो मानवः तदेव पर्यावरणं अद्य नाशयति। यन्त्रागाराणां विषाक्तजलं नद्यां निपात्यते, येन मत्स्यादीनां जलचराणां च क्षणेनैव नाशो जायते। नदी जलमपि तत्सर्वथा अपेयं जायते। वनवृक्षा निर्विवेकं छिद्यन्ते, येन अवृष्टिः प्रवर्धते। वनपशवः च शरणरहिता ग्रामेषु उपद्रवं विदधति। शुद्धवायुरपि वृक्षकर्तृनात् संकटापन्नो जातः।

पर्यावरणे विकृतिमुपगते विविधा रोगा जायन्ते। मत्स्यपुराणे वर्णितमस्ति-

दशकूप समावापी दशवापी समोहदः।

दशहृदसम पुत्रो दशपुत्रसमो द्रुमाः॥

पुराण वैधक ग्रन्थे वर्णितमस्ति-

तुलसी कानने चैव गृहे यस्यावतिष्ठते।

तद्गृहं तीर्थमित्याहुः नायान्ति यमङ्किराः॥

पद्योत्तरखण्डे-

तुलसीगन्धमादाय यत्र गच्छति मारुतः।

दिशो दश पुन्त्याशु भूग्रामांश्चतुर्विधान॥

पीतो मरीचि चूर्णेन तुलसी पत्रजो रसः।

द्रोण पुष्पसोप्येवं निहन्ति विषमं ज्वरन्॥

अद्यतन मानवः विज्ञानं विना जीवनस्य कल्पनाम् अपि कथम् करोतु। यथा सूत्रधारस्य इच्छया पुत्तलिका भ्रमति नृत्यति च तथा मावोपि विज्ञानस्य दासः जातः। किन्तु प्रकृति समक्षं अद्यापि विज्ञानं गर्वितो मानवः वामन कल्प एव।

अतिप्राचीन कालात् संस्कृतभाषा अस्माकं धर्मदर्शन साहित्यज्ञान विज्ञानादीनां क्षेत्राणि पुष्पाति। न केवलं भारते अपितु विदेशेषु अपि संस्कृत ग्रन्थानाम् महान् आदरः।

अद्यत्वे जर्मनदेशे संगणकेषु प्रयोगाय संस्कृतभाषायै महत्वं दीयते। भारतीयः स्वकीयां सपदं प्रति न दत्तादराः। संस्कृतं अस्माकं धर्मदर्शन, साहित्यज्ञानविज्ञानादीनां क्षेत्राणि पुष्पाति।

प्रदूषणविषये उक्तं च-

सृष्टौ स्थितौ विनाशे च नृविज्ञैर्बहुनाशकम्।

पञ्चतत्त्वविरूद्धं यत्साधितम् तत्प्रदूषणम्॥

वायुप्रदूषणविषये-

प्रक्षिप्तो वाहनैर्धूमः कृष्णो बहवपकारकः।

दुष्टैरसायनैर्युक्तो घातकः श्वासरूगवहः॥

जलप्रदूषणविषये-

यन्त्रशाला परित्यक्तैर्नगरेदूषितं द्रवैः।

नदीनदी समुद्राश्च प्रक्षिप्तैर्दूषणं गताः॥

प्रदूषणनिवारणाय संरक्षणाय च-

शोधनं रोपणं रक्षावर्धनं वायुवारिणम्।

वनानां वन्यवस्तूनां भूमेः संरक्षणं वरम्॥

‘धर्मो रक्षति रक्षितः’ इत्यार्षवचनम् पर्यावरणरक्षणं अपि धर्मस्यैवाङ्गमिति ऋषयः प्रतिपादितवन्तः।

वापी कूप तडागादिनिर्माणं धर्मसिद्धेः सोतोरूपेण अङ्गीकृतम्। प्रकृति रक्षयैव संभवति लोकरक्षेति न संशयः। अस्माभिः सदैव प्रयतितव्यं यथा जलं-स्थलं-गगनञ्च निर्मलं स्यात्।

प्रकृति समक्षमद्यापि गर्वितो मानवः वामनकल्प एव भूकम्परहस्यज्ञाः ऋषयः कथयन्ति यत् बहुभूमिकं भवननिर्माणं न करणीयम्। तटबन्धं निर्माय वृहन्मात्र नदी जलमपि नैकेस्मिन् पुञ्जीकरणीयम् अन्यथा असंतुलनवशाद् भूकम्पः संभवति।

वस्तुतः शान्तानि एव पञ्चतत्त्वानि क्षितिजलपावकसमीरगगनानिभूतलस्य योगक्षेमाभ्यां कल्पन्ते। अशान्तानि खलु तान्येव महाविनाशं उपस्थापयन्ति। प्रकृति-पर्यावरणसम्बन्धे उक्तमस्ति-

पृथिवीं परितो व्याप्य तामच्छाद्य स्थितं यत्।

जगदाधाररूपेण पर्यावरणमुच्यते॥

भूकल्पविषये आधुनिक भूकम्पविशेषज्ञाः कथयन्ति- पृथिव्याः गर्भे विद्यमानाग्निर्यदा खनिजमृत्तिका शिलादिसंचयं क्वथयति तदा तत्सर्वमेव लावारसताम् उपेत्य दुर्वारगत्या धरां पर्वतं वा विदार्य बहिर्निष्क्रमति।

भूकम्पविषये प्राचीनमतम्-

प्राचीनैः ऋषिभिः अभि स्व-स्वग्रन्थेषु भूकम्पोल्लेख कृतः।

वराहसंहितायाम्-

क्षितिकम्पमाहुरेकं मध्यन्तर्जलनिवासि सत्वकृतम् भूभाररिवन्दिगजनिःश्वास समुद्भव चान्ये। अनिलोनिलेन निहितः क्षितौ पतन् सस्वनं करोत्यन्ये केचित् त्वदृष्टकारितमिदमन्ये प्राहुर्चार्याः।

मयूरचित्रे-

कदाचित् भूकम्पः श्रेयसेपि कल्पते। एतादृशाः अपि उल्लेखः सन्ति। यथा वारूणमण्डल मौशनसे-

प्रतीच्यां यदि कम्पेत वारूणे सप्तके गणे।

द्वितीयामे रात्रौ तु तृतीये वारूणं स्मृतम्॥

अत्र वृष्टिश्च महती शस्यवृद्धिस्तथैव च।

प्रज्ञा धर्मरताश्चैव भयरोगादिवर्जिताः॥

उल्का भूकम्पदिग्दाह संभवः शस्यवृद्धये।

क्षेमरोग्य सुभिक्षायै वृष्टये च सुखाय च॥

भूकम्प समा एव अग्निकम्पः, वायुकम्पः अम्बुकम्पः इति वभन्येपि भवन्ति। सत्यमेव कथितम्
अधुना भौतिकवादी युगे अखिलविश्वे परस्परं प्रतिस्पर्धाः दरीदृश्यते। तस्य दुष्परिणामोपि सर्वे जानन्ति।

अधुना पर्यावरणे- वायुः जलं, भक्ष्यं धरातलं च सर्वे दूषितम् अस्ति। संसारे प्रायशः कुत्सितवस्तुमिश्रितं
भक्ष्यपदार्थं लभते।

अन्यश्च- शकटीयानं कज्जलमलिनं धूमं त्यक्त्वा पर्यावरणं दूषयति। अनन्तयानपंक्तयाः आवागमनं
दुष्करं कुर्वन्ति।

अतः सारमिदं यत् बहिरन्तर्जगति तु शुद्धीकरणं करणीयम्।

इति शम्॥

एम. एन. राय एवं वामपंथी चिन्तन

ब्रज भूषण प्रसाद

शोध छात्र, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

मार्च-अप्रैल 1887 में एक शिक्षक दीनबन्धु भट्टाचार्य के घर में नरेन्द्र नाथ भट्टाचार्य (एम. एन. राय का मूल नाम) का जन्म 24 परगना जिले के अरबलिया गाँव में हुआ था। दीनबन्धु भट्टाचार्य सुधारवादी दृष्टिकोण के व्यक्ति थे। रूढ़ियों से जकड़े समाज में पिता के सुधारवादी दृष्टिकोण का प्रभाव नरेन की जिन्दगी पर पड़ा। लेकिन बंगाल के क्रांतिकारी राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रभाव में वे अपने किशोर अवस्था में ही आ गये, जो पूरी जिन्दगी उनके साथ जुड़ा रहा। उन्हीं शुरूआती दौर में उनके कुछ मूल भावनात्मक एवं बौद्धिक सरोकारों ने आकार ग्रहण किया। नरेन एक प्रतिबद्ध क्रांतिकारी हो गये। उनकी शिक्षा बाधित हुई। उनकी पारिवारिक कठिनाइयों के चलते भी ऐसा हुआ होगा। नये स्थापित राष्ट्रीय महाविद्यालय, जिसके साथ श्री अरविन्दो जुड़े हुए थे, से नरेन ने इंट्रेस परीक्षा में उत्तीर्णता प्राप्त की। उसके बाद उन्होंने बंगाल तकनीकी संस्थान में दाखिला लिया लेकिन वर्ष 1907 में एक राजनैतिक डकैती में शामिल होने के चलते, संस्थान का त्याग कर दिया।

राय की शुरूआती गतिविधियों एवं साहसिक कार्रवाइयों तथा बाद में उनके राजनैतिक एवं बौद्धिक विकास को समझने के लिये, राष्ट्रीय क्रांतिकारी आन्दोलन या “अतिवादी राष्ट्रवाद” की विचारधारा को समझना आवश्यक है।

प्रो. मजुमदार के शब्दों में बंगाल का जुझारू राष्ट्रवाद दो स्तम्भों पर टिका हुआ है। वेदान्त एवं गीता के दार्शनिक शिक्षा के आधार पर स्वामी विवेकानन्द का देशभक्ति का आह्वान तथा बंकिम चन्द्र द्वारा मातृभूमि के प्रति धार्मिक भक्ति।¹ लेकिन नये राष्ट्रवाद के सबसे बड़े पुरोधा श्री अरविन्दो ने इस जुझारू राष्ट्रीय आन्दोलन को भारत में एक गहरी एवं विस्तारित राजनैतिक अनुकूलता प्रदान की। भारतीय अतिभूतवादी भाषा में लिपटे उनके राष्ट्रीय दर्शन में हेगेल के दर्शन की मजबूत छाप थी।²

जिस राष्ट्रवाद की उन्होंने शिक्षा दी वह सर्वोत्तम धर्म था। चूँकि राष्ट्रीय स्वतंत्रता ईश्वर प्रदत्त है इसलिये राष्ट्रीय संघर्ष एक पवित्र (धार्मिक) उद्देश्य है जिसमें सभी तरह के संकीर्ण स्वार्थों, संबंधों, यहाँ तक कि सामान्य नैतिक विचारों को पीछे छोड़ना पड़ता है। वे स्वतंत्रता के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये तथा उसे प्राप्त करने के तरीके के बारे में कोई समझौता करने के लिये तैयार नहीं थे। सुधारवादी कांग्रेसजनों के राजनैतिक कार्यकलापों के ठीक उलट उनकी राजनीति के महत्व एवं निहितार्थों को समझा जा सकता है। यह बात उस समय सामने आई जब 1907 के सूरत कांग्रेस (सम्मेलन) में सुधारवादी कांग्रेसजनों को इन अतिवादियों के गंभीर चुनौती का सामना करना पड़ा, उस समय तक कांग्रेस पर इन्हीं सुधारवादी या उदारवादियों का वर्चस्व था। ये सुधारवादी प्रशासन में भारतीयों की पूर्ण भागीदारी, सही कर नीतियों के जरिये भारतीय उद्योगों की सुरक्षा आदि माँगें रखते थे। वस्तुतः ब्रिटिश शासित राज्य, विकास के रास्ते के बारे में एक उदाहरण प्रस्तुत कर रहा था। इन अधिकारों को प्राप्त करने के लिये ये उदारवादी संवैधानिकता का सहारा ले रहे थे। वे बार-बार ब्रिटिश सरकार की न्यायप्रियता की दुहाई देते थे तथा कभी-कभी उनकी आवाज गिड़गिड़ाहट में बदल जाती थी। बौद्धिक रूप से अतिवादी विचारधारा के सबसे तेजस्वी प्रणेता के रूप में श्री अरविन्दो ने इन उदारवादी कांग्रेसी नेताओं की कटुतम शब्दों में निन्दा की। राजनैतिक स्वतंत्रता किसी भी देश के लिये हमारी सांस के समान है।³

राजनैतिक स्वतंत्रता का लक्ष्य हासिल किये बगैर, सामाजिक सुधार, शिक्षा में सुधार, उद्योगों का विस्तार एवं राष्ट्रीय जाति के नैतिक मूल्यों के उत्थान के प्रयास, मूर्खता की हद एवं बेकार की बात है। उन्होंने जोर देकर कहा कि एक पराधीन राष्ट्र स्वतंत्रता हासिल करने के लिए धीरे-धीरे अपने को तैयार नहीं करता है, यह स्वतंत्रता हासिल कर प्रगति की ओर बढ़ता है।⁴ उन्होंने शिक्षा माँगने के तरीके तथा प्रार्थना एवं आवेदन करने एवं प्रतिरोध करने की नीतियों की खिल्ली उड़ाई। राष्ट्रीय आन्दोलन के लिये विस्तारित सामाजिक आधार की कल्पना, उनके राजनीति की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता थी। उन्होंने सुधारवादियों के मध्यवर्ग के प्रति एक खास तरह की पक्षधरता, उनकी आम जनता के प्रति विश्वास का अभाव, उद्योग, व्यापार, पेशा, प्रशासन में लगे मध्य वर्ग के प्रति मोहग्रस्तता की तीखी आलोचना की।⁵ इसके विपरीत उन्होंने बहुत ही प्रगतिशील लहजे में कहा कि इस परिस्थिति से लड़ने की कुंजी सर्वहारा है। जो कोई भी सर्वहारा की स्थिति को समझने की कोशिश करता है और उसकी ताकत को अपने पक्ष में करता है, वही परिस्थिति का मालिक होगा। हमारा पहला एवं सबसे पवित्र उद्देश्य सर्वहारा को ऊपर उठाना और उसे ज्ञान के प्रकाश से आलोकित करना है। एक धार्मिक राष्ट्रवादी जो समाजवादी नहीं है, उसके मुँह से सर्वहारा की बात सुनना, एक तरह से असंगत लगता है। लेकिन बंगाल के जुझारू राष्ट्रीय आन्दोलन को अरविन्दो ने जो नयी ऊर्जा एवं उसे नयी स्थिति प्रदान की, उसमें इन विचारों का एक बड़ा प्रभाव होगा। कम से कम उच्च मध्यवर्ग एवं उनकी राजनीति के बारे में वितुष्णा का भाव तो होगा ही।⁶

19वीं सदी के अन्तिम समय में बंगाल के उग्र युवाओं ने स्वामी विवेकानन्द से प्रेरणा प्राप्त करते हुए लाठी का प्रयोग करने तथा शारीरिक व्यायाम के लिये व्यायाम शालाएँ स्थापित की। इन व्यायाम शालाओं ने 1901 में प्रमथ मित्रा के नेतृत्व में सर्वविदित क्रांतिकारी संस्था अनुशीलन समिति के गठन का आधार प्रदान किया।⁷ करीब-करीब उसी समय श्री अरविन्दो ने इसी तरह की संस्था के गठन पर विचार किया। वस्तुतः उन्होंने बड़ौदा से जतीन मुखर्जी एवं अपने छोटे भाई बरिन्द्र घोष को इस उद्देश्य के लिए बंगाल भेजा। लेकिन जल्द ही उनका संगठन अनुशीलन समिति के साथ समाहित हो गया जो बंगाल और भारत के अन्य हिस्सों में गुप्त गतिविधियों का प्रमुख संगठन हो गया। बंकिम चन्द्र के आनंद मठ का संगठन पर प्रभाव तथा बंगाल में अनुशीलन समिति का अनुशासन तथा 1904 में महाराष्ट्र में उसी तरह का संगठन नवभारत बहुत मजबूती से उभरा। आनंद मठ मातृभूमि की स्वतंत्रता के लिये संन्यासियों के समूह की एक संघर्षपूर्ण कहानी है। आनंद मठ से लिया गया राष्ट्रीय गीत “वन्देमातरम” बंकिम चन्द्र की भावना का उद्रेक और भारत माता की पूजा में गाया गया गीत है।⁸ संगठन में नये आगंतुकों के लिये जो शपथ दिलाई जाती थी उसमें भारत माता की स्वतंत्रता के लिये पूर्ण प्रतिबद्धता सिखाई जाती थी तथा भारत माता का नाम बहुत आदर एवं भक्तिभाव से ली जाती थी। संगठन के बारे में रायबाबू याद करते हैं कि आनंद मठ हमारी प्रेरणा का समान श्रोत था। उस उपन्यास से हमें क्रांतिकारी आदर्श का दर्शन होता था। वस्तुतः हमलोगों ने उस नाटक के मुख्य पात्रों की भूमिका का बंटवारा अपने बीच कर लिया था। वे संन्यासी थे। हमलोगों ने उनके रास्तों पर चलने की प्रतिज्ञा की थी।⁹

बंगाल के बंटवारे से (1905) पूरे देश में, खासकर बंगाल में क्रोध की लहर दौड़ गई। जुझारू राष्ट्रीयतावाद को और आगे बढ़ने का मौका मिला। आक्रोश से भरे बंगाल के क्रांतिकारी आगे की योजना बनाने में जुट गये। जल्द ही उनके बीच मतभेद उभर गये। उनके बीच जो अतिवादी थे, वे ब्रिटिश शासकों के खिलाफ आतंकवादी कार्रवाई के जरिये उनके हौसले को तोड़ना चाहते थे तथा प्रशासन को प्रभावहीन बनाना चाहते थे। दूसरे लोग आतंकवाद को तिलांजलि देकर अंतिम तौर पर

सत्ता पर कब्जा करने के लिये संगठित सैनिक तैयारी करना चाहते थे। इस समूह के नेता अनुभवी प्रमथ मित्रा थे। उनकी मृत्यु के बाद नेतृत्व का भार जतीन मुखर्जी के कंधे पर आ गया। नरेन भट्टाचार्य उनके सिपहसालाकारों में से एक हो गये।¹⁰

हालांकि नरेन की साहसिक कार्यवाइयों का विस्तार प्रथम विश्वयुद्ध के शुरू होने के बाद हुआ लेकिन उस समय तक वे एक अति साहसी क्रांतिकारी बन चुके थे। वे 1907 में 'चिंगरीपोटा' डकैती मामले में गिरफ्तार हुए लेकिन पर्याप्त साक्ष्य के अभाव में मुक्त कर दिये गये। वे फिर 1910 में हावड़ा षड्यंत्र मामले में गिरफ्तार किये गये और एक अभियोगी कैदी के रूप में 20 महीनों तक जेल में बंद रहे। जेल से छूटने के बाद, वे थोड़े दिनों के लिये सन्यासी बन गये, लेकिन जल्द ही वे राजनीति में लौट आये।

युद्ध के छिड़ने के बाद, जर्मनी की आर्थिक मदद से बंगाल के क्रांतिकारियों ने एक बड़े हमले की योजना बनाई। उन्होंने आनेवाली क्रान्ति के लिये एक 'जेनरल स्टाफ' का गठन किया तथा जतीन मुखर्जी को उसका प्रधान सेनापति बनाया।¹¹ कोष की वसूली के लिये उन लोगों की कई डकैतियों (दोनों डकैतियाँ फरवरी 1915 में हुई) में नरेन शामिल थे। लेकिन उनकी योजना का केन्द्र बिन्दु गुप्त रूप से जर्मनी से बड़े पैमाने पर अस्त्र प्राप्त करना था। जर्मनी और फ्रांसिसको में कार्यरत भारतीय क्रांतिकारियों से संबंध स्थापित किये गये। पूर्व निर्धारित योजना के मुताबिक एस. एस. मेमरिक को अस्त्र लादकर भारत आना था। अस्त्रों को पहुँचाने की व्यवस्था के लिये अप्रैल 1915 में नरेन को बटाविया भेजा गया। उन्होंने अपना नाम सी. मार्टिन रख लिया। वे बटाविया में जर्मनी के वाणिज्य दूत थियोडोर टेलफी से मिले। अस्त्र से भरे जहाज को उड़ीसा तट पर भेजने की योजना बनाकर, वे वापस चले आये। एस. एस. मेमरिक, अमरीकी एवं ब्रिटिश अधिकारियों के चपेट में पड़ गये और अपने नियत स्थान पर नहीं पहुँच सके। नरेन ने फिर अगस्त में दूसरी बार जावा की यात्रा की। लेकिन इस बार की असफलता के बाद वे भारत नहीं लौटे और अपना भाग्य आजमाने जापान चले गये। रास बिहारी बोस से निराशा के बाद, चूँकि उनसे नरेन की ज्यादा अपेक्षा थी, उन्होंने सनयात सेन से भेंट की जिन्होंने जापान में आश्रय लिया था। सनयात सेन ने उनके सामने प्रस्ताव रखा कि अगर वे जर्मनी के राजदूत से 50 लाख डॉलर प्राप्त करने में सफल हों तो वे उस रुपये का उपयोग यू आन शी काई को परास्त करने में करेंगे और तीसरी क्रान्ति को सफल बनायेंगे।¹² इस क्रान्ति को पूरा होने के बाद, जो बेकार अस्त्र-शस्त्र होंगे वे उत्तर सीमांत की ओर से भारत भेज दिय जायेंगे। इस महायोजना ने मेरी साहसिक ऊर्जा को पंख लगा दिया। बहुतेरे साहसिक कारनामों के बाद उन्होंने चीन में जर्मनी के राजदूत एडमिरल वॉन हिन्ज से मुलाकात की। राजदूत ने उन्हें सलाह दिया कि इतनी बड़ी रकम आवंटित करने का काम जर्मन शाही सेनापति ही कर सकते हैं, अतः आप जर्मनी चले जाँय।¹³

चीन और जापान में सम्मानजनक कार्य नहीं करने की स्थिति में उन्होंने बर्लिन जाने से पहले, अमेरिका में रहने वाले क्रांतिकारियों से संबंध स्थापित करने का निर्णय लिया। बहुतेरे रोमांचक कारनामों के बाद नरेन 1916 में अन्ततः सन फ्रांसिसको पहुँच गये। लेकिन पुलिस से होनेवाली मुश्किलों को भांपते हुए वे स्टेन फोर्ड विश्वविद्यालय वाले शहर पालो आल्टो चले गये। वहाँ वे धन-गोपाल मुखर्जी से मिले जो जादु गोपाल मुखर्जी के छोटे भाई थे। जादु गोपाल मुखर्जी, नरेन के भारत में क्रांतिकारी सहयोगी थे। धन गोपाल मुखर्जी के सुझाव पर उन्होंने अपना नाम एम. एन. राय रख लिया। उसी विश्वविद्यालय परिसर में उन्हें एक स्नातक महिला एवलिन से मुलाकात हुई। उन लोगों ने आपस में विवाह करने का निर्णय लिया और वे वहाँ से न्यूयार्क रवाना हो गये, जहाँ उन्होंने लाला लाजपत राय के साथ दोस्ती गाँठी। लाजपत राय उन दोनों के प्रति स्नेहशील थे और

राय के बारे में उनकी सोच सकारात्मक थी। यही पर नरेन मार्क्सवाद की ओर मुड़े, लेकिन उनके बौद्धिक विकास का वाजिब श्रेय एवलिन को दिया जाना चाहिये। न्यूयार्क में लाजपत राय और राय आमतौर पर प्रगतिशील लोगों, समाजवादियों, अराजकतावादियों संघवादियों के साथ वाद-विवाद में मार्क्सवादी भौतिकवाद का विरोध करते थे।¹⁴ इस वाद विवाद में वे आध्यात्मिक ज्ञान का सहारा लेते थे। वाद-विवाद में प्रभावी ढंग से हिस्सा लेने के लिये राय ने मार्क्सवादी साहित्य का अध्ययन किया। लेकिन इस संबंध में याद करते हुए वो कहते हैं कि इस अध्ययन ने उनके उद्देश्य को पराजित करने की स्थिति पैदा कर दी। एक दिन जब लाजपत राय साम्राज्यवादी शोषण के चलते भारत की गरीबी की हृदयविदारक तस्वीर पेश कर रहे थे, एक क्रांतिकारी ने उनसे प्रश्न किया कि भारत की स्वाधीनता के बाद भारतीय कैसे देश से गरीबी खत्म करने का काम करेंगे? लाजपत राय द्वारा इस संबंध में दिये गये असंतोषजनक उत्तर के बाद फिर एक प्रश्न पूछा गया कि भारतीय जनता को इस बात से क्या फर्क पड़ता है कि उनका शोषण विदेशी साम्राज्यवादियों के बदले देशी पूँजीपतियों द्वारा हो रहा है?¹⁵

हालांकि लाजपत राय क्रोधित हो गये लेकिन इस प्रश्न ने राय के विचार में पूर्ण बदलाव ला दिया। राय ने इस संबंध में याद करते हुए कहा है, कि मैं इस प्रश्न के सामने अन्दर से बेचैनी महसूस कर रहा था, हमारे मामले में कुछ बातें गलत थीं। अचानक मेरे मस्तिष्क में एक प्रकाश कौंध गया और यह एक नये ढंग का प्रकाश था। न्यूयार्क सार्वजनिक पुस्तकालय में उन्होंने कार्ल मार्क्स की कृतियों का गहराई से अध्ययन किया और उसमें उन्होंने नया अर्थ ढूँढ़ा। वे आगे कहते हैं, कि उसके बाद मैंने भौतिकवादी दर्शन को छोड़कर, समाजवाद ग्रहण कर लिया। वह अन्तिम प्रयास था, जिसकी रक्षा मैंने लम्बे समय तक की। वर्ष 1917 के शुरूआती समय में वे जर्मन-हिन्दू षड्यंत्र मामले में गिरफ्तार किये गये और न्यायालय के सामने प्रस्तुत किये गये। न्यायालय ने उन्हें वहाँ से भागने के विरुद्ध चेतावनी दी। लेकिन कानून के रक्षकों को झांसा देने में माहिर राय भागकर मैक्सिको चले गये।¹⁶

मैक्सिको न सिर्फ सुरक्षित और रहने लायक ही जगह था, बल्कि उसने इनके ऊपर कल्पना से परे सम्मान, अवसर एवं सहूलियतें न्योछावर कर दी। एक अजीब तरह के षड्यंत्रकारी घटना क्रम के दौरान राय को जर्मनी के श्रोत से तथा मैक्सिको सरकार से अप्रत्याशित आर्थिक मदद मिल गई। वे ऊँची राजनैतिक, सामाजिक और खासकर समाजवादी खेमे में एक ऐसे व्यक्ति के रूप में पहचाने जाने लगे जिससे सभी मिलना चाहते हो। यह एक ऐसा अनुभव था जिससे मुझे भाग्य पर भरोसा होने लगता लेकिन चूँकि मैं जन्म से ही शंकालू था, इसलिये मैं भाग्यवादी होने से बच गया।¹⁷

जब नरेन मैक्सिको में थे उसी समय बोलशेविक क्रान्ति हुई। मैक्सिको के तमाम वामपंथी समाजवादियों पर इसका ऊर्जामय प्रभाव पड़ा। राय ने इस प्रभाव का निम्नलिखित शब्दों में वर्णन किया है। मैं इस ऊर्जामय प्रभाव के वशीभूत हो गया। यह मेरे राजनैतिक विकास का नविनीकरण था। यह एक कट्टर राष्ट्रवादी का साम्यवाद की ओर छलांग थी। इस बदलाव का आंतरिक मनोविज्ञान बहुत रोचक है।

राय द्वारा बाद में दी गई बातों की जानकारी नीचे दी जा रही है। (हालांकि ये जानकारीयाँ तार्किकता के तत्व से एकदम मुक्त नहीं हो सकती हैं) जिससे उनके बौद्धिक विकास का संभावित सूत्र प्राप्त होता है। राय कहते हैं कि “सबसे क्रान्तिकारी विश्वास के प्रतिनिष्ठा व्यक्त करना एक भावनात्मक संतुष्टि थी। सांस्कृतिक तौर पर मैं अभी भी राष्ट्रवादी था। और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद एक ऐसा दुराग्रह है जो बहुत देर तक जकड़े रहता है। अपने साम्राज्यवाद विरोधी वैचारिक तेवर के चलते

समाजवाद, मुझे एक सही विचारधारा लग रहा था। इसके आदर्शवादी एवं मानवीय पहलू उनके लिये उतने नये नहीं थे, जिन्होंने आनन्दमठ से क्रांतिकारी प्रेरणा ग्रहण की थी।

राष्ट्रीय क्रांति का पुराना परिपेक्ष्य अब समाजवादी परिपेक्ष्य के रूप में सामने आ चुका था। इसके साथ ही, जहाँ तक पुराने कामरेडों को सहायता देने का सवाल है, यह उनका कर्तव्य है। जर्मनी का दृष्टिकोण उत्साहजनक था। वस्तुतः यूरोप में अपनी हार के बाद उन्होंने अपनी महत्वाकांक्षी रणनीति को लागू करने के लिये व्याकुलता के साथ भारत और अन्य क्षेत्रों का उपयोग करने के लिये उनकी ओर हाथ बढ़ाया। जर्मनी का शाही वाणिज्यिक अधिकारी, मैक्सिको आया और राय के साथ चीनी अस्त्र खरीदने की पुरानी योजना पर चर्चा की। राय को सभी संभव सुविधाएँ प्रदान करने का आश्वासन दिया गया तथा मैक्सिको के राष्ट्रपति “कोरेन्जा” जिन्हें सारी बातों की जानकारी थी, उन्होंने इस योजना में राय के कामयाबी की कामना करते हुए उनके यात्रा का पूरा इंतजाम किया। लेकिन मैक्सिको के जमीन एवं समुद्री मार्ग के द्वारा मैक्सिको तट के इर्द-गिर्द थकावट पूर्ण यात्रा के बाद राय ने इस योजना पर कार्य करना बंद कर दिया और मैक्सिको लौट आए। उन्होंने राष्ट्रीय राजनीति के पुराने रास्ते को पुरी तरह तिलांजली दे दी और अपने नये आदर्श समाजवाद को साकार करने में पूरी निष्ठा से कूद पड़े।¹⁸

सरकारी संरक्षण एवं पैसे की अधिकता से राय एक आरामदायक जिन्दगी, यहाँ तक कि ऐशपूर्ण जिन्दगी जी सकते थे। उनके जो पुराने सात्विक संकोच थे वे धीरे-धीरे समाप्त हो गये और उन्होंने जीवन से जुड़ी अच्छी चीजों की प्रशंसा शुरू कर दी। वे अच्छे भोजन, पेय पदार्थों, नृत्य, गीत आदि का आनंद लेने लगे। यह उनकी जीवन दृष्टि में एक मौलिक परिवर्तन का द्योतक था। हालांकि बहुत बाद में उन्होंने भौतिकवाद को जिन्दगी से जुड़ा दर्शन बतलाया, लेकिन वे खुद भौतिकवादी हो गये थे क्योंकि वे जीवन के आनंद में शामिल होना कोई बुराई नहीं समझते थे। और उन्होंने सात्विकता को अवैज्ञानिक, अमानवीय एवं ढोंगीपन के रूप में देखना शुरू किया। यह उनके साथ एक प्रतिबद्ध विचारधारा के रूप में जुड़ा रहा जो उनके मानवतावादी दर्शन का आधार बना।¹⁹

लेकिन सबसे उनके जीवन का नाटकीय पहलू, उनका देश के सार्वजनिक जीवन में प्रसिद्धि पाना है। एक अनजाने विदेशी के साथ राष्ट्रपति एवं अन्य मंत्रियों द्वारा देश की ऊँची राजनीति के बारे में सलाह-मशविरा और उनका एक राजनेता के रूप में सम्मान तथा विशेष भोज में स्वागत सत्कार तथा देश के बौद्धिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में बिना माँग एवं अप्रत्याशित ढंग से नेतृत्वकारी भूमिका प्रदान करना, निश्चय ही विस्मयकारी है। ऐसे अवसरों के मर्मस्पर्शी अनुभवों को राय ने अपनी प्रतिक्रिया में इस तरह व्यक्त किया है – ऐसे तमाम घटनाक्रम “हॉस्य ओपेरा” से लिये गये दृश्यों की तरह होता था। यह एक जासूसी कहानी की तरह लगता था। ऐसा प्रतीत होता था कि भाग्य मुझे फिर से मेरी निष्ठा को हासिल करने के लिये दृढ़ प्रतिज्ञ है।

एक बुद्धिजीवी के रूप में राय ने एक अच्छी शुरूआत की। उन्होंने स्पेनिश भाषा सीखी और वामपंथी स्पेनिश पत्रिकाओं में लिखना शुरू किया। भारत पर स्पेनिश में उनकी किताब “ला इंडिया: सू पसाडे, सूप्रेजेन्ट, सूपोरमेनीर 1918 में प्रकाशित हुई। इस छोटी किताब में मोनरो सिद्धान्त पर लिखा—“दी वे टू डुरेबुल पीस” जब अमरीका में राय थे तब लिखा गया था, जोड़ दिया गया। इस किताब को प्रशंसा मिली। विश्वविद्यालय के रेक्टर मेस्ट्रो कैसास के आमंत्रण पर उन्होंने एक भाषण दिया। यह एक ऐसे आदमी के लिये जिसे किसी औपचारिक शिक्षा का लाभ नहीं मिला है, अत्यन्त ही आनन्ददायक बात थी। मैक्सिको के समाजवादी आन्दोलन में राय का चमत्कारिक महत्व था। इसमें कोई शंका नहीं कि मैक्सिको की सरकार और वहाँ का समाजवादी आन्दोलन जिस तरह राय

के व्यक्तित्व का इस्तेमाल करना चाहते थे उससे राय की इतनी ऊँची हैसियत हो गई थी। लेकिन यह राय की कोई छोटी उपलब्धि नहीं थी कि वे इस परिस्थिति के अनुरूप एक बड़ी हस्ती बन गये थे। एक बौद्धिक एवं राजनैतिक नेता के रूप में अपने को सम्पन्न साबित करने में वे आश्चर्यजनक रूप से कामयाब रहे। दिसम्बर 1918 में मैक्सिको की समाजवादी पार्टी के महासचिव चुने जाने के बाद उन्होंने उस पार्टी को वर्ष 1919 में कम्युनिस्ट पार्टी के रूप में बदलने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यह रूस के बाहर पहली कम्युनिस्ट पार्टी थी।²⁰

कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के प्रतिनिधि के तौर मैक्सिको आये बोरोदिन ने इस बात के लिये प्रमुख रूप से पहल किया। मैक्सिको आने के बाद बोरोदिन ने राय से गहरी मित्रता गाँठ ली। हालाँकि राय ने बोरोदिन को आर्थिक संकट एवं अन्य संकटों से मुक्त होने में सहायता की लेकिन बोरोदिन की मित्रता से राय की जिन्दगी में एक बड़ा बदलाव आ गया। राय के अनुसार बोरोदिन ने उन्हें हेगेल के द्वन्द्ववाद की गुन्थियों से साक्षात्कार कराया, जो मार्क्सवाद की कुंजी है। भारतीय ज्ञान के संबंध में जो लम्बे समय से चला आ रहा विश्वास था, वह धूमिल पड़ता गया और उनसे मैंने यूरोप की संस्कृति का ज्ञान प्राप्त किया। बोरोदिन ने उन्हें मैक्सिको की कम्युनिस्ट पार्टी के प्रतिनिधि के रूप में “कम्युनिस्ट इंटरनेशनल” के दूसरे सम्मेलन में शामिल होने के लिये राजी किया। उन्होंने राय द्वारा उनके पुनर्जन्म की जगह को छोड़ने में हो रही हिचकिचाहट को दूर किया और कहा कि अपने देश को मत भूलो, मास्को तो रास्ते में है। राय ने टिप्पणी की कि इस बात से उनके सामने एक नया दृश्य कौंध गया, यह मेरे जीवन का नया अध्याय था।

मास्को की उनकी यात्रा उत्तेजनापूर्ण अनुभवों के बगैर पूरी नहीं हुई। इस बार उन्होंने वी. ग्रेसिया के नाम से यात्रा की और मैक्सिको की सरकार ने उन्हें बहुत सारी सहूलियतें प्रदान की। रास्ते में वे बर्लिन में रुक गये (दिसम्बर 1919 से अप्रैल 1920)। यह उनकी अंतिम यात्रा नहीं थी। बर्लिन में ठहरना, उनके लिये बहुत उपयोगी साबित हुआ। मैंने बहुत कुछ सीखा और बहुत से नये मित्र और परिचित बनाये।²¹

जिनको मित्र बनाया और नये लोगों से परिचित हुए उनमें जर्मन सामाजिक जनवादी आन्दोलन के पुराने कद्दावर नेता, बर्न्स्टीन, काउत्सकी, हलफरडिंग और नये कम्युनिस्ट नेता थैलिमर, ब्रान्डलर, फुक्स, एनेस्ट मेयर, इसके साथ-साथ उन्हें विश्व के विभिन्न हिस्सों के क्रांतिकारियों के साथ क्रांति की समस्या पर बात करने का अवसर मिला। यह जर्मनी में कम्युनिस्ट क्रांति का घटनाओं से भरा दौर था। यह गौरवशाली संघर्ष एवं दर्दनाक पराजय का दौर था। बर्लिन में रुकने से उनकी सैद्धांतिक समझ ज्यादा समृद्ध तथा व्यवहारिक अन्तर्दृष्टि गहरा हुआ होगा। कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के बहसों में जो बाद में उन्होंने हिस्सा लिया, वह ठोस आकार ग्रहण कर रहा था। जर्मनी में अनेकों महीनों तक रहने से मुझे यूरोप के हालात का पता चला और उनके तात्कालिक परिप्रेक्ष्य से मेरी यह समझ बनी कि महानगरीय देशों के सर्वहारा सत्ता हासिल करने के साहसिक प्रयास में तबतक सफल नहीं होंगे जबतक कि औपनिवेशिक देशों की जनता विद्रोह के जरिये साम्राज्यवाद को कमजोर न कर दे।

मास्को पहुँचने के बाद उनकी मुलाकात रूस की कम्युनिस्ट पार्टी एवं कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के शीर्ष नेतृत्वकारी साथियों से हुई। उन दिनों के उनके जीवन की एक महत्वपूर्ण घटना का उल्लेख किया जा सकता है। बोल्शेविकवाद की माँ बालबानोवा के साथ एक बैठक के दौरान, राय को कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के दूसरे सम्मेलनों के लिये लेनिन द्वारा राष्ट्रीय एवं औपनिवेशिक प्रश्न पर तैयार सैद्धांतिक दस्तावेज दिया गया। ऊपर के पृष्ठ के बाये कोने पर लेनिन ने लिखा था, राय के आने पर उनकी आलोचना एवं सुझाव लिये जाँय। राय ने इसका वर्णन करते हुए कहा कि सचमुच

में मेरे लिये यह सातवें आसमान पर उड़ने वाली बात थी। राय को कुछ देर के बाद लेनिन से मिलने के लिये कहा गया। उत्तेजना के मारे वे उस दस्तावेज को लेनिन से मिलने से पहले सावधानी पूर्वक नहीं पढ़ सके। लेनिन के साथ राय की पहली मुलाकात अत्यन्त संक्षिप्त थी, लेकिन यह उनकी जिन्दगी के लिये सबसे स्मरणीय घटना थी। राय ने कामिन्टर्न के दूसरे सम्मेलन में औपनिवेशिक एवं पराश्रयी देशों में कम्युनिस्ट पार्टी की रणनीति एवं कार्यनीति के सवाल पर लेनिन के साथ बहस किया। राय का लेनिन के साथ प्रसिद्ध विवाद, किसी नौसिखुए महत्वाकांक्षी व्यक्ति का नाटकीय ढंग से हठधर्मिता दिखलाना नहीं था। उनका लेनिन के साथ निजी तौर पर बहस हुआ था। उसके बाद उन्होंने लेनिन के ही कहने पर अपनी ओर से एक पूरक दस्तावेज प्रस्तुत किया। लेनिन का विचार था कि औपनिवेशिक एवं अर्द्ध औपनिवेशिक देशों में साम्राज्यवाद का आधार देशी सामन्तवाद के बीच हैं और इसके आलोक में चूँकि पूँजीवादी राष्ट्रीय आन्दोलन प्रगतिशील प्रकृति का है। अतः इस संदर्भ में इसे सभी कम्युनिस्टों का समर्थन मिलना चाहिये।^५

भारतीय पृष्ठभूमि के आधार पर बोलते हुए राय ने विचार व्यक्त किया कि पूँजीपतियों की शक्ति को कम करके आंका जा रहा है और उसकी प्रकृति को समझने में भूल की गई है। हमलोगों ने देखा है कि किस तरह बंगाल के जुझारू राष्ट्रवादी कांग्रेसी उदारवादियों के आवेदन देने, प्रार्थना करने और प्रतिरोध करने की बात को नापसन्द करते थे। श्री अरविन्दो ने सर्वहारा के हितों और उसकी संभावनाओं के बारे में खुलकर बातें रखी थीं। एक मार्क्सवादी होने के नाते, लेनिन के साम्राज्यवाद संबंधी सिद्धांतों के आधार पर वे भारतीय क्रांति को एक भिन्न परिपेक्ष्य में देखते थे। हालांकि यह समाजवादी क्रांति नहीं था लेकिन यह पूँजीवादी जनवादी क्रांति के दौर से बहुत आगे था। युद्ध के बाद भारत में आर्थिक विकास के क्रम में उन्होंने इस नीति की कल्पना की जिसके अनुसार ब्रिटिश सरकार की ओर से भारतीय पूँजीपतियों को छूट दी जायेगी और भारत का पूँजीपति वर्ग उसके साथ समझौता करेगा। राष्ट्रवादी राय के लिये पूँजीपतियों के व्यवहार पर विश्वास करना संभव नहीं था और एक मार्क्सवादी राय के लिये तो यह और भी दुष्कर बात थी। वे भारत में समाजवादी क्रांति के विकास के लिये इसमें और ज्यादा गहरा महत्व खोजने लगे। इसीलिये राय ने शुरू से ही पूँजीपतियों के प्रति सावधानी बरतने की नीति अपनाई और सही सामाजिक आधारों, मजदूरों, किसानों तथा निम्न पूँजीपतियों पर विश्वास करने की बात कही। इसके आगे उन्होंने कहा कि साम्राज्यवादी मुल्कों द्वारा औपनिवेशिक देशों के शोषण से लिये गये अत्यधिक मुनाफे के कारण ही ये देश टिके हुए हैं इसलिये क्रांति का भविष्य पूर्व की जीत पर ही निर्भर है।²²

हालांकि रूसी एवं अन्य कम्युनिस्ट नेता राय के विचार से पूरी तरह सहमत नहीं हुए लेकिन उनसे वे प्रभावित जरूर हुए। उन्हें जिम्मेदारी वाला पद दिया गया और वे पूर्व के देशों के प्रधान प्रवक्ता के रूप में सम्मानित किये गये।

सम्मेलन के बाद राय को ताशकन्द में क्रांतिकारी आधार तैयार करने की एक महत्वपूर्ण जिम्मेदारी दी गई। भारतीय सीमा के साथ इसकी नजदीकी और रूसी सरकार का अफगानी सरकार के साथ दोस्ताना संबंध के चलते, वहाँ क्रांति के सैनिकों को तैयार करना एक अच्छा एवं संभावना से भरा लक्ष्य था। ताशकन्द में राय के ठहरने के दौरान उन्हें उत्तेजनात्मक अनुभवों से गुजरना पड़ा।

उसी समय भारत में खिलाफत आन्दोलन परवान चढ़ रहा था तथा मुजाहिरों का एक समूह लम्बे एवं कठिनाइयों से गुजरते हुए पैदल तुर्की जाने के बजाय ताशकन्द पहुँचा। राय ने इन लोगों के राजनैतिक शिक्षण का काम किया एवं उनके लिये भारतीय सैनिक स्कूल में सैनिक शिक्षा का प्रबंध किया। प्रवासी कम्युनिस्ट पार्टी का गठन 1920 के अन्त में या 1921 की शुरूआत में हुआ। लेकिन

ब्रिटेन के विरोध के चलते सैनिक विद्यालय को बन्द करना पड़ा। प्रवासी कम्युनिस्ट पार्टी का मुख्यालय मास्को चला गया। राजनैतिक क्रांतिकारियों की राजनैतिक शिक्षा एवं प्रशिक्षण के लिये पूर्व के श्रमिकों के लिये कम्युनिस्ट विश्वविद्यालय की स्थापना 1922 में की गई। राय को इस विश्वविद्यालय का निदेशक नियुक्त किया गया। इस विश्वविद्यालय में हो. ची. मिन्ट के एक छात्र के रूप में दाखिले की चर्चा है।

कॉमिन्टर्न में राय का उत्थान बहुत तेज गति से तथा अचंभित करने वाला था। 1922 में इसके कार्यकारिणी समिति के उम्मीदवार सदस्य के रूप में शुरू करते हुए, 1924 में ये इस समिति में मतदान के अधिकार के साथ पूर्ण सदस्य हो गये तथा 1926 तक इनके प्रभाव ने अन्तिम ऊँचाई प्राप्त कर ली। उन्होंने कॉमिन्टर्न के एक के बाद एक होनेवाले सम्मेलनों (1921 तीसरा सम्मेलन, चौथा 1922, पाँचवाँ 1924) में औपनिवेशिक एवं पराश्रयी मुल्कों में क्रांति की राजनीति एवं कार्यनीति के संबंध में पारित प्रस्तावों एवं नीतिगत प्रश्नों पर राय के प्रभाव को देखा जा सकता है।²³

1928 के छठे कमिन्टर्न के सम्मेलन में निष्कासन के पहले तक, राय एक मार्क्सवादी लेखक, पत्रकार एवं संगठक के रूप में बहुत सक्रिय थे। इन वर्षों के दौरान इन्होंने दो महत्वपूर्ण किताबें लिखीं। (1) “इंडिया इन ट्रांजीशन (भारत परिवर्तन के दौर में) (2) “दी फ्यूचर ऑफ इंडियन पालिटिक्स” (भारतीय राजनीति का भविष्य)। ये किताबें उन्होंने अपनी खास अंदाज में लिखीं। परिस्थितियों के अनुकूल बर्लिन, ज्यूरिख, एन्ने और पेरिस में रहने के दौरान उन्होंने दो पत्रिकाओं को सम्पादित किया। “वेनगार्ड ऑफ इंडियन इंडिपेन्डेन्स” (भारतीय स्वाधीनता का अगुआ दस्ता) इन पत्रिकाओं की प्रतियों को उन्होंने चोरी-छिपे भारत में भेजने की व्यवस्था की। उन्होंने कॉमिन्टर्न के मुख पत्र, इन्प्रेकर में लेखन के माध्यम से योगदान किया। हालांकि उन्होंने भारत में कम्युनिस्ट आन्दोलन की ताकत को बढ़ा-चढ़ाकर तथा गांधी की ताकत को कम करके आंका लेकिन वे भारतीय राजनीति में एक हद तक क्रांतिकारी (मौलिक सुधारवादी) रूझान पैदा करने में सफल हुए तथा भारत में साम्यवाद के विकास के लिये जगह मिली।

चीन की पराजय और उससे जुड़ी परिस्थितियों के बाद कॉमिन्टर्न से निष्कासन की घटनाओं का जिक्र अध्याय पाँच में है। वे 1930 में भारत लौट गये। लेकिन 1924 एवं 1926 के कम्युनिस्ट षड्यंत्र मामले के अभियुक्त के नाते उन्हें 6 वर्ष के लिये कारावास की दण्ड सुनाई गई। 1936 में अपनी रिहाई के बाद उन्होंने “एलेन” से विवाह किया, जिनसे उनका परिचय भारत आने से पहले जर्मनी में हुआ था। (एवलिन और राय 1926) में एक-दूसरे से अलग हो चुके थे) राय के प्रति एलेन की प्रतिबद्धता तथा उनके साथ सहयोग की बातें रायवादियों के बीच मशहूर हैं।

राय ने तत्काल राजनैतिक गतिविधियों में हिस्सा लेना शुरू किया, लेकिन इस बीच में वे बड़े तौर पर बदल चुके थे। जेल के अन्दर उन्होंने दर्शन पर ढेरों किताबें पढ़ीं। हालांकि अभी भी वे राजनैतिक समस्याओं के बारे में मार्क्सवादी दृष्टिकोण अपनाते थे लेकिन अब उनके ऊपर दार्शनिकता की छाप ज्यादा दिखाई पड़ती थी। वे मार्क्सवाद को एक नई रोशनी में देखने लगे। करीब 6 वर्षों तक उनके अन्दर बौद्धिक जंग जारी रहा।²⁴

यह संघर्ष अपने तर्क पर आधारित था जिसके फलस्वरूप नव मानवतावाद का जन्म हुआ। यहाँ यह कहना माकूल होगा कि राय की राजनीति से निराशा और उसे नहीं पसंद करने के पीछे, उनके विचार में हुआ परिवर्तन उत्तरदायी था। जेल से निकलने के बाद उनके द्वारा लिखी गई ढेरों पुस्तकें, उनके इस वैचारिक परिवर्तन की तरफ इशारा करती हैं।

तीसवें एवं चालीसवें दशक में राय का राजनैतिक अनुभव, बहुत अच्छा नहीं था। वे कांग्रेस को अपनी तरफ मोड़ना चाहते थे लेकिन कांग्रेसी नेता उनके लिये बहुत चालाक निकले। उन्होंने अपने से सहानुभूति रखनेवालों एवं प्रशंसक समूहों को लेकर “रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी” का गठन वर्ष 1940 में किया। यह भारतीय राजनीति में अपनी पहचान नहीं बना सका। धर्म एवं राष्ट्रवाद के बारे में उनकी क्रांतिकारी एवं अलोकप्रिय (अग्राह्य) विचार इसके प्रमुख कारण थे। 1931 के पहले तक के राय “एक साजिशकर्ता” एक संगठन एवं कार्यनीति निर्धारण करने वाले के रूप में जो भी कहा जाय लेकिन उसके बाद राजनैतिक स्वार्थ परायणता के प्रति उनका कोई लगाव नहीं रहा। उसके बाद एक उद्देश्य के प्रति समर्पित एक बड़े चिन्तक के रूप में उन्होंने काम करना शुरू किया। उनकी मोटी पुस्तकों का बड़ा हिस्सा धर्म और राष्ट्रवाद की आलोचना से जुड़ा हुआ है। हमलोगों को धर्म के बारे में उनके विचारों के बारे में इस अध्ययन के दौर में और बहुत सी बातें कहनी होंगी।²⁵

राष्ट्रवाद के खिलाफ उनकी लगातार आलोचना के पीछे उनका स्पष्ट अभियोग था कि राष्ट्रवाद में फासीवाद अन्तर्निहित है। गांधीजी के राष्ट्रवाद और धर्म के बारे में उनकी यही समझ थी। उनका मानना था कि जबतक इन विचारधाराओं के खिलाफ अन्त तक लड़ाई नहीं चलाई जायेगी, भारत में जनतंत्र का भविष्य सुरक्षित नहीं हो सकता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय उन्होंने फासीवाद विरोधी मोर्चा की पुरजोर वकालत करते हुए कांग्रेस की इस बात के लिये आलोचना की कि वह ब्रिटेन के मुश्किलों का फायदा उठाना चाहती है। राय एक बार फिर गांधी को समझने में भूल कर गये, लेकिन यह दूसरा मामला है।

आश्चर्य नहीं कि राय की रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी भारतीय राजनीति में थोड़ा भी आगे नहीं बढ़ सकी। उनकी असफलता भी उतनी ही बड़ी साबित हुई। ऐसा मालूम पड़ता था कि उनका राजनैतिक इतिहास, उनके दार्शनिक यात्रा की तैयारी थी। अपने ऐश्वर्यशाली राजनैतिक जीवन के इस निस्तेज अंत से उन्हें थोड़ा भी पाश्चाताप नहीं था। वे राजनीति से मुक्त होना चाहते थे। अपनी कष्ट साध्य जिन्दगी एवं स्व विश्लेषण के दौरान उन्होंने अपने सहयोगियों से कहा (जो उनकी राजनीति के प्रति शंकालू हो रहे थे) कि मैं राजनीति में बहुत बेचैनी महसूस करता हूँ। मैं पानी से बाहर रहने वाली मछली की तरह अनुभव करता हूँ। लेकिन अपने प्रारंभिक जीवन से ही इस झंझावात में शामिल हो जाने के बाद, इससे निकल नहीं पा रहा हूँ। अब समय आ रहा है, जब मैं ऐसा कर सकूँगा।²⁶

शीघ्र ही वह समय आ गया। राजनीति से उन्होंने अवकाश ग्रहण कर लिया और नवमानवतावाद को परिभाषित करने में अपना पूरा ध्यान लगा दिया। नवमानवतावाद के दर्शन के मुताबिक दलीय राजनीति की असंगतता के चलते “रेडिकल डेमोक्रेटिक पार्टी” 1948 में भंग कर दी गई। मानवतावादी आन्दोलन को निर्देशित करने के लिये नवमानवतावाद, एक नये नवजागरण की हुंकार है जो विश्व को वर्तमान संकट से मुक्त करेगा और एक अच्छी जिंदगी सामने आयेगी। 1954 में अपनी मृत्यु तक उन्होंने अपनी पूरी ऊर्जा नवमानवतावाद के प्रचार और उसे और आगे बढ़ाने में लगाया।

संदर्भ ग्रन्थसूची

1. हिस्ट्री ऑफ फ्रीडम मूवमेंट इन इंडिया ले. आर. सी. मजूमदार, खंड II, पृ. 167.
2. वही, खंड पृ. 423.
3. द प्रफेक्ट ऑफ इंडियन नेशनलिज्म, ले. कर्ण सिंह, पृ. 82.
4. वही, पृ. 90.

5. वही, पृ. 89.
6. वही, पृ. 53.
7. वही, खंड I, पृ. 458.
8. एम. एन. राय मेमोयर्स, पृ. 98.
9. रिसर्जेन्स ऑफ़ इंडिया, शिशिर मित्रा, पृ. 367.
10. मेमोयर्स, पृ. 3.
11. वही, पृ. 7.
12. वही, पृ. 14.
13. वही, पृ. 27.
14. वही, पृ. 28.
15. वही, पृ. 29.
16. वही, पृ. 62.
17. वही, पृ. 59.
18. वही, पृ. 61.
19. वही, पृ. 71.
20. वही, पृ. 195.
21. वही, पृ. 212.
22. वही, पृ. 214.
23. द कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ़ इंडिया एण्ड इट्स फार्मेशन एवोर्ड, मुजफ्फर अहमद, पृ. 87-88.
24. एम. एन. राय एण्ड रेडिकल ह्यूमनिज्म, ले. जी. पी. भट्टाचार्य, पृ. 2.
25. एम. एन. राय एण्ड कमिनिटर्न, ले. जे. पी. हैथोयेक्स, पृ. 144.
26. सर्वोदय सोशल आर्डर, जयप्रकाश नारायण, पृ. 91.

भारतीय राजनीतिक प्रक्रिया में जाति-प्रथा की भूमिका का विश्लेषण

डॉ० विद्या भूषण श्रीवास्तव

तदर्थ प्राध्यापक, राजनीति विज्ञान विभाग, राम जयपाल कॉलेज, छपरा

परम्परावादी भारतीय समाज में आधुनिक राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना भारतीय राजनीति की एक अद्भुत विशेषता है। भारत में राजनीतिक आधुनिकीकरण के प्रारम्भ होने के पश्चात् यह धारणा विकसित हुई कि पश्चिमी ढंग की राजनीतिक संस्थाएँ ओर लोकतन्त्रात्मक मूल्यों को अपनाने के फलस्वरूप पारम्परिक संस्था-जाति का अन्त हो जायेगा किन्तु स्वाधीनोत्तर भारत की राजनीति में जाति का प्रभाव अनवरत रूप से बढ़ता गया। जहाँ सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में जाति की शक्ति घटी है वहीं राजनीति और प्रशासन पर इसके बढ़ते हुए प्रभाव को राजनीतिज्ञों, प्रशासनाधिकारियों और केन्द्र एवं राज्य सरकारों ने स्वीकार किया है।

कतिपय विद्वानों का यह मामना था कि लोकतान्त्रिक एवं प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं की स्थापना के बाद भारत में जाति प्रथा का लोप हो जाएगा। अन्य कुछ विद्वानों की धारणा थी कि जाति व्यवस्था परम्परागत शक्ति के रूप में कार्य करती है तथा यह राजनीतिक विकास एवं आधुनिकीकरण के मार्ग में बाधक है। इस संबंध में रजनी कोठारी का अभिमत है कि कोई भी सामाजिक तन्त्र कभी पूर्णतया समाप्त नहीं हो सकता, अतः यह प्रश्न करना कि क्या भारत में जाति का लोप हो रहा है, अर्थशून्य है। उनके विचार में जाति-व्यवस्था आधुनिकीकरण और सामाजिक परिवर्तन में रूकावट नहीं डालती बल्कि इसको बढ़ाने में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। स्थानीय और राज्य की राजनीति में जातीय संघ और समुदाय निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करने में उसी प्रकार की भूमिका अदा करते हैं जिस प्रकार पश्चिमी देशों में दबाव गुट। हमारी जाति व्यवस्था ने राजनीतिज्ञों को अजीब असमंजस की स्थिति में डाल दिया है। जहाँ एक ओर वे जातिगत भेदभाव मिटाने की बात करते हैं वहीं दूसरी ओर जाति के आधार पर वोट बटोरने की कला में निपुणता हासिल करना चाहते हैं। जाति-प्रथा किसी न किसी रूप में संसार के हर कोने में पायी जाती है, पर एक गम्भीर सामाजिक कुरीतियों के रूप में यह हिन्दू समाज की ही विशेषता है। वैसे इस्लाम और ईसाई समाज भी इसके प्रभाव से अछूते नहीं रह सकते हैं। यह व्यवस्था अति प्राचीन है। इसका अभिप्राय पेशे के आधार पर समाज को कई भागों में बाँट देना है। सामान्यता यह माना जाता है कि जाति-प्रथा की उत्पत्ति वैदिक काल में हुई। ब्राह्मण धार्मिक और वैदिक कार्यों का सम्पादन करते थे, क्षत्रियों का कार्य देश की रक्षा करना और शासन प्रबन्ध करना था, वैश्व कृषि और वाणिज्य सम्हालते थे तथा शूद्रों को अन्य तीन वर्णों की चाकरी करनी पड़ती थी। शुरू-शुरू में जाति-प्रथा के बन्धन कठोर न थे और वह जन्म पर नहीं अपितु कर्म पर आधारित था। बाद में जाति-प्रथा में कठोरता आती गयी, वह पूरी तरह जन्म पर आधारित हो गयी तथा एक जाति से दूसरी जाति में अन्तःक्रिया असम्भव हो गयी। अपने मौलिक रूप में जाति-प्रथा उपयोगी थी। चूँकि वह श्रम विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित थी, अतः उसने आर्थिक क्षेत्र में निपुणता के तत्व का समावेश किया। बेटा बाप से अपना पुश्तैनी पेशा सीखता था और प्रायः उसी को अपनी आजीविका के साधन के रूप में अपना लेता था। इस प्रथा ने एक जाति और बिरादरी के लोगों में भाई-चारे की भावना को बढ़ाया। एक जाति के लोग दूसरे से भली-भाँति परिचित होते थे तथा एक-दूसरे के सुख-दुख में काम आते थे।

प्रो. धुरिये ने जाति व्यवस्था की छः विशेषताएँ बताई है, जो इस प्रकार हैं:-

1. भारत में जाति ऐसे समुदाय हैं जिसका अपना विकसित जीवन है और इसकी सदस्यता जन्म से निश्चित होती है।
2. भारत का प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामाजिक स्थिति जानता है और जातियों के पदसोपान में ब्राह्मण को सबसे ऊपर माना जाता है।
3. जाति के आधार पर खान-पान और सामाजिक आदान-प्रदान के प्रतिबंध लगे रहते हैं।
4. गाँवों तथा शहरों में जाति का आधार पर पृथक्ता को भावना बनी रहती है।
5. कुछ जातियों कतिपय विशेष प्रकार के व्यवसायों को अपना पुश्तैनी अधिकार समझती है।
6. जातियों की परिधि में ही वैवाहिक आदान-प्रदान होता है और जातियाँ कई उपजातियों में विभक्त होती है। उप-जातियों में भी वैवाहिक परिसीमाएँ हैं।

स्वाधीनता संग्राम के दौरान ऐसा लगा था कि जनता पर जातिवाद का प्रभाव कम हो रहा है किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त जातिवाद ने फिर जोर पकड़ा और वयस्क मताधिकार व्यवस्था के देश में लागू कर दिये जाने के परिणामस्वरूप यह एक राजनीतिक शक्ति के रूप में उदित हुआ है। वैसे राजनीति पर जातिगत प्रभाव प्रतिनिधि व्यवस्था के लागू होने के समय से ही शुरू हो गया था किन्तु यह प्रभाव नगण्य ही था। इसके लिए उत्तरदायी थे ब्रिटिश प्रशासन, राष्ट्रीय आन्दोलन तथा सीमित मताधिकार। स्वतन्त्रता की प्राप्ति ने प्रथम दो कारणों का निराकरण कर दिया और नये संविधान में अपनायी गयी वयस्क मताधिकार व्यवस्था ने तीसरे का फलतः जातियों के प्रभाव क्षेत्र में आशातीत वृद्धि हो गयी। आरम्भ में तो सामाजिक लाभ नहीं तक सीमित रहे। समय के साथ-साथ मध्यम और निम्न समझी जानेवाली जातियाँ आगे आने लगीं और अपने राजनीतिक प्रभाव को बढ़ाने में प्रयत्नशील रहने लगीं।

प्रो. रूडोल्फ के शब्दों में यह एक ऐसा माध्यम बन गया है कि जिसके जरिए भारतीय जनता को लोकतान्त्रिक राजनीति की प्रक्रिया से जोड़ा जा सकता है।

प्रो. रजनी कोठारी ने अपनी 'कास्ट इन इण्डियन पॉलिटिक्स' में भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका का विश्लेषण किया है। उनके अनुसार जो लोग राजनीति में जातिवाद की शिकायत करते हैं वे न तो राजनीति की प्रकृति को ठीक से समझ पाये हैं और न जाति के राजनीतिकरण को। जाति को अपने दायरे में खींचकर राजनीति उसे अपने काम में लाने का प्रयत्न करती है। दूसरी ओर राजनीति द्वारा जाति या बिरादरी को देश की व्यवस्था में भाग लेने का मौका मिलता है। राजनीतिक नेता सत्ता प्राप्त करने के लिए जातीय संगठन का उपयोग करते हैं और जातियों के रूप में उनको बना-बनाया संगठन मिल जाता है जिससे राजनीतिक संगठन में आसानी होती है। जाति व्यवस्था और राजनीति में अन्तःक्रिया के सन्दर्भ में प्रो. रजनी कोठारी ने जाति-प्रथा के तीन रूप प्रस्तुत किये हैं।

(1) लौकिक रूप, (2) एकीकरण का रूप, (3) चैतन्य रूप।

जाति व्यवस्था का लौकिक रूप

रजनी कोठारी ने जाति व्यवस्था के लौकिक रूप को व्यापक दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया है। जाति व्यवस्था की कुछ बातों पर सबका ध्यान गया है जैसे जाति के अन्दर विवाह, छुआछूत और रीति-रिवाजों के द्वारा जाति की पृथक् इकाई को कायम करने का प्रयत्न। लेकिन इस बात की ओर बहुत ही कम लोगों का ध्यान गया है कि जातियों में आपसी प्रतिद्वन्द्विता एवं गुटबन्दी रहती है और

प्रत्येक जाति प्रतिष्ठा और सत्ता की प्राप्ति के लिए संघर्षरत रहती है। उदाहरण के लिए, आजकल बिहार में ऊँची जातियों और पिछड़ी जातियों के बीच सत्ता प्राप्ति का अनवरत संघर्ष चल रहा है और यही कारण है कि जनता शासन के दौरान दोनों ही मुख्यमंत्री पिछड़ी और अनुसूचित जातियों से आये। जाति व्यवस्था के इस लौकिक पक्ष के दो रूप थे—एक शासकीय रूप यानि जाति की ओर गाँव की पंचायत और चौधाराहट। दूसरा रूप राजनीतिक था यानि जाति की आन्तरिक गुटबन्दी और अन्य जातियों से गठजोड़ और प्रतिद्वन्द्विता। इन संगठनों का प्रभाव इस बात पर निर्भर करता था कि स्थानीय नेताओं के समाज की केन्द्रीय सत्ता से किस प्रकार के संबंध थे। धर्म, व्यवसाय और प्रदेश के आधार पर इन जातियों की स्थिति बनती और बिगड़ती थी। पहले इन जातियों का संबंध जाति या गाँव की पंचायत और राजा या जमींदार से रहता था। अब जातीय पंचायतों के स्थान पर विधानसभाएँ और संसद हैं तथा राजा के स्थान पर राष्ट्रीय सरकार है। रजनी कोठारी का यह भी विचार है कि देश की राजनीति पर किसी एक जाति का प्रधान्य नहीं हो सका क्योंकि कुछ स्थानों पर ब्राह्मणों का वर्चस्व था तो कुछ प्रदेशों में जैसे गुजरा और मारवाड़ में जैन, वैष्णव जैसे सम्प्रदायों के हाथ में आर्थिक शक्ति थी।

सामाजिक एकीकरण

जाति का दूसरा काम एकीकरण का है अर्थात् व्यक्ति को समाज से बाँधने का है। जाति-प्रथा जन्म के साथ ही प्रत्येक व्यक्ति का समाज में स्थान नियत कर देती है। जाति के आधार पर ही उस व्यक्ति का व्यवसाय और आर्थिक भूमिका निश्चित हो जाती है। चाहे कितना भी बड़ा व्यक्ति क्यों न हो, उसका अपने समाज से लगाव पैदा हो जाता है, जाति के प्रति उसकी निष्ठा आगे चलकर बड़ी निष्ठाओं अर्थात् लोकतन्त्र और राजनीतिक व्यवस्था के प्रति भी विकसित हो सकती है। इस प्रकार जातियाँ जोड़ने वाली कड़ियाँ बन जाती हैं। लोकतन्त्र के अन्दर विभिन्न समूहों में शक्ति के लिए प्रतिद्वन्द्विता होती है और विभिन्न जातियों में आपस में मिल-जुलकर गठजोड़ बनाने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है ताकि वे सत्ता का लाभ प्राप्त कर सकें।

जाति व्यवस्था का चैतन्य रूप

जाति प्रथा का तीसरा रूप चेतना बोध है। कुछ जातियाँ अपने को उच्च समझती हैं और जाति प्रथा जन्म के साथ ही प्रत्येक व्यक्ति का समाज में स्थान नियत कर देती है। जाति के आधार पर ही उस व्यक्ति की व्यवस्था और आर्थिक भूमिका निश्चित हो जाती है। चाहे कितना भी बड़ा व्यक्ति क्यों न हो, उसका अपने समाज से लगाव पैदा हो जाता है, जाति के प्रति उसकी निष्ठा बढ़ने लगती है। यही निष्ठा आगे चलकर बड़ी निष्ठाओं अर्थात् लोकतन्त्र और राजनीतिक व्यवस्था के प्रति भी विकसित हो सकती है और इस तरह जातियाँ जोड़ने वाली कड़ियाँ बन जाती हैं। लोकतन्त्र के अन्दर विभिन्न समूहों में शक्ति के लिए प्रतिद्वन्द्विता होती है और विभिन्न जातियों में आपस में मिल-जुलकर गठजोड़ बनाने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है ताकि वे सत्ता का लाभ प्राप्त कर सकें।

विशिष्ट जाति व्यवस्था का चैतन्य स्वरूप

सामाजिक प्रतिष्ठा पाने के लिए कुछ निम्न समझी जाने वाली जातियाँ भी अपने को उनके साथ जोड़ने की चेष्टा करती हैं। क्षत्रिय वर्ण के साथ जो प्रतिष्ठा जुड़ी हुई है, उसके कारण देश के विभिन्न भागों में अनेक जातियों ने इस वर्ण के साथ अपने को जोड़ा है और इसी कारण देश के विभिन्न भागों में अनेक जातियों ने इस वर्ण का होने का दावा किया है। कुछ जातियों ने इसी प्रकार

ब्राह्मण पद का भी दावा किया है। राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक स्थिति में परिवर्तन के परिणामस्वरूप जाति विशेष की स्थिति भी बदलती है। सामाजिक व्यवहार में अलग-अलग स्तर पर अलग-अलग रूप धारण करने के कारण जाति व्यवस्था में लोच और परिवर्तनशीलता आ जाती है। इसके लिए चार मार्ग अपनाये जाते हैं। पहला मार्ग संस्कृतिकरण से जुड़ा है। संस्कृतिकरण में छोटी जातियाँ सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए ब्राह्मणों के रीति-रिवाजों की नकल करने लगती हैं। इसे ब्राह्मणीकरण भी कहा जाता है। दूसरा मार्ग लौकिकीकरण या अब्राह्मणीकरण का तरीका है। आर्थिक उन्नति, राजनीतिक एकता और बुद्धिवाद की सार्वजनिक प्रवृत्तियों के प्रभाव से अक्सर अब्राह्मण जातियाँ ब्राह्मणों की नकल करने की प्रवृत्ति को छोड़ देती हैं और अन्य अब्राह्मण जातियों से मिलकर राजनीतिक व सामाजिक अधिकार प्राप्त करने की चेष्टा करती हैं। तीसरा मार्ग महापुरुषों से संबंध जोड़ने का तरीका है। कभी-कभी कतिपय जातियाँ अपनी उच्चता सिद्ध करने के लिए अपना संबंध पौराणिक पुरुषों से जोड़ने का प्रयत्न करती हैं जैसे गुजरात के पाटीदार और राजस्थान के जाट आदि। चौथा, आधुनिक राजनीति में भी भागीदारी का तरीका है। कुछ जातियाँ सीधे ही आधुनिक राजनीति में भाग लेने लगी और इस प्रकार उन्होंने समाज में भी उच्च स्थिति प्राप्त की। आन्ध्रप्रदेश और बिहार इसके उदाहरण हैं।

प्रो. रजनी कोठरी ने जाति के राजनीतिकरण की चर्चा करते हुए कहा है कि 'इससे पुराना समाज नयी व्यवस्था के सम्पर्क में आने लगा तो सबसे पहले शक्ति और प्रभाव की प्रतिस्पर्धा समाज की प्रतिष्ठित और जमी हुई जातियों तक सीमित रही। जिन जातियों ने उच्च शिक्षा प्राप्त करके आधुनिक बनने का प्रयत्न किया, वे प्रतिष्ठित जातियों के समक्ष आने लगीं। इन जातियों ने अधिकार और पद प्राप्त करने के लिए अपना राजनीतिक संगठन बनाया जिससे दो ऊँची जातियों में प्रतिस्पर्धा और प्रतिद्वन्द्वता बढ़ने लगी। मद्रास और महाराष्ट्र में ब्राह्मण-अब्राह्मण, राजस्थान में राजपूत, जाट, गुजरात में बनियाँ-ब्राह्मण-पाटीदार, आन्ध्रप्रदेश में कम्मा-रेड्डी और केरल में इजवा-नायर द्वन्द्व इसके उदाहरण हैं।

जाति के अन्दर की प्रतिस्पर्धा गुटबन्दी

इस चरण में भिन्न-भिन्न जातियों की प्रतिस्पर्धा के साथ-साथ जाति के अन्दर भी प्रतिस्पर्धा नेताओं के पीछे गुट बन जाते हैं। इन गुटों में विभिन्न जातियों के लोग होते हैं। अपना गुट मजबूत करने के लिए उन जातियों की भी सहायता ली जाती है, जो अब तक दायरे से बाहर थीं। चुनाव में समर्थन प्राप्त करने के लिए नीची जातियों के प्रमुख लोगों को छोटे राजनीतिक पद और लाभ में कुछ हिस्सा देकर प्रतिस्पर्धा नेता अपना गुट मजबूत करने का प्रयत्न करते हैं। जहाँ इस प्रकार जाति प्रधानों को इनाम और पद देकर इन जातियों का समर्थन प्राप्त करना सम्भव नहीं हुआ, वहाँ विभिन्न जातियों और उपजातियों में आपसी प्रतिस्पर्धा पैदा करके उनका संगठन बनाने की और उन संगठनों के बिचौलियों द्वारा समझौता कराने की कोशिश की गयी। इस चरण में पुराने ब्राह्मण और कायस्थ आदि प्रशासनिक जातियों के नेताओं के बजाय व्यवसायी और कृषक जातियों के नेताओं और कार्यकर्ताओं की संख्या बढ़ी। ये नेता सौदा पटाने में कुशल थे, ज्यादा व्यावहारिक थे और अपने वर्ग और जाति के लोगों का नेतृत्व कर सकते थे।

जाति के बन्धनों का ढीला पड़ना और राजनीति को व्यापक आधार मिलना

रजनी कोठरी के अनुसार तीसरे चरण में एक ओर राजनीतिक मूल्यों की प्रधानता हुई और जाति-पाति से लगाव कम हुआ, वहाँ दूसरी ओर शिक्षा, नये शिल्प और शहरीकरण के कारण समाज

में परिवर्तन आया। भौतिक उन्नति की नयी धारणाओं का जोर बढ़ा। पुराने पारिवारिक बन्धन टूटने लगे और सामाजिक व्यवहार अपनी जाति तक सीमित न रहे। राजनीति में भी व्यापकता आयी। नयी शिक्षा और नये सामाजिक व्यवहार दृष्टिगोचर होने लगे और जाति की भावना को नया रूप मिलने लगा। राजनीतिक प्रवृत्तियों ने नयी निष्ठाओं को जन्म दिया, जो पुरानी निष्ठाओं को काटती हैं। जाति अब राजनीतिक समर्थन या शक्ति का एकमात्र आधार नहीं रही, यद्यपि राजनीति में इसका अधिकाधिक उपयोग किया जा रहा है।

प्रो. रजनी कोठारी का राजनीति में जाति के स्वरूप और इसके बदलते आयामों की चर्चा इस तरह की है—

1. आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था में भाग लेने के कारण पहले तो जाति प्रथा पर पृथक्ता की प्रवृत्ति का प्रभाव पड़ा, बाद में जाति भावना का सामंजस्य हुआ और इसने राजनीतिक संगठन में सहायता दी।
2. आधुनिक राजनीति में भाग लेने से लोगों की दृष्टि में परिवर्तन हुआ और उनकी समक्ष में यह आ गया कि आज के युग में केवल जाति और सम्प्रदाय से काम नहीं चल सकता।
3. जहाँ जाति बड़ी होती है, वहाँ भी उसमें एकता नहीं रहती, उसमें उप-जातियों के भेद होते हैं और छोटी जातियाँ तो अपने बल पर चुनाव भी नहीं जीत सकती हैं। यदि कोई प्रत्याशी अपनी ही जाति का पक्ष लेता है तो दूसरी जातियाँ उनके खिलाफ हो जाती हैं इसलिए चुनाव की राजनीति में अनेक जातियों का गुट बनाना पड़ता है।
4. राजनीति में आने के कारण जाति की भावना ढीली पड़ जाती है और अनेक नयी निष्ठाओं का उदय होता है।
5. आजकल राजनीति में जातिवाद और सम्प्रदायवाद का जोर बढ़ने की शिकायत की जाती है। ऐसा समझा जाता है कि शिक्षा प्रसार, शहरों के विस्तार, औद्योगिकरण आदि के कारण सम्प्रदाय और जाति के बन्धन ढीले पड़ रहे थे, वे चुनाव की राजनीति के कारण फिर से जोर पकड़ रहे हैं। इससे देश की फूट बढ़ेगी जिससे धर्मनिरपेक्ष लोकतन्त्र का ढाँचा खतरे में पड़ जायेगा। किन्तु प्रो. कोठारी का मानना है कि वास्तव में जाति और राजनीति के मिश्रण से दूसरे ही परिणाम निकलते हैं। बजाय राजनीति पर जाति के हावी होने के जाति का राजनीतिकरण हो जाता है। राजनीति ने जाति को लीक से हटाकर नया सन्दर्भ दे दिया, जिससे उसका पुराना रूप बदल रहा है।
6. आधुनिकतावादी नेता जाति-पाति पर भले ही नाक-भौं सिकोड़ें, परन्तु इसके द्वारा राजनीतिक शक्ति उन वर्गों या समूहों के हाथ में पहुँच सकी, जो अब तक उससे वंचित थे।
7. जाति के आधार पर संघ और संगठन बनते हैं जैसे कायस्थ सभा, क्षत्रिय संघ आदि सब मिलाकर जातीय संगठनों ने भारत की राजनीति में उसी तरह भाग लिया है जिस तरह पश्चिमी देशों में विभिन्न हितों व वर्गों से संगठनों ने।
8. जातियों और सम्प्रदायों के राजनीति में भाग लेने के फलस्वरूप सामूहिक या राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ है और उसकी पृथक्ता कम होकर उनका राजनीतिक एकीकरण हुआ है। भारत में जाति और राजनीति के संबंध को चार तरह से समझा जा सकता है।

प्रथम, भारतीय व्यवस्था का संगठन जाति की संरचना के आधार पर हुआ है और राजनीति केवल सामाजिक संबंधों की अभिव्यक्ति मात्र है। सामाजिक संगठन राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप निर्धारित करता है।

द्वितीय, राजनीति के प्रभाव के फलस्वरूप जाति नया रूप धारण कर रही है। लोकतांत्रिक राजनीति के अन्तर्गत राजनीति की प्रक्रिया प्रचलित जातीय संरचनाओं को इस प्रकार प्रयोग में लाती है जिससे सम्बद्ध पक्ष अपने लिए समर्थन जुटा सकें तथा अपनी स्थिति को सुदृढ़ बना सकें। जिस समाज में जाति को सर्वाधिक महत्वपूर्ण संगठन माना जाता है उसमें यह अत्यन्त स्वभाविक है कि राजनीति इस संगठन के माध्यम से अपने आपको संगठित करने का प्रयास करे। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जिसे हम राजनीति में जातिवाद के नाम से पुकारते हैं वह वास्तव में जाति का राजनीतिकरण है।

तृतीय, भारत में राजनीति 'जाति' के इर्द-गिर्द घूमती है। जाति प्रमुखतम राजनीतिक दल है। यदि मनुष्य राजनीति की दुनिया में ऊँचा उठना चाहता है तो उसे अपने साथ अपनी जाति को लेकर चलना होगा। भारत में राजनीतिज्ञ समुदायों को इसलिए संगठित करते हैं ताकि उनके समर्थन में उन्हें सत्ता तक पहुँचने में सहायता मिल सके।

चतुर्थ, जातियाँ संगठित होकर प्रत्यक्ष रूप से राजनीति में भाग लेती हैं और इस प्रकार जातिगत भारतीय समाज में जातियाँ ही 'राजनीतिक शक्तियाँ' बन गयी हैं।

भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका की उभरती प्रवृत्तियों की तरफ इशारा किया जा सकता है।

प्रथम, जाति व्यक्ति को बाँधने वाली कड़ी है। जातीय संघों और जातीय पंचायतों ने जातिगत राजनीतिक महत्ववाकांक्षाओं को बढ़ाया है। जाति-पाति को समाप्त करने वाले आन्दोलन अन्ततोगत्वा नयी जातियों के रूप में मुखरित हुए जैसे लिंगायन, कबीरपंथी और सिक्ख आन्दोलन स्वयं नयी जातियाँ बन गये।

द्वितीय, शिक्षा, शहरीकरण, औद्योगिकरण और आधुनिकीकरण से जातियाँ समाप्त नहीं हुई अपितु उनमें एकीकरण की प्रवृत्ति को बल मिला और उनकी राजनीतिक भूमिका में वृद्धि हुई।

तृतीय, राजनीति में प्रधान जाति की भूमिका का विश्लेषण किया जा सकता है। प्रधान जाति न केवल राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से ही शक्तिशाली होती है, बल्कि संख्या में भी गाँव या इलाके में ज्यादा होती है। प्रधान जाति अपने संख्या बल के आधार पर गाँव और क्षेत्र की स्थानीय संस्थाओं जैसे पंचायतों की राजनीति में जाति एक प्रभावकारी तत्व बन जाती है। हरियाणा की राजनीति के बारे में डॉ. सुभाष कश्यप ने लिखा है 'हरियाणा में जाति और वर्ग की भावना को अपेक्षाकृत अधिक बल मिला है तथा हरियाणा के जनजीवन में सदा ही 'जाति' राजनीतिक दल की अपेक्षा महत्वपूर्ण रही है... गुड़गाँव और महेन्द्रगढ़ क्षेत्रों के अहीर, अहीर उम्मीदवार को ही मत देना चाहेगा अन्य किसी को नहीं... यही बात राज्य के अन्य भागों के अन्य जाति के समूहों के बारे में लागू होती है। चुनावों के समय वहाँ अकसर एक पुरजोर नारा सुनायी पड़ती है—'जाट की बेटी जाट को, जाट का वोट जाट को। आश्चर्य की बात यह है कि जाति की यह विशेषता हिन्दुओं तक ही सीमित नहीं रही, मुसलमान भी उनकी गिरफ्त से नहीं बच सके हैं।'

चतुर्थ, उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही जातिगत समुदायों का झुकाव राजनीति की ओर हो गया था। जबकि ब्रिटिश शासन ने भारत में एक मजबूत प्रशासनिक व्यवस्था की नींव डाली थी। सबसे पहले इसका ध्यान जनगणना कार्यालय की ओर गया जहाँ जातीय समुदायों ने सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्ति के ध्येय से अपने संगठन का नामकरण कराना आवश्यक समझा। बाद में अपनी जाति के लोगों के हितों के संरक्षण के लिए जातीय संघों ने प्रस्ताव पारित किये और शासन को अपनी माँगों के लिए प्रभावित करना प्रारम्भ किया। यहाँ तक कि कुछ जातियों ने शैक्षणिक सुविधा की माँग की। मद्रास की बेनियर जाति के नेता पदायची ने सी. राजगोपालचारी के मन्त्रिमंडल में शामिल होने

से इन्कार कर दिया क्योंकि उन्होंने उनकी जातीय माँगों को मानने से इन्कार कर दिया था। बाद में वे कामराज मन्त्रिमंडल में शामिल हो गये क्योंकि उन्होंने वेनियरों की माँग स्वीकार कर ली।

पंचम, निर्वाचनों के दिनों में जातिगत समुदाय प्रस्ताव पारित करके राजनीतिक नेताओं और दलों को अपनी जातिगत समर्थन की घोषणा करके अपने हितों को मुखारित करते हैं।

षष्ठ, जाति की भूमिका राष्ट्रीय स्तर की राजनीति पर उतनी ही है जितनी स्थानीय और राज्यस्तर पर।

सप्तम, जाति और राजनीति के संबंध स्थिर न होकर गतिशील हैं।

जातिवाद का एक पक्ष यह है कि यदि कुछ जातियाँ या जाति के लोग मिलकर कोई रचनात्मक कार्य जैसे स्कूल या कॉलेज खोलकर, अस्पताल, धर्मशालाएँ, मन्दिर, गुरुद्वारे आदि बनवाकर, निर्धनों को आर्थिक सहायता देकर आदि तो उससे न तो किसी को हैरानी या परेशानी होगी और न कोई विद्वेष की भावना ही फैलेगी। किन्तु जब कुछ जातियाँ या जाति के लोग मिलकर अन्य जाति को परेशान अथवा संतुष्ट करते हैं तो स्थिति भयावह अवश्य बन जाती है। आजकल प्रायः यही हो रहा है। अच्छे प्रतिभाशाली लोग केवल इसी आधार पर उपेक्षित रहते हैं कि वे किसी जाति विशेष के नहीं होते। जातियों के नाम से चलने वाली संस्थाओं में से बहुत ही कम ऐसी होती हैं जो पक्षपात शून्य होती हैं, बाकी सभी में यह विषय इस प्रकार घोला जाता है कि अच्छी प्रतिभाओं का विकास रूक जाता है। ऐसा स्पष्ट दिखता है कि हमारे राजनीतिज्ञ ऊपर से 'जाति तोड़ो' सम्मेलन करते हैं किन्तु अन्तरंग से जातीयता को बढ़ावा देते हैं। जातिवाद के कारण अनेक ऐसे संघ बन गये हैं जिनमें काफी पिछड़े वर्ग के लोग शामिल हैं। शोषित संघ तो अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित आदिम जातियों का एक संघ है ही। सत्तर के दशक में दलित पैंथर शब्द भी सुनायी पड़ने लगा। दलित का अर्थ है रौंदा, कुचला अथवा संतुष्ट जबकि पैंथर अंग्रेजी का शब्द है जो चीता अथवा तेंदुआ के लिए प्रयुक्त होता है। यह संगठन उग्रवादी अनुसूचित जातियों व आदिवासियों का संगठन है जो मूल रूप से जातीय आधार पर संगठित किया गया है। इसी प्रकार जाटों, गुजरात, अहीरों, वैश्यों आदि के भी अनेक संगठन हैं जिनका मुख्य आधार जाति ही है। ब्राह्मणों के कई वर्ग हैं। कान्यकुब्ज, गौड़, मैथिल, दक्षिणात्य आदि। इसकी भी अनेक सभाएँ व संगठन हैं जो भारतीय व प्रादेशिक आधार पर बनाये गये हैं—जैसे अखिल भारतीय कान्य कुब्ज सभा, अखिल भारतीय ब्राह्मण सभा आदि। इन सभाओं का मूल ध्येय जातीय भावनाओं को उकसाना है। जातीय संगठन और जातीय नेता राजनीतिक दलों और राजनीतिज्ञों से साँठ-गाँठ करके जाति का राजनीतिकरण करने में लगे हुए हैं। बिहार और उत्तर प्रदेश में आये दिन जातीय झगड़ों, तनावों और संघर्षों में जाति और राजनीति की अन्तःक्रिया ही दिखायी देती है। जयप्रकाश नारायण ने एक बार कहा था कि 'जाति भारत में अत्याधिक महत्वपूर्ण दल है।' हेरोल्ड गौल्ड के शब्दों में 'जाति राजनीति का आधार होने के बजाय जाति उसको प्रभावित करने वाला एक तत्व है।'

जाति-व्यवस्था भारतीय समाज का परम्परागत पक्ष है। स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् संविधान और राजनीतिक संस्थाओं के निर्माण से आधुनिक प्रभावों ने भारतीय समाज में धीरे-धीरे प्रवेश करना आरम्भ कर दिया। आधुनिक प्रभावों के फलस्वरूप वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचन प्रारम्भ हुए और जातिगत संस्थाएँ महत्वपूर्ण बन गयीं। क्योंकि उनके पास भारी संख्या में मत थे और लोकतन्त्र में सत्ता प्राप्ति हेतु इन मतों का मूल्य है। जिन्हें सत्ता की आकांक्षा थी उन्हें सामान्य जनता के पास पहुँचने के लिए संपर्क सूत्र की भी आवश्यकता थी। सामान्य जनता को अपने पक्ष में मिलाने के लिए जह भी जरूरी था कि इस भाषा में बात की जाय जो उनकी समझ में आ सके। इस पृष्ठभूमि में जाति की भूमिका राजनीति में अधिकाधिक महत्वपूर्ण होती गयी। भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका का अध्ययन निम्न शीर्षक में किया जा सकता है।

निर्णय प्रक्रिया में जाति की प्रभावकारी भूमिका

भारत में जातियाँ संगठित होकर राजनीतिक और प्रशासनिक निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करती हैं। उदाहरणार्थ, संविधान में अनुसूचित जातियों और जनजातियों के लिए आरक्षण के प्रावधान रखे गये हैं जिनके कारण ये जातियाँ संगठित होकर सरकार पर दबाव डालती रहीं कि इन सुविधाओं को और अधिक वर्षों के लिए अर्थात् जनवरी 2011 तक के लिए बढ़ा दिया जाय। अन्य जातियाँ चाहती हैं कि आरक्षण समाप्त किया जाय अथवा इसका आधार सामाजिक-आर्थिक स्थिति हो अथवा उन्हें आरक्षित सूची में शामिल किया जाय ताकि वे इसके लाभ से वंचित न रह जायें।

राजनीतिक दलों में जातिगत आधार पर निर्णय

भारत में सभी राजनीतिक दल अपने प्रत्याशियों का चयन करते समय जातिगत आधार पर निर्णय लेते हैं। सभी दल किसी भी चुनाव क्षेत्र में प्रत्याशी मनोनीत करते समय जातिगत गणित का अवश्य विश्लेषण करते हैं। 1962 में गुजरात के चुनाव में स्वतन्त्र पार्टी की सफलता का राज उसका क्षेत्रीय जाति के समर्थन में छिपा हुआ था। हरिजन-मुसलमान-ब्राह्मण शक्तिपुंज बनाकर ही 1971 का आम चुनाव काँग्रेस ने जीता था। 1977 में जनता पार्टी की विजय का कारण उसे मुसलमानों और हरिजनों के साथ उच्च जातियों का प्राप्त समर्थन था। जनवरी 1980 के सप्तम लोकसभा चुनावों में काँग्रेस (इन्दिरा) की विजय का कारण रहा कि श्रीमति गाँधी हरिजनों, ब्राह्मणों और मुसलमानों का जातीय समर्थन जुटाने में सफल हो गयीं। काँग्रेस सहित सभी राजनीतिक दलों में जातीय आधार पर अनेक गुट पाये जाते हैं जिनमें प्रतिस्पर्धा की भावना विद्यमान रहती है।

जातिगत आधार पर मतदान व्यवहार

भारत में चुनाव अभियान में जातिवाद को साधन के रूप में अपनाया जाता है और प्रत्याशी जिस निर्वाचन क्षेत्र में चुनाव लड़ रहा है उस निर्वाचन क्षेत्र में जातिवाद की भावना को प्रायः उकसाया जाता है ताकि संबंधित प्रत्याशी की जाति के मतदाताओं का पूर्ण समर्थन प्राप्त किया जा सके। जनवरी 1980 के चुनावों में उत्तर प्रदेश और कुछ बिहार के हिस्सों में लोकदल की सफलता पिछड़ी जातियों की राजनीतिक महत्वकांक्षाओं का प्रतीक हैं। उत्तर प्रदेश के चुनावों में चरण सिंह की सफलता सदैव ही जाट जाति के मतों की एकजुटता पर निर्भर रही। केरल के चुनावों में साम्यवादी और मार्क्सवादी दलों ने भी वोट जुटाने के लिए सदैव जाति का सहारा लिया है।

मंत्रिमंडलों के निर्माण में जातिगत प्रतिनिधित्व

राजनीतिक जीवन में जातीयता का सिद्धांत इतना गहरा हो गया है कि राज्यों के मंत्रिमंडल में प्रत्येक प्रमुख जाति का मंत्री होना चाहिए। यह सिद्धांत प्रान्तों की राजधानियों से ग्राम पंचायतों तक स्वीकृत हो गया है कि प्रत्येक स्तर पर प्रधान जाति को प्रतिनिधित्व मिलना ही चाहिए। यहाँ तक कि केन्द्रीय मंत्रिमंडल में भी हरिजनों, जनजातियों, सिक्खों, मुसलमानों, ब्राह्मणों, जाटों, राजपूतों और कायस्थों को किसी न किसी रूप में स्थान अवश्य दिया जाता है।

जातिगत दबाव समूह

मेयर के अनुसार: “जातीय संगठन राजनीतिक महत्व के दबाव समूह के रूप में प्रवृत्त है।” जातिगत दबाव समूह अपने स्वार्थों एवं हितों की पूर्ति के लिए नीति-निर्माताओं को जिस ढंग से

प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं उससे तो उनकी तुलना यूरोप और अमरीका में पाये जानेवाले ऐच्छिक समुदायों से की जा सकती है। अनेक जातीय संगठन और समुदाय जैसे तमिलनाडु में नाडार जाति संघ, गुजरात में क्षत्रिय महासभा, बिहार में कायस्थ सभा आदि राजनीतिक मामलों में रुचि लेने लगे हैं और अपने-अपने संगठित बल के आधार पर राजनीतिक सौदेबाजी भी करते हैं। यद्यपि देश की सभी प्रमुख जातियों को इस प्रकार पूर्णतया संगठित नहीं किया जा सका है मगर जो जातियाँ इस प्रकार संगठित नहीं हो सकी, वे राजनीतिक सौदेबाजी में सफल नहीं रही और उनके सदस्यों को अपनी आवाज उठाने के लिए उपद्रव और तोड़-फोड़ का सहारा लेना पड़ा।

जाति एवं प्रशासन

लोकसभा और विधानसभाओं के लिए जातिगत आरक्षण की व्यवस्था प्रचलित है। केन्द्र एवं राज्यों की सरकारी नौकरियों एवं पदोन्नति के लिए जातिगत आरक्षण का प्रावधान है। मेडिकल एवं इंजीनियरिंग कॉलेजों में विद्यार्थी की भर्ती हेतु आरक्षण के प्रावधान मौजूद हैं। चरणसिंह सरकार ने तो अल्पकाल में एक अध्यादेश के माध्यम से पिछड़ी जातियों के लिए केन्द्रीय सरकार की सेवा में आरक्षण व्यवस्था घोषित करने की मंशा प्रकट की और इस संबंध में सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय को भी ताक पर रख दिया। यदि यह अध्यादेश लागू हो जाता है तो मध्य जातियों जैसे अहीर, यादव, कुर्मी आदि को भी आरक्षण के अवसर मिल जाते। ऐसा भी माना जाता है कि भारत में स्थानीय स्तर के प्रशासनिक अधिकारी निर्णय लेते समय अथवा निर्णयों के क्रियान्वयन में प्रधान और प्रतिष्ठित अथवा संगठित जातियों के नेताओं से प्रभावित हो जाते हैं।

राज्य राजनीति में जाति

मार्केल ब्रेचर के अनुसार अखिल भारतीय राजनीति की अपेक्षा राज्य की राजनीति पर जातिवाद का प्रभाव अधिक है। यद्यपि किसी भी राज्य की राजनीति जातिगत प्रभावों से अछूती नहीं रही है तथापि बिहार, केरल, तमिलनाडु, आन्ध्रप्रदेश, महाराष्ट्र, हरियाणा, राजस्थान और महाराष्ट्र राज्यों की राजनीति का अध्ययन तो हम बिना जातिगत गणित के विश्लेषण के कर ही नहीं सकते। बिहार की राजनीति में राजपूत, ब्राह्मण, कायस्थ और जनजाति प्रमुख प्रतिस्पर्धी जातियाँ हैं। पृथक् झारखंड राज्य की मांग वस्तुतः एक जातीय मांग ही थी। केरल में साम्यवादियों की सफलता का राज यही है कि उन्होंने 'इजवाहा' जाति को अपने पीछे संगठित कर लिया। आन्ध्र प्रदेश की राजनीति काम्मा और रेड्डी जातियों के संघर्ष की कहानी है। काम्माओं ने साम्यवादी दल का समर्थन किया तो रेड्डी जाति ने कांग्रेस दल का। महाराष्ट्र की राजनीति में मराठों, ब्राह्मणों और महारों में प्रतिस्पर्धा रही है। गुजरात की राजनीति में दो ही जातियाँ प्रभावी हैं - पाटदार और क्षत्रिय। केरल की राजनीति अपने तीन समुदायों के इर्द-गिर्द घूमती रही है—हिन्दू, ईसाई और मुसलमान। लेकिन केरल की राजनीति में दो ही जातियाँ प्रमुख राजनीतिक शक्तियों के रूप में सक्रिय हैं। मुस्लिम लीग मुसलमानों की है, दोनों केरल कांग्रेस के अधिसंख्या सदस्य ईसाई हैं। रा.प्र.मी. नायर लोगों की संस्था है। कांग्रेस और दोनों साम्यवादी दलों में जाति के अलावा हिन्दुओं के कुछ प्रमुख वर्गों का प्रभाव देखा जा सकता है। राजस्थान की राजनीति में जाट-राजपूत जातियों की प्रतिस्पर्धा प्रमुख रही है। भारत में राज्य की राजनीति के कतिपय अध्ययनकर्ताओं के अनुसार विभिन्न राज्यों में जाति के चार विभिन्न स्वरूप विकसित हुए हैं।

जातिवाद का पहला स्वरूप दक्षिणी भारत और विशेषकर तमिलनाडु में मिलता है जहाँ ब्राह्मणों और अनेक निम्न जातियों के बीच गंभीर संघर्ष रहा है। तमिलनाडु में आरम्भ से ही राजनीति पर

ब्राह्मणों का प्रभुत्व रहा है इसके विरुद्ध काफी दिनों से आन्दोलन चलता रहा जिसके परिणामस्वरूप राधास्वामी नायकर द्वारा द्राविड़ कड़गम नामक संगठन की स्थापना की गयी जो बाद में द्रविड़ मुनेत्र कड़गम दल के रूप में विकसित हुआ। तमिलनाडु में आरम्भ से ही राजनीति पर ब्राह्मणों का प्रभुत्व रहा और इसके विरुद्ध काफी दिनों से आन्दोलन चलता रहा जिसके परिणामस्वरूप तमिलनाडु में यह आन्दोलन शुरू हुआ और 1916 में एक पृथक राजनीतिक दल 'जस्टिस पार्टी' के नाम से स्थापित हुआ जिसका उद्देश्य गैर-ब्राह्मण जातियों के लिए स्थान सुरक्षित करना था। 1922 में सरकार द्वारा लोक सेवाओं में निर्धारित किये गये। इसके इस बात का संकेत मिलता है कि ब्रिटिश काल में ही गैर-ब्राह्मण जाति के लिए 16 प्रतिशत स्थान निर्धारित किये गये। इससे इस बात का संकेत मिलता है कि गैर-ब्राह्मण जाति विरोधी आन्दोलन बड़ी हद तक सफल हुआ। 1949 में यह आन्दोलन सी.एन. अन्नादुराई के नेतृत्व में डी.एम.के. के अधीन शुरू हुआ। ब्राह्मण विरोधी भावना के राजनीतिक महत्व को दृष्टि में रखते हुए अन्य राजनीति दल भी जाति युद्ध में संलग्न रहे हैं। यहाँ तक कि कांग्रेस पार्टी के द्वारा राजगोपालचारी (जो एक ब्राह्मण थे) के राजनीतिक प्रभाव को कम करने के लिए कामराज नाडार को राजनीति में ऊँचा उठाने का प्रयत्न किया गया। संक्षेप में स्वतंत्रता से पहले और स्वतंत्रता के बाद तमिलनाडु में ब्राह्मण और निम्न जातियों के बीच घोर टकराव रहा और इस संघर्ष में ब्राह्मणों को पराजित होना पड़ा।

जातिवाद का दूसरा रूप महाराष्ट्र में देखने को मिलता है। महाराष्ट्र की राजनीति तमिलनाडु से कुछ भिन्न रही है, यद्यपि यहाँ मराठा और ब्राह्मणों के बीच संघर्ष रहा और इस संघर्ष में मराठा जाति ने ब्राह्मणों के शताब्दियों से चले आने वाले प्रभुत्व का अन्त किया। बीसवीं शताब्दी की दूसरी चौथाई में राजनीतिक दलों में भी ब्राह्मणों का प्रभुत्व था। उदाहरण के लिए तिलक, गोखले, गोलवलकर, एस.ए. डाँगे आदि ब्राह्मण थे। स्वतन्त्रता के बाद मराठा जाति ने ब्राह्मणों को पराजित कर दिया और यह आन्दोलन 1960 में अपनी पूर्णता को पहुँच गया जब महाराष्ट्र नामक एक पृथक राज्य की स्थापना की गयी और मराठा जाति को राजनीति महाराष्ट्र की राजनीतिक प्रक्रिया में पूर्ण प्रधानता प्राप्त हुई। इस नये महाराष्ट्र राज्य में मराठा जाति की संख्या 45 प्रतिशत थी। ए.जे. दस्तुर के शब्दों में, जिस दिन महाराष्ट्र का निर्माण हुआ उस दिन से राज्य के विशिष्ट वर्ग और राजनीतिक नेतृत्व में अत्यधिक महत्वपूर्ण और मौलिक परिवर्तन हुए।... सत्ता प्रभाव और शक्ति ब्राह्मणों के हाथों से निकलकर मराठों के हाथों में पहुँच गयी।'

गुजरात, आन्ध्र और कर्नाटक जातिवाद का तीसरा प्रतिनिधित्व रूप प्रस्तुत करता है। इन तीनों राज्यों में तीन मध्यवर्गीय जातियाँ राजनीति में संघर्षरत दिखायी देती हैं। आन्ध्र में यह टकराव काम्मा और रेड्डी जातियों के बीच पाया जाता है। 1934 में आन्ध्र में साम्यवादी दल की स्थापना के बाद से इस दल का नेतृत्व काम्मा जाति के हाथों में रहा जबकि कांग्रेस पार्टी में रेड्डी जाति का प्रभुत्व रहा। कर्नाटक में यह विरोध लिंगायत तथा ओकोलीगा जातियों के बीच पाया जाता है। गुजरात में पटीदार और क्षत्रिय जातियों के बीच प्रतिस्पर्धा पायी जाती है। इन तीनों राज्यों (आन्ध्र, कर्नाटक और गुजरात) में यह विशेषता दिखायी देती है कि इन राज्यों में राजनीतिक क्षेत्र में केवल दो जातियों का प्रभुत्व है जो अपनी प्रथाओं, सामाजिक स्थिति और सामाजिक-आर्थिक साधनों की दृष्टि से एक-दूसरे से बहुत मिलती-जुलती हैं। दूसरे शब्दों में तमिलनाडु और महाराष्ट्र में जहाँ असमान्य जातियों के बीच टकराव पाया जाता है, वहाँ इन राज्यों में, यह प्रतिस्पर्धा लगभग दो समान जातियों के बीच पायी जाती है।

बिहार की स्थिति उपरोक्त राज्यों से भिन्न है। यहाँ भी उच्च जातियाँ - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और कायस्थ अब भी सामाजिक और राजनीतिक शक्तियों के धारक हैं और उनके बीच राजनीतिक

प्रतियोगिता देखी जा सकती है। निम्न जातियाँ अब भी पिछड़ी स्थिति में हैं। राजस्थान और मध्य प्रदेश में भी राजनीति पर उच्च जातियों का एकाधिकार है और निम्न जातियाँ उभरने का प्रयत्न कर रही हैं। अतः इन राज्यों में राजनीतिक प्रतियोगिता उच्च जाति के बीच है और कोई भी एक जाति अपने प्रभुत्व को स्थापित करने की स्थिति में नहीं है।

भारतीय राजनीति में जाति की भूमिका का मूल्यांकन करना अत्यन्त कठिन कार्य है। कई लोग जाति को 'राजनीति का कैंसर' मानते हैं। जाति प्रथा को राष्ट्रीय एकता के मार्ग में भी बाधक माना जाता है क्योंकि इससे व्यक्तियों में पृथक्तावाद की भावना जागृत होती है। लोग राष्ट्रीय हितों की अपेक्षा अपने जातिगत हितों को अधिक महत्व देने लगते हैं। जाति निष्ठाओं का सृजन कर लोकतन्त्र के विकास मार्ग को अवरुद्ध कर देती है। डी.आर. गाडगिल के अनुसार, 'क्षेत्रीय दबावों से कहीं ज्यादा खतरनाक बात यह है कि वर्तमान काल में जाति व्यक्तियों को एकता के सूत्र में बाँधने में सिद्ध हुई।' प्रसिद्ध समाजशास्त्री एम.एन. श्रीनिवास का स्पष्ट मत है कि परम्परावादी जाति व्यवस्था ने प्रगतिशील और आधुनिक राजनीतिक व्यवस्था को इस तरह प्रभावित किया है कि ये राजनीतिक संस्थाएँ अपने मूल रूप में कार्य करने में समर्थ नहीं रही हैं। दूसरी तरफ अमेरीका लेखकों रूडोल्फ एंड रूडोल्ड का मत है कि भारतीय राज-व्यवस्था ने जातियों के राजनीतिकरण में सहयोग देकर परम्परावादी व्यवस्था को आधुनिकता में ढालने के साँचे का कार्य किया है। वे लिखते हैं, 'अपने परिवर्तित रूप में जाति व्यवस्था ने भारत में कृषक समाज में प्रतिनिधि लोकतन्त्र की सफलता तथा भारतीयों की आपसी दूरी कम करके, उन्हें अधिक समान बनाकर समानता के विकास में सहायता दी है।'

संक्षेप में, चाहे जाति आधुनिकीकरण के मार्ग में बाधक हों या न हों राजनीति में जाति का हस्तक्षेप लोकतन्त्र की धारणा के प्रतिकूल है। जातिवाद देश, समाज और राजनीति के लिए बाधक है। विविधता की सीमाएँ होती हैं। इस देश में इतनी जातियाँ, उपजातियाँ तथा सह-जातियाँ पैदा हो गयी हैं कि वे एक-दूसरे से पृथक् रहने में ही अपने-अपने अस्तित्व की रक्षा समझती हैं। यह पृथक्तावादी दृष्टि राष्ट्रीय एकता के लिए अत्यधिक घातक सिद्ध हो सकती है।

संदर्भ ग्रंथों की सूची

1. सामाजिक समस्याएँ - राम अहूजा
2. भारतीय समाज की संरचना - एन.सी.ई.आर.टी.
3. समकालीन भारतीय समाज - नदीम हसनैन
4. द इंडियन पॉलिटिकल सिस्टम - नार्मन डी पामर
5. भारतीय राजनीति व्यवस्था - एस.एम. सईद
6. दल-बदल की राजनीति - डॉ. सुभाष कश्यप
7. भारतीय शासन एवं राजनीति - डॉ. रूपा मंगलानी
8. पॉलिटिकल इन इंडिया - रजनी कोठारी
9. इंडियन गवर्नमेंट एण्ड पोलिटिकल - जे. आर. स्वीप
10. विभिन्न समाचार पत्रों के माध्यम से प्राप्त सूचनाएँ

सम्प्रदायिकता और भारतीय राजनीति

योगेन्द्र सहनी

शोध छात्र, राजनीति विज्ञान विभाग, ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

भूमिका

मानव की उन्मुक्त प्रगति और विकास में जितनी बाधाएँ हैं, उनमें साम्प्रदायिकता भी एक है। यह वह विष वृक्ष है जो एक बार उग जाने पर आसानी से नष्ट नहीं होते हैं। हमारा देश भारत विभिन्न धर्मों और जातियों का निवास-स्थल रहा है। हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, पारसी सभी भाईचारे के साथ यहाँ सदियों से रहते आये हैं। सद्भाव एवं समन्वय भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है। भारतीय सम्भता एवं संस्कृति की विशेषता रही है। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का लक्ष्य मानवतावाद एवं “वसुधैव कुटुम्बकम्” रहा है। यही कारण है कि अंग्रेजों ने जब देश में पैर जमाया और देश को चूसने लगे तो हिन्दू और मुसलमान एक साथ उठ खड़े हुए और आजादी की जंग छेड़ दी। अंग्रेजों के लिए यह खतरे की घंटी थी। अतः उन्होंने साम्प्रदायिकता का बीज बोया ताकि वे जमात खड़ी की जो लगातार एक दूसरे सम्प्रदाय के खिलाफ जहर उगलती रही, परिणामस्वरूप मार-काट और दंगा प्रारम्भ हो गया और अंततः देश दो भागों में बंट गया। खेद तो इस बात का है कि जिस विष वृक्ष के प्रभाव से हमारा देश दो भागों में बंट गया, वह विष वृक्ष अभी तक नहीं सूखा है और न जाने कब तक इसकी चपेट में कितने लोगों की जाने जाएगी। कितनी माताओं के गोद सूने होंगे और कितने लोगों के भाई-बहन बिछुड़ेंगे?

सच तो यह है कि भारत ही नहीं अनेक देश इसकी चपेट में हैं। यह शोला कभी भारत के मुंबई में सुलगती है, तो कभी गुजरात में, कभी भागलपुर में, कभी असम, उड़ीसा और कभी दिल्ली में सुलगते रहती है। इजरायल और फिलीस्तीन भी इससे अछूता नहीं रहा है। खेद तो इस बात का है कि यह सब धर्म के नाम पर होता है जबकि सभी धर्मों की बुनियाद ह-प्रेम, भाई-चारा, सहानुभूति, दया और परोपकार। फिर चाहे राम हो या रहीम, गुरुनानक हो या ईसा सभी धर्म के मानने वाले सभी मानव दीनबंधू हैं।

साम्प्रदायिकता का अर्थ

साम्प्रदायिकता एक मनोवृत्ति है जिससे विशिष्ट वर्ग के व्यक्ति अपने सीमित हितों और अधिकारों की रक्षा के लिए दूसरे व्यक्तियों के हितों और अधिकारों पर कुठाराघात करते हैं। यह एक ऐसी भावना है जो धर्म, भाषा और जाति पर आधारित होती है तथा देश के हितों की उपेक्षा करके साम्प्रदायिक हितों की महत्ता प्रदान की जाती है। यह सामुदायिक मस्तिष्क की उपज है। यह आर्थिक पूर्वाग्रहों और धार्मिक अंधभक्ति से जुड़ी है इससे प्रेरित व्यक्ति यह मानने लगता है कि उसका मत और विश्वास ही सर्वोपरि है। दूसरे को तुच्छ समझते हुए उसे समाप्त करने की बात सोचने लगता है। इसके पीछे एक तरह का भय एवं आशंका होती है कि उक्त सम्प्रदाय हमारी संस्कृति और मूल्यों को नष्ट कर देगा। वर्तमान समय में साम्प्रदायिकता का आधार केवल धर्म ही नहीं है, बल्कि इसके साथ-साथ सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक ध्येय से जुड़े हैं। यह प्रवृत्ति स्वार्थपूर्णता के लिए धर्म का सहारा लेती है, जिससे तनाव बढ़ता है।

पं. जवाहर लाल नेहरू साम्प्रदायिक को भारत का शत्रु नम्बर एक मानते थे। अपने भाषण में उन्होंने कहा था- “साम्प्रदायिकता के मुद्दे पर कोई समझौता नहीं होना चाहिए चाहे वह मुस्लिम

साम्प्रदायिकता क्यों न हो? क्योंकि वह भारतीय राष्ट्रत्व और भारतीय राष्ट्रियता के विरुद्ध एक भारी चुनौती है।” रेण्डम हाउस डिक्शनरी के अनुसार, “अपने धार्मिक सम्प्रदाय से भिन्न अन्य सम्प्रदाय अथवा सम्प्रदायों के प्रति उदासीनता, उपेक्षा, दयादृष्टि, घृणा, विरोध और आक्रमण की भावना साम्प्रदायिकता है, जिसका आधार वह वास्तविकता या काल्पनिक भय या आशंका है कि उक्त सम्प्रदाय हमारे अपने सम्प्रदाय और संस्कृति को नष्ट कर देने या हमें जान-माल की क्षति पहुंचाने के लिए कटिबद्ध हैं।”

साम्प्रदायिकता की उपर्युक्त परिभाषाओं से निम्नलिखित विशेषताएं प्रकट होती हैं—

- (1) साम्प्रदायिकता का संबंध धार्मिक समूहों से है।
- (2) साम्प्रदायिकता में यह भाव विद्यमान होते हैं कि अपना ही धर्म या पंथ श्रेष्ठ है, अपनी ही भाषा एवं संस्कृति श्रेष्ठ है।
- (3) इसमें अन्य धर्मों, भाषाओं एवं संस्कृतियों के प्रति घृणा, तिरस्कार एवं उपेक्षा के भाव पाये जाते हैं। ये विरोधी भाव ही साम्प्रदायिक तनाव एवं संघर्ष पैदा करते हैं।
- (4) साम्प्रदायिक पारस्परिक स्नेह एवं सहयोग के स्थान पर सामाजिक एवं राजनीतिक अलगाव पैदा करती है।
- (5) साम्प्रदायिक का आधार लोगों में उत्पन्न वह वास्तविकता या काल्पनिक भय है कि अन्य धार्मिक समूह उनके सम्प्रदाय और संस्कृति को नष्ट कर देंगे और जान-माल की क्षति पहुंचावेंगे।

प्रस्तुत शोध-पत्र के माध्यम से यह बताने का प्रयत्न किया गया है कि साम्प्रदायिकता के उद्भाव के कौन-कौन से कारक थे तथा उसके विकास में कौन-कौन से कारकों ने सहयोग प्रदान किया। दूसरी ओर इसके अद्यतन विध्वंसात्मक पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है।

साम्प्रदायिकता के विशेषताओं और कारणों पर गौर करते हुए निःसंदेह कहा जा सकता है कि साम्प्रदायिकता सामुदायिक रूप से मानव मस्तिष्क की उपज है। यह आर्थिक पूर्वाग्रहों और धार्मिक अंधभक्ति से जुड़ी हैं इससे प्रेरित व्यक्ति यह मानने लगता है कि उसका मत और विश्वास ही सर्वोपरि है। दूसरे को तुच्छ समझते हुए उसे समाप्त करने की बात सोचने लगता है। इसके पीछे एक तरह का भय एवं आशंका होती है कि उक्त सम्प्रदाय हमारी संस्कृति और मूल्यों को नष्ट कर देगा। वर्तमान समय में साम्प्रदायिकता का आधार केवल धर्म ही नहीं है बल्कि इसके साथ-साथ सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक ध्येय भी जुड़े हैं। यह प्रवृत्ति स्वार्थपूर्णता के लिए धर्म का सहारा लेती हैं, जिससे तनाव बढ़ता है।

भारत में उग्र साम्प्रदायिकता का उदय चाहे 19वीं एवं 20वीं सदी में हुआ हो किन्तु इसका इतिहास अति प्राचीन है। प्राचीन समय से ही अनेक आक्रमणकारी समूहों के रूप में भारत आते रहे। हिन्दू साम्प्रदायिकता के आलोचकों ने साम्प्रदायिकता की खोज दयानंद सरस्वती के आर्य समाज के आंदोलन से की जो इसाईयत और इस्लाम के खिलाफ रहा। हिन्दू महासभा के नेता वीर सावरकर ने हिन्दू को परिभाषित करते हुए कहा “जो भारत को अपनी मातृभूमि, पितृभूमि और पूण्य-भूमि समझता है वही वास्तव में हिन्दू होता है।” ऐसी व्याख्या इस्लाम विरोधी थी क्योंकि मुसलमान भारतवर्ष को पूण्य भूमि स्वीकार करने को तैयार नहीं हो सकते। सन् 1925 में डॉ. केशवराय बलिराम हैडगेवार ने राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की स्थापना की जिसमें हिन्दू समुदाय को सैन्य प्रशिक्षण प्रदान करना शुरू किया। संगठन ने हिन्दू राष्ट्रवाद की कल्पना प्रस्तुत करते हुए गैर हिन्दुओं को इससे विमुख कर दिया। मुस्लिम साम्प्रदायिकता का उदय सन् 1920 में अहमद बरेलवी द्वारा चलाये गए जिहाद आंदोलन से हुआ। सन् 1975 में अलीगढ़ आन्दोलन ने वैमणस्यता को बढ़ाया।

सन् 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना से साम्प्रदायिकता को बढ़ावा मिला। इसी क्रम में मौलाना मौदूदी द्वारा स्थापित जमाते इस्लामी, 1953 में अलीगढ़ और 1961 में नई दिल्ली में हुए मुस्लिम कन्वेंशनों ने साम्प्रदायिकता बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इन संगठनों ने मुस्लिम समुदाय को सक्रिय करके एक दबावकारी गुट बना दिया ताकि विशेष अधिकार प्राप्त किया जा सके। अंग्रेजों की फूट डालो और शासन करो की नीति ने उग्र साम्प्रदायिकता को जन्म दिया।

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद का कहना था कि यदि साम्प्रदायिकता के इतिहास का तटस्थ अध्ययन करें तो यह ज्ञात होगा कि जब-जब हिन्दू मुस्लिम एकता के करीब पहुँचे, कार्यों में सामन्जस्य हुआ, अधिकारों की मांग की तब-तब साम्प्रदायिकता का नंगा नाच हुआ। बाँटों और खाओ की नीति का पहला लाभांश मार्ले मिण्टो सुधार के रूप में देखने को मिला। लेकिन मूलरूप सन् 1919 के सुधारों ने आधुनिक राजनीतिक साम्प्रदायिकता का उद्घाटन किया। फलतः देश दो भागों में बँट गया।

प्रस्तुत अध्ययन 'साम्प्रदायिकता की समस्या का राजनैतिक विश्लेषण' को चुनने का निम्नलिखित उद्देश्य है—

- (1) साम्प्रदायिकता के उद्भव के कारणों का पता लगाना।
- (2) इसके विकास में किन-किन कारणों ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है, इसकी खोज करना।
- (3) इसके पीछे सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं राजनैतिक कारकों में कौन से कारण अधिक उत्तरदायी हैं, इस पर प्रकाश डालना।
- (4) साम्प्रदायिक हिंसा का प्राचीन काल से लेकर आज तक के इतिहास पर प्रकाश डालना।
- (5) साम्प्रदायिकता के अद्यतन विध्वंसात्मक पहलुओं की खोज करना।
- (6) इस शोध-पत्र द्वारा यह पता लगाया जायेगा कि सरकारी स्तर पर इसके रोकथाम के लिए क्या प्रयास किये जा रहे हैं।
- (7) इस शोध-पत्र के माध्यम से यह सुझाव दिया जायेगा कि सरकारी एवं गैर सरकारी स्तर पर क्या प्रयास किये गये।

शोध की उपकल्पनाएँ

किसी भी विषय का वैज्ञानिक अध्ययन सफलतापूर्वक तब तक संभव नहीं है जब तक अध्ययन से संबंधित विषय का आरंभिक ज्ञान न हो। फलतः विषय को दिशा एवं वैज्ञानिकता प्रदान करने के लिए अध्ययन से संबंधित निम्नलिखित उपकल्पनाओं का निर्माण किया गया है:—

- (1) साम्प्रदायिकता एक संकीर्ण मानसिकता है जिससे भारत के विकास में अवरोध उत्पन्न हो रहा है।
- (2) साम्प्रदायिकता की समस्या आज उत्पन्न नहीं हुई है बल्कि प्राचीन काल में ही इसका बीज रोपण हो गया था।
- (3) साम्प्रदायिकता से सांस्कृतिक एवं सामाजिक एकता नष्ट होती है।
- (4) साम्प्रदायिकता को शिक्षा, सहिष्णुता एवं सामाजिक विकास से रोका जा सकता है।
- (5) भारत सरकार के कानून में ढिलापन भी इसके लिए कम जिम्मेवार नहीं है।
- (6) गाँवों की अपेक्षा शहरों में अधिक साम्प्रदायिकता तनाव देखे जाते हैं।
- (7) राजनीतिक व्यवस्था साम्प्रदायिकता तनाव को बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।
- (8) साम्प्रदायिक तनाव भूमंडलीकरण के इस दौर में कम होता प्रतीत हो रहा है।

- (9) हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमान अधिक साम्प्रदायिक होते हैं। क्योंकि उन्हें सांस्कृतिक लोप का डर बना रहता है।

अध्ययन की समीक्षा

प्रस्तुत अध्ययन इस बात को स्पष्ट करते हैं कि भारत एक धर्म निरपेक्ष राज्य घोषित होने पर भी साम्प्रदायिक तनाव का होना प्रजातांत्रिक मूल्यों का आभाव बताता है। स्वतंत्रता के पश्चात् भारत की राजनीतिक एवं सामाजिक व्यवस्था के व्यावहारिक विकास को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि साम्प्रदायिकता राष्ट्र के समक्ष एक बड़ी आंतरिक चुनौती है।

साम्प्रदायिकता के अस्तित्व को स्वीकार करने का अर्थ है धर्मनिरपेक्ष भारत के अस्तित्व को नकार देना और इसी अर्थ में विभाजनकारी प्रवृत्ति राष्ट्र एवं समाज के प्रति इनसे शक्तिशाली एवं वास्तविक खतरा है। यह होना चाहिए था कि औद्योगिक सामाजिक एवं शैक्षणिक विकास के द्वारा हमारे समाज में धर्म निरपेक्ष शक्तियाँ अधिक सशक्त होती और धार्मिक कठमुल्लेपन की भावना में कमी आती, लेकिन हुआ इसके विपरीत स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से ही भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में साम्प्रदायिक शक्तियाँ अत्यधिक बलवती होती गई। समकालीन भारत में साम्प्रदायिकता दो विशिष्ट कारणों से खतरनाक आयाम ग्रहण कर चुकी हैं—

- (क) साम्प्रदायिकता की मनोवृत्ति शहरों की दीवारों को तोड़कर सुदूर ग्रामीण क्षेत्रों में सौहार्दपूर्ण वातावरण में तेजी से फैल रही है।

- (ख) इसमें क्रमशः जन-आंदोलन का रूप ले लिया है। जैसे रामजन्म भूमि, बाबरी मस्जिद विवाद।

विश्लेषण

आमतौर से साम्प्रदायिकता का अर्थ समाज को धार्मिक दृष्टि से देखने का एक जरिया माना जाता है। यह एक नकारात्मक नीति है जो राष्ट्र निर्माण के बाधक तत्वों में सर्वाधिक प्रबल परिलक्षित होती है। यदि पूरे दक्षिण एशिया को ध्यान में रखकर साम्प्रदायिकता को परिभाषित किया जाए तो यह “सामाजिक धार्मिक समूहों की वह प्रवृत्ति है जिसके द्वारा वे दूसरे और अधिक सामाजिक एवं राजनीतिक ताकत को आधुनिकीकरण तथा परिवर्तन विरोधी अवधारणा बहुधार्मिक तथा बहुभाषायी समुदायों के सह अस्तित्व के लिए चुनौती है। इसकी सुस्पष्ट अभिव्यक्ति साम्प्रदायिक हिंसा या दंगों के रूप में होती है।

विपिन चन्द्रा ने अपनी पुस्तक ‘भारत का स्वतंत्र संघर्ष में साम्प्रदायिक विचारधारा के तीन तत्व या चरण बताए हैं, जिनमें आपस में तारतम्य होता है। इस क्रम में सबसे पहला स्थान इस विश्वास का है कि एक ही धर्म मानने वालों के सांसारिक हित यानी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक हित भी एक जैसे होते हैं। साम्प्रदायिक विचारधारा के उदय का यह पहला आधार है। इसका दूसरा तत्व यह विश्वास है कि भारत जैसे बहुभाषीय समाज में एक धर्म के अनुयायियों के सांसारिक हित यानी सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक हित अन्य किसी भी धर्म के अनुयायियों के सांसारिक हितों से भिन्न है। साम्प्रदायिकता अपने तीसरे चरण में तब प्रवेश करती है जब यह मान लिया जाता है कि विभिन्न धर्मों के अनुयायियों या समुदायों के हित एक-दूसरे के विरोधी हैं। इस चरण में आकर साम्प्रदायिक जोर देकर यह कहने लगता है कि दो समुदायों या समूहों के हित एक हो ही नहीं सकते, उनमें परस्पर विरोध होना स्वभाविक है।

उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि व्यक्ति, दल या आन्दोलन में साम्प्रदायिक विचारधारा का जन्म पहले चरण से आरम्भ होता है। दूसरे चरण जिसे ‘उदार साम्प्रदायिकता’ कहा जाता है से होते हुए

अंतिम चरण 'उग्र साम्प्रदायिकता' के रूप में परिणत हो जाता है। अंग्रेजों के आगमन के बाद आधुनिकीकरण की प्रक्रिया शुरू हुई। कृषि और उद्योग के क्षेत्र में नये प्रयोगों का शुभारंभ हुआ। अर्थव्यवस्था बदलनी शुरू हुई तो समाज में बदलाव स्वतः होना स्वाभाविक है। आधार बदलेगा तो अधिरचनाएँ बदल ही जायेगी। वैसे कृषि एवं उद्योग के क्षेत्र में विकास अंग्रेजों के द्वारा संतोषजनक तो नहीं हुआ यदि हुआ भी तो असंतुलित विकास, जिसने सामाजिक तनावों में पर्याप्त वृद्धि अवश्य कर दी। असंतुलित विकास ने समाज में पुराने सामाजिक तनावों को उजागर किया तथा अलगाव एवं शत्रुता को उत्पन्न किया।

जैसे-जैसे अंग्रेजी प्रभुत्व ने अपनी सत्ता को सुदृढ़ करना शुरू किया वैसे ही हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच ब्रिटिश शासन के प्रति दो विभिन्न प्रकार की अवधारणाओं ने जन्म लिया। आरंभ में हिन्दुओं ने राजनीतिक सत्ता के इस हस्तान्तरण को प्राचीनता से आधुनिकता में आगमन माना। किन्तु मुसलमानों ने इस नवीन शासन को बिल्कुल भिन्न प्रकार से देखा। उन्होंने अंग्रेजों को अपने राजनीतिक सत्ता का हनन करनेवाला माना। विशेषकर मुसलमानों के कुलीन वर्ग में अपमान एवं पराजय की गहरी भावना घर कर गयी। इतना ही नहीं परंपरागत कारीगरी में आयी गिरावट, हिन्दू व्यापारियों में तथा महाजनों के हाथों धन के एकत्रीकरण में मुसलमानों की मुश्किलों को और बढ़ाया। परिणामतः शुरू में अंग्रेजों का हिन्दुओं के साथ तादात्म्य स्थापित रहा तो आगे चलकर मुसलमान इनके प्रिय हो गये। स्पष्ट है कि ये दोनों धर्मों का उपयोग अपने स्वार्थ की पूर्ति एवं परिस्थिति को अपने अनुरूप करने के लिए करते रहे।

जिस साम्प्रदायिकता का बीजारोपण अंग्रेजों के द्वारा औपनिवेशिक काल में किया गया, उसका प्रभाव राष्ट्रीय आंदोलन पर भी पड़ा। एक सामान्य लक्ष्य स्वतंत्रता की प्राप्ति हेतु यद्यपि सभी दल कटिबद्ध दिखे, फिर भी समय-समय पर उनमें मतभेद अवश्य उभरे। जैसे-जैसे राष्ट्रीय आंदोलन सशक्त हुआ, वैसे-वैसे यह तत्व भी अपनी जड़ मजबूत करता गया। भारत शासन अधिनियम 1909 में साम्प्रदायिक आधार पर प्रतिनिधित्व का ऐसा बीज पड़ा जिसकी परिणति राष्ट्र के विभाजन के रूप में देखने को मिलता है। जवाहरलाल नेहरू ने साम्प्रदायिकता को प्रगति तथा प्रतिक्रिया के बीच के संघर्ष के रूप में वर्णित किया है। यह सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तनों और धार्मिक सुधार के क्षेत्रों में सभी प्रकार के क्रांतिकारी शक्तियों का विरोध करती है। यह समाजवाद एवं सामाजिक समानता का भी विरोधी है। साम्प्रदायिकता के कारणों की छानबीन की जाये तो व्यक्तिगत सोच, आर्थिक विकास का मनोनुकूल न होना, अल्पसंख्यक, बहुसंख्यक विभेद आदि तो है ही किन्तु सबसे प्रभावशाली कारण रहा है राजनीतिक जिसके तहत सत्ता प्राप्ति या बनाए रखने के लिए अप्रत्यक्ष रूप से धर्म को आधार बनाकर हितों की पूर्ति की जाती है।

जहाँ तक व्यक्तिगत सोच की बात है यह वह स्थिति है जहाँ कोई व्यक्ति अपने धर्म में इतना अधिक तल्लीन हो जाता है कि अन्य सभी धर्मों से वह अपने धर्म को श्रेष्ठ समझने लगता है तो ऐसे व्यक्ति के अभिप्रेत विचारों से साम्प्रदायिकता को बढ़ावा मिलता है। हालांकि यह स्थिति व्यवहारिक रूप में कम ही देखने को मिलती है। कुल मिलाकर सभी राजनीतिक दल लोगों की धार्मिक भावनाओं का शोषण कर रहे हैं। इस संदर्भ में आशीष नन्दी का कहना ठीक ही है कि धर्म के नाम पर दंगों को संगठित किया जाना भारतीय समाज में सबसे अधिक धर्मनिरपेक्ष घटना है। वे उनको इस प्रकार आयोजित करते हैं जैसे कि एक राजनैतिक रैली या एक हड़ताल को संगठित किया जाता है। यदि मुख्यमंत्री को हटाना हो, चुनाव अभियान में मदद करनी हो या फिर किसी एक गुट की सहायता करनी हो दंगों को करवाया जाता है। भारत में कुछ राजनैतिक दलों के पास आज

ऐसे व्यवसायी हैं जो दंगा कराने में पूर्ण रूप से निपुण हैं। मेरठ का दंगा हो या भागलपुर का या फिर गुजरात का, सभी में राजनैतिक संलिप्तता पायी गयी है।

उपर्युक्त तथ्यों के विश्लेषण से स्पष्ट है कि साम्प्रदायिकता एक जटिल समस्या है, जो दिन प्रतिदिन गहराता ही जा रहा है। सृजन के बदले यह विध्वंसात्मक विचारधारा है। आज इस समस्या से निजात पाने की आवश्यकता तीव्रता से महसूस हो रही है, ताकि राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया को अंतिम रूप देकर लोकतांत्रिक मूल्यों को वास्तविक रूप में स्थापित किया जा सके।

सुझाव एवं निष्कर्ष

प्रस्तुत अध्ययन का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट होता है कि साम्प्रदायिकता की समस्या एकाएक खत्म होनेवाली नहीं है। इसके लिए कुछ सशक्त पहल करने की जरूरत है। इस संदर्भ में कुछ निम्नलिखित सुझाव उपयोगी साबित हो सकते हैं।

- (1) शिक्षा के द्वारा काफी हद तक इस समस्या से मुक्ति मिल सकता है। अतः बच्चों के सिलेबस में प्रारम्भिक अवस्था से ही कविता, कहानी के द्वारा इसके अर्थ को समझाया जाय।
- (2) धर्म को सही अर्थ में परिभाषित करना। धर्म नैतिकता का पोषक है। दुनिया का कोई भी धर्म यदि शास्त्रों के आलोक में बात की जाये तो स्पष्ट तौर पर हिंसा का निषेध करता है।
- (3) सामाजिकरण के साधन को सशक्त किया जाना चाहिए।
- (4) सरकार के तरफ ऐसी परिस्थितियों के सृजन का प्रयास होना चाहिए जिसमें एक समान नागरिक संहिता आसानी से कार्यान्वित किया जा सके।
- (5) मिडिया अगर अपने दायित्वों का निर्वहन निष्पक्षतापूर्वक करे तो निश्चय ही प्रभाव सकारात्मक होगा।

यदि उपर्युक्त सुझावों पर पहल किया गया तो निश्चित रूप से इस दिशा में सकारात्मक परिणाम प्राप्त किये जा सकते हैं। वैसे किसी भी जटिल सामाजिक समस्या का पूर्ण समाधान एक लंबे प्रयास के बाद ही फलीभूत होता है। अतः विश्व शांति के लिए विभिन्न सम्प्रदायों के बीच सामंजस्य एवं एकता आवश्यक है। तभी भारत एक विवेकशील राष्ट्र बन सकेगा।

संदर्भ सूची

- (1) योजना, कुरुक्षेत्र से एकत्रित तथ्य
- (2) आधुनिक भारत - सुमित सरकार
- (3) भारत का स्वतंत्रता संघर्ष - विपिन चंद्रा
- (4) भारतीय समाज - एस.एल. दोषी एवं जैन
- (5) प्रतियोगिता दर्पण - मार्च, 2006
- (6) भारतीय राजनीतिक व्यवस्था - एस.एम. सईद
- (7) प्रतियोगिता दर्पण - सितम्बर, 2007
- (8) रिलिजन ऑफ इंडिया - ए. वार्थ
- (9) रिलिजन इन इंडिया - टी.एन. मदन
- (10) भारतीय स्वतंत्रता संग्राम - बी.एल. ग़ोबर

भारत में जमीनी जनतंत्रः पंचायती राज व्यवस्था

चन्दन कुमार

सीनियर रिसर्च फेलो, राजनीति विज्ञान विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था में व्यापक राजनीतिक सहभागिता एवं व्यापक विकास के लिए स्थानीय शासन व्यवस्था को स्थापित किया गया है। भारत में शासन के तीन स्तर हैं – केन्द्रीय स्तर, राज्य स्तर एवं स्थानीय स्तर। तीसरे स्तर जिसे स्थानीय स्तर कहा गया है, के अन्तर्गत ग्रामीण क्षेत्र के लिए पंचायती राज व्यवस्था तथा नगरीय क्षेत्रों के लिए नगर पंचायत/नगरपालिका/नगर निगम की व्यवस्था की गई है। जिनका मुख्य उद्देश्य स्थानीय समस्याओं का समाधान तथा व्यापक राजनीतिक भागीदारी सुनिश्चित करना है।

स्थानीय स्वशासन का अर्थ है कि स्थानीय क्षेत्रों का प्रशासन वहां के निर्वाचित प्रतिनिधियों के द्वारा चलाया जाए। स्थानीय स्वशासन में जनता की सीधी भागीदारी होती है। इसलिए उसे स्थानीय स्वशासन का नाम दिया जाता है। स्थानीय स्वशासन 'सत्ता के विकेन्द्रीकरण' पर आधारित एक प्रजातांत्रिक व्यवस्था है।

पंचायतों का इतिहास

प्राचीन भारत में पंचायतें

भारत में प्राचीन काल से ही पंचायती संस्थाओं का अस्तित्व रहा है। भारत में वैदिक काल में ग्राम, प्रशासन का उत्तरदायित्व पंचायतों पर ही था जो गांव के प्रमुख व्यक्तियों की सहायता से कार्य करता था। मौर्यकाल में स्थानीय शासन बहुत विकसित था। कौटिल्य ने ग्रामशासन के सन्दर्भ में 'अर्थशास्त्र' में पर्याप्त चर्चा की है। डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार ने लिखा है कि "विशाल साम्राज्य में एक केन्द्रीय सरकार की स्थापना होते हुए भी ग्राम शासन को अपने विषयों में पूर्णतः स्वतंत्रता प्राप्त थी। यह स्थानीय शासन के लिए नियम कानून तय करती थी।" मौर्य काल में ग्राम, शासन की सबसे निचली ईकाई थी, जिसका शासक 'ग्रामिक' कहलाता था। इसके साथ ही अन्य अधिकारियों का विवरण मिलता है। मौर्य काल के इन अधिकारियों के लिए 'स्थानीय उत्तरदायित्व का सिद्धान्त' लागू किया गया था।

गुप्त काल में ग्राम प्रशासन के लिए 5 सदस्यीय समितियों की स्थापना की गई थी और इनको पर्याप्त अधिकार प्राप्त थे। डॉ० अल्लेकर ने गुप्त प्रशासन के बारे में लिखा है – "गुप्तकालीन शासन प्रणाली तथा उसकी उपलब्धियों के विषय में हमारे पास विस्तृत साक्ष्य उपलब्ध है जिसके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वह केन्द्र, प्रांत एवं स्थानीय स्तर पर बहुत ही सुव्यवस्थित थी।" चोल प्रशासन में तो "पूर्ण स्वायत्त" ग्रामीण शासन की पूर्ण व्यवस्था।

राजपूतकालीन समय में ग्राम, प्रशासन की सबसे छोटी ईकाई थी। ग्राम का प्रबंध ग्राम सभाओं द्वारा सम्पन्न किया जाता था। प्रत्येक ग्राम की एक सभा होती थी जो अपने क्षेत्र में शासन का समस्त कार्य संभालती थी।

सल्तनत कालीन प्रशासन मूलतः सैनिक था और सुल्तान निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी थे। इस काल में नगर प्रशासन केन्द्रीकृत नौकरशाही द्वारा संचालित था, किंतु गांव अपेक्षाकृत अधिक स्वतंत्र थे।

मुगलशासन काल में भी ग्राम स्वायत्त शासन के सबसे महत्वपूर्ण निकाय थे। गांवों का प्रबंध पंचायते करती थी तथा पंचायते ही स्थानीय मामलों के सन्दर्भ में फैसला लेती थी। गांवों में तीन प्रमुख पदाधिकारी होते थे – मुकद्दम, पटवारी और चौधरी। बाद के मुस्लिम शासनकाल में स्थानीय संस्थाओं की स्थिति में परिवर्तन देखने को मिलता है। इस काल की स्थानीय संस्थाएं प्राचीन भारत के स्थानीय संस्थाओं के समान स्वतंत्र एवं लोकतांत्रिक नहीं थी।

ब्रिटिशकाल में स्थानीय स्वशासन

यद्यपि भारत में स्थानीय शासन प्राचीन काल से ही विद्यमान था, किन्तु वर्तमान संगठन एवं कार्य प्रणाली के रूप में उसका प्रादुर्भाव ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत ही हुआ है। न तो प्राचीन युग में प्रचलित ग्रामीण स्वशासन की व्यवस्था में और न ही उस समय की नगरीय शासन प्रणाली में ही ऐसा शासन देखने को मिलता था जिसका समय-समय पर निर्वाचन होता हो, और जो निर्वाचकगण के प्रति उत्तरदायी हो। ऐसी व्यवस्था का विकास पश्चिम में हुआ और ब्रिटिश सरकार ने भारत में उसका सूत्रपात किया था। “स्थानीय स्वशासन का अर्थ ऐसा प्रतिनिधि संगठन है जो एक निर्वाचक मण्डल के प्रति उत्तरदायी हो, प्रशासन तथा करारोपण की-विस्तृत शक्तियों का उपभोग करता हो और उत्तरदायित्व की शिक्षा देने वाली पाठशाला तथा किसी देश के शासन का निर्माण करने वाले अवयवों की शृंखला की महत्वपूर्ण कड़ी, इन दोनों रूपों में कार्य करता हो। प्राचीन ग्रामीण समाजों का निर्माण वंशानुगत विशेषाधिकार अथवा जाति के आधार पर होता था, उसका कार्यक्षेत्र अत्यधिक सीमित था, राजस्व वसूल करना तथा जीवन और सम्पत्ति की रक्षा करना उनके मुख्य काम थे, वे न तो राजनीतिक शिक्षा के सज्ज साधन थे और न ही प्रशासनिक व्यवस्था के महत्वपूर्ण अंग थे।”

अंग्रेजी शासन काल में ग्रामीण प्रशासन में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। धीरे-धीरे ग्रामीण प्रशासन का स्रोत पंचायती संस्थाएं समाप्त होने लगीं। सभी कार्य प्रादेशिक सरकारें करने लगीं। जमींदारों को ग्रामीण क्षेत्रों में कुछ अधिकार दिये गए। 1882 के पूर्व तक स्थानीय शासन पूर्णतः अभावी बना रहा, इसलिए भारतीय दृष्टिकोण से यह बहुत अंशों में न तो ‘स्थानीय’ था और न ‘स्वशासी’। इस बीच भारतीयों में राजनीतिक चेतना का प्रसार हुआ, जिसने नवीन आकांक्षाओं को जन्म दिया। लार्ड मेयो के बाद लार्ड रिपन गर्वनर जनरल नियुक्त हुआ। उसने 1882 में स्थानीय स्वशासन को स्वशासी बनाने का प्रस्ताव किया। उसे स्थानीय शासन के नवीन दर्शन के प्रतिपादन का श्रेय दिया जाता है। उसकी दृष्टि में स्थानीय शासन प्रधानतः ‘राजनीतिक तथा सार्वजनिक शिक्षा का एक साधन’ था। जिस प्रस्ताव में इन सिद्धान्तों का समावेश किया गया उसे एक महान अधिकार पत्र और उसके प्रणेता लार्ड रिपन को भारत में स्थानीय स्वशासन का जनक कहा गया।

स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान सर्वप्रथम कांग्रेस द्वारा ग्रामीण प्रशासन के लिए पंचायतों को पुनर्जीवित करने की मांग सन् 1909 के लाहौर अधिवेशन में रखी गई। 14 फरवरी 1916 को गांधी जी ने इस मांग को मद्रास मिशनरी सम्मेलन में पुनः उठाया। ब्रिटिश शासकों ने ग्रामीण प्रशासन की स्थिति की जांच तथा उनके सन्दर्भ में सिफारिश करने के लिए सन् 1882, 1907 एवं 1920 में शाही आयोग नियुक्त किये। शाही आयोग ने ग्रामीण प्रशासन के विकास पर बल दिया। सन् 1920 में संयुक्त प्रांत, असम, बंगाल, बिहार, मद्रास और पंजाब में ग्रामीण उत्थान के लिए पंचायतों की स्थापना के लिए कानून बनाये गए।

स्वतंत्र भारत में स्थानीय स्वशासन

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद महात्मा गांधी के ग्राम स्वराज के स्वप्न को साकार करने के लिए संविधान निर्माताओं ने संविधान में अनुच्छेद 40 को सम्मिलित किया। इस अनुच्छेद के अनुसार “राज्य ग्राम पंचायतों का गठन करने के लिए कदम उठायेगा तथा उन्हें ऐसी शक्तियाँ प्रदान करेगा, जो उन्हें स्वायत्त शासन की ईकाई के रूप में कार्य करने योग्य बनाने के लिए आवश्यक हो।”¹² परन्तु यह अनुच्छेद संविधान के भाग-3 के मूल अधिकारों में शामिल नहीं किया गया बल्कि इसे भाग-4 के नीति निर्देशक तत्वों (Directive Principles of State Policy) में सम्मिलित किए जाने से इस दिशा में कोई कानून बनाने की पहल नहीं की गई। उल्लेखनीय है कि ‘स्थानीय स्वशासन’ (Local Self Government) जिसके अन्तर्गत ग्रामीण एवं नगरीय क्षेत्र दोनों ही आते हैं अनन्य रूप से राज्य सूची का विषय है।

2 अक्टूबर, 1952 को प्रधानमंत्री नेहरू द्वारा पंचायती राज एवं सामुदायिक विकास मंत्रालय के तत्वाधान में ‘सामुदायिक विकास कार्यक्रम का प्रारम्भ किया गया। इस कार्यक्रम के अधीन विकासखण्ड को ईकाई मानकर ब्लॉक (Block) में विकास हेतु सरकारी कर्मचारियों के साथ-साथ सामान्य जनता को जोड़ने का प्रयास किया गया लेकिन सामान्य जनता को अधिकार न दिये जाने के कारण यह कार्यक्रम सरकारी अधिकारियों तक सीमित रह गया और किल हो गया। 2 अक्टूबर 1953 को ‘राष्ट्रीय प्रसार सेवा’ कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया, किन्तु वह भी असफल सिद्ध हुआ।

पंचायतों से संबंधित गठित प्रमुख समितियाँ (Various Committes Related to Panchayat)

स्वतंत्रता के बाद पंचायतों की आर्थिक स्थिति मजबूत करने के लिए समय-समय पर विभिन्न समितियों का गठन किया गया जो इस प्रकार हैं-

बलवंतराय मेहता समिति 1957

‘सामुदायिक विकास कार्यक्रम’ की किलता के बाद बलवंत राय मेहता की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया इस समिति की प्रमुख सिफारिशें निम्न प्रकार थी-

- त्रिस्तरीय पंचायत राज संस्थाओं की स्थापना की जाए, जिसके अन्तर्गत ग्राम स्तर पर ‘ग्राम पंचायत’ ब्लॉक स्तर पर ‘पंचायत समितियाँ’ तथा जिला स्तर पर ‘जिला परिषद्’ का गठन हो।
- प्रजातांत्रिक विकेन्द्रीकरण (Democratic Decentralization) की मूल ईकाई प्रखण्ड या समिति स्तर पर हो।

पंचायती राज का शुभारम्भ

मेहता समिति की सिफारिश के आधार पर प्रधानमंत्री नेहरू ने स्वतंत्र भारत में सर्वप्रथम 2 अक्टूबर, 1959 को राजस्थान के नागौर जिले में ‘प्रजातांत्रिक विकेन्द्रीकरण’ की योजना का शुभारम्भ/उद्घाटन किया जिसे ‘पंचायती राज’ कहा गया। इस अवसर पर पंडित नेहरू ने इसे नए भारत का सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं ऐतिहासिक कदम बताते हुए कहा था कि “याद रखो यह एक ऐतिहासिक कदम है जैसे-जैसे कदम उठे, अंग्रेजी राज्य खत्म हो कर यहां स्वराज्य आया, रजवाड़े अलग हुए। वह भी एक जनता के राज्य में शरीक हुए जागीरदारी प्रथा का अन्त हुआ। अब जनता के हाथ में सारी बागडोर आ गई है। पहले दो चीजे थी, राजा और प्रजा, अब वो दो चीजे नहीं रही। क्योंकि राजा भी प्रजा हो गया, और प्रजा राजा हो गई। आज से पंचायती राज की शुरुआत हो गई

है।”³ उल्लेखनीय है कि ‘पंचायती राज’ का श्री गणेश राजस्थान के नागौर में 02 अक्टूबर 1959 को पंडित नेहरू द्वारा निम्न उद्देश्यों के लिए किया गया – गांवों के लोग अपने शासन का उत्तरदायित्व स्वयं संभालेंगे। यह आवश्यक है कि ग्रामीण जन कृषि, सार्वजनिक स्वास्थ्य, सफाई, शिक्षा, सिंचाई, पशुपालन, परिवहन बाजार हाट आदि से संबंधित विकास प्रक्रियाओं में सक्रिय रूप से भाग ले उन्हें यह अधिकार प्राप्त होना चाहिए कि वे अपनी आवश्यकताओं और अनिवार्यताओं के विषय में स्वयं ही निर्णय ले सकें। लोग अपने चुने हुए प्रतिनिधियों के माध्यम से स्थानीय नीतियों का निर्धारण करें और जनता की वास्तविक आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए कार्यक्रम को लागू करें।⁴

अशोक मेहता समिति, 1977

बलवंत राय मेहता द्वारा की गई सिफारिशों में आई कमियों को दूर करने के लिए वर्ष 1977 में अशोक मेहता की अध्यक्षता में पंचायती राज समिति का गठन किया गया। इस समिति ने सन् 1978 में अपनी रिपोर्ट केन्द्र सरकार को प्रस्तुत की जिसकी प्रमुख सिफारिशें इस प्रकार थीं—

- पंचायते दो स्तर पर गठित हो जिसके अन्तर्गत जिला स्तर पर ‘जिला परिषद’ तथा ब्लाक स्तर पर ‘मण्डल पंचायत’ हो।
- ग्राम स्तर पर पंचायतों का गठन न किया जाए।
- ग्राम पंचायत के स्थान पर ‘मण्डल पंचायत’ हो जिसकी जनसंख्या 15 से 20 हजार हो।
- सभी विकास योजनाएं जिला परिषद द्वारा तैयार किया जाए और उनका क्रियान्वयन ‘मण्डल पंचायत’ द्वारा होना चाहिए।
- राज्य स्तर पर पंचायती राज वित्त आयोग हो।
- जिला परिषद को ‘लघु सचिवालय’ का रूप दिया जाए।

जे.के. वी. राव समिति, 1985

“ग्रामीण विकास एवं उन्मूलन से संबंधित, प्रशासनिक, व्यवस्था” पर सिफारिश करने के लिए सन् 1985 में जे० के० वी० (J.K.V.) की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया। इस समिति की सिफारिशें थीं –

- राज्य स्तर पर विकास परिषद् का गठन किया जाए।
- कार्य सम्पादन हेतु जिला परिषदों की विभिन्न समितियों का गठन किया जाए।

एल० एम० सिंधवी समिति, 1986

पंचायती राज संस्थाओं के कार्यों की समीक्षा एवं लोकतंत्र के विकास हेतु पंचायती राज संस्थाओं के पुनर्जीवन पर सन् 1986 में एल.एम. सिंधवी की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया। इस समिति की प्रमुख सिफारिशें थी –

- पंचायती राज प्रणाली के कुछ पहलुओं को ‘संवैधानिक दर्जा’ दिया जाए ताकि इन्हें राजनीतिज्ञों व नौकरशाहों के हस्तक्षेप से दूर रखा जा सके।
- ग्राम पंचायतों को अधिक वित्तीय संसाधन उपलब्ध कराए जाए।

पी.के. थुंगन समिति, 1988

सन् 1988 में पी.के. थुंगन की अध्यक्षता में (जिला नियोजन पर) संसद की एक सलाहकार समिति का गठन किया गया। इस समिति ने पंचायती राज को सशक्त करने के लिए अनेक सिफारिशें की, जिसमें एक प्रमुख सिफारिश थी कि पंचायतों को ‘संवैधानिक दर्जा’ दिया जाए।

भारत में पंचायती राज के विभिन्न काल

- **उत्थान काल (Phase of Ascendancy)** वर्ष 1959 से 1964 तक के पंचायती राज के कार्यकाल को 'उत्थान काल' कहा जाता है।
- **ठहराव काल (Phase of Stagnation)** वर्ष 1965 से 1969 तक की कार्य विधि को 'ठहराव काल' कहा जाता है।
- **ह्रास काल (Phase of Decline)** वर्ष 1969 से 1983 तक की कार्याविधि को ह्रास काल' माना जाता है।
- **जीवन काल में पुनरोदय (Phase of Revival)**— वर्ष 1983 के बाद से पंचायती राज संस्थाओं के जीवनकाल में पुनरोदय शुरू होता है।

64वां संविधान संशोधन विधेयक, 1989⁵

15 मई, 1989 को राजीव गांधी की सरकार ने पंचायतों से संबंधित 64वां संविधान संशोधन विधेयक संसद में प्रस्तुत किया। यह विधेयक लोकसभा में तो पारित हो गया, परन्तु राज्यसभा में पारित नहीं हो सका। वस्तुतः यही वह आधार (विधेयक) है, जो भविष्य में परिवर्धित होकर 73वें संविधान संशोधन के रूप में सामने आया।

73वां संविधान संशोधन अधिनियम, 1992⁶

73वें संविधान संशोधन विधेयक के रूप में 22 दिसम्बर, 1992 को लोकसभा तथा 23 दिसम्बर 1992 को राज्यसभा द्वारा पारित किया गया, बाद में राष्ट्रपति से स्वीकृति प्राप्त होने पर यह विधेयक 24 अप्रैल, 1993 को अधिनियम के रूप में लागू हुआ। 73वें संशोधन अधिनियम के माध्यम से पंचायतों को संविधान के भाग-9 में शामिल कर संवैधानिक दर्जा प्रदान किया गया तथा संविधान में एक 11वीं अनुसूची जोड़ी गई।

73वें संविधान संशोधन अधिनियम की प्रमुख विशेषताएँ—

1. **ग्राम सभा का गठन**— पंचायत व्यवस्था के तहत एक ग्राम सभा होगी, जो पंचायत व्यवस्था के सबसे निचले स्तर पर होगी।
2. **पंचायतों का गठन**—प्रत्येक राज्य में ग्राम, खण्ड (Block) और जिला स्तर पर त्रिस्तरीय पंचायतों का गठन किया जायेगा परन्तु मध्यवर्ती स्तर पर पंचायतों का गठन उस राज्य में नहीं किया जायेगा जिसकी जनसंख्या 20 लाख से कम है।
3. **पंचायतों की संरचना**—पंचायत के तीनों स्तरों पर सदस्यों का चुनाव प्रत्यक्ष रूप से होगा, लेकिन अध्यक्ष पद के लिए निचले स्तर पर अर्थात् ग्राम पंचायत को छोड़कर खण्ड एवं जिला स्तर पर चुनाव में चुने गए सदस्यों द्वारा अपने में से किया जायेगा।
4. **स्थानों का आरक्षण** :— पंचायत के तीनों स्तरों में अनुसूचित जाति एवं जनजातियों के सदस्यों का आरक्षण उनकी जनसंख्या के अनुपात में होगा तथा इनमें एक तिहाई आरक्षण महिलाओं का भी होगा।
5. **पंचायतों की अवधि** :— पंचायतों के सभी स्तरों का कार्यकाल 5 वर्ष का होगा लेकिन इससे पहले भी इसका विघटन किया जा सकता है। लेकिन 6 मास के अन्दर चुनाव कराना आवश्यक होगा।

6. **राज्य निर्वाचन आयोग का गठन :-** पंचायतों के लिए कराए जाने वाले सभी निर्वाचनों के लिए और उन सभी निर्वाचनों के संचालन एवं निर्देशन व नियंत्रण हेतु राज्य निर्वाचन आयोग होगा, जो राज्य के राज्यपाल द्वारा नियुक्त होगा।
7. **राज्य वित्त आयोग का गठन :-** प्रत्येक पांच वर्ष की समाप्ति पर राज्यपाल राज्य वित्त आयोग का गठन करेगा, जो पंचायतों की वित्तीय स्थिति का पुनर्विलोकन करेगा।
8. **अधिनियम का कुछ क्षेत्रों में लागू न होना -** यह अधिनियम निम्न क्षेत्रों में लागू नहीं होगा-
 - विशिष्ट अनुसूचित क्षेत्रों
 - नागालैण्ड, मेघालय और मिजोरम राज्यों में
 - मणिपुर राज्य के ऐसे पर्वतीय क्षेत्रों में जहाँ पर्वतीय परिषद् विद्यमान है।
 - पश्चिम बंगाल के दार्जिलिंग जिले की दार्जिलिंग गोरखा पर्वतीय परिषद् पर।
9. **11वीं अनुसूची में कार्यों का उल्लेख** - 73 वें संविधान संशोधन के द्वारा संविधान में एक ग्यारहवीं अनुसूची जोड़ी गई जिसमें कुल 29 विषय हैं। जो पंचायतों के कार्यों से संबंधित हैं। यह इस प्रकार है -
 1. कृषि (कृषि विस्तार सहित)
 2. भूमि सुधार कार्यान्वयन
 3. लघु सिंचाई, जलप्रबंध
 4. पशुपालन, डेयरी
 5. मत्स्य पालन
 6. सामाजिक एवं फार्म वनोद्योग
 7. लघु वन उत्पाद
 8. खादी ग्राम व कुटीर उद्योग
 9. लघु उद्योग
 10. ग्रामीण आवास
 11. पेयजल
 12. ईंधन एवं चारा
 13. सड़क, पुल, फेरी मार्ग
 14. ग्रामीण विद्युतीकरण
 15. गैर पारम्परिक ऊर्जा स्रोत
 16. निर्धनता निवारण कार्यक्रम
 17. शिक्षा
 18. तकनीकी प्रशिक्षण व व्यावसायिक शिक्षा
 19. पुस्तकालय
 20. सांस्कृतिक गतिविधियाँ
 21. प्रौढ़ व अनौपचारिक शिक्षा
 22. बजार व मेले
 23. स्वास्थ्य एवं सफाई

24. परिवार कल्याण
25. महिला एवं बाल कल्याण
26. समाज कल्याण
27. कमजोर वर्गों का कल्याण
28. सार्वजनिक वितरण प्रणाली
29. सामुदायिक आस्तियों का अनुरक्षण

संविधान का भाग-IX

पंचायतें: एक दृष्टि में

73वां संविधान संशोधन अधिनियम (1992) द्वारा पंचायतों को संविधान के भाग-9 में शामिल कर 'संवैधानिक दर्जा' प्रदान किया गया। संविधान के इस भाग-9 में कुल 16 अनुच्छेद जोड़े गए हैं। (अनुच्छेद 243 से 243 ण तक)⁸, जो पंचायतों से संबंधित हैं, यह इस प्रकार है -

- अनुच्छेद 243 : परिभाषाएं
- अनुच्छेद 243 क : ग्राम सभा
- अनुच्छेद 243 ख : पंचायतों का गठन
- अनुच्छेद 243 ग : पंचायतों की संरचना
- अनुच्छेद 243 घ : स्थानों का आरक्षण
- अनुच्छेद 243 ङ : पंचायतों की अवधि
- अनुच्छेद 243 च : सदस्यता के लिए निर्हताएं
- अनुच्छेद 243 छ : पंचायतों की शक्तियां और उत्तरदायित्व
- अनुच्छेद 243 ज : पंचायतों द्वारा कर अधिरोपित करने की शक्तियाँ
- अनुच्छेद 243 झ : वित्तीय स्थिति के पुनर्विलोकन हेतु वित्त आयोग का गठन
- अनुच्छेद 243 ञ : पंचायतों के लेखाओं की संपरीक्षा।
- अनुच्छेद 243 ट : पंचायतों के लिए निर्वाचन
- अनुच्छेद 243 ठ : संघ राज्य क्षेत्रों को लागू करना।
- अनुच्छेद 243 ड : इस भाग का कुछ क्षेत्रों में लागू न होना
- अनुच्छेद 243 ढ : विद्यमान विधियों और पंचायतों का बना रहना।
- अनुच्छेद 243 ण : निर्वाचन सम्बन्धी मामलों में न्यायालयों के हस्तक्षेप का वर्णन

पंचायत (अनुसूचित क्षेत्रों में विस्तार) अधिनियम (Panchayat Extension to Schedule Areas Act (PESA), 1996⁹

73वां संविधान संशोधन अधिनियम 24 अप्रैल 1993 से लागू तो हो गया परन्तु आदिवासी बहुल अनुसूचित क्षेत्रों को इस संविधान संशोधन की परिधि से बाहर रखा गया, लेकिन संविधान के अनुच्छेद 243 ड. के खण्ड 4 (ख) के अनुसार संसद कानून बनाकर इसे वर्जित अनुसूचित क्षेत्रों तथा आदिवासी क्षेत्रों में भी लागू कर सकती है। इस ध्येय को ध्यान में रखकर 73वें संशोधन के लाभों को आदिवासियों तक पहुंचाने के लिए संसद ने पंचायत उपबंध (अनुसूचित क्षेत्रों में विस्तार) विधेयक दिसम्बर, 1996 में पारित किया तथा राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के बाद यह विधेयक 24 दिसम्बर 1996 से

लागू हो गया। इस अधिनियम को PESA के नाम से भी जाना जाता है। वर्तमान में यह भारत के उन राज्यों में लागू है, जहां अनुच्छेद 244(1) के अन्तर्गत 5वीं अनुसूची के प्रावधान प्रवर्तित हैं।

वर्तमान सन्दर्भ में पंचायती राज

पंचायती राज मंत्रालय

भारत में केन्द्रीय स्तर पर पंचायती राज के कार्य निर्देशित एवं समन्वित करने के लिए पृथक् से एक मंत्रालय की स्थापना 27 मई, 2004 को हुई। इससे पूर्व इस मंत्रालय से संबंधित कार्य ग्रामीण विकास मंत्रालय द्वारा निर्वहित होते थे। इस नए पंचायती राज मंत्रालय का राजनीतिक नेतृत्व पंचायती राज मंत्री द्वारा किया जाता है।¹⁰

पंचायती राज मंत्रालय के प्रमुख कार्य

- पंचायती राज सशक्तिकरण हेतु राज्यों में समन्वय करना
- पंचायती राज तथा पंचायती राज संस्थाओं से संबंधित नीति, कानून एवं कार्यक्रमों का निर्माण एवं क्रियान्वयन करना।
- पंचायत विकास और प्रशिक्षण योजना के माध्यम से पंचायती राज संस्थाओं से संबंधित जन प्रतिनिधियों एवं लोक सेवकों की क्षमता वृद्धि करना।
- संविधान की मूल भावना के अनुरूप पंचायतों को कार्य, कोष तथा कार्मिक हस्तांतरित कराने में मार्गदर्शन देना।
- राष्ट्रीय पंचायत पोर्टल को अद्यतन करना।
- गोलमेज़ सम्मेलनों में पारित प्रस्तावों का क्रियान्वयन सुनिश्चित कराना।

मनरेगा एवं पंचायती राज (MGNREGA & Panchayati Raj)¹¹

महात्मा गांधी राष्ट्रीय रोजगार गारंटी अधिनियम – ‘मनरेगा’ (2005) की शुरुआत 2 फरवरी, 2006 को देश के 200 जिलों में हुई। बाद में इसका देशभर में विस्तार हो गया मनरेगा योजना के तहत ग्रामीण क्षेत्रों में प्रत्येक परिवार के एक सदस्य को वर्ष में कम-से-कम 100 दिन अकुशल श्रम वाले रोजगार की गारंटी दी गई है। मनरेगा की धारा 13 से 17 के बीच पंचायती राज संस्थाओं के अधिकारों का उल्लेख किया गया है-मनरेगा का 50 प्रतिशत धन पंचायती राज संस्था (ग्राम पंचायत) द्वारा प्रत्यक्ष व्यय किया जाएगा। मनरेगा की धारा-13 के अन्तर्गत ग्राम, ब्लाक व जिला स्तर पर मनरेगा की योजना बनाने एवं इसको लागू करने का प्राधिकार होगा। ग्राम सभा ग्राम पंचायत को विशेषीकृत परियोजनाओं की सलाह दे सकेगी। मनरेगा की धारा-17 के अनुसार ग्राम सभा, ग्राम पंचायत के अन्तर्गत कार्य को लागू करने की निगरानी करेगी। ग्रामसभा, ग्राम पंचायत के अन्तर्गत प्रारम्भ की गई योजनाओं के अधीन सभी परियोजनाओं का नियमित सामाजिक अंकक्षण (Social Audit) करेगी।

ई-पंचायत (e-Panchayat)

पंचायतों में शासन की गुणवत्ता सुधार हेतु केन्द्र सरकार ने सभी पंचायतों को ई-सक्षम करने के लिए ‘ई पंचायत’¹² मिशन मोड परियोजना (Mission Mode Project) (MMPs) नामक एक परियोजना प्रारम्भ की है। जिससे इन्हें स्वशासन की आधुनिक संस्थाओं के रूप में तैयार किया जा सके।

ई-पंचायत का उद्देश्य पंचायती राज संस्थाओं को आधुनिक दक्षता, उत्तरदायित्व का प्रतीक बनाना तथा सूचना प्रौद्योगिकी (Information Technology) के प्रति वृहत्त ग्रामीण आबादी को अभिप्रेरित करना है।

निष्कर्ष

इस प्रकार हम देखते हैं कि संविधान के 73वें संशोधन के जरिये भारत में जमीनी जनतंत्र लागू हो चुका है। पंचायती राज संस्थाएं बहुत ही सक्रिय एवं मजबूत हुई हैं तथा व्यवस्था में इनकी भागीदारी बढ़ी है यद्यपि की ये संस्थाएं वित्तीय संकटों से भी जूझ रही हैं इनके लिये कोष के नियमन एवं इसके उचित प्रबंधन की आवश्यकता है। साथ ही साथ इनके उत्तरदायित्वों को सुनिश्चित करना अभी शेष है जिसपर गंभीरता पूर्वक विचार कर इन संस्थाओं को और अधिक क्रियाशील एवं लोकतांत्रिक व्यवस्था की मजबूत और रीढ़ बनाया जा सके।

संदर्भ सूची

1. Government of India: Memorandum of the Development and working of Representative institution in the sphere of Local Self Government, Vol-V p-1056
2. Constitution of India (Article-40)
3. प्रतियोगिता दर्पण/जनवरी/2007
4. वही
5. 64Th Constitutional Amendment Act, 1964
6. 73rd Constitutional Amendment Act, 1992
7. Constitution of India: "ELEVENTH SCHEDULE" power, authority and responsibility of Panchyats.
8. Constitution of India: PART-IX (Art-243 to 243O)
9. Panchyat Extension Shedule Act (PESA), 1996
10. भारत: प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 2005
11. MGNAREGA & Panchyati Raj Act-2005
12. योजना : प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, 2009
 - Maheswari, S.R., *Local Government in India*, New Delhi, Orient Longman, New Delhi, 2010
 - Joshi, R.P. & Narwani, G.S., *Panchyati Raj in India: Emerging Trends*, Rawat Publication, Jaipur, 2002
 - Mishra, S.N., *Dream and Realities: Expections from Panchyati Raj*, New Delhi, IIPA, 1996
 - Jha, S.N. and Mathur, P.C., *Decentralization and Local Politics*, New Delhi, 1999
 - सईद, एस.एम., *भारतीय राजनीतिक व्यवस्था*, भारत बुक सेन्टर, लखनऊ, 2007
 - मंगलानी, डॉ० रूपा, *भारतीय शासन एवं राजनीति*, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 2011
 - नारंग, ए.एस., *भारतीय शासन एवं राजनीति*, गीतांजलि पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 2005

Reports

- Balwant Rai Mehta Committee Report-1957
- Ashok Mehta Committee Report-1977
- J.K.V. Rao Committee Report-1985
- L.M. Singhavi Committee Report-1986
- P.K. Thungan Committee Report-1988

आपातकाल के बाद प्रेस की स्वतंत्रता

कुमारी रीना

शोध छात्रा, राजनीति विज्ञान विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया

जनता पार्टी के चुनाव घोषणा-पत्र में नागरिक अधिकारों की पुनर्प्राप्ति और संरक्षण की बात थी, जिसमें प्रेस की स्वतंत्रता भी शामिल थी। अतः प्रेस का देसाई सरकार से प्रारंभिक संबंध मधुर रहा। जनता सरकार के सत्तारूढ़ होने की प्रेस में भरपूर प्रशंसा की गई। उनके द्वारा नियुक्त आयोगों और आपातकालीन स्थिति में हुई सरकारी ज्यादतियों संबंधी खोजों को भी प्रेस में पर्याप्त महत्व व स्थान दिया गया। परन्तु साथ ही प्रेस बहुत समय तक राष्ट्र की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक दशा की अवहेलना नहीं कर सका।

जनता दल की अंदरूनी कलह, नेतृत्व के लिए प्रतियोगिता, दलबदल और अन्य घोटालों की सूचना प्रेस द्वारा जनता तक पहुंचाई गई। परिणामस्वरूप जो राष्ट्र का चित्र समाचारपत्रों में बना, वह एक विघटित, विभाजित और कमजोर समस्याग्रस्त राष्ट्र का था, जिसका प्रशासन और नेतृत्व राष्ट्र को प्रगति की ओर ले जाने में अक्षम था। यह चित्र प्रायः सभी समाचार-पत्रों ने खींचा। उनमें केवल मात्रात्मक अंतर था। अतः 1980 में इंदिरा गांधी पुनः सत्ता में आ गई जिसमें जनता के साथ-साथ प्रेस का समर्थन भी शामिल था। ऐसा नहीं कि प्रेस की निष्ठाएँ बदल गई हों, परन्तु वस्तुस्थिति को निष्पक्ष और सत्य बयान करने में प्रेस ने ईमानदारी से कार्य किया था। सत्ता-परिवर्तन उसका स्वाभाविक परिणाम था।

आपातकालीन अल्पावधि को छोड़कर अधिकांशतः भारतीय राजनीतिक नेतृत्व व्यापक तौर पर प्रेस की स्वतंत्रता के प्रति उत्सुक और प्रतिबद्ध रहा है। यह स्वतंत्रता भारत के मौलिक अधिकारों में वर्णित 'भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता' (अनु. 19(1) की ही अभिन्न भाग मानी गई है जिस पर अनु. 19(2) के अन्तर्गत कुछ प्रतिबंध राष्ट्रीय और सामाजिक हित में लगाए जा सकते हैं। साथ ही यह भी आवश्यक माना गया है कि पत्रकारिता के अति उच्च स्तर तक पहुंचा जाए तथा पत्रकारों, समाचार-पत्र/पत्रिकाओं और समाचार एजेंसियों द्वारा एक आचार-संहिता का निर्माण और पालन किया जाए ताकि पत्रकारिता में उत्तरदायित्व और सार्वजनिक सेवा जैसी भावनाओं को प्रोत्साहन मिले। उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए यह उचित समझा गया कि एक वैधानिक संस्था का गठन किया जाए। अतः 1965 के केन्द्रीय अधिनियम, प्रेस परिषद् अधिनियम द्वारा 'प्रेस परिषद्' का गठन किया गया जिसे 1969 और 1970 में संशोधित किया गया। ऐसा प्रथम प्रेस आयोग (1954) की सिफारिशों के आधार पर किया गया।

प्रेस परिषद् का उद्देश्य प्रेस की स्वतंत्रता का संरक्षण और समाचार पत्रों और समाचार एजेंसियों के स्तर में सुधार और रख-रखाव था। इनके लिए उसे प्रेस पर एकाधिकार की समाप्ति के लिए आचार संहिता का निर्माण और उनमें सार्वजनिक हित के लिए उत्तरदायित्व की भावना इत्यादि के लिए प्रयत्न करने का अधिकार था।

परिषद् में अध्यक्ष के अतिरिक्त 29 अन्य सदस्यों का प्रावधान था जिनमें लोकसभा के स्पीकर, राज्य सभा के सभापति, भारत के मुख्य न्यायाधीश के साथ-साथ समाचारपत्रों के संपादक, प्रबंधक, पत्रकारों और संसद सदस्यों में से मनोनीत सदस्य हो सकते थे। साथ ही विभिन्न साहित्यिक और

व्यावसायिक संस्थाओं जैसे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यू.जी.सी.) बार काउंसिल और साहित्य अकादमी से भी सदस्यों का मनोनयन संभव था। पहली प्रेस परिषद् लगभग 9 वर्ष रही।

प्रेस परिषद् को 1976 में निरस्त कर दिया गया था, परन्तु 1978 में जनता सरकार के शासन में उसे पुनर्जीवित किया गया। नवीन प्रेस परिषद् की सदस्य संख्या बढ़ाकर 29 कर दी गई जिसमें एक अध्यक्ष व 28 अन्य सदस्य होते थे। यह 1988 में पुनः गठित की गई। अध्यक्ष और सदस्यों का कार्यकाल तीन वर्ष का होता है और कोई व्यक्ति दो बार से अधिक सदस्य नहीं बनाया जा सकता। अपने स्वरूप में भारतीय प्रेस परिषद् विश्व की अनेक प्रेस परिषदों से अधिक स्वतंत्र भी है और शक्तिशाली भी। प्रेस परिषद् ने अपनी भूमिका निभाते हुए अपने लिए एक सम्माननीय स्थान बना लिया है। न केवल इसने सरकार के खिलाफ समाचारपत्रों की शिकायतों को सुना है बल्कि समाचारपत्रों के खिलाफ सरकारी और व्यक्तिगत शिकायतों को भी सुना है, उनकी जाँच करवाई है और अपने निर्णय भी दिए हैं।

इस प्रकार परिषद् सरकार और जनता दोनों का विश्वास प्राप्त कर सकी है तथा नागरिकों और न्यायालयों के बीच एक मध्यवर्ती कड़ी का काम भी कर रही हैं। परन्तु पत्रकारों का एक समूह मानता है कि सरकार द्वारा गठित और अनुदानप्राप्त संस्था के रूप में परिषद् की ऐसी सीमाएँ हैं जो उसकी विश्वसनीयता पर प्रश्नचिह्न लगा सकती है।

भारत की प्रमुख समाचार समितियाँ प्रेस ट्रस्ट ऑफ इंडिया (1948), यूनाइटेड न्यूज ऑफ इंडिया (1960), हिन्दुस्तान समाचार और समाचार भारती है। प्रेस आयोग ने समाचार समितियाँ की तटस्थता और निष्पक्षता की आवश्यकता पर बल दिया। परन्तु प्रायः विरोध पक्ष द्वारा इन पर शासकीय और बड़े औद्योगिक घरानों के नियंत्रण का आरोप लगाया जाता है जो पूर्णतः असत्य भी नहीं है।

भारत का समाचारपत्र उद्योग भी काफी सजग और संगठित हो गया है। इनके कुछ उल्लेखनीय संगठन भारतीय समाचारपत्र समाज, प्रेस की राष्ट्रीय समन्वय समिति, भारतीय संपादक गिल्ड, छोटे और मध्यम दर्जे के समाचारपत्रों का संघ, आल इंडिया न्यूज पेपर एडिटर्स कान्फ्रेंस भारतीय और प्रांतीय पत्रकार संघ एण्ड इस्टर्न न्यूज पेपर्स सोसाइटी, इंडियन लैंग्वेज न्यूज पेपर एसोसिएशन इत्यादि हैं। ये संगठन अपने समूहगत हितों के साथ-साथ प्रेस की स्वतंत्रता के संरक्षण के लिए भी कार्य करते हैं। राजीव गांधी सरकार द्वारा 1988 में मानहानि विधेयक की वापसी इन संगठनों की एकता व शक्ति का परिणाम थी।

भारतीय प्रेस ने स्वयं अपनी स्वतंत्रता को मर्यादित करने के लिए आचार संहिता बनाने के अनेक बार प्रयत्न किये हैं जिनमें से दो मुख्यतः उल्लेखनीय हैं। प्रथम, 1953 में अखिल भारतीय समाचार-पत्र संपादक सम्मेलन की स्थायी समिति द्वारा स्वीकृत आचार संहिता जिसके 15 सूत्र थे और 1975 में वरिष्ठ संपादकों और पत्रकारों द्वारा स्वीकृत आचार संहिता जिसमें 14 सूत्र थे। इनके अतिरिक्त प्रथम प्रेस आयोग (1952-54) द्वारा 1954 में एक 17 सूत्रीय संहिता का प्रस्ताव किया गया था। तीनों संहिताओं में अनेक समानताएँ हैं। लगभग सभी ने अनुच्छेद 19(2) में वर्णित मर्यादाओं या सीमाओं को ही सरल शब्दों में प्रस्तुत किया है। परन्तु तीनों आचार संहिताओं में से कोई भी पत्रकार और सरकार द्वारा उसी रूप में स्वीकार नहीं की गई है।

1966 में नियुक्त प्रेस-परिषद् का भी एक दायित्व समाचार-पत्रों, समाचार समितियों और पत्रकारों के लिए 'उच्च व्यावसायिक स्तर' के अनुरूप आचार-संहिता निर्मित करना था। इसके स्थान पर

उसने यह मत दिया कि किसी संहिता के निर्धारण के स्थान पर जो शिकायतें परिषद् के सामने आएँ, उन पर उसके द्वारा किए गए निर्णयों के संकलन में से, व्यवहार के सिद्धान्त विकसित होने चाहिए, क्योंकि संगठित संहिता से दृष्टिकोण इतना कठोर हो सकता है कि उससे लाभ से अधिक हानि हो सकती है। एडीटर्स गिल्ड ऑफ इंडिया ने भी इसका समर्थन करते हुए यह मत दिया कि 'उत्तरदायी व्यक्ति औपचारिक संहिताओं से नियंत्रित नहीं किए जा सकते।'

भारत के दूसरे प्रेस आयोग (1978-82) ने भी 1982 में प्रस्तुत अपने प्रतिवेदन में उपर्युक्त मत का समर्थन किया। 1976 में संयुक्त राष्ट्र की आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् में भी इसी प्रकार का मत व्यक्त किया गया था कि इस बात का भय है कि उत्तरदायित्वयुक्त स्वतंत्रता का सिद्धान्त इतनी दूर तक ले जाया जाए कि उत्तरदायित्व पर दिया गया जोर स्वतंत्रता को विलुप्त कर दे। अतः विकसित और अविकसित सभी राष्ट्रों में उत्तरदायित्व और स्वतंत्रता के बीच उचित संतुलन ही प्रेस की स्वतंत्रता का स्थायी आधार हो सकता है।

अरस्तू के क्रांति संबंधी विचार

शिव विवेक

एम०ए० नेट, राजनीति विज्ञान

अरस्तू (384-322 ई.पू.) प्राचीन दार्शनिक था। उसे राजनीतिशास्त्र का जनक माना जाता है। अरस्तू के साथ यूनानी नगर-राज्य राजनीतिक अस्थिरता की गंभीर समस्या से जूझ रहे थे। राजतंत्र, धनिकतंत्र, जनतंत्र कस निरंकुशतंत्र कोई भी शासन प्रणाली स्थिरता नहीं दे पा रही थी। क्रांति अथवा विद्रोह एक सामान्य घटना बन चुकी थी। इन परिस्थितियों से दुःखी अरस्तू एक ऐसी व्यासन प्रणाली को विकसित करना चाहता था जो समाज में व्यवस्था एवं शांति कायम रख सके। अतः उसने अपनी पुस्तक 'पॉलिटिक्स' की पाँचवी पुस्तक में क्रांतियों का गहन विश्लेषण किया है एवं उनके समाधान के लिए उपाय भी सुझाए हैं।

जहाँ प्लेटो ने राजनीतिक स्थिरता के लिए पूरी व्यवस्था के पुनर्निर्माण की बात की है, वहीं अरस्तू ने किसी भी आमूल परिवर्तनवाद का विरोध किया है। उसके अनुसार, जब स्थिति पर नियंत्रण हो तभी किसी परिवर्तन को अच्छा नहीं मानता है। वह कानून अथवा शासक के छोटे-छोटे दोषों को नजरंदाज करने का बात करता है। कानून वर्षों के अनुभव का परिणाम होते हैं। नए कानून का पालन करने के लिए मनुष्य को अपना चरित्र बदलना होगा जो उतना सरल नहीं है जितना कि कानून को बदला। अतः अरस्तू कहता है कि राजनीतिशास्त्र मनुष्य का निर्माण नहीं करता, बल्कि इसे उसके प्राकृतिक रूप में ही स्वीकार करना चाहिए।

अरस्तू क्रांति का अर्थ उस अर्थ में नहीं लेता जिस कार्य में हम आज लेते हैं। उसके मतानुसार, क्रांति का अर्थ है संविधान में किसी भी प्रकार का परिवर्तन चाहे वह परिवर्तन छोटा हो या बड़ा और चाहे वह किसी भी प्रकार से लाया गया हो। इसके अलावा, यदि संविधान में तो कोई परिवर्तन नहीं हो, लेकिन सत्ता किसी दूसरे पक्ष के हाथों में चली जाए, तो उसे भी अरस्तू क्रांति ही मानता है। मैकलेन के शब्दों में, 'अरस्तू क्रांति को कानूनी परिवर्तन के बजाए राजनीतिक परिवर्तन अधिक मानता है। क्रांति केवल राज्य के कानूनी आधार को ही नहीं, वरन् नैतिक, सामाजिक व आर्थिक स्तरों में भी परिवर्तन कर देती है।'

अरस्तू ने अपनी क्रांति की अवधारणा को और भी स्पष्ट करने के लिए इसके कुछ मुख्य प्रकारों की चर्चा की है :

1. पूर्ण और आंशिक क्रांति - संपूर्ण संविधान को बदलना पूर्ण क्रांति है, जबकि उसके किसी महत्वपूर्ण भाग को बदलना आंशिक क्रांति है।
2. रक्तपूर्ण और रक्तहीन क्रांति - सशस्त्र विद्रोह अथवा रक्तपात द्वारा संविधान में या शासन में परिवर्तन रक्तपूर्ण क्रांति है अन्यथा उसे रक्तहीन क्रांति कहेंगे।
3. वैयक्तिक और अवैयक्तिक क्रांति - किसी महत्वपूर्ण व्यक्ति को हटाकर संविधान में परिवर्तन करना वैयक्तिक क्रांति है जबकि शासक को बिना बदले संविधान में परिवर्तन करना अवैयक्तिक क्रांति है।
4. किसी वर्ग विशेष के विरुद्ध क्रांति - किसी वर्ग विशेष (धनी, जनसाधारण, राजघराना आदि) के विरुद्ध क्रांति करके संविधान परिवर्तन करना इस प्रकार की क्रांति के अंतर्गत आता है।

5. वैचारिक स्थिति – जब किसी राज्य में कुछ वक्तागण अपने भाषणों अथवा विचारों द्वारा राज्य में क्रांति ला दे तो इसे वैचारिक क्रांति कहेंगे।

अरस्तू ने क्रांति के कारणों पर भी गहन चिंतन किया है। उसने इसके सामान्य व विशेष कारणों पर प्रकाश डाला है। सबसे सामान्य कारण तो जनता के मन में वर्तमान स्थिति के प्रति असंतोष की भावना का आना है। कहीं न कहीं जनता राज्य की सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक व्यवस्था से असंतुष्ट होती है। असंतोष का कारण होता है मन में विषमता और अन्याय की अनुभूति का होना। जब किसी वर्ग को यह महसूस होने लगता है कि राज्य में सत्ता एवं सम्मान के वितरण में उन्हें दरकिनार किया जा रहा है, तो वे अपने हक को हासिल करने के लिए अपना गुट बनाने लगते हैं और परिणामतः क्रांति की स्थिति आ जाती है। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि अरस्तू ने क्रांति का मूल कारण आर्थिक तत्वों को नहीं माना है। उन दिनों राजनीतिक शक्ति व सम्मान की इच्छा अपने आप में साध्य भी न कि आर्थिक सत्ता को प्राप्त करने का साधन।

विषमता एवं अन्याय की भावना एक सापेक्ष धारणा होती है। जो पक्ष अपने आप को जितनी सत्ता व सम्मान के योग्य समझता है, अगर उससे वंचित अनुभव करता है, तो व्यवस्था को अन्यायपूर्ण समझने लगता है। जबकि शासन पक्ष स्वयं को न्यायपूर्ण मान रहा होता है किसी राज्य में सभी एकमत नहीं होते और छोटी या बड़ी किसी भी प्रकार की क्रांति की संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता।

अरस्तू ने क्रांति के विशेष कारणों का भी जिक्र किया है, जिन्हें हम निम्न बिंदुओं द्वारा समझ सकते हैं :

1. जब शासन सत्ता को संभालने वाले सार्वजनिक संपत्ति का प्रयोग अपने निजी हित में करने लगते हैं, तो जनता के मन में विद्रोह की भावना आ जाती है।
2. अगर शासक वर्ग अपनी स्वार्थपूर्ति हेतु अयोग्य, व्यक्तियों को सम्मानित करने लगते हैं एवं योग्य व्यक्तियों का तिरस्कार तो यह भी क्रांति का कारण बन जाता है।
3. भय भी क्रांति का एक प्रमुख कारण होता है। अपराधी प्रवृत्ति वाले लोग दंड के भय से क्रांति कर देते हैं। कुछ लोग इस भय से कि कहीं उनके साथ अन्याय न हो जाये, विद्रोह कर देते हैं। और कभी-कभी इस भय से कि विरोधी पक्ष द्वारा क्रांति न हो जाए, दूसरा पक्ष क्रांति को जन्म दे देता है।
4. जब राज्य के कुछ व्यक्ति स्वयं को अधिक शक्तिशाली व उच्च समझने लगते हैं और दूसरों को हीन, तब ऐसी-स्थिति में उनके विरुद्ध क्रांति की संभावना बढ़ जाती है।
5. अरस्तू ने घृणा को भी क्रांति का एक कारण माना है। जब लंबे समय तक कुछ व्यक्ति सत्ता को ग्रहण किए रहते हैं, तो उनके विरोधी उनसे घृणा करने लगते हैं।
6. जब राज्य में जनता दो वर्गों (धनी व गरीब) में बँट जाए, तो ऐसे में क्रांति की संभावना प्रबल हो जाती है। यही कारण है कि अरस्तू शांति व्यवस्था को बनाए रखने के लिए एक दृढ़ एवं विशाल मध्यवर्ग की अनिवार्यता को बताता है। वह उसे एक संतुलनकर्ता के रूप में देखता है।
7. अगर शासन में अयोग्य लोगों की भूमिका बढ़ जाये तो भी इसके प्रतिकार में क्रांति हो जाते हैं।
8. जब किसी कारणवश किसी राज्य में विदेशी ज्यादा से ज्यादा बसने लगती हैं तो बाहरी संस्कृति का देशज संस्कृति से मेल नहीं होने के कारण क्रांति हो जाती है।
9. प्रायः वंशानुगत राजतंत्र व कुलीनतंत्र आदि में पारिवारिक झगड़े भी क्रांति का कारण बन जाते हैं।

10. राज्य की भौगोलिक स्थिति भी क्रांतियों के लिए उत्तरदायी होती है। जैसे, नदी जल विवाद आदि क्रांति उत्पन्न कर देते हैं।
11. विभिन्न प्रकार की सामाजिक विषमताएँ, जैसे - जातिगत अंतर, छोटे-बड़े, शासन-शासित का अंतर अधिक हो तो स्थिति बन जाती है।
12. अगर राज्य में हो रहे छोटे-छोटे परिवर्तनों पर ध्यान नहीं दिया जाता तो वहीं बाद में बड़ी क्रांतियों के रूप में परिणत हो जाते हैं।
13. जब कभी भी चुनावों में छल-कपट, भ्रष्टाचार आदि को अपनाया जाता है तो इसका परिणाम क्रांति के रूप में देखता है।
14. जनतंत्र में वक्तागण अपने भाषणों एवं शब्द जाल से भी क्रांति का वातावरण ला सकते हैं।

अरस्तू ने क्रांतियों को रोकने के उपायों पर भी चिंतन किया है। उसके अनुसार, सर्वप्रथम क्रांति के मूल कारण 'अन्याय की अनुभूति' को समाप्त करना चाहिए। राज्य के द्वारा ऐसा कोई कार्य नहीं होना चाहिए जिससे लोगों के मन में अन्याय की अनुभूति हो। अरस्तू ने क्रांतियों के निराकरण हेतु जो उपाय सुझाए हैं, उन्हें निम्न बिंदुओं द्वारा समझ सकते हैं-

1. राज्य के संविधान का रूप समस्त नागरिकों की सहमति पर आधारित होनी चाहिए और उनका क्रियान्वयन भी संयत तरीके से होना चाहिए।
2. शासक वर्ग एवं जनता दोनों ही संविधान एवं विधियों के प्रति आस्था रखे।
3. समाज में एक स्वस्थ मध्यम वर्ग का विकास हो ताकि समाज किसी भी प्रकार के अतिवाद से बच सके।
4. राजनेताओं को स्वार्थपरकता से दूर रहना होगा। इस प्रकार का माहौल बनाना होगा जिसके अंतर्गत शासनाधिकारी अपने पद का दुरुपयोग और सार्वजनिक धन की चोरी न कर सके।
5. शासक वर्ग को चाहिए कि जनता के साथ सहयोगपूर्ण रवैया अपनाए। अगर शासन उनके साथ सम्मानपूर्ण ढंग से पेश आए तो जनता के मन में विद्रोह की भावना नहीं आएगी।
6. किसी भी अधिकारी को लंबी अवधि के लिए किसी पद पर नियुक्त नहीं करना चाहिए। वंचित वर्ग के मनुष्यों को भी शासन सत्ता में भागीदारी करने का मौका देना चाहिए।
7. सत्ता का दुरुपयोग करने वालों के लिए दंड की व्यवस्था नहीं होनी चाहिए। और जो अधिकारी अपने कर्तव्यों का उचित तरीके से पालन करते हैं, उन्हें पुरस्कृत करना चाहिए।
8. जो लोग केवल शासन सत्ता को प्राप्त करने की इच्छा से देश के भीतर क्रांति का माहौल बनाने की कोशिश करें, उनके खिलाफ कार्यवाही की जानी चाहिए।
9. राज्य को चाहिए कि वह भावी संकटों से जनता को भयग्रस्त रखें ताकि जनता क्रांतिकारी कदम उठाने की न सोच सके।
10. अरस्तू ने क्रांतियों को रोकने में 'शिक्षा' की भूमिका को अतुलनीय बताया है। शिक्षा राज्य द्वारा प्रदत्त होनी चाहिए। इसके माध्यम से नागरिकों के मन में राज्य के प्रति निष्ठा पैदा की जानी चाहिए (उन्हें क्रांतियों के दुष्परिणामों से अवगत कराना चाहिए। उन्हें संविधान और सामाजिक रीतियों के प्रति आस्थावान बनाना चाहिए।

11. राज्य को छोटे-छोटे परिवर्तनों के प्रति सतर्क रहना चाहिए। जिन परिवर्तनों से यथास्थिति भंग होने की आशंका हो उन्हें रोकना चाहिए।
12. अरस्तू के 'स्वर्णिम मध्यमान के सिद्धान्त' के अनुसार, परस्पर-विरोधी गुणों को संयत करने हेतु मध्य मार्ग की खोज की जानी चाहिए। उदाहरण के लिए, कुलीनतंत्र और गुटतंत्र लोकतंत्र के गुणों को अपनाकर स्वयं को संयत रूप में रख सकते हैं।
13. राज्य की सुरक्षा को सर्वोच्च मानने के कारण ही अरस्तू का मानना है कि आवश्यकता पड़ने पर व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन तक में राज्य को हस्तक्षेप करना चाहिए।

इस प्रकार, अरस्तू ने क्रांति की अवधारणा पर विस्तृत रूप से चिंतन किया है। उसके क्रांति के कारण एवं निवारण संबंधी विचार आज भी प्रासंगिक हैं। लेकिन कुछ बातों में वह अप्रासंगिक नजर आता है। जैसे, उसकी क्रांति की परिभाषा सही प्रतीत नहीं होती। संविधान में आवश्यकता पड़ने पर परिवर्तन करने से उसमें गतिशीलता आती है जो समाज और राज्य के विकास के लिए अपरिहार्य है। लेकिन अरस्तू इन छोटे-छोटे परिवर्तनों को भी क्रांति मानता है। इसी प्रकार, संविधान के अंतर्गत सत्ता में परिवर्तन को वर्तमान समय में क्रांति नहीं माना जा सकता है।

अरस्तू के समय नगर-राज्यों में राजनीतिक अस्थिरता का माहौल था। शायद इसलिए ही वह स्थिरता का पक्षधर बन गया। लेकिन स्थिरता को बरकरार रखने हेतु उसने जो उपाय बताये हैं, उनको अपनाने से गतिहीनता की स्थिति पैदा हो जाएगी। जब छोटे-छोटे परिवर्तनों को भी संदेह की दृष्टि से देखा जाएगा तो विकास की संभावनाएं भी समाप्त हो जाएगी। स्थिरता की आकांक्षा अरस्तू को रूढ़िवादिता की ओर ले जाती है।

क्रांति को रोकने हेतु अरस्तू ऐसी शिक्षा-प्रणाली की वकालत करता है जो पूर्ण रूप से राज्य द्वारा निर्देशित हो। ऐसी प्रणाली का शासन द्वारा अपनी सत्ता को बरकरार रखने हेतु दुरुपयोग किया जा सकता है। नए-नए विचारों के सृजन पर रोक लगाने से न तो व्यक्ति और न ही समाज का विकास हो सकता है। यहीं कारण है कि अरस्तू पर सर्वाधिकारवादी होने का आरोप भी लगाया जाता है।

इन आलोचनाओं के बावजूद अरस्तू का आज भी महत्व है। उसने अतिवादिता को बढ़ावा देने की बात नहीं की है। वह हमेशा मध्य मार्ग को अपनाने की बात करता है। जहाँ अति आवश्यक हो, वहीं राज्य द्वारा कठोरता अपनाये जाने को सही ठहराता है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. Aristotle, Politics (Barker's Translation)
2. Sabine, A history of Political Philosophy
3. C.H. McIlwain, The growth of Political thought in West.
4. W.A. Dunning, A history of Political theories, Ancient and Medieval.

उत्तर-पूर्वी राज्यों में अलगाववाद भारत-म्यांमार संबंध

डॉ० पप्पु कुमार

असिस्टेंट प्रोफेसर, बाल्मीकि सिंह डिग्री कॉलेज, वृन्दावन थावें, गोपालगंज

भारत के उत्तर-पूर्वी हिस्से में 8 राज्य हैं। प्रत्येक राज्य की अपनी खास संस्कृति एवं परम्परा है। भारत के इस हिस्से को अलगाववादी आंदोलन को पैदा करने वाले हिस्से के रूप में दर्शाया जाता है। चारों ओर जमीन से घिरे इस क्षेत्र में 30 विद्रोही संगठन फल-फूल रहे हैं। ये विद्रोही संगठन नई दिल्ली से स्वायत्तता या स्व-शासन की माँग के लिए संघर्षरत हैं। नेपाल, भूटान, तिब्बत, बर्मा और बांग्लादेश से घिरे इस क्षेत्र का भारत के साथ जुड़ाव, भारतीय सीमा रेखा के 3 प्रतिशत हिस्से के जरिये ही हो पाता है।

भारतीय संघ ने इस क्षेत्र को दक्षिण एवं दक्षिण पूर्व एशिया में एक व्यापारिक क्षेत्र के रूप में विकसित करने के लिए बहुत-सी योजनाओं एवं प्रस्तावों का मसौदा तैयार किया है। नई दिल्ली की 'पूर्व की ओर देखो नीति', इस क्षेत्र के मूलवासियों को आर्थिक लाभ देने की नीति है। बर्मा के पश्चिमी समुद्री किनारा स्थित अराकान में सिन्वे बंदरगाह को विकसित करने के लिए भारत ने करोड़ों अमरीकी डॉलर की एक कालादान परियोजना को लागू करने का निश्चय किया है। यह पश्चिमी बर्मा को मिजोरम से जोड़ेगा। इसके साथ ही भारत-बर्मा गैस पाइप लाईन भी उत्तर-पूर्व के आर्थिक हितों के एक बड़े अवसर के रूप में प्रचारित किया गया। हालाँकि यह परियोजना अभी ठंडे बस्ते में डाल दिया गया है (खासकर बांग्लादेश ने जब इस पाइप लाईन को अपने क्षेत्र से गुजरने की इजाजत नहीं दी)।

भारत के लिए परिस्थिति तब तक अनुकूल चल रही थी, लेकिन बर्मा में अचानक जनविद्रोह भड़क उठा। भारत सरकार द्वारा सैनिक शासकों को खुश करने की नीति की अन्तर्राष्ट्रीय समुदायों, जिसमें संयुक्त राष्ट्रसंघ एवं यूरोपीय संघ शामिल हैं, ने आलोचना की, लेकिन भारत के लिए असली चुनौती उन अलगाववादी क्षेत्रों से आ रही है, जहाँ आम सभाओं, रैलियों तथा अन्य पहलों को अच्छा समर्थन हासिल हो रहा है। इसके माध्यम से इस क्षेत्र की जनता बर्मा में जारी जनविद्रोह का समर्थन कर रही है तथा बर्मा के जनतंत्र समर्थक महानायिका डाउ ऑग-सू-की के पक्ष में खड़ी है।

बर्मा की सीमा से सटे उत्तर पूर्व के राज्य मणिपुर में हाल में आयोजित एक सम्मेलन में सर्वसम्मति से बर्मा की जनता द्वारा जनतंत्र को लागू करने के संघर्ष को समर्थन देने का निर्णय लिया। 'मानव-अधिकारों की रक्षा के लिए नागा जन-आंदोलन' की ओर से 13 अक्टूबर को उखरूल में इस सम्मेलन का आयोजन किया गया। इसमें विभिन्न सामाजिक संगठनों, गिरिजाघरों के प्रतिनिधियों, गैर सरकारी संगठनों एवं अन्य संस्थाओं के प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया। इस सम्मेलन ने बर्मा की सैनिक सत्ता का आह्वान करते हुए कहा कि बर्मा की लम्बे समय से उलझी समस्याओं को शांतिपूर्ण जनतांत्रिक ढंग से सुलझाई जाय।

इसके पूर्व इस राज्य में 2 अक्टूबर को एक एकजुटता बैठक का आयोजन किया गया। इस बैठक ने मजबूती से भारत सरकार से आग्रह किया कि वह सैनिक जनता के साथ अपने सभी संबंधों को खत्म करें। प्रमुख कानून निर्माताओं, राजनैतिक कार्यकर्ताओं, मानवाधिकार कार्यकर्ताओं, शांति के

लिए कार्यरत कार्यकर्ताओं तथा अन्य लोगों ने बैठक में शिरकत की। बैठक ने अपने प्रस्ताव के जरिये बर्मा के जनतांत्रिक आंदोलन को बिना शर्त समर्थन करने की घोषणा की।

अभी हाल में मणिपुर में हजारों ईसाइयों ने एक प्रार्थना अभियान में शामिल होकर बर्मा में जनतंत्र एवं स्वतंत्रता का समर्थन किया। 21 अक्टूबर को म्यांमार ईसाई फेलोशिप, जिसमें बर्मा के प्रवासी ईसाई भी शामिल हैं, ने आँग-शान-सू-की के प्रति अपनी एकजुटता प्रदर्शित करते हुए, सर्वशक्तिमान भगवान से प्रार्थना करते हुए मांग की कि बर्मा के सभी राजनैतिक बंदियों को रिहा किया जाय जिसमें बर्मा की महानायिका भी शामिल हैं।

इसके पूर्व 6 अक्टूबर को मेघालय, नागालैंड, असम के नागरिक समाज ने स्वतंत्र बर्मा के पक्ष में विभिन्न कार्यक्रमों के माध्यम से वैश्विक आन्दोलन दिवस के रूप में मनाया। इसी दिन इन राज्यों में आयोजित प्रदर्शनों के जरिये बर्मा के शांतिपूर्ण ढंग से संघर्षरत भिक्षुओं, जिन्हें बर्मा की सत्ता ने क्रूरतापूर्वक कुचल दिया, के प्रति समान रूप से अपनी चिंता प्रकट की गई। शिलांग के पास माउपलांग में करीब 20 हजार लोग इकट्ठे हुए और केन्द्र से अनुरोध किया कि वह बर्मा में उत्पन्न संकट में हस्तक्षेप करें तथा सैनिक शासन पर राजनयिक दबाव डालकर उसे जनतांत्रिक शक्तियों से वार्ता के लिए राजी करें।

बर्मा की सीमा से सटे दूसरे राज्य नागालैंड में वहाँ के मूल निवासियों ने एक रैली के जरिये संयुक्त राष्ट्रसंघ से तत्काल हस्तक्षेप की मांग करते हुए कहा कि बर्मा की सेना के अधिकारी समूह के खिलाफ सख्त कार्रवाई की जाय तथा वहाँ लम्बे समय से चले आ रहे संकट को सुलझाया जाय। नागा हो हो, नागा छात्र फेडरेशन, नागा पीपुल्स मूवमेण्ट फार ह्यूमेन राइट्स, नागालैंड बैपटिस्ट चर्च तथा अन्य प्रभावी नागरिक सामाजिक समूहों द्वारा आयोजित इस रैली में हाथ में लिये हुए पट्टी के माध्यम से 'शान्तिपूर्ण प्रदर्शनकारियों पर हमला बंद करो', 'बर्मा की जनता को सैनिक शासन से मुक्त करो' तथा '1988 की हत्याकांड मत दुहराओ' आदि नारे प्रदर्शनकारी लगा रहे थे।

इसी तरह असम में मोमबत्ती जलाकर सैकड़ों लोगों ने बर्मा की संघर्षरत जनता के प्रति एकजुटता प्रदर्शित की। उत्तर-पूर्व जनता की पहल द्वारा आयोजित कार्यक्रमों में सैकड़ों लोग शामिल हुए। इसके माध्यम से नोबेल विजेता आँग-शान-सू-की के प्रति समर्थन व्यक्त करते हुए इस संदेश को दूर-दूर तक फैलाया गया। आँग-शान-सू-की पिछले चार वर्षों से रंगून की जेल में बंद हैं।

इसके पूर्व 4 अक्टूबर को गुवाहाटी में नागरिकों की एक बैठक में केन्द्रीय सरकार से अनुरोध किया गया कि बर्मा की सैनिक सत्ता पर राजनयिक दबाव डाला जाय और उसे हिदायत दी जाय कि जनतांत्रिक आंदोलन से जुड़े लोगों के खिलाफ कोई दमनात्मक कार्यवाई न की जाय। असम के पत्रकार मंच द्वारा आयोजित इस बैठक में एक प्रस्ताव के जरिये भारत सरकार से कहा गया कि अपने पड़ोसी देश में घट रही घटनाओं के प्रति वह मूकदर्शक न हो तथा अपनी क्षमता के अनुरूप वहाँ जनतंत्र के शांतिपूर्ण रूपान्तरण का रास्ता प्रशस्त करें।

इसी तरह बर्मा में जनतंत्र के लिए मिजोरम कमिटी ने नई दिल्ली की सरकार को बर्मा की सैनिक सत्ता को अपना संविधान बदलने तथा जनतांत्रिक व्यवस्था कायम करने के लिए राजी करने में सक्रिय भूमिका निभाने की अपील की। 20 अक्टूबर को अजबैल में एक पत्रकार सम्मेलन में कमिटी ने इस बात पर जोर देते हुए कहा कि वह बर्मा में जनतंत्र चाहती है। इस कमिटी में नागरिक समाज मानव अधिकार कार्यकर्ता-बुद्धिजीवी तथा मिजोरम की चेतनशील जनता शामिल थी। इस कमिटी ने जोर देते हुए कहा कि केन्द्र सरकार बर्मा के वर्तमान राजनैतिक संकट में हस्तक्षेप करें। इसके पूर्व 4 अक्टूबर को बर्मा की सीमा से सटे राज्य में एक एकजुटता बैठक के जरिये माँग की गई कि नई

दिल्ली बर्मा की सैनिक सत्ता के साथ अपने सभी संबंध तब तक तोड़ ले जब तक कि बर्मा में जनतंत्र की पुनर्स्थापना न हो जाय। मिजोरम में आयोजित बर्मा की सैनिक सत्ता के खिलाफ बैठक का महत्व इस अर्थ में बहुत ज्यादा है क्योंकि इस छोटे से राज्य में बर्मा से आए हुए करीब 40 हजार चिन शरणार्थी हैं जिन्हें संयुक्त राष्ट्र संघ के उच्चायुक्त द्वारा अभी भी शरणार्थी का दर्जा देना बांकी है। 1988 में बर्मा में हुए जनविद्रोह के दौरान हुए दमन के बाद विभिन्न समूहों में भारत के अन्दर प्रवेश किया। वे मिजोरम में अपने को सुरक्षित समझते हैं क्योंकि मीजो एवं चिन आदिवासी के बीच भाषाई समानता है तथा सामाजिक एवं धार्मिक नैतिकता भी एक ही तरह की है।

बर्मा के सैनिक शासन के साथ अपने रणनीतिक संबंधों को लेकर आलोचना का शिकार होने के बावजूद नई दिल्ली अपने कदम को लगातार सही करार दे रही है। इसके तर्क हैं कि वह सैनिक जनता को अलग-अलग करने के बजाय उसके साथ बातचीत कर रही है। उत्तर-पूर्व के दौरे पर अभी हाल में आये विदेश मंत्री ने इस बात को दुहराया कि नई दिल्ली म्यांमार के साथ बहुत-सी परियोजनाओं में शामिल है। विभिन्न क्षेत्रों की परियोजनाएँ जैसे पथनिर्माण, रेल, दूर संचार, सूचना तकनीक, विज्ञान एवं तकनीक, ऊर्जा इसमें प्रमुख हैं। गुवाहाटी में 'पूर्व की ओर देखो' नीति पर बोलते हुए प्रणव मुखर्जी ने इस बात पर जोर देते हुए कहा कि एक मित्र पड़ोसी के रूप में भारत एक शान्तिपूर्ण, समृद्धशाली एवं स्थिर म्यांमार देखना चाहता है, जहाँ सभी तबकों के लोग राष्ट्रीय सहमति एवं राजनैतिक सुधार की विस्तृत आधार वाली प्रक्रिया में शामिल हों।

1990 के दशक के शुरुआती दौर तथा भारत ने बर्मा के जनतांत्रिक आंदोलन का समर्थन किया था लेकिन उस देश में चीन के बढ़ते प्रभाव से भारत चिन्तित है। भारत ने बर्मा के बारे में अपनी नीतियों में बदलाव लाया तथा बर्मा की सैनिक सत्ता के साथ बड़े आर्थिक सहयोग के रास्ते पर चलने लगा। भारत की दूसरी सबसे बड़ी चिन्ता उत्तर-पूर्व के क्षेत्र में बढ़ती विद्रोही गतिविधियाँ हैं। सशस्त्र विद्रोही समूह उत्तर बर्मा के घने जंगलों का इस्तेमाल अस्त्र-शस्त्र के प्रशिक्षण केन्द्रों के रूप में कर रहे हैं। भारत का तर्क है कि वह सैनिक सत्ता के प्रति आँखें नहीं मूँद सकता है क्योंकि वह भारत-बर्मा से जुड़े 1600 कि.मी. लम्बे खुले सीमा पर चल रहे विद्रोही गतिविधियों पर काबू पाने में मदद कर रहा है।

लेकिन जमीनी सच्चाई यही है कि नई दिल्ली के खिलाफ उत्तर-पूर्व के लोगों में बहुत ज्यादा क्षोभ व्याप्त है। यहाँ के मूल निवासियों की यह समझ है कि केन्द्र सरकार इस क्षेत्र के तेल, कोयला, चाय, जंगल जैसे संसाधनों का दोहन करती है लेकिन उत्तर-पूर्व राज्यों की शाश्वत समस्याओं के प्रति बहरी बनी रहती है। अलग-थलग पड़े उत्तर-पूर्व क्षेत्र के निवासियों के बढ़ते गुस्से का सामना करना, भारत सरकार के लिए एक बड़ी चुनौती है। हालाँकि इसमें कोई शंका नहीं है कि उत्तर-पूर्व के लोग विभिन्न मोर्चों पर लम्बे समय से संकट का सामना कर रहे हैं और अस्थिर बर्मा के चलते इसके महत्वपूर्ण निहितार्थ हैं। जहाँ एक ओर यह क्षेत्र बर्मा से आने वाले शरणार्थियों की शरणस्थली बना हुआ है, वहीं इसके निवासी अवैध नशीले पदार्थों के व्यापार, अस्त्र-शस्त्र के अवैध कारोबार को अपने सामने होते देखते रहते हैं। अतः इस क्षेत्र के गरीब लोग इस कारोबार से जुड़ जाते हैं। उत्तर-पूर्व के लोगों के बीच एच.आई.वी. एड्स चिन्ताजनक स्तर पर पहुँच चुका है।

हमारे देश के खेलों के लिए बड़े-बड़े खिलाड़ियों का निर्माण करने वाला राज्य आज एच.आई.वी. संक्रमित सबसे बड़े राज्य में बदल गया है। इस क्षेत्र के प्रतिभाशाली एवं क्षमतावान युवा नशे के दलदल में फँस रहे हैं। बर्मा से नशीले पदार्थों के अवैध आपूर्ति के चलते दूसरी खतरनाक बीमारियाँ भी पैदा हो सकती हैं। प्रश्न उठता है कि क्या नई दिल्ली को इन तमाम घटना विकासों के प्रति

उदासीन रहना चाहिए, जो इन क्षेत्र को प्रभावित कर रहा है। वस्तुतः यह उत्तर-पूर्व के हित में है कि बर्मा में स्थिर एवं जनतांत्रिक सरकार है। केन्द्रीय सरकार को उत्तर-पूर्व की समस्याओं को हल करने के सिलसिले में वहाँ की परिस्थितियों को सही तरीके से समझना चाहिए। उस क्षेत्र में स्वाधीनता के बाद से ही भारत विरोधी आवाजें उठती रही हैं। उत्तर-पूर्व के लोगों में अगर बर्मा के सैनिक शासकों के खिलाफ क्षोभ बढ़ेगा तो इसके चलते भारत सरकार की मुश्किलें आने वाले समय में बढ़ेंगी।

पिछले कुछ दिनों में बर्मा के सैनिक शासन द्वारा शान्तिपूर्ण प्रदर्शनकारियों तथा बौद्ध भिक्षुओं के खिलाफ की गई क्रूरतापूर्ण कार्रवाईयों के चलते हुए बौद्ध भिक्षुओं की संभावित मृत्यु की अन्तर्राष्ट्रीय जगत में बड़ी आलोचनाएँ हुई हैं। जनतंत्र पक्षी कार्यकर्ताओं ने सैनिक शासन के खिलाफ अपना संघर्ष तेज कर दिया है। अतः म्यांमार की परिस्थिति का उत्तर-पूर्व के राज्यों पर क्या असर पड़ रहा है, इसकी जाँच आवश्यक है। हमें अभी इस संबंध में तमाम पहलुओं पर नजर डालनी होगी। सीमा व्यापार, बर्मा और उत्तर-पूर्व की जनता के बीच आपसी संबंध का अभाव तथा भारत के 'पूर्व की ओर देखो नीति' के निर्धारण में उत्तर-पूर्व के राज्यों का प्रभाव आदि।

उत्तर-पूर्व राज्य म्यांमार से लगातार जुड़ा हुआ है जो करीब 1600 किमी. की सीमा तक फैला हुआ है। दोनों क्षेत्रों के बीच सीमा व्यापार महत्वपूर्ण स्थान रखता है लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय सीमा के कुछ जगहों पर ही यह सीमित है। बर्मा के सैनिक शासकों द्वारा म्यांमार से जुड़े सीमा पर सेनाओं की बड़े पैमाने पर आवाजाही के चलते इस व्यापार में कमी आई है। इस तरह के भड़काऊ उपस्थिति में व्यापारी लोक कोई खतरा मोल लेना नहीं चाहते हैं।

माण्डले और यागोन के बाजार बंद कर दिये गये हैं तथा नामधा लॉग स्थित सीमा व्यापार चौकी भी बंद कर गयी है जिसके चलते योरहे के जरिये मणिपुर में होने वाले व्यापार पर प्रभाव पड़ा है। इस बात पर गौर करना महत्वपूर्ण है कि म्यांमार के साथ व्यापार के लिए मणिपुर एवं मिजोरम राज्यों के पास विशेष नीतियाँ हैं। ये नीतियाँ भारत सरकार की नीतियों से मेल नहीं खाती हैं। भारतवर्ष की बर्मा के सम्बन्ध में नीति ऊर्जा एवं रणनीतिक हितों से जुड़ी हुई है।

तेजी से विकसित हो रहे दक्षिण पूर्व एशियाई मुल्कों के साथ उत्तर-पूर्व के जुड़ाव में बर्मा प्रधान बाधा के रूप में है। अगर दक्षिण पूर्व एशिया के साथ उत्तर-पूर्व क्षेत्र का जुड़ाव हो जाय तो यह समृद्ध आर्थिक गतिविधि के केन्द्र के रूप में उभरेगा और इससे बड़े स्तर पर क्षेत्रीय जुड़ाव होगा। उत्तर-पूर्वी क्षेत्र के विद्रोहियों के प्रशिक्षण शिविर म्यांमार में तभी तक फले-फूलेंगे, जब तक वहाँ सैनिक शासन रहता है, क्योंकि इस गतिविधि से म्यांमार के सैनिक सत्ता को भारत के खिलाफ लाभ की स्थिति बनी रहती है। बर्मा के सैनिक शासन के साथ भारत का खुल्लम खुल्ला संबंध पूरी तरह गलत है और भारत इस बात को समझ नहीं पा रहा है कि बर्मा में जनतंत्र के फलने-फूलने से इस क्षेत्र की क्षमता का पूरा दोहन हो सकेगा तथा यह इस क्षेत्र और भारत के राष्ट्रीय हितों में होगा।

ऊपरी असम के डिब्रूगढ़ के मनकोट्टा रोड पर असम की जनता अपनी प्रतिदिन की गतिविधियों के लिए आती जाती रहती है। यह विडंबना ही है कि इसका नाम ब्रिटिश शासन के समय उत्तर-पूर्व भारत पर हमला करने वाले बर्मा-वासियों के नाम पर रखा गया है। हमलावर बर्मियों द्वारा उत्तर-पूर्व के लोगों पर किये गये अत्याचारों की कहानियाँ आज भी लोगों की यादों का हिस्सा बनी हुई हैं। इन घटनाओं की पृष्ठभूमि में उत्तर-पूर्व की जनता का म्यांमार के साथ संबंध को लेकर एक मनोवैज्ञानिक दुराव एवं घृणा की भावना है। पीढ़ियों के गुजरने के साथ-साथ अब यह बात खत्म हो चुकी है। आज क्षेत्रीय सहयोग एवं एक-दूसरे के लाभ की बात हो रही है।

यह भी एक महत्वपूर्ण बात है कि अहोम जाति के लोगों को ही बर्मा के शासकों ने सबसे पहले निर्वासित किया था और वे लम्बा रास्ता तय कर असम में 1228 ए.डी. में आकर बसे। मूलतः वे दक्षिणी बर्मा में रह रहे शान आदिवासी समुदाय से आते थे जिन्होंने 600 वर्षों तक असम पर शासन किया था। इस ऐतिहासिक मेल-मिलाप के बावजूद आज इस वैश्विक दुनियाँ में आम जनो के बीच का रिश्ता टूट गया है। इसका कारण भारत एवं बर्मा की नीतियाँ हैं जिसने बर्मा और उत्तर-पूर्व की जनता के बीच एक बनावटी दीवार खड़ी कर दी है।

उत्तर-पूर्व के लोगों एवं म्यांमार के लोगों के बीच आपसी संबंध कायम करने की बात भारत सरकार के कार्यक्रम का हिस्सा नहीं है। म्यांमार के साथ एक संवेदनशील नीति अपनाये जाने के लिए इस तरह की आपसी बातचीत बहुत आवश्यक है। भारत-एशियान कार रैली की सफलता के बावजूद सीमा को खोला नहीं गया है। इस क्षेत्र की जनता ने इस कार्यक्रम का बहुत ही उत्साह एवं आशा से स्वीकार किया। कोलकाता की मजबूत लॉबी इस तरह के कार्यक्रम को आगे बढ़ने से रोकती रही है, क्योंकि म्यांमार के साथ होने वाला व्यापार कोलकाता के माध्यम से होता है। शुरुआती दौर में प्रस्तावित कालादान गैस पाइप लाईन परियोजना भी उत्तर-पूर्व राज्यों को इस तरह अलग-थलग करने की नीति से वहाँ विकास का अभाव है और इसके चलते विद्रोही गतिविधियाँ बढ़ रही हैं। उत्तर-पूर्व राज्यों के पास वह राजनैतिक शक्ति नहीं है जिसके आधार पर एक ही झटके में केन्द्रीय सरकार की नीतियों को बदल दे और यह अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण है कि भारत अभी तक नीतियों में इस तरह के बदलाव से होने वाले लाभों के प्रति जागरूक नहीं है।

उत्तर-पूर्व भारत की जनता तथा म्यांमार द्वारा बड़े पैमाने पर निर्वासित जनता के बीच म्यांमार में जनतंत्र की पुनर्स्थापना की माँग के प्रति बड़ा समर्थन है। भारत को अपनी अवसरवादी एवं बनावटी नीतियों को त्यागकर इस भावना के साथ पूरी तरह जुड़ना चाहिए। यह कोई संकीर्ण उप-राष्ट्रीयता का हित नहीं है बल्कि स्वाभाविक जुड़ाव है जिसकी क्षमता का उपयोग कर इस क्षेत्र का सर्वांगीण विकास किया जाना चाहिए और इस बनावटी बंटवारे के आर-पार के लोगों की आशाओं एवं आकांक्षाओं को पूरा करना चाहिए। जैसे अगर एक कौवा गुवाहाटी के आसमान में उड़ता है तो यह दिल्ली की अपेक्षा हमोई के ज्यादा निकट है।

उत्तर-पूर्व की विद्रोही गतिविधियों पर काबू पाने के लिए म्यांमार के साथ समझौता

अपने पड़ोसी देश की जमीन से सक्रिय विद्रोही समूहों की गतिविधियों पर काबू पाने के लिए भारत ने दोनों पक्षों के लिए कानूनी सहायता समझौता पर हस्ताक्षर किया है, जिसके तहत म्यांमार में पकड़े जाने वाले भारतीय विद्रोह लड़ाके, भारत भेजे जा सकें जिससे उनके खिलाफ भारतीय कानून के अन्तर्गत कार्रवाई की जा सके।

भारत, म्यांमार के साथ इस तरह के समझौते के लिए पिछले ढाई दशकों से कोशिश कर रहा था। म्यांमार की सैनिक सरकार के प्रधान थानस्वे की भारत यात्रा के दौरान 25-26 जुलाई को इस समझौते पर हस्ताक्षर हुआ।

इस समझौते से भारत को सीमा के आर-पार होने वाले संगठित अपराधों, आतंकवादी गतिविधियों, नशीली दवाओं के अवैध व्यापार, रुपयों की कालाबाजारी, नकली नोटों के कारोबार तथा अस्त्र-शस्त्रों के अवैध व्यापार जैसी समस्याओं से निबटने में सहायता मिलेगी। भारत के गृह मंत्रालय के अनुसार म्यांमार में पकड़े जाने वाले भारतीय विद्रोहियों को भारत सरकार के हाथों सौंप

दिया जायेगा। विदेश मंत्री के एक अनाम अधिकारी के अनुसार तब उन विद्रोहियों के खिलाफ भारतीय कानूनों के अन्तर्गत मुकद्दमा चलाया जायेगा। दोनों अधिकारियों ने अपना नाम गुप्त रखने की शर्त पर उपरोक्त बातें कहीं।

भारत, म्यांमार के बीच 1600 किमी. का बिना बाड़ की सीमा है। उत्तर-पूर्व के आदिवासी एवं आदिम आदिवासी समुदायों के भारतीय विद्रोही इस खुली सीमा का उपयोग करते हुए भारतीय क्षेत्र के अन्दर आकर 'मारो और भाग जाओ' की रणनीति का इस्तेमाल करते रहे हैं। उत्तर-पूर्व के आदिवासी एवं आदिम आदिवासी समूह ज्यादा स्वायत्तता या स्वाधीनता के लिए संघर्षरत हैं।

कम से कम इस तरह के आधे दर्जन संगठन, जिसमें असम का यूनाइटेड लिबरेशन फ्रंट (उल्फा), नेशनलिस्ट कौंसिल ऑफ नागालैंड, खापलों गुट के बारे में कहा जाता है कि उत्तर म्यांमार के अन्दर इनके प्रशिक्षण शिविर हैं। हालांकि वे अपनी गतिविधियों को भूटान, बंगला देश और नेपाल से भी चलाते हैं और अपनी जगह बदलते रहते हैं।

उत्तर-पूर्व राज्य मणिपुर के पूर्व राज्यपाल वेद मरवाह का कहना है कि इस समझौते से भारत को विद्रोही गतिविधियों से लड़ने का एक महत्वपूर्ण हथियार मिला है। मणिपुर, म्यांमार की सीमा से जुड़ा हुआ है।

इस समझौते से विद्रोहियों को यह साफ संदेश भेजा गया है कि पड़ोसी भूमि से वे अपनी गतिविधियाँ चलाने में अब उतने सुरक्षित एवं निश्चित नहीं हैं जितना वो समझते हैं। भारत की आन्तरिक सुरक्षा से जुड़े गृहमंत्रालय के पूर्व अधिकारी वेद मरवाह का ऐसा कहना है।

विदेश मंत्रालय के एक-दूसरे अधिकारी ने कहा कि जनतंत्र का अभाव एवं मानव अधिकारों के बारे में बहुत बुरे इतिहास के कारण अन्तर्राष्ट्रीय आलोचनाओं एवं प्रतिबंधों का सामना कर रहे म्यांमार ने इस तरह के समझौते पर किसी देश के साथ हस्ताक्षर किया है। अपना नाम गुप्त रखने के आधार पर उन्होंने कहा कि इस तरह की सहायता के लिए हम 80 के दशक से ही जोर लगाते रहे हैं। भारत के अपराधियों की सूची में शामिल बहुत से लोग म्यांमार के जेलों में बंद हैं।

1980 एवं 1990 के दशकों में भारत ने आँग-शान-सू-की के नेतृत्व में चलने वाले जनतंत्र पक्षी संघर्ष को अपना भरपूर समर्थन दिया। लेकिन उत्तर-पूर्व के विद्रोही समूहों द्वारा म्यांमार के अन्दर से चलाये जा रहे गतिविधियों को देखते हुए इसने अपनी नीति में परिवर्तन कर दिया। उस समय से भारत ने सैनिक सरकार के साथ अपना संबंध कायम कर लिया है। भारत ने म्यांमार के आधारभूत संरचनाओं के विकास, तेल एवं गैस की खोज तथा कर्ज देकर अपना निवेश बढ़ाया है। थानस्वे के भारत आगमन पर भारत ने म्यांमार में पथ निर्माण, कृषि उत्पादन में बढ़ोतरी तथा बिजली संचरण लाईनों एवं रेलवे के विकास के लिए 2000 मिलियन अमरीकी डॉलर (करीब 930 करोड़ रुपये) देने का आश्वासन दिया है। विदेशी मामलों के समीक्षकों की राय है कि इस समझौते से दोनों देशों को लाभ मिलेगा।

दुनिया में कुछ ही देश हैं, उनमें भारत एक है जो म्यांमार से सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में विदेशी मामलों के अध्ययन से जुड़ी प्राध्यापिका मनमोहली कौल का कहना है कि भारत, म्यांमार में चीन के बढ़ते प्रभाव को संतुलित करना चाहता है जो दुनिया का सबसे बड़ा जनतांत्रिक देश एवं आर्थिक शक्ति है। भारत ने इस तरह के कानूनी सहायता आधारित समझौते 30 देशों के साथ किये हैं जिसमें नेपाल, बांग्लादेश, अमेरिका, ब्रिटेन, रूस तथा संयुक्त अरब अमीरात शामिल हैं, ऐसा गृह मंत्रालय का कहना है। बांग्लादेश द्वारा उल्फा आतंकवादियों, जिसमें

संगठन के उच्च पदस्थ नेता अरविन्द राज खोबा तथा सेना के संचालन से जुड़े उप प्रधान राजू बरूआ को भारत के हाथों सौंपे जाने से इस समझौते का महत्व स्पष्ट हो जाता है।

दूसरे अधिकारी के अनुसार इस तरह का सहयोग, राजनैतिक इच्छा शक्ति पर निर्भर करता है। ऐसे भी उदाहरण हैं जब बहुत से देश एक-दूसरे की सहायता करने से इनकार कर देते हैं जबकि उनके साथ ऐसा समझौता है। उदाहरण के लिए सार्क देशों (क्षेत्रीय सहयोग के लिए दक्षिण पूर्व देशों का संघ) के बीच आतंकवाद पर एक सहमति है जिसके तहत सभी सदस्य देशों को आतंकवाद के खिलाफ एक-दूसरे की सहायता करनी है। लेकिन कुछ देश कुछ कानूनी समस्याओं एवं अन्य कठिनाईयों का हवाला देकर कोई रास्ता निकाल लेते हैं, ऐसा एक अधिकारी ने अपना नाम गुप्त रखने की शर्त पर कहा। लेकिन बंगलादेश की सरकार एक ऐसा उदाहरण है जिसने खूंखार आतंकवादियों के बारे में जानकारी दी और उसे भारत के हाथों सुपुर्द कर दिया।

बाद में यागोन के सैनिक शासन के राजकीय शान्ति एवं विकास परिषद् के उपाध्यक्ष माँग आर के नेतृत्व में 16 सदस्यीय प्रतिनिधिमंडल नवंबर 2000 में भारत आया और यात्रा के दौरान सीमा के आर-पार परिवहन, संचार के आधारभूत संरचना की स्थापना के लिए आपसी सहयोग को बढ़ाने पर सहमति जताई जिससे व्यापार एवं लेन-देन के संबंध में बढ़ोतरी हो। एक संयुक्त वक्तव्य के माध्यम से दोनों देशों में आतंकवादी गतिविधियों पर काबू पाने तथा आर्थिक संबंधों को सीमा के पास आगे बढ़ाने के लिए कदम उठाने पर सहमति बनी।

उत्तर-पूर्व सीमा पर स्थित मणिपुर राज्य के शहर मोरेह से म्यांमार के चिन्दविन नदी के पास कलेवा को जोड़ते हुए ऐतिहासिक भारत-म्यांमार पथ का निर्माण भारतीय सेना ने की, जिसका उद्घाटन 13 फरवरी, 2001 को हुआ। दोनों ओर के समाचार माध्यमों ने इस अवसर का स्वागत करते हुए इसे भिन्नता के नये युग की शुरुआत बताई। दोनों देशों को जोड़ने वाले पथों का खुलना दोनों देशों के राजनैतिक, आर्थिक एवं रणनीतिक दृष्टि से बहुत बड़ा महत्व है। एशियाई उच्च पथ को यूरोपीय महादेश से जोड़ने में यह पथ प्रमुख भूमिका निभायेगा।

उसके बाद से दोनों देशों के व्यापारिक रिश्तों में बहुत विस्तार हुआ है। आज भारत, चीन, सिंगापुर, थाइलैंड के बाद म्यांमार का चौथा बड़ा व्यापारिक साझेदार है। 1994 से शुरू हुआ तीन निर्धारित बिन्दुओं से सीमा व्यापार, जो मणिपुर, मिजोरम एवं नागालैंड की सीमाओं पर अवस्थित है, में तीव्रता आई है। हालांकि व्यापार का लाइसेंस प्राप्त करने तथा विभिन्न विद्रोही समूहों द्वारा डराने एवं पैसे की मांग करने से कठिनाईयाँ बरकरार हैं।

अब यागोन इस बात पर राजी हो चुका है कि अगर भारत और म्यांमार मिलकर काम करें तो एक-दूसरे की समस्याओं का समाधान निकाला जा सकता है। म्यांमार की नीति विद्रोही गतिविधियों वाले सीमा क्षेत्रों में आधारभूत संरचनाओं के विकास के साथ उन जगहों को केन्द्र से जोड़ने पर विशेष जोर है। अब जबकि पश्चिमी देशों के आर्थिक प्रतिबंधों के चलते अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में म्यांमार अलग-थलग पड़ गया है, उस परिस्थिति में भारत के साथ संबंध से उसे सहायता मिलेगी। जहाँ एक ओर भारत अपनी सुरक्षा एवं रणनीतिक हितों के लिए उत्पन्न खतरों का मुकाबला करने के लिए अपनी नीति निर्धारित कर रहा है, वहीं यह दक्षिण-पूर्व एशिया में अपनी उपस्थिति एवं प्रभाव बढ़ाने का भी काम करेगा। बदले परिदृश्य में म्यांमार ने अपने क्षेत्र में शरण लिये हुए भारतीय विद्रोहियों के खिलाफ कार्रवाई करने के प्रति ज्यादा प्रतिबद्धता दिखाई है। इस देश ने भारत विरोधी समूहों पर कार्रवाई शुरू करने के लिए भारत से सैनिक सहायता की माँग की है। बहुक्षेत्रीय तकनीक एवं आर्थिक सहयोग बंगाल की खाड़ी की पहल द्वारा आयोजित शिलांग की बैठक में शामिल होने के

लिए आये, म्यांमार के भारत स्थित राजदूत यू-की थियेन ने बताया कि म्यांमार ने भारत से भारत विरोधी गतिविधियों में संलग्न विद्रोहियों के म्यांमार में छिपी जगहों से उन्हें बाहर निकालने के लिए सामूहिक पहल के लिए भारत आवश्यक सैनिक सहायता प्रदान करें, हालांकि उन्होंने विस्तृत जानकारी नहीं दी।

म्यांमार, बांग्लादेश और भूटान जैसे पड़ोसी देशों की जमीन से भारत विरोधी गतिविधियों में लिप्त आतंकवादी संगठन कार्यरत हैं। इसके चलते सबको पता है कि भारत के उत्तर-पूर्व क्षेत्र में विद्रोही आंदोलन की गंभीर समस्या है। लेफ्टिनेंट जनरल एन.के. सिंह के मुताबिक म्यांमार की जमीन पर उत्तर-पूर्वी क्षेत्र के 30 विद्रोही संगठनों के शिविर कार्यरत हैं। उल्फा के सैनिक प्रधान परेश बरूआ अपने 800 कार्यकर्ताओं के साथ म्यांमार में शरण लिए हुए हैं।

ढाका में सत्ता परिवर्तन के बाद आतंकवादी समूहों को बांग्लादेश की जमीन से भारत विरोधी गतिविधियाँ चलाना कठिन हो रहा है। अतः उत्तर-पूर्व के विद्रोहियों के लिए म्यांमार अभी भी सबसे सुरक्षित क्षेत्र है। भारत के तीन उत्तर-पूर्व राज्यों मणिपुर, नागालैंड एवं मिजोरम की 1643 किमी. की बाड़ रहित सीमा म्यांमार से जुड़ी हुई है। भारत और म्यांमार ने सुनहरी चिड़िया (गोल्डेनबर्ड) के नाम से उत्तर-पूर्वी राज्यों के विद्रोही समूहों के खिलाफ संयुक्त कार्रवाई की थी। हालांकि आँग-शान-सू-की को भारत सरकार द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय समझ के लिए नेहरू शान्ति पुरस्कार देने के बाद यह कार्रवाई रोक दी गई, लेकिन उसके बाद फरवरी, 2000 से मई, 2001 तक म्यांमार ने फिर से विद्रोहियों के खिलाफ सैनिक कार्रवाई शुरू की।

म्यांमार के सैनिक शासन प्रधान थानस्वे की 24 अक्टूबर, 2004 के भारत यात्रा के दौरान म्यांमार की सेना ने भारतीय विद्रोहियों के खिलाफ वर्ष 2005 एवं 2006 में कार्रवाईयों की। लेकिन म्यांमार की प्रतिबद्धता के अभाव में इन कार्रवाईयों का नतीजा अप्रभावी साबित हुआ। वर्ष 2006 में भारत के सेनानायक जनरल जे.जे. सिंह ने म्यांमार के सेनानायक माँग-आए से यागोन में भेंट की। उसके बाद से दोनों देशों के तीनों सैनिक सेवाओं (जल, थल एवं नभ) के सेनापतियों ने एक-दूसरे से भेंट की है। भारत ने उसके बाद म्यांमार की सेना को लड़ाई के मैदान के लिए प्रशिक्षण देने एवं वर्दी की आपूर्ति करने की बात कही है। भारत ने हेलीकॉप्टर का एक बेड़ा तथा म्यांमार की सेना में रूसी हथियारों के रख-रखाव में भी सहायता करने का आश्वासन दिया है। म्यांमार को भी विद्रोही गतिविधियों का सामना करना पड़ता है। इसके ऊपरी क्षेत्र में करने राष्ट्रीय मुक्ति सेना तथा कचिन स्वाधीन सेना जैसे विद्रोही संगठन सक्रिय हैं। इन विद्रोही संगठनों की मजबूत उपस्थिति के चलते, यागोन की राजनैतिक सत्ता की उपस्थिति ऊपरी म्यांमार के बहुत से हिस्सों में नहीं है। गरीबी, शिक्षा के अभाव एवं जुड़ाव के अभाव में परिस्थिति और भी जटिल हो गई है। यागोन के लिए इन क्षेत्रों में कार्रवाई करना मुश्किल है।²

भारत-म्यांमार मित्रता पथ के निर्माण से उत्तर-पश्चिम म्यांमार से सटे नागालैंड, मणिपुर, मिजोरम में जंगल के बाहर जो विद्रोही समूह कार्यरत हैं, उनके खिलाफ इस जुड़ाव के बाद कार्रवाई करना आसान होगा।

तीव्र संघर्षों से तथा अस्थिर राजनैतिक परिस्थिति के चलते सैनिक शासकों के लिए बांग्लादेश एवं भूटान की तरह उत्तर-पूर्व के विद्रोहियों का मुकाबला करने में व्यावहारिक कठिनाईयें हैं। दुलमुल म्यांमार द्वारा उत्तर-पूर्व के विद्रोहियों के खिलाफ कार्रवाई करने की प्रतीक्षा में बैठे रहने के बदले में भारत को बैठकर उस समस्या का एक यथार्थपरक हल निकालने की जरूरत है। सेना की कार्रवाई के जरिये स्थाई समाधान तक नहीं पहुँचा जा सकता है। बल्कि यह समाज में क्रूरता को ही

बढ़ावा देगा। अतः यही समय है कि भारत पूरी परिस्थिति पर फिर से नजर डाले, क्योंकि इसी नीति से उत्तर-पूर्वी क्षेत्र की यह वर्तमान त्रासद स्थिति हुई है। भारत सरकार की घोषित नीति के अनुरूप सभी विद्रोही गुटों के साथ राजनैतिक बातचीत शुरू की जाय। इसके साथ-साथ भारत एवं म्यांमार के बीच नजदीकी सैनिक सहयोग से उत्तर-पूर्व के विद्रोही बातचीत के लिए आगे आएँगे जिससे इस प्रक्रिया में भारत की ताकत बढ़ेगी। बदली परिस्थिति में यह आवश्यक है कि दरवाजे को आधा खोलने के बजाय, पूरा खोल दिया जाय, जिसके आधार पर विश्वास का वातावरण तैयार किया जा सके।³

म्यांमार में उथल-पुथल

45 वर्षों तक सैनिक शासन के बाद म्यांमार एक बड़े बदलाव के दौर से गुजर रहा है। वर्ष 2010 में पहला बहुदलीय चुनाव कराया गया। जब म्यांमार नर्गिस चक्रवात से क्षत-विक्षत हो रहा था, उस समय तीन सप्ताह की सूचना पर एक रायशुमारी के जरिये संविधान को स्वीकृत किया जा रहा था। एक लम्बे समय तक संविधान निर्माण की प्रक्रिया जारी रहने के बावजूद यह आम लोगों की आकांक्षा को प्रतिबिम्बित नहीं करता है। शुरू में जब 1992 में आम चुनाव हुए तो जनतंत्र के लिए राष्ट्रीय संघ (नेशनल लीग फॉर डेमोक्रेसी) ने चुनाव में जबर्दस्त सफलता हासिल की। सैनिक शासकों ने घोषणा की थी कि नव-निर्वाचित सदस्य संविधान का मसौदा तैयार करेंगे। राष्ट्रीय कन्वेंशन को मसौदा तैयार करने की जिम्मेदारी मिली लेकिन निर्वाचित प्रतिनिधियों को उसमें बहस करने का मौका नहीं दिया गया। हालांकि 15 वर्षों तक बीच-बीच में बैठकें होती रहीं, लेकिन इसमें मुश्किल से दो प्रतिशत निर्वाचित प्रतिनिधियों को मसौदा को अन्तिम रूप से तैयार करने में शामिल किया जा सका।

राष्ट्रीय कन्वेंशन के सदस्यों को सैनिक शासकों द्वारा मनमाने तौर पर सेना द्वारा तैयार मसौदा पर मुहर लगाने के लिए चुना गया।

संविधान निर्माता के इस दम-घोंटू दौर में नेशनल लीग फॉर डेमोक्रेसी के सदस्यों का रोकने के लिए, सैनिक शासकों ने आँग-शान-सू-की को घर के अन्दर नजरबंद रखा। नेशनल लीग फॉर डेमोक्रेसी के सदस्यों को अपना विचार जनता के बीच नहीं रखने दिया गया, बल्कि उन्हें खदेड़ा गया और यहाँ तक कि दंडित किया गया। नया संविधान में आदिम आदिवासी समुदायों के स्वायत्तता जैसी वैधानिक माँगों को भी स्थान नहीं मिला है जिसके लिए वे समुदाय पिछले चार दशकों से संघर्ष चला रहे हैं। मसौदे पर जनता के बीच कोई बहस नहीं हुई है।

अतः इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि नया संविधान एक दिखावा है। इसका उद्देश्य सही मायने में जनतांत्रिक सरकार के हाथों सत्ता सौंपना नहीं है। इसके दो उद्देश्य दिखाई पड़ते हैं। इसके जरिये सैनिक शासन अपनी सत्ता निर्वाचित सरकार के ऊपर लादना चाहती है तथा अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय को खुश किया जा सके कि म्यांमार में जनतंत्र की पुनर्स्थापना हो रही है जिससे म्यांमार के खिलाफ लगा प्रतिबंध हटाया जा सके। म्यांमार की राष्ट्रीय सेना का इस संविधान में सबसे ऊँचा स्थान है।

अध्यक्ष का पद सेना के अधिकारी के लिए सुरक्षित होगा। उसे केन्द्र सरकार के मंत्रियों एवं राज्य के मुख्यमंत्रियों को नियुक्त करने का अधिकार होगा। उसे उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशों को भी नामित करने का अधिकार होगा। म्यांमार की राष्ट्रीय सेना को सशस्त्र सेना के सभी मामलों में स्वतंत्र प्रशासन का अधिकार होगा और देश के उच्चतम न्यायालय के अधिकार की परिधि से वह बाहर रहेगा। सेना के प्रधान सेनापति रक्षा मंत्रालय, सुरक्षा तथा गृह मामलों तथा सीमा मामलों के मंत्रियों को नियुक्त करेंगे। राज्य, क्षेत्र, स्वशासित मंडलों, विशेष क्षेत्रों के सीमा मामलों के मंत्रियों एवं सशस्त्र

सेना अधिकारियों को सुरक्षा अधिकारियों के रूप में नियुक्त करेंगे। केन्द्र के ऊपर एवं निचले सदन के 25 प्रतिशत सदस्यों को देश की सशस्त्र सेना के प्रधान नामित करेंगे। इन दोनों सदनों की 25 प्रतिशत सीटें देश की सशस्त्र सेना के लिए आरक्षित हैं।⁴

राजनैतिक जनतंत्र की समस्याएँ

देश के राष्ट्रपति कोई सैनिक पदाधिकारी ही होंगे। ऐसे व्यक्ति जिनके बच्चे एवं खुद दंपति का किसी विदेशी सत्ता से संबंध है, उन्हें राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित होने के अधिकार से वंचित कर दिया गया है। अतः सैनिक शासकों ने यह सुनिश्चित कर दिया है कि आँग-शान-सू-की किसी जनतांत्रिक सरकार में उच्चतम पद पर निर्वाचित न हो सके क्योंकि उनके बच्चे एवं पति ब्रिटिश नागरिक हैं। आँग-शान-सू-की के सक्रिय नेतृत्व के बगैर देश में जनतंत्र के निर्माण की दिशा में उठाया गया पहला कदम अन्ततः म्यांमार में एक सम्पूर्ण जनतंत्र के रूप में सामने आयेगा, उस पर शंका के बादल छाये हुए हैं। यहाँ तक कि सीमित जनतंत्र के तरफ भी जाने की प्रक्रिया उतनी सहज नहीं होगी। सेना के हाथ में असीमित सत्ता रहने के चलते, नागरिक सरकार को देश के लिए चुनौतीपूर्ण तीन बड़े मामलों में कोई स्वतंत्र पहल लेना संभव नहीं होगा।

जनपक्षी योजनाओं को लागू करने, प्रशासनिक संस्थाओं की विश्वसनीयता को स्थापित करने तथा तमाम लोगों को समान नागरिक अधिकार प्रदान करना, चाहे वे किसी भी आदिम आदिवासी समुदाय के क्यों न हों। आँग-शान-सू-की के चुनाव अभियान में सक्रिय भागीदारी के बगैर, नेशनल लीग फॉर डेमोक्रेसी दल द्वारा 1992 की जीत की पुनरावृत्ति मुश्किल है और किसी भी सूरत में सेना यह कोशिश करेगी कि 'नेशनल लीग फॉर डेमोक्रेसी' चुनाव के दायरे से बाहर चली जाय। अवसरवादी मिली-जुली सरकारें, आन्तरिक विवादों के लिए बदनाम रही हैं। इन सरकारों में लगातार दल-बदल एवं भ्रष्टाचार का बोलबाला रहता है। अतः मिली-जुली सरकार का सफलतापूर्वक संचालन संभव नहीं दिखाई पड़ता है। इससे सेना की इस समझ को और मजबूती मिलेगी कि वही राष्ट्रीय स्थिरता को सुनिश्चित कर सकती है।⁵

आदिम आदिवासी समूहों की विद्रोही गतिविधियाँ

वर्ष 1948 से लेकर आज तक आदिम आदिवासी समूहों की विद्रोही गतिविधियाँ म्यांमार का काला पक्ष हैं। सैनिक शासकों ने हाल के दिनों में उन विद्रोही समूहों को अस्त्र-शस्त्र छोड़ने के लिए राजी किया है जिनके साथ सैनिक शासकों का युद्ध विराम समझौता हुआ है तथा उन लड़ाकों को सीमा सुरक्षा बलों के रूप में भर्ती किया है। हालाँकि यह प्रक्रिया अभी पूरी नहीं हुई है। उत्तर-पूर्व की सीमा जो चीन से जुड़ी हुई है, वहाँ के तीन बड़े विद्रोही समूह, म्यांमार राष्ट्रीय जनतांत्रिक, संधि सेना (एम.एन.डी.ए.ए.) संयुक्त राज्य सेना (यू.एन.एस.डब्ल्यू.ए.) तथा राष्ट्रीय जनतांत्रिक संधि सेना (एम.डी.डी.ए.) ने सेना द्वारा अस्त्र-शस्त्र परित्याग करने के अनुरोध को नकार दिया है तथा कचिन स्वतंत्र संगठन भी अपना पैर खींच रहा है। म्यांमार राष्ट्रीय जनतांत्रिक संधि सेना के कामोग वाहिनी, जो चीनी-आदिम आदिवासी समूहों से आते हैं, एक महीना पूर्व म्यांमार की राष्ट्रीय सेना के साथ झड़प हुई जिसके चलते कोकांग समुदाय के 1 हजार लोगों ने चीन की सीमा में शरण लिया है।

संयुक्त वा राज्य सेना, जो म्यांमार राष्ट्रीय जनतांत्रिक संधि सेना का मित्र संगठन है, वह चीन और थाईलैंड की सीमा के पास बड़े विद्रोही संगठनों में से एक है। करेन राष्ट्रीय मुक्ति सेना ने म्यांमार राष्ट्रीय सेना के साथ युद्ध विराम समझौता पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया और यह संगठन थाईखीमर के पास राष्ट्रीय सेना के खिलाफ संघर्षरत हैं। नागरिक सरकार के गठन के बाद

भी इन विद्रोही गुटों का मुख्य धारा में शामिल होने के लिए कोई प्रोत्साहन नहीं है। जब तक उनकी स्वायत्तता के सवाल को हल नहीं किया जाता है तब तक उनकी विद्रोही सक्रियता बरकरार रहेगी। ऐतिहासिक तौर पर, सेना ने आदिम आदिवासी समूहों की विद्रोहपूर्ण कार्रवाईयों के आधार पर सत्ता पर अपनी पकड़ की वैधानिकता को स्थापित किया है। सेना द्वारा रक्षा, सीमा मामले एवं गृह मामलों को अपने हाथ में रखने से नागरिक सरकार को इन मामलों को राजनैतिक रूप से सुलझाने का मौका नहीं है।

अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों के द्वन्द्व

अगर चुनाव के जरिये जनतंत्र की पुनर्स्थापना हो जाती है तो म्यांमार के प्रति अमरीका की नई पहल के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिबंध हटाये जा सकते हैं। एक बार जब प्रतिबंध हटा लिया जाता है तो फिर म्यांमार के अकूत प्राकृतिक संपदा, जिसमें तेल एवं प्राकृतिक गैस शामिल हैं, उस पर कब्जा की मारामारी शुरू हो जायेगी। इसके चलते म्यांमार अन्तर्राष्ट्रीय ताकतों की आपसी प्रतिद्वन्द्विता का अखाड़ा हो जायेगा। भारत और चीन इस घटना विकास को सतर्कता के साथ देखने का काम करेंगे।

अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिबंधों के दौर में चीन ने म्यांमार में अपनी रणनीतिक एवं आर्थिक प्रभावों को बढ़ाने का काम किया है और सैनिक शासकों ने इस अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिबंधों से जूझने में सहायता प्रदान की है। संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् में वीटो अधिकार वाले चीन ने सैनिक शासकों को एक से ज्यादा अवसरों पर सामूहिक अन्तर्राष्ट्रीय कार्रवाईयों से बचाने का काम किया है। इसके चलते बर्मा की राष्ट्रीय सेना के साथ मजबूत संबंध कायम करते हुए चीन ने इस देश के अन्दर मजबूती से अपने पाँव जमा लिये हैं। चीन का इस देश के व्यापार, आर्थिक विकास एवं वाणिज्य पर वर्चस्व है। यह प्रभाव राजनैतिक क्षेत्र में भी चला जायेगा।⁶

संक्षेप में कहा जा सकता है कि चीन ने सैनिक शासन के रूप में एक पराश्रयी सत्ता का निर्माण किया है। चीन, म्यांमार पर अपनी इस पकड़ को ढीला नहीं करना चाहता है क्योंकि इससे उसे चीन की मुख्य भूमि से भारत तथा भारतीय महासागर तक पहुँचने का रास्ता मिलता है। म्यांमार का 1930 किमी. लम्बा समुद्री किनारा, बंगाल की खाड़ी के पूर्वी घुमावदार हिस्से को अपने आगोश में रखता है जो एक समुद्र को दूसरे समुद्र से जोड़ने वाले नहरनुमा संकीर्ण मलक्का की तरफ झुका हुआ है जिससे चीन की जल सेना को अपनी पहुँच के विस्तार में सहायता मिलेगी। अमरीका के साथ बहुत करीबी आर्थिक जुड़ाव के बावजूद चीन इस क्षेत्र में अमरीका के रणनीति विस्तार के बारे में चिन्तित है। भारत और अमरीका के बीच बढ़ते रणनीतिक एकता ने इस संदेह को और ज्यादा बढ़ाया है। अतः म्यांमार में बड़ी भूमिका निभाने को उत्सुक भारत एवं अन्य राष्ट्रों के सामने चीन सबसे बड़ी चुनौती के रूप में है।⁷

भारत की सुरक्षा की जरूरतें

भू-रणनीति को देखते हुए भारत को रणनीतिक, आर्थिक एवं विकास के मद्देनजर, म्यांमार को विदेश नीति के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण स्थान देना चाहिए। म्यांमार की भौगोलिक उपस्थिति भारत-एशियान व्यापार रास्ते के दोनों ओर है जिससे भारत के लिए म्यांमार का मूल्य बहुत ज्यादा हो जाता है। यह जमीन से चारों ओर से घिरे उत्तर-पूर्व के लिए बाहरी भूमि एवं समुद्र का रास्ता खोल सकता है। म्यांमार की समुद्री सीमा अण्डमान द्वीप से 30 किमी. दूर है जिससे समुद्री सुरक्षा की संभावना बढ़ जाती है। दुर्भाग्य से भारत की राष्ट्रीय सुरक्षा के सन्दर्भ में म्यांमार के रणनीतिक महत्व को उतना स्थान नहीं दिया गया है जितना उसको चाहिए। उत्तर-पूर्व भारत के अन्य हिस्सों के

60.30 किमी. चौड़े सिलीगुड़ी के रास्ते से जुड़ा हुआ है, जिसके एक ओर बांग्लादेश और दूसरी ओर नेपाल है। अतः रणनीतिक तौर पर उत्तर-पूर्व अपनी पड़ोस में हो रहे घटना विकास से युद्ध एवं शांति दोनों समय में प्रभावित होगा। बांग्लादेश से बड़े पैमाने पर बंगालियों के इस क्षेत्र में आगमन से विभिन्न समुदायों के बीच असंतुलन पैदा हो गया है जिससे सामाजिक एवं आर्थिक अशांति पैदा हो गई है। आदिम आदिवासियों की खास पहचान को लेकर इस क्षेत्र में अलगाववादी विद्रोही गतिविधियाँ शुरू हो गई हैं। चीन और पाकिस्तान से समय-समय पर मिलने वाली सहायता उनके जीवित रहने के लिए आवश्यक है। बांग्लादेश एवं म्यांमार में भी उन्हें अपनी गतिविधियाँ चलाने का सुरक्षित स्थान प्राप्त है।

भारत ने अपनी 'पूर्व की ओर देखो' नीति के तहत 1992 से म्यांमार के सैनिक शासन के साथ अपना संबंध सुधारने का काम शुरू किया है। इस नीति की सफलता अत्यन्त सीमित रही है। आशवासनों के बावजूद म्यांमार की सत्ता ने भारतीय विद्रोही समूहों को अपनी जमीन से बाहर खदेड़ने में बहुत कम रुचि दिखाई है। इन विद्रोहियों के खिलाफ संयुक्त अभियान में भी यह उदासीन रहा है।

बांग्लादेश द्वारा अपने क्षेत्र से भारतीय सामानों को उत्तर-पूर्व के क्षेत्र में ले जाने के प्रति हिचकिचाहट से भी उत्तर-पूर्व के विकास में बाधा उत्पन्न हुई है। इस समस्या के हल के लिए भारत बहु-आयामी योजना के जरिये उत्तर-पूर्व से म्यांमार एवं एशियान देशों एवं हिन्द महासागर तक रोड एवं समुद्री रास्ता खोलने की योजना लागू कर रहा है। हालांकि भारत की सित्वे बहुआयामी परियोजना तथा बहुचर्चित म्यांमार भारत पाईप लाईन जैसी दो आधारभूत परियोजना की प्रगति अत्यन्त धीमी है।

पिछले दो दशकों में दोनों देशों के बीच व्यापार एवं विकास के संबंध में सुधार हुए हैं। लेकिन दोनों देशों की निष्क्रियता के चलते दोनों देशों के बीच व्यापार के संबंध में उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। द्विपक्षीय व्यापार को बढ़ाने में दोनों देशों में कोई उत्साह नजर नहीं आता है।

सैनिक शासकों के लिए जनतंत्र की पुनर्स्थापना का सवाह अत्यन्त संवेदनशील है। इसे देखते हुए, भारत ने इस मुद्दे पर जोर नहीं दिया है तथा आँग-शान-सू-की की रिहाई के बारे में भी मौन साध लिया है। भारत द्वारा जनतंत्र के लिए होने वाले संघर्ष की अनदेखी करने तथा सिर्फ सैनिक शासकों के साथ अपना संबंध कायम करने की बात से पूरी दुनिया के नागरिक समाज को सदमा लगा है। इस प्रक्रिया में उन जनतांत्रिक ताकतों के ही भारत प्रतिद्वन्द्विता चीन के साथ होगी और इस मायने में चीन को पहले से ही भू-राजनीतिक एवं आर्थिक लाभ की अग्रता प्राप्त है। इसके साथ-साथ चीन संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् का स्थायी सदस्य है। अतः चीन, भारत के काम को आसान नहीं होने देगा। भारत के लिए लम्बे समय की राजनीति के लिए सबसे अच्छा यही होगा कि वह म्यांमार की राजनैतिक पार्टियों एवं नयी सरकार के साथ अपने संबंध में सुधार करें।

अन्य संभावित कठिनाईयाँ

कुछ और संभावित खतरे हैं जो प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष तौर पर पूरे क्षेत्र को अस्थिर कर सकते हैं। ये मुद्दे भारत की राष्ट्रीय सुरक्षा के साथ जुड़े हुए हैं तथा उत्तर-पूर्व उनके कार्यकलापों का केन्द्र बन सकता है।⁸

तिब्बत का मामला

दलाई लामा वृद्ध हो रहे हैं और तिब्बती शरणार्थी खासकर युवा पीढ़ी, चीन द्वारा तिब्बत के बारे में अपनाए गये रूख के प्रति उबल रहे हैं। अगर यह मामला हाथ से बाहर जाता है तो यह अरूणाचल के धर्मावलम्बियों को प्रभावित कर सकता है। इसके चलते भारत-तिब्बत सीमा और भारत-म्यांमार

सीमा भी सक्रिय हो सकती है। इसके साथ-साथ चीन का अरूणाचल की सीमा पर दावे के चलते चीन के साथ संघर्ष भी हो सकता है।

आन्तरिक तोड़-फोड़ में चीन का समर्थन

हालांकि भारत और चीन आपस में सौहार्द्रपूर्ण संबंध कायम करने की चेष्टा कर रहे हैं। लेकिन मणिपुर एवं असम के विद्रोही गुटों को चीन द्वारा समर्थन करने और उसके जरिये भारत पर दबाव बनाने की उसकी क्षमता की अनदेखी नहीं करनी चाहिए। म्यांमार अपनी जमीन पर विद्रोहियों को सुरक्षित एवं स्वतंत्र स्थान देने से इन्कार करके एक बड़ी भूमिका निभा सकता है।

नेपाल में माओवादी

नेपाल में चीनी समर्थक माओवादियों के उदय और सत्ता पर पहुँच और उनके प्रभाव विस्तार से चीन को नेपाल भारत के प्रभाव के बरवस अपना प्रभाव बढ़ाने का एक बड़ा अवसर प्राप्त हुआ है। अगर चीन नेपाल पर अपनी रणनीतिक पकड़ मजबूत करता है तो उत्तर-पूर्व की स्थिति और ज्यादा संकटपूर्ण हो जायेगी। ऐसी परिस्थिति में, इस क्षेत्र में कोई भी सैनिक संघर्ष उत्तर-पूर्व को भारत से अलग-अलग कर देगा।⁹

म्यांमार की परमाणविक महत्वाकांक्षा

वर्ष 2002 की शुरुआत में म्यांमार ने रूस के सहयोग से शान्तिपूर्ण उद्देश्य के लिए परमाणु शोध रियेक्टर के निर्माण की योजना को हरी झंडी दी। चुने हुए छात्रों एवं सैनिक पदाधिकारियों को मास्को में परमाणु विज्ञान के बारे में प्रशिक्षण दिया गया। रंगून एवं माण्डले के विश्वविद्यालयों में आणविक भौतिक विज्ञान विभागों की स्थापनाएँ हुई हैं। इन विभागों में छात्रों के चयन पर सैनिक शासकों का नियंत्रण है। बहुत से जगहों में यूरेनियम के भंडार पाये गये हैं। ये भंडार मागवे, ताँग्विंगी, क्योक फाइगोन, मोगोक के पॉओनपिन और दक्षिण तेनासेरिम के काओसिन्द क्षेत्रों में पाये गये हैं। रूसी इन खदानों से यूरेनियम निकाल रहे हैं।

इस पृष्ठभूमि में म्यांमार एवं उत्तर कोरिया के बीच परमाणु विकास के संबंध में हुए गुप्त समझौते की सूचना का बड़ा महत्व है। अमेरिका एवं थाइलैंड ने इस सूचना पर अपनी चिन्ता जाहिर की है। आस्ट्रेलिया के रणनीतिक विश्लेषक डेसमाण्ड बॉलन तथा थाइलैंड में रह रहे पत्रकार फिल थार्नटन में 2007 में दावा किया था कि म्यांमार ने एक परमाणु रियेक्टर का निर्माण किया है जो प्रसंस्करण की प्रक्रिया से आगे बढ़ते हुए परमाणु हथियार बनाने के लिए उपयोगी प्लूटोनियम प्राप्त कर लेगा। ये सूचनाएँ म्यांमार से भागकर आए लोगों द्वारा दी गई हैं जिसकी सत्यता के बारे में अभी जानना बाकी है।

अगर यह सच है तो इस क्षेत्र के लिए यह एक नयी परिस्थिति होगी। यह वैसी ही परिस्थिति का निर्माण करेगा जैसा भारत को पश्चिमी मोर्चे पर एक अस्थिर पाकिस्तान के रूप में सामना करना पड़ रहा है। हालांकि म्यांमार परमाणु हथियार के खेल में शामिल होगा, इसकी संभावना नजर नहीं आती है लेकिन भारत को इस घटना विकास पर सतर्कतापूर्वक नजर रखनी पड़ेगी।

म्यांमारवासियों की स्थिरता का संबंध सीधे तौर पर स्थिर जनतंत्र के निर्माण के साथ जुड़ा हुआ है। म्यांमार एक स्थिर जनतांत्रिक देश के रूप में बदले, यह इस क्षेत्र के भविष्य के हित में है। 2010 के चुनाव के बाद जब नागरिक सरकार का गठन हो जाता है, उसके बाद अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय की उदासीनता बढ़ सकती है। म्यांमारवासियों के पिछले चार दशकों के आन्दोलन का यह अनुभव है कि उन्हें क्रूर शासन से तब तक कोई तार्किक उत्तर नहीं मिला जब तक उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय समर्थन नहीं मिला।

म्यांमार में स्थिरता की कुँजी उसके दो बड़े पड़ोसियों भारत और चीन के साथ-साथ अमेरिका के हाथ में है। उन तीनों के एकताबद्ध प्रयास से ही कोई अर्थपूर्ण परिणाम प्राप्त हो सकता है। अभी इन तीनों देशों की समझ का परिप्रेक्ष्य म्यांमार में उनके रणनीतिक हितों के साथ जुड़ा हुआ है। लेकिन यह आवश्यक है कि वे एक साथ म्यांमार में परिवर्तन की नई परिस्थिति पैदा करने का काम करें। उनका यह मिला-जुला प्रयास म्यांमार को सैनिक शासन के जंजीर से मुक्त करेगा।

म्यांमार में जनतंत्र के विकास के लिए भारत का एक कार्यक्रम होना चाहिए। एक मजबूत जनतांत्रिक पहचान के साथ भारत राजनैतिक नेताओं के साथ अपना संबंध फिर से जोड़ने में सफल हो सकता है और इससे दोनों देशों को फायदा होगा। म्यांमार एवं एशियान देशों के साथ भारत को अपना व्यापारिक एवं विकास से जुड़े संबंध को म्यांमार के सत्ता परिवर्तन के प्रभाव से अलग करना चाहिए। इसे थाईलैंड एवं अन्य एशियान देशों के साथ ऐसी रणनीति विकसित करनी चाहिए जिससे यह वास्तविक रूप से साकार हो सके।

जैसा कि बांग्लादेश में अवामी लीग जैसी मित्रवत् सरकार है, भारत को बांग्लादेश के माध्यम से वैकल्पिक सड़क एवं समुद्री रास्ता खोलना चाहिए, जिससे उत्तर-पूर्व में व्यापार और उद्योग के विकास का रास्ता खुल सके।¹⁰

संदर्भ ग्रन्थसूची

1. भारत की म्यांमार नीति, उत्तर-पूर्व के कर सकता है।
2. उत्तर-पूर्व विद्रोहियों पर म्यांमार का प्रभाव बी.बी. शर्मा, उत्तर-पूर्व इंडिया न्यूज।
3. वही, उत्तर-पूर्व इंडिया न्यूज।
4. वही
5. वही
6. वही
7. वही
8. म्यांमार- म्यांमार का घटना विकास एवं उत्तर-पूर्व की समीक्षा, कर्नल आर. हरिहरण डब्ल्यू. डब्ल्यू. डब्ल्यू. दक्षिण एशिया विश्लेषण संगठन।
9. वही, कर्नल आर. हरिहरण।
10. वही, कर्नल आर. हरिहरण।

भारत में लोक सेवायें: साख पर सवाल

मनीष चन्द्र

एम्.फिल., सेंटर फॉर फेडरल स्टडीज, जामिया हमदर्द, दिल्ली

सीधे सरल शब्दों में कहें तो लोक सेवा से हमारा अभिप्राय सरकार के उन स्थायी और गैर राजनीतिक अधिकारियों से है जो न्यायांग अथवा सेना के सदस्य नहीं होते और जो एक बार सरकारी नौकरी में आने के बाद सामान्यतः अवकाश ग्रहण करने की आयु तक उस पर बने रहते हैं।¹ यह वास्तव में लोक नीति के रूप में अभिव्यक्त राज्य की इच्छाओं को क्रियान्वित करने का प्रमुख साधन है जो आधुनिक राज्य के कार्य संचालन के लिए अपरिहार्य है। श्रीराम माहेश्वरी के अनुसार “लोक सेवा के दो अभिप्राय होते हैं- (1) अनिवार्य वस्तु की आपूर्ति का कार्य, (2) सरकार द्वारा समर्थित रोजगार की व्यवस्था। सरकार द्वारा समर्थित सेवा को लोक सेवा कहा जाता है, जिसका आशय प्रतियोगितात्मक परीक्षा द्वारा सरकारी कर्मचारियों की नियुक्ति की एक विधि है।”² लोक सेवा कानूनों को अमल में लाने वाला निकाय तो है ही साथ ही यह नियमों के निर्माण में भी सक्रिय रूप से शामिल है। पेशेवर दक्षता के कारण एक लोक सेवक अपने राजनीतिक प्रमुख को न सिर्फ विधि निर्माण में सहयोग प्रदान करता है बल्कि काफी हद तक विधि को आकार भी प्रदान करता है, खासतौर पर वरिष्ठ लोक सेवक अपना ज्यादातर समय इस तरह की गतिविधियों में ही लगाता है। लोक सेवाएँ कराधान की प्राप्ति का व्यय करती हैं और इस बात का भी निर्णय लेती हैं कि राजस्व की उगाही कितनी मात्रा में करनी है और इसे किस तरह से वसूलना है। ग्लैडन ने लोक सेवा के अर्थ को सार रूप में स्पष्ट करते हुए लिखा है कि “लोक सेवा के लिए अनिवार्यताओं में जो बातें शामिल हैं वे हैं- इसका चयन निष्पक्ष रीति से किया जाएगा, यह प्रशासन कला में दक्ष होगी, राजनीतिक रूप से तटस्थ होगी तथा समाज के प्रति सेवा की भावना से ओत-प्रोत होगी।³ भारत में लोक सेवा का इतिहास वैसे तो काफी पुराना है लेकिन आधुनिक संदर्भ में इसके उदय को ईस्ट इंडिया कंपनी से जोड़कर देखा जा सकता है। भारत में सर्वप्रथम लोक सेवा शब्द का प्रयोग 19वीं सदी में ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रशासन में लगे उन कर्मचारियों के लिए किया गया जो उसकी सैनिक सेवा में नहीं होते थे बल्कि कर वसूली आदि के दीवानी या असैनिक कार्यों में लगे होते थे। दीवानी कार्यों में लगे होने के कारण उन्हें सिविल सेवा के कर्मचारी कहा जाता था।⁴ भारतीय दंड संहिता की धारा 21(a) में लोक सेवक की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि ‘सरकारी सेवारत या वेतन पाने वाला अथवा सरकारी कार्य के लिए शुल्क या कमीशन पाने वाला व्यक्ति लोक सेवक की श्रेणी में आता है।’⁵

भारत में लोक सेवाएँ प्रतिष्ठा और अधिकार दोनों ही दृष्टियों से अपना विशेष महत्व रखती हैं। आजादी के बाद सरकार द्वारा सामाजिक आर्थिक विकास के कार्यक्रमों को प्राथमिकता के आधार पर संपन्न करने की सोच ने लोक सेवाओं के कार्यक्षेत्र में आशातित विस्तार किया और लोक सेवाएँ पालने से लेकर चिता तक व्यक्ति के जीवन को प्रभावित करने वाले राज्य के मूर्त उपकरण के रूप में सामने आयीं। भारत में लोक सेवाओं की भूमिका को मुख्य रूप से निम्नलिखित संदर्भों में देखा जा सकता है-

1. नीति क्रियान्वयन में भूमिका- भारत में लोक नीतियों के क्रियान्वयन इकाई के रूप में लोक सेवाएँ महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। यह सरकार के अधिकांश दैनिक कार्यों को संपन्न करने

वाली संस्था है। यह नौकरशाही ही है जो सरकार के कार्मिकों, निधि, संपदा तथा वैधानिक शक्तियों का नियंत्रण करती है और कार्यपालिका, विधायिका तथा न्यायिक निर्णयकर्ताओं के अधिकांश निर्देशों को प्राप्त करती है। नीति क्रियान्वयन से संबंधित लोक सेवकों का कार्य न सिर्फ कार्यरत सरकार की राजनीतिक नीतियों के अनुरूप सीमित होता है बल्कि राजनीतिक परिस्थितियों से प्रभावित भी होता है।

2. प्रदत्त विधायन एवं अन्य प्रत्यायोजित कार्यों का निपटान- प्रत्यायोजित या प्रदत्त विधायन से अभिप्राय संसद की किसी विधि द्वारा प्रदत्त सत्ता के अंतर्गत कार्यपालिका द्वारा नियमों तथा उपनियमों का निर्माण करने से है। यह एक अर्द्ध विधायी कार्य है जो लोक सेवा द्वारा संपन्न किया जाता है। सिद्धांत रूप में देखें तो “प्रजातंत्र में सभी प्रयोजनार्थ अंतिम कार्यपालक प्राधिकार राजनीतिक कार्यपालिका में विहित है जो संसद के माध्यम से जनता के प्रति जवाबदेह है तथापि किसी बड़े संगठन की तरह ही सरकार को भी विभिन्न स्तरों पर और भिन्न-भिन्न स्थितियों में परिभाषित कार्य करने होते हैं। इनके लिए व्यावहारिक आधार पर लोक सेवकों को सरकार के विभिन्न स्तरों पर प्राधिकार और जिम्मेदारी का प्रत्यायोजन आवश्यक है। ऐसा प्रत्यायोजन अधीनस्थ के सिद्धांतों के अनुरूप है जिससे सरकार को लोगों के निकट लाने में मदद मिलती है।”⁶ भारत में लोक सेवकों को प्रत्यायोजित अधिकार संविधान एवं विधि के सुस्पष्ट दायरे में होते हैं जिनकी निगरानी अधिनस्थ विधायन समिति द्वारा की जाती है।

3. प्रशासकीय अधिनिर्णय- प्रशासकीय अधिनिर्णय का अर्थ है ‘किसी प्रशासनिक अभिकरण द्वारा कानून तथा तथ्य के आधार पर किसी गैर सरकारी पक्ष से संबंधित विवाद की जाँच तथा उस पर निर्णय देना’⁷। आमतौर पर आधुनिक लोकतांत्रिक राज्य के अंतर्गत विवादों के निपटारे से संबंधित न्यायिक शक्तियाँ व कार्य प्राथमिक रूप से न्यायपालिका में निहित होते हैं किंतु समकालीन समाज में राज्य के सामाजिक, आर्थिक गतिविधियों के सक्रिय उपकरण के रूप में अस्तित्व में आने के पश्चात् सरकार द्वारा विविध प्रकार की शक्तियों से युक्त अनेक प्रशासनिक इकाइयों या संस्थाओं का गठन किया गया है जिसमें विवादों के निपटारे हेतु अधिनिर्णय की शक्तियाँ भी सम्मिलित हैं। आज इस बात को लेकर एक वैश्विक सहमति है कि राज्य के न्यायिक कृत्य सिर्फ न्यायपालिका तक ही सीमित नहीं हैं बल्कि विभिन्न प्रशासनिक एजेंसियों की भी इसमें भूमिका अनवरत बढ़ती जा रही है।⁸

प्रशासनिक न्यायाधिकरणों की स्थापना मुख्य रूप से साधारण न्यायालयों की खर्चीली एवं विलंबकारी प्रक्रिया, विशेषज्ञों द्वारा निर्णय करने की आवश्यकता, सामाजिक नीतियों को लागू करने की जरूरत तथा साधारण न्यायालयों के पास पहलकारी शक्ति के अभाव जैसे तथ्यों से अभिप्रेरित है। प्रशासनिक न्यायाधिकरण न सिर्फ साधारण न्यायालय प्रणाली के बाहर कार्य करते हैं बल्कि जैसा कि रॉब्सन ने कहा है ‘प्रशासकीय न्यायाधिकरण व्यक्ति एवं सार्वजनिक सत्ता के मध्य समुचित संबंध स्थापित करने की दृष्टि से प्रगतिशील होते हैं। वे नागरिकों के लिए स्वतंत्रता तथा न्याय और आधुनिक ढंग की सरकार की आवश्यकताओं के मध्य संतुलन स्थापित करने का प्रयास करते हैं।’

भारत में प्रशासनिक न्यायाधिकरणों की चर्चा करते समय 42वें संविधान संशोधन का उल्लेख विशेष रूप से आवश्यक है। भारत में 42वें संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा अंतर्विष्ट अनुच्छेद 323 क-ख का आशय प्रशासनिक अधिकरणों के उद्देश्यों एवं विनिश्चयों पर अनुच्छेद 32 के अधीन उच्चतम न्यायालय की अधिकारिता हटा देना था। इन अनुच्छेदों को कार्यान्वित करने के लिए विधान बनाना आवश्यक था किंतु श्रीमती इंदिरा गांधी की पहली सरकार को ऐसा करने का समय नहीं मिला। बाद में अनुच्छेद 323 क को प्रशासनिक अधिकरण अधिनियम 1985 द्वारा क्रियान्वित किया गया। हालांकि एल. चन्द्र कुमार बनाम यूनियन ऑफ इंडिया वाद (1997) के नैसले के बाद अब

स्थिति बदल गई है क्योंकि उच्चतम न्यायालय ने अनुच्छेद 323 क खंड-2 (घ) और 323 ख, खंड-3 (घ) और इन अनुच्छेदों के अनुसरण में अधिनियमित सभी विधायनों में 'अधिकारिता के अपवर्जन' के खण्डों को भी उतनी सीमा तक असंवैधानिक घोषित कर दिया है जहाँ तक वे उच्च न्यायालयों और उच्चतम न्यायालय की अनुच्छेद 226/227 तथा 32 के अधीन अधिकारिता को अपवर्जित करते थे।⁹

4. लोक नीति निरूपण में भूमिका- जैसा कि थॉमस डाई ने कहा है कि 'सरकार जो भी करने को या न करने को चुनती है वही लोक नीति है'। आमतौर पर लोक नीति का निर्माण एक विधायी कृत्य माना जाता है और प्रशासन या लोक सेवा की भूमिका को सिर्फ नीति क्रियान्वयन तक सीमित रखने की बात की जाती है लेकिन आज वास्तव में लोक सेवा की भूमिका को लेकर इस तरह की कोई विभाजन रेखा नहीं खींची जा सकती। आज 'लोक सेवा नीति निर्माताओं के महत्पूर्ण सलाहकार के तौर पर कार्य करती है और प्रायः स्वयं ही नीति निर्माता होती है। लोक सेवक तथा मंत्री, नीति निर्माण के कार्यक्षेत्र में भागीदार होते हैं। यह भागीदारी न सिर्फ उनके विशिष्ट योगदानों पर बल्कि इनकी परस्पर पूरक भूमिका पर आधारित होती है।'¹⁰

भारत में विगत दशकों में नौकरशाह निर्णयन प्रक्रिया के महत्वपूर्ण अंग बनकर उभरे हैं। इसकी मुख्य वजह यह है कि राजनीतिक प्रतिष्ठानों ने राजनीतिक प्रकृति के विषयों पर अपना ध्यान केंद्रित करने के लिए स्वेच्छा से अपनी यह भूमिका त्याग दी है।¹¹

भारतीय लोक सेवा की इस बहुआयामी भूमिका और इतने बड़े पैमाने पर शक्तियों के केंद्रीकरण ने लोक सेवा के लिए कर्तव्य पथ से विचलन की संभावनाओं को भी उसी अनुपात में बढ़ाया और लार्ड एक्टन की प्रसिद्ध उक्ति "सत्ता भ्रष्ट करती है और पूर्ण सत्ता पूरी तरह से भ्रष्ट करती है" चरितार्थ होने लगी। 1950 के दशक में दुनिया के लिए ईर्ष्या का विषय मानी जाने वाली भारतीय लोक सेवा और राजनीतिक वर्ग के सदगुणों में आयी तीव्र गिरावट यद्यपि आज चौंकाने वाली बात लगती है लेकिन अगर हम इसके कारणों की पड़ताल करें तो सदगुणों के इस हास को सर्वव्यापी परमिट राज से जोड़कर देखा जा सकता है, जो आयात, उत्पादन तथा निवेश के लिए मंजूरी से जुड़ा हुआ था और जिसमें समय के साथ-साथ लगातार बढ़ोत्तरी होती रही। इस परिमित राज की व्यवस्था ने लोक सेवकों और राजनीतिक वर्ग के लिए भ्रष्टाचार की असीम संभावनाओं के द्वार खोल दिए। जल्दी ही उच्च स्तरीय नौकरशाही ने यह जान लिया कि लाइसेंस या परमिट का लाभ प्राप्ति हेतु प्रयोग किया जा सकता है, वहीं राजनेताओं ने इस प्रणाली में महत्वपूर्ण वित्तीय समर्थकों के रूप में साधन को देखा।¹² नतीजा यह हुआ कि लोक सेवाओं के भ्रष्ट आचरण हेतु रास्ता साफ हो गया और लोक सेवा भ्रष्टाचार के दलदल में धँसती चली गयी। लोक सेवकों ने नियम पुस्तिका में लिखित तथ्यों की व्याख्या का राजनीतिक सत्ताधारियों द्वारा अपने प्राधिकार के दुरुपयोग को रोकने में सहायक रोध व संतुलन की व्यवस्था की बजाय फाइलों को अनावश्यक रूप से रोकने और पैसे बनाने के साधन के रूप में प्रयोग करना शुरू कर दिया और भ्रष्टाचार के नए-नए रास्ते तलाश लिए। लोक सेवकों की इस प्रवृत्ति के कुछ बेहद अप्रत्याशित और खतरनाक नतीजे सामने आए। हाल के वर्षों में राजनेताओं की जो नई पीढ़ी उभरी है वह नियम पुस्तिकाओं को अवरोध तथा नौकरशाही को अनावश्यक बाधा के रूप में देखती है और इन सबको परे रखकर काम करना चाहती है फलतः संबंधों में संघर्ष की स्थिति लगातार बढ़ती जा रही है। हालाँकि यह तस्वीर का सिर्फ एक पक्ष है। इसका दूसरा पक्ष यह है कि अपने भविष्य एवं वृत्ति को लेकर भयातुर नौकरशाही तथा अपने अल्प कार्यकाल के दौरान काम कर अपने भविष्य को सुरक्षित करने की जल्दबाजी में लगे राजनीतिक वर्ग

ने परस्पर फायदे को ध्यान में रखकर एक अपवित्र गठजोड़ कर लिया है जिसमें भ्रष्टाचार को पुष्पित पल्लवित होने का अवसर मिलता है।¹³

किरण कार्निक ने लोक सेवा में भ्रष्टाचार के लिए मुख्य रूप से जिन कारणों की पहचान की है उनमें शामिल हैं- पकड़े जाने की अल्प तथा सजा होने की नगण्य संभावना, भ्रष्टाचार से लड़ने के लिए विद्यमान तंत्र के बारे में जानकारी का अभाव तथा सामाजिक बहिष्कार या कलंक का डर नहीं होना। लोक सेवा की एकाधिकारी प्रकृति से भी भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिलता है। चूँकि आम जनता के पास अपने काम को करवाने का कोई दूसरा विकल्प नहीं होता लिहाजा प्रायः वह मजबूरी में अपने काम को करवाने के लिए रिश्वत का सहारा लेती है।¹⁴

भ्रष्ट लोक सेवकों द्वारा प्रायः घूस की मांग और प्राप्ति को संभव बनाने में एक सामान्य कारण जो काफी हद तक जिम्मेदार है वह है सेवाओं की प्रदायगी का समय सुनिश्चित नहीं होना। ऐसी स्थिति में लोक सेवक प्रायः 'स्पीड मनी' के रूप में रिश्वत की माँग करते और इसे प्राप्त करते हैं।¹⁵ प्रशासनिक प्रक्रिया की इस कमी को दूर करने के लिए मध्य प्रदेश, बिहार, दिल्ली, उड़ीसा, पश्चिम बंगाल, असम, पंजाब तथा राजस्थान आदि राज्यों द्वारा सेवा के अधिकार से संबंधित कानून का निर्माण किया गया है जो एक सराहनीय पहल है, जरूरत इस बात की है कि इस तरह के कानून के दायरे में ज्यादा से ज्यादा सेवाओं को लाया जाए तथा जिन राज्यों में इस तरह के कानून नहीं हैं, वह भी इस दिशा में शीघ्र व सार्थक पहल करें। यह वास्तव में अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है कि हमारे देश में भ्रष्टाचार एक अंतहीन रूढ़न का विषय बन गया है, इस हद तक कि इसकी चर्चा सिर्फ रस्मी रह गयी है..... यह बढ़ता हुआ विश्वास कि सभी भ्रष्ट हैं लोगों के मन में यह भाव भी पैदा करता है कि चूँकि सभी भ्रष्ट ही हैं तो ईमानदार रहना जो कठिनाईयों से भरा है जरूरी नहीं है और भ्रष्ट आचरण ही व्यावहारिक आचरण है। इस तरह जो भ्रष्ट आचरण से घबराते हैं वे अव्यावहारिक या इससे भी बढ़कर निरे मुख समझे जाते हैं।¹⁶ प्रशासक और लोक सेवक भी इसके अपवाद नहीं हैं। हमारे सामने ऐसे अनेक उदाहरण हैं जो यह बताते हैं कि ईमानदार अधिकारियों (जैसे- अशोक खेमका) का किस तरह बार-बार तबादला कर उन्हें प्रताड़ित किया जाता है ताकि वे अपने राजनीतिक आकाओं के गलत कार्यों का विरोध नहीं करें।¹⁷ बेइमान अधिकारी चाहे जिस पार्टी की भी सरकार बने मजे में रहते हैं क्योंकि उन्हें अपने राजनीतिक आकाओं की मांग के मुताबिक खुद को ढालना आता है।

प्रसिद्ध समीक्षक सुरेन्द्र मोहन का मानना है कि अंग्रेजी राज्य के दिनों से विनिर्मित इस्पाती ढाँचा जिसे निष्पक्ष और निष्प्रेष्ट होना चाहिए अपने उन सभी गुणों से च्युत होता जा रहा है। भ्रष्टाचार के पनपने में उच्च स्तरीय सत्ता का जो भारी योगदान है उसमें नेता, अक्सर और पूंजीपति की मिली-भगत बरसों से चलती रही है और इसके चलते न केवल प्रशासन की साख को भारी धक्का लगा है बल्कि चुनावों व अन्य राजनीतिक कामकाज में थैलियों व थैलिशाहों का बोलबाला हो गया है।¹⁸ यहाँ हमें इस बात को याद रखना होगा कि भारत जैसे देश में राजनीतिक भ्रष्टाचार और प्रशासनिक भ्रष्टाचार हमजोली हैं जो एक-दूसरे को सहयोग व समर्थन प्रदान करते हैं। यही वजह है कि लोक सेवाओं में सुधार हेतु प्रयासों को लेकर काफी लंबे समय तक अनिच्छा का भाव देखने को मिला है। हालांकि हाल के वर्षों में स्थिति में बदलाव हेतु कुछ सकारात्मक प्रयास हुए हैं, जैसे- नागरिक घोषणा पत्र को अपनाना, सूचना का अधिकार कानून का क्रियान्वयन, समयबद्ध सेवा प्रदायगी के कानून पर अमल, सामाजिक अंकक्षण की व्यवस्था, ई. अभिशासन पहल आदि, लेकिन अभी भी इस दिशा में काफी कुछ किए जाने की आवश्यकता है। अध्ययन बताते हैं कि नागरिक घोषणा पत्र को लेकर

बड़े-बड़े दावे किए जाने के बावजूद देश में इसकी प्रभाविता कमोबेश औसत ही रही है। भारत में नागरिक घोषणा पत्रों को प्रारंभ करने के तकरीबन एक दशक बाद 2007 में पब्लिक अफेयर्स सेंटर, बंगलौर ने इसकी प्रभाविता की समीक्षा की और 'इंडियाज सिटिजन्स चार्टर- ए डिक्लेड ऑफ एक्सपीरियंस' के नाम से प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट में इसकी खामियों को उजागर किया जिनमें प्रमुख थीं- घटिया डिजाइन और विषय वस्तु, सार्वजनिक जागरूकता का अभाव, अपर्याप्त आधार कार्य, घोषणा पत्रों को अद्यतन नहीं किया जाना, घोषणा पत्रों के निर्माण में वरिष्ठ नागरिकों एवं विकलांगों की आवश्यकताओं की उपेक्षा आदि।¹⁹ इन कमियों को सुधारने की दिशा में आज भी पर्याप्त पहल नहीं हुई है। ऐसे में सिटिजन चार्टर से जो उम्मीदें हैं वह पूरी नहीं हो पा रही हैं।

यही स्थिति 'सूचना का अधिकार' कानून के साथ भी है जो यद्यपि एक बेहतरीन पहल है तथापि जागरूकता के अभाव, अपर्याप्त रूप से प्रशिक्षित लोक सूचना अधिकारियों, बेकार हो चुके रिकॉर्ड प्रबंधन दिशा निर्देशों, लोक सूचना अधिकारियों में अभिप्रेरणा की कमी, निगरानी एवं निरीक्षण के अभाव, लंबित मामलों में वृद्धि तथा सूचना आयोगों की भौगोलिक अवस्थिति जैसे कारणों से 'सूचना का अधिकार' कानून के अपेक्षित परिणाम नहीं प्राप्त हो रहे हैं।²⁰ इसके अलावे 'सूचना का अधिकार' कानून के तहत सूचना मांगने वाले सूचना अधिकार कार्यकर्ताओं की हत्या, हत्या के प्रयास तथा झूठे मामलों में फंसा कर उन्हें प्रताड़ित करने जैसे मामलों ने भी इस कानून के जरिये प्रशासनिक भ्रष्टाचार को उजागर करने की कोशिशों को धक्का पहुँचाया है।²¹

भारत में सामाजिक अंकेक्षण को प्रत्यक्षतः स्थानीय स्वशासन के संदर्भ में पारदर्शिता लाने एवं जनसहभागिता निभाने के आंदोलन से लोकप्रियता मिली है और यह प्रशासनिक भ्रष्टाचार पर अंकुश का एक अच्छा माध्यम सिद्ध हो रहा है। इस बात के मद्देनजर कि हमारे देश में सरकारी बजट का 50 प्रतिशत से अधिक हिस्सा कल्याणकारी योजनाओं पर व्यय होता है यह इस बात पर नजर रखने में कि कैसे और कितनी मात्रा में धनराशि अपेक्षित प्राप्तकर्ताओं की बजाए दूसरी तरफ मोड़ी गई महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है²² तथापि इसका दायरा अभी काफी संकुचित है। भारत में महात्मा गाँधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम, 2005 वह प्रथम राष्ट्रीय कानून है जिसमें सामाजिक लेखा परीक्षण की प्रक्रिया को विधिवत तथा पूरे मनोयोग से स्वीकार किया गया है।²³ इस तरह की व्यवस्था न सिर्फ दूसरे क्षेत्रों में भी करने की जरूरत है बल्कि इसकी गति पर भी ध्यान देना होगा क्योंकि मुक्त सूचना के इस युग में इस तरह की व्यवस्था का लाभ अगर हम अपेक्षित तेजी के साथ आम जनता तक नहीं पहुँचाते हैं तो इसके अत्यंत घातक परिणाम भी हो सकते हैं।

प्रशासनिक भ्रष्टाचार पर नियंत्रण की दिशा में ई-अभिशासन पहल एक महत्वपूर्ण नवाचार है। राष्ट्रीय ई. गवर्नेंस योजना समेत राज्य स्तर पर किए जाने वाले प्रयासों जैसे- बिहार में 'जानकारी' मॉडल, कर्नाटक में 'भूमि' कार्यक्रम, आंध्र प्रदेश में 'ई-सेवा', उत्तर प्रदेश में 'लोकवाणी' तथा केरल में 'पैड्स' परियोजना ने न सिर्फ लोगों के लिए सरकारी सेवाओं तक पहुँच को आसान बनाया है बल्कि भ्रष्टाचार पर भी अंकुश लगाने में सफल रही है। लेकिन इस तरह की ई.अभिशासन पहलों के साथ भी कुछ समस्याएँ हैं जैसे- लोगों में साक्षरता विशेषकर कम्प्यूटर साक्षरता का अभाव, ज्यादातर जानकारीयों का अंग्रेजी में उपलब्ध होना, इंटरनेट की अनुपलब्धता तथा अत्यधिक लागत आदि। फिर भी जैसा कि यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया, बर्कले के लोक नीति के सहायक प्रोफेसर जेकिर बुसेल का कहना है तकनीक का सबसे बड़ा योगदान यह है कि इसने नागरिकों की सूचना तक पहुँच सुनिश्चित की है।²⁴ सूचना के सार्वजनिक रूप से उपलब्ध होने का सबसे बड़ा फायदा यह हुआ है कि अब लोक सेवकों के लिए कई मामलों में लोगों को पहले की तरह अंधेरे में रखना

संभव नहीं है जो भ्रष्टाचार की सबसे बड़ी वजह है। इस संदर्भ में किरण कार्णिक की टिप्पणी अत्यंत सटीक है कि तकनीक भी कोई जादू की गोली नहीं है लेकिन यह पारदर्शिता, पहुँच तथा दक्षता प्रदान कर सकती है और परिवर्तनकारी हो सकती है। यह (तकनीक) नाव से पानी बाहर फेंकने वाले की बजाय छेद बंद करने वाला रणनीतिक उपकरण हो सकती है।²⁵

भारत में लोक सेवाओं की दशा और दिशा के इस समग्र विवेचन का समाहार करते हुए कहें तो भारतीय लोक सेवा यात्रा के क्रम में आदर्श, आशा तथा अनाचार के पड़ावों से होकर गुजरती रही है। किसी समय में इस्पाती ढाँचा मानी जाने वाली भारतीय लोक सेवा आज घुन लगी लकड़ी की तरह हो चुकी है तथापि इसके लिए सिर्फ लोक सेवा को ही उत्तरदायी ठहराना इसके साथ ज्यादाती होगी। वास्तव में कोई भी संरचना या व्यवस्था अपने परिवेश के प्रभाव से अछूती नहीं रह सकती। लोक सेवा पर भी सामाजिक राजनैतिक परिवेश का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। जैसा कि सच्चिदानंद सिन्हा का विचार है “भारत के आधुनिकतावादी, जीवन का प्रधान लक्ष्य भौतिक या आर्थिक उपलब्धि मानते हैं लेकिन इसके लिए खुली प्रतियोगिता की जगह जो आधुनिकता की मांग है पारिवारिक या जातीय खोल के भीतर से ही उपलब्धि के साथ संघर्ष में जुटना चाहते हैं। यह दोष दिनोंदिन और भी सघन होता गया है। हमारे यहाँ भ्रष्टाचार उस सामाजिक मूल्यहीनता का परिणाम है जहाँ पारंपरिक मूल्यों का लोप हो चुका है पर पारंपरिक वफादारियाँ अपनी जगह पर जमी हुई हैं।²⁶ जब तक हम इस बुनियादी बात पर ध्यान नहीं देंगे व्यवस्था में आमूल चूल परिवर्तन संभव नहीं है। हमारे देश में प्रशासनिक भ्रष्टाचार वस्तुतः राजनीतिक शह पाकर ही इस हद तक सुदृढ़ हुआ है ऐसे में राजनीतिक सुधार के बगैर प्रशासनिक सुधार की कोई भी योजना अपेक्षित परिणाम नहीं दे सकती। इतिहास साक्षी है कि 18वीं सदी और 19वीं सदी के प्रथमाद्ध में ब्रिटेन की प्रशासनिक व्यवस्था भ्रष्टाचार को लेकर कुख्यात हो चुकी थी लेकिन विलियम एबर्ट ग्लैडस्टोन ने 1850 में वित्त मंत्री के रूप में और तत्पश्चात् 1868 से चार बार बतौर प्रधानमंत्री कार्य करते हुए चुनाव सुधार और प्रशासनिक नियमों तथा विनियमों में व्याप्त कमियों को दूर करने हेतु अपेक्षित इच्छाशक्ति का प्रदर्शन किया जिसके परिणामस्वरूप भ्रष्टाचार में इस हद तक कमी आयी कि ब्रिटेन को दुनिया के शीर्ष 15 न्यूनतम भ्रष्ट देशों की सूची में शामिल होने का सम्मान प्राप्त हुआ।²⁷ भारत की शासन व्यवस्था भी इसका अपवाद नहीं है विशेषकर इस बात को ध्यान में रखते हुए कि इसकी जड़ें ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन तंत्र में निहित हैं और कमोबेश हमारी संपूर्ण प्रशासनिक व राजनीतिक व्यवस्था ब्रिटिश व्यवस्था के प्रतिरूप हैं इस बात में कोई संदेह नहीं कि राजनीतिक इच्छाशक्ति से संपूर्ण प्रशासनिक व्यवस्था में काफी हद तक एक सकारात्मक परिवर्तन आ सकता है। हालांकि इसके साथ ही हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि केवल कानून बनाना और संगठनात्मक परिवर्तन करना पर्याप्त नहीं है। सच तो यह है कि नैतिकता बाहरी तत्व है जो समाज के लोगों के व्यवहार पर निर्भर करती है अतः जब तक समाज के लोग स्वयं मूल्यों का निर्माण करते हुए इसका पालन नहीं करते संपूर्ण सुधार संभव नहीं है।

संदर्भ सूची

1. सुभाष कश्यप, विश्व प्रकाश गुप्ता. राजनीति कोष पृष्ठ 67
2. श्री राम माहेश्वरी. भारतीय प्रशासन पृष्ठ 253
3. E. N. Gladden. 'The Civil Service: Its Problems and Future', p.35
4. बी.एल. फाड़िया. लोक प्रशासन पृष्ठ 438
5. Dr. T. Bhattacharya. 'The Indian Penal Code', p.12

6. द्वितीय प्रशासनिक सुधार आयोग 10वीं रिपोर्ट पृष्ठ 314
7. Delegated Legislation-PRS. www.prsindia.org/.../1370586704-Parliamentary%20Security%20of%20
8. Noor Mohammed Bilal. 'Dynamism of Judicial Control and Administrative Adjudication', p.24
9. डी.डी. बसु. भारत का संविधान एक परिचय पृष्ठ 312
10. Kuldeep Mathur, James Warner Bjorkman. 'Policy Making in India: Who Speaks? Who Listens?' p.76
11. Kuldeep Mathur. 'From Government to Governance', p.47
12. Jagdish N. Bhagwati. 'Getting Corruption Right'. www.project-syndicate.org/commentary/getting-corruption-right.
13. Kuldeep Mathur. 'From Government to Governance', p.47
14. Kiran Karnik. 'Corruption: Try technology as it can be transformational'. The Economic Times (6 November 2012)
15. N. Changkakoti. 'Corruption and its eradication in India'. The Clarion: Multidisciplinary International Journal, Volume-1, Number-1, February (2012), pp.183-85
16. सच्चिदानंद सिंहा. लोकतंत्र की चुनौतियां पृष्ठ 113-123
17. 45th Transfer? IAS officer Ashok Khemka, who took on Robert Vadra, asked to shift again. www.ndtv.com/.../45th-transfer-ias-officer-ashok-khemka-who-took-on-
18. सुरेन्द्र मोहन. लोक संस्थाओं का क्षय (भारत का राजनीतिक संकट, संपादक राजकिशोर) पृष्ठ 70
19. 'India's Citizen's Charter: A Decade of Experience'. Public Affairs Centre, Bangalore
20. 'Key issues and constraints in implementing the RTI Act'. rti.gov.in/rticorner/studybypwc/key-issues.pdf.
21. for detailed analysis see- RTI activist: sitting ducks of India. Published by: Asian Centre for Human Rights (2011)
22. Priti Patnaik. 'Social audits in India'. the guardian (13 january 2012)
23. nrega.nic.in/circular/Social-Audit.htm.
24. Beina Xu. 'Governance in India: Corruption'. www.cfr.org/corruption-and-.../governance-india-corruption/p31823
25. Kiran Karnik. 'Corruption: Try technology as it can be transformational'. The Economic Times (6 November 2012)
26. सच्चिदानंद सिंहा. लोकतंत्र की चुनौतियां पृष्ठ 113-123
27. N. Changkakoti. 'Corruption and its eradication in India'. The Clarion: Multidisciplinary International Journal, Volume-1, Number-1, February (2012), pp.183-85

माता-पिता के शैक्षणिक स्तर का बाल विकास पर प्रभाव

उपेन्द्र कुमार

बाल विकास का जीवन में बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। प्राचीन काल से लेकर वर्तमान तक यह महत्व का विषय रहा है। प्राचीन काल में सर्वांगिक विकास हेतु गुरु आश्रम का सहारा लिया जाता था। लेकिन इस अत्याधुनिक युग में प्रत्येक माता-पिता अपने बच्चों के विकास के लिए सतत प्रयत्नशील रहते हैं। बच्चों में जन्म के साथ ही विकास की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है जो सभी रूपों में स्पष्ट रूप से दिखलाई देने लगता है। इन विकासों पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में माता-पिता की मनोवृत्ति एवं जीवन-शैली का निश्चित रूप से प्रभाव पड़ता है।

विकास उन प्रगतिशील परिवर्तनों को कहते हैं जो नियमित एवं क्रमिक होता है। बाल्यावस्था जीवन की सबसे महत्वपूर्ण अवस्था होती है। प्रारंभिक जीवन काल में बच्चों को किसी भी बात की जानकारी स्पष्ट रूप में नहीं होती है। वे माता-पिता पर अपनी हर आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु निर्भर करते हैं। परिवार एक सार्वभौमिक संस्था है जिसमें माता-पिता अपनी सभी सेवाओं के द्वारा स्नेह के साथ बच्चों का विकास कराने का प्रयास करते हैं। वे निःस्वार्थ भाव से बच्चों के हर समस्याओं के समाधान की दिशा में सोचते हैं। माता-पिता का प्रेम और वात्सल्य का विकास पर निश्चित रूप से प्रभाव पड़ता है। माता-पिता एक सृष्टि वृक्ष के समान और बच्चे उसमें फूल-फल मानते जाते हैं। मेकाइवर और पेज ने लिखा है - 'परिवार एक समूह है जो लिंग सम्बन्धी आधार पर परिभाषित किया जाता है और काफी छोड़ व स्थायी है कि बच्चों की उत्पत्ति और परिचन-पोषण की व्यवस्था करने योग्य है।'

परील 1919 ने कहा था कि बच्चा जब जन्म लेता है तो वह अपने माथे पर लिखकर नहीं आता कि वह बेईमान है या ईमानदार धर्मात्मा है या पापी। वह सब कुछ इस दुनिया में कदम रखने के बाद अपने परिवार से, अपने पड़ोस से, अपने आस-पास के पूरे माहौल से क्रमशः सीखता है और विकास करता है। बाल मन मस्तिष्क गीली मिट्टी की तरह होती है, उसे चाहे जैसा आकार दो वह वही आकार धारण कर लेगा। हम उसे अच्छा आदर्श नागरिक भी बना सकते हैं और बुरा से बुरा कर्म करने वाला अपराधी। वायसन के इस चिंतन के बाद से मनोवैज्ञानिकों, समाजशास्त्रियों एवं जिज्ञासु माता-पिता का ध्यान बाल पोषण-प्रणाली की ओर अधिक आकर्षित हुआ और अधिक से अधिक नियंत्रित और वैज्ञानिक बनाने की दिशा में प्रयास शुरू हो गया। अब सभी मानने लगे कि एक युवा अपनी शैशव स्मृतियों को कभी भूलता नहीं है और ये स्मृतियां ही उसके भावी जीवन का पथ प्रदर्शक की भूमिका निभाती है।

विलियम जेम्स, मैकमूलर, ड्रेयर, बर्ट आदि मनोवैज्ञानिकों ने वंश परम्परा के क्रम में उसमें पाये जाने वाले व्यवहार को व्याख्या किया है। जी स्टेनले हॉल बाल विकास आंदोलन का प्रारंभ अमेरिका में किया। जिस आधार पर आज इस आंदोलन के पिता जनक के रूप में जाने जाते हैं। इस संबंध में विभिन्न मनोवैज्ञानिकों द्वारा किया गया अध्ययन महत्वपूर्ण है। पिया गैट वर्ट 1918, हेगलीट, 1930, मैकार्थी हॉल ने बच्चों के विकास पर पड़ने वाले विभिन्न कारकों के प्रभावों का स्पष्ट रूप में उल्लेख किया है।

प्रस्तुत अध्ययन के अन्तर्गत माता-पिता की शिक्षा का बच्चों के विकास पर प्रभाव पड़ता है या नहीं, इसे देखने के लिए अध्ययन किया गया। इस अध्ययन के आधार पर बच्चों के सर्वांगिक विकास पर किस रूप में प्रभाव पड़ता है, देखने का प्रयास किया गया। उपर्युक्त अध्ययनों से इस बात की पुष्टि होती है कि विकास पर माता-पिता के मनोवृत्ति का प्रभाव पड़ता है।

माता-पिता के शैक्षणिक स्तर के प्रभाव को बाल विकास के निर्धारक तत्व के रूप में समाहित करने के पीछे सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि यह रही है कि शिक्षित तथा प्रबुद्ध माता-पिता अपने बच्चों को भी अद्यतन शैक्षणिक उपलब्धियों से पूर्ण करना चाहते हैं। इस उद्देश्य से अपने बच्चों के विकास पर पूरा ध्यान देते हैं। वस्तुतः यह प्रक्रिया प्रारंभिक बाल्यावस्था से ही प्रारंभ हो जाता है। लेकिन वर्तमान सामाजिक परिवेश में कभी-कभी इसका परिणाम आश्चर्यजनक आता है। माता-पिता के शैक्षणिक स्तर के आधार पर उनसे प्राप्त सूचना के संदर्भ में यह प्राक्कल्पना की जाती है कि उच्च शैक्षणिक स्तर के माता-पिता के बच्चों का विकास निम्न शैक्षणिक स्तर के माता-पिता के बच्चों की अपेक्षा अधिक अनुकूल पाया जायेगा।

क्षेत्र

मुजफ्फरपुर जिला अन्तर्गत कटरा प्रखंड के समीप के गांवों से तीन सौ माता-पिता को सम्मिलित किया गया।

मापनी

मापनी के अन्तर्गत व्यक्तिगत सूचना के आधार पर उनके शैक्षणिक स्तर को आधार बनाया गया जिसमें उसे तीन वर्गों में विभक्त कर देखा गया-

- (क) मैट्रिक
- (ख) इन्टरमिडियट
- (ग) स्नातक एवं उससे ऊपर।

प्रतिदर्श

तीन सौ माता-पिता को सम्मिलित किया गया। जो कटरा प्रखंड के अगल-बगल के गांव से आते हैं। इसमें सभी वर्गों के माता-पिता को सम्मिलित किया गया।

परिणाम

माता-पिता का शैक्षणिक स्तर एवं बाल विकास को निर्धारित करने के लिए प्रतिदर्श से प्राप्त सूचना के आधार पर उनके शैक्षणिक स्तर के संबंध में प्रश्न पूछा गया। प्राप्त प्रतिक्रिया के आधार पर माता-पिता के शैक्षणिक स्तर को आधार मानकर प्रयोग्यों की तीन श्रेणियां निर्धारित की गई। उच्च शिक्षा, मध्यम शिक्षा एवं निम्न शिक्षा। स्नातक एवं ऊपर की शिक्षा प्राप्त उच्च श्रेणी, इन्टर की शिक्षा प्राप्त मध्यम श्रेणी एवं मैट्रिक की शिक्षा प्राप्त निम्न श्रेणी में रखा गया।

माता-पिता के शैक्षणिक स्तर पर आधारित इन तीनों ही समूहों में प्रति समूह प्रतिदर्श की संख्या एक सौ निर्धारित की गयी। इन तीनों ही समूहों में माता-पिता की भूमिका का बाल विकास के सम्बन्ध में ऊपर वर्णित प्राक्कल्पना में उच्च शिक्षित माता-पिता के बच्चों में निम्न शिक्षित माता-पिता के बच्चों की अपेक्षा अधिक अनुकूल विकास पाया जायेगा। उच्च, मध्यम एवं निम्न इन

तीनों ही समूहों के पृथक्-पृथक् प्राप्तांकों पर आधारित सांख्यिकीय विश्लेषणों की प्रामाणिकता तथा उनके बीच अन्तर्क्रिया को देखने के लिए टी० अनुपात तथा प्रसरण विश्लेषण विधि का प्रयोग किया गया। जो सारिणी संख्या एक एवं दो में क्रमशः उल्लिखित किया गया है।

सारिणी संख्या-1

तीनों ही समूहों के मध्यमानों के अन्तरों की सार्थकता माता-पिता एवं बाल-विकास प्राप्तांक

समूह	संख्या	मध्यमान	प्रामाणिक वियन	टी० अनुपात	क-ख	सार्थकता स्तर
उच्च शैक्षणिक समूह	100	34.75	8.55	4.10		.01
मध्यम शैक्षणिक समूह	100	30.70	7.77	1.01	ख-ग	असार्थक
निम्न शैक्षणिक समूह	100	31.97	6.80	क-ग 3.70		.01

ऊपर वर्णित तीनों ही समूहों की सांख्यिकीय परिणामों के तुलनात्मक विवेचन से यह स्पष्ट हो रहा है कि उच्च समूह के बाल विकास प्राप्तांकों का मध्यमान 34.75, मध्यम समूह के 30.75 तथा निम्न समूह का मध्यमान 31.97 पाया गया है। उक्त समूहों की पृथक्-पृथक् तुलना करने से यह स्पष्ट होता है कि उच्च एवं मध्यम समूहों के मध्यमानों का अन्तर मात्र 4.05 पाया गया है और इसका अन्तर विश्वसनीयता के .01 स्तर पर सार्थक प्रमाणित होता है। टी० अनुपात 4.10 पाया गया है। इस परिणाम से यह स्पष्ट होता है कि उच्च शिक्षित माता-पिता के बच्चों का मध्यम शिक्षित माता-पिता के बच्चों की अपेक्षा अधिक अनुकूल विकास पाया गया है।

उच्च समूह तथा निम्न समूह का विकास प्राप्तांक मध्यमान क्रमशः 34.75 तथा निम्न समूह का मध्यमान 31.97 पाया गया है। इन दोनों ही मध्यमानों का अन्तर 2.78 पाया गया है। दोनों ही समूहों के बीच प्राप्त टी० अनुपात 3.70 पाया गया है जो विश्वसनीयता के .01 स्तर पर प्रमाणित हो रहा है। अतः इन दोनों ही समूहों के विषय में यह निष्कर्ष प्राप्त करना समीचीन है कि उच्च शिक्षित माता-पिता एवं निम्न शिक्षित माता-पिता भी अपने बच्चों के विकास के लिए सतत् प्रयत्नशील रहते हैं। प्राप्त परिणाम यह दर्शाता है।

मध्यम एवं निम्न श्रेणियों के बीच प्राप्त प्राप्तांकों के आधार पर मध्यम 30.70 एवं 31.97 पाया गया है। इन दोनों ही समूहों के बीच अन्तर नगण्य प्राप्त हुआ है जो इस प्रकार है (1.27)। इन दोनों ही मध्यमानों के अन्तर की सार्थकता विश्वसनीयता के किसी भी सीमा पर सत्यापित नहीं हो रही है। परिणाम से यह स्पष्ट होता है कि इन दोनों ही श्रेणियों के माता-पिता बच्चों के विकास पर एक समान रूप से ध्यान केन्द्रित करते हैं।

सारिणी संख्या-2

तीनों ही समूहों के माता-पिता एवं विकास प्राप्तांकों का प्रसरण विश्लेषण

प्रसरण के श्रोता	डी०एफ०	वर्गों का योग	प्रसरण	एफ० अनुपात	सार्थकता स्तर
लघु समूह प्रसरण	2	303804.10	191902.05		
बृहत् समूह प्रसरण	297	1706119.70	5744.51		

प्रसरण विश्लेषण के परिणाम से यह सत्यापित होता है कि तीनों ही समूहों के प्रदत्तों पर आधारित सांख्यिकीय विश्लेषण का अन्तर सार्थक है अर्थात् उच्च शिक्षित एवं निम्न शिक्षित माता-पिता का बच्चों के विकास पर प्रभाव पड़ता है। एफ० अनुपात 33.40 विश्वसनीयता के .01 स्तर पर सार्थक प्रमाणित होता है। अतः यह परिणाम परिकल्पना को सत्यापित करता है।

परिकल्पना से तुलनात्मक निष्कर्ष निम्नलिखित हैं-

1. उच्च शैक्षणिक समूह में मध्य शैक्षणिक समूह की अपेक्षा बाल विकास अनुकूल प्रमाणित होता है।
2. उच्च शैक्षणिक समूह एवं निम्न शैक्षणिक समूह के बीच बाल-विकास के संदर्भ में प्राप्त परिणाम में कोई खास अन्तर नहीं पाया गया है जो दोनों ही समूह के माता-पिता में विकास को लेकर अधिक जागरुकता को प्रदर्शित करता है।
3. मध्यम शैक्षणिक समूह एवं निम्न शैक्षणिक समूह के बीच अन्तरों की सार्थकता इतनी कम पायी गयी है कि यह किसी भी स्तर पर अन्तर को सत्यापित नहीं कर पा रहा है।

Reference

1. Waston J.B., 1999 - Psychology from the stand point of a Behaviourist Philadelphia - Lippincott Co., 1919 (Third Ed. 1929)
2. Copper J.B. (1966) two scale for parent evaluation Journal of Jenetic psychology, 108, 49-53.
3. Gerettee H.E. (1955), satisfaction in psychology and education (Fourth Education) Longman, Green & Co., New York.
4. Goode. S. & Hatt P.K. (1952) methods in social research, New York, Mc. Grow Hill.
5. Guilford J.P. (1956) Fundamental statistics in Psychology and education third edition Mc Grow Hill Book Company Inc New York.

कन्या भ्रूण हत्या का मनोवैज्ञानिक प्रभाव

डॉ० रश्मि सिंह

राजेन्द्र कॉलेज, छपरा

रजनीश कुमार सिंह

शोध छात्र, जे.पी.यू., छपरा

भूमिका

कन्या भ्रूण-हत्या एक समस्या है। आज सम्पूर्ण विश्व के सभी हिस्सों में इसका प्रभाव देखा जा सकता है। भरतवर्ष के भी सभी प्रान्तों में इसका प्रभाव देखा जा सकता है। यह समस्या सामाजिक आर्थिक और मानसिक इन तीनों ही स्तरों पर जारी है। परिणामस्वरूप कन्या भ्रूणहत्या जारी है। भ्रूण हत्या को रोकने में नारियों को अहम भूमिका निभानी पड़ेगी। यह भी सत्य है कि विश्व की जनसंख्या का आधा भाग नारियों की जनसंख्या है। नारी-पुरुष के सम-विभाजन के बावजूद भी समाज, राष्ट्र और विश्व की समस्याओं के समाधान का सारा दायित्व पुरुषों के कंधों पर ही रहता आया है। इससे समाज अपने आधे हिस्से से लाभान्वित नहीं होता आ रहा है। इस अभाव की पूर्ति किसी भी तरह से नहीं की जा सकती है। इस समस्या से सम्बन्धित इसका पहलू यह है कि पुरुषों के द्वारा नारियों पर किसी भी समस्या के उत्पन्न होने पर दबाव बनाने की प्रवृत्ति पायी जाती है। नारियों को प्राचीनकाल से लेकर बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक पढ़ने-लिखने के अधिकार में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई है। लेकिन यह सभी वर्ग के नारियों में नहीं देखा जा सकता है। आज भी हमारे समाज में कुछ वर्ग ऐसे हैं जहाँ साक्षरता दर नगण्य है। वैसी स्थिति में भ्रूण-हत्या पर इसका सीधा प्रभाव देखा जा सकता है। कन्या भ्रूण हत्या में परिवार के पुरुष सदस्यों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है जिसे महिलाओं के द्वारा न चाहकर भी स्वीकार करना पड़ता है।

भारतवर्ष के इतिहास को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि नारियों में जागरूकता आयी है, उन्हें पुरुषों के समकक्ष होने का गौरव भी प्राप्त हुआ है। महात्मा गाँधी, नेहरू, सरदार बल्लभभाई पटेल जैसे राष्ट्र निर्माताओं ने नारियों को राष्ट्रीय स्तर के कार्यक्रमों में हिस्सा निभाने को प्रोत्साहित किया जिसके परिणामस्वरूप नारियों के सम्बन्ध में पुरुषों का भी दृष्टिकोण बदलता गया और माता-पिता के सोच में परिवर्तन आया। पुत्रियों के समुचित शिक्षा-दीक्षा के प्रति उन्मुख हुए।

नारी शिक्षा का परिणाम यह हुआ कि वे सभी प्रकार की सरकारी, गैर-सरकारी संस्थाओं में कार्य करने लगे। अपनी आजीविका के लिए उनमें स्वयं नौकरी करके वेतन प्राप्त करने की जिज्ञासा बढ़ी। स्वयं उपार्जन के कारण उनमें आत्मविश्वास बढ़ा। पुरुषों पर निर्भरता की भावना क्रमशः समाप्त होती गई। आज हर शिक्षित महिलाओं में, जो किसी भी संस्थान में काम करके वेतन प्राप्त करती हैं, पुरुषों जैसी भूमिका अदा करते आये हैं। नारियों की इस प्रगतिशीलता के दो स्पष्ट परिणाम हुए। एक ओर जहाँ उनमें बहुआयामी जागृति आयी, वहीं दूसरी ओर उनमें अधिक से अधिक अधिकार प्राप्त करने की भावना भी विकसित हुई। युग-युग से पुरुषों के द्वारा किये जाने वाले शोषण से उत्पन्न मानसिक गुलामी से मुक्ति पाने की फरफराहट उनमें बढ़ने वाली यही बेचैनी किसी समस्या के प्रति अभिव्यक्त होती है। कन्या भ्रूण-हत्या भी एक सामाजिक समस्या है। कन्या भ्रूण की जब हत्या ही कर दी जायेगी तो वह नारी रूप में कैसे देखने को मिलेगी। महिलाओं को अन्य समस्याओं की तरह इस समस्या

को भी गंभीरता के साथ लेना होगा। लड़का-लड़की के बीच उत्पन्न मतभेद को समाप्त करना होगा। ऐसा नहीं होने पर सामाजिक संतुलन बिगने की संभावना बढ़ती जा रही है।

उपर्युक्त व्याख्या का यह अर्थ नहीं है कि सभी स्त्रियाँ इस कन्या भ्रूण-हत्या से समान रूप से सहमत या असहमत हैं। एक ओर जहाँ नारियाँ इस दृष्टिकोण का समर्थन करती हैं, वहीं इसकी ओर एक तहुत बड़ी संख्या इसके विपक्ष में भी अपनी दृष्टिकोण रखती हैं। दृष्टिकोणों का यह अन्तर अनेकानेक कारणों से निर्धारित होता है जिसमें सामाजिक, आर्थिक एवं व्यक्तित्व तत्व का प्रभाव पड़ता है। आधुनिक समाजशास्त्रियों एवं मनोवैज्ञानिकों के बीच एक नई विचारधारा विकसित हो रही है जिसके आधार पर जीवन के सभी व्यवहारों एवं दृष्टिकोणों पर व्यक्ति के निजी व्यक्तित्व अपना प्रभाव डालता है। नारियों में कन्या भ्रूण-हत्या की प्रवृत्ति अगर पायी जाती है तो यह अकारण नहीं पायी जाती है बल्कि अनेकानेक तत्व इस पर अपना प्रभाव डालता है जिसके कारण कन्या भ्रूण-हत्या पायी जाती है। इस पृष्ठभूमि में यह प्राक्कल्पना स्थापित किया जाता है कि अन्तर्मुखी महिलाओं में बहिर्मुखी महिलाओं की अपेक्षा कन्या भ्रूण-हत्या के प्रति अधिक अनुकूल मनोवृत्ति पायी जायेगी।

क्षेत्र - मुजफ्फरपुर एवं अगल-बगल के गाँवों से तीन सौ (300) महिलाओं का चयन किया गया।

प्रतिदर्श - सभी वर्गों से तीन सौ महिलाओं का चयन प्रतिदर्श के रूप में किया गया है।

समर्ग एवं मापनी - व्यक्तित्व के बहिर्मुखता-अन्तर्मुखता चर को मापने के लिए आइजेंक 1959 के द्वारा निर्मित ई०पी०आई० (आइजेंक व्यक्तित्व मापनी) के हिन्दी रूपान्तर मनोवैज्ञानिक शोध एवं सेवा संस्थान पटना विश्वविद्यालय आइजेंक व्यक्तित्व अन्वेषिका का चालन किया गया। यह अन्वेषिका अन्तर्मुखता-बहिर्मुखता के अतिरिक्त व्यक्तित्व के अन्य आयामों की भी जाँच करता है। इस प्रश्नावली के चौबीस प्रश्नों के आधार पर अन्तर्मुखता-बहिर्मुखता का मापन किया जा सकता है। यह प्रश्नावली एक (हाँ, नहीं) प्रकार की दो बिन्दु प्रश्नावली है जिसमें कुछ प्रश्न सकारात्मक एवं कुछ प्रश्न नकारात्मक हैं। इस प्रश्नावली के आधार पर अधिकतम प्राप्तांक चौबीस तथा निम्नतम प्राप्तांक शून्य की संभावना है। इस मापनी के प्रति उच्च अंक प्राप्त करने वालों को बहिर्मुखी तथा निम्न अंक प्राप्त करने वालों को अन्तर्मुखी माना जाता है। पचीस प्रतिशत उच्चतम अंक प्राप्त करने वाले पूर्ण बहिर्मुखी तथा पचीस प्रतिशत निम्नतम अंक प्राप्त करने वाले को पूर्ण अन्तर्मुखी माना जाता है तथा मध्य में रहने वाले को तदनुकूल कहा जाता है।

आइजेंक 1959 के द्वारा निर्मित ई०पी०आई० के इस हिन्दी अनुवाद के प्रयोग को इसलिए उचित माना गया है कि मूल भ्रूण-हत्या मनोवृत्ति मापनी का निर्माण भी हिन्दी में किया गया है। अतः समानता के दृष्टिकोण से श्रेयस्कर माना गया।

परिणाम - अन्तर्मुखता-बहिर्मुखता तथा भ्रूण-हत्या मानेवृत्ति मापनी के सम्बन्ध में यह प्राक्कल्पना किया गया था कि अन्तर्मुखी महिलाओं में कन्या भ्रूण-हत्या के प्रति बहिर्मुखी महिलाओं की अपेक्षा अधिक अनुकूल मनोवृत्ति पायी जायेगी। तीन सौ महिलाओं के प्रतिदर्श पर अन्तर्मुखता-बहिर्मुखता प्रश्नावली का प्रयोग किया गया है। प्रतिदर्श के आधार पर प्रथम चतुर्थांश से ऊपर बहिर्मुखी तथा तृतीय चतुर्थांश से नीचे अन्तर्मुखी समूह बनाया गया। इन दोनों ही समूहों में सांख्यिकीय गणना के आधार पर प्रयोजनों की संख्या क्रमशः अन्तर्मुखी 72 तथा बहिर्मुखी 68 निर्धारित हुई। इस मापनी के आधार पर निम्नतम प्राप्तांक शून्य तथा अधिकतम प्राप्तांक चौबीस की संभावना है जिसमें वर्तमान प्रदर्शिका निम्नतम प्राप्तांक तीन तथा उच्चतम प्राप्तांक बीस प्राप्त हुआ है। इस प्रतिदर्श की प्रथम चतुर्थांश 7.74 तथा तृतीय चतुर्थांश 11.85 पाया गया है। इन दोनों ही समूहों बहिर्मुखी अन्तर्मुखी के कन्या भ्रूण-हत्या मनोवृत्ति प्राप्तांकों के वितरण के मध्यमान, प्रामाणिक विचलन एवं टी० अनुपात की तुलनात्मक व्याख्या सारिणी संख्या एक में वर्णित है।

अन्तर्मुखता-बहिर्मुखता समूहों के भ्रूण-हत्या मनोवृत्ति प्राप्तांकों का तुलनात्मक अध्ययन -

सारिणी संख्या- 01

Lk _{eg}	Lk _{[;k}	e/;eku	lk _{fo0}	Ek/;eku dh =fv	e/;ekuk dk vurj	e/;ekuk d vurj dh i0 =fv	Vh0 vuikr	lkFkd rk Lrj
vUre _{[kh}	68	196-96	22-20	2-20				
ofge _{[kh}	72	185-67	18-67	2-09	11-92	3-34	3-58	01

उपर्युक्त सारिणी में दोनों ही समूहों के भ्रूण-हत्या मनोवृत्ति के सांख्यिकीय प्राप्तांकों के तुलनात्मक व्याख्या से स्पष्ट होता है कि अन्तर्मुखी समूह का कन्या भ्रूण-हत्या मनोवृत्ति प्राप्तांकों का मध्यमान 196.96 तथा बहिर्मुखी समूह के कन्या भ्रूण-हत्या मनोवृत्ति प्राप्तांकों का मध्यमान 185.15 प्राप्त हुआ है। दोनों ही समूहों का टी० अनुपात .58 जो 138 डी० एफ० के लिए 01 स्तर पर सत्यापित हो रहा है। अतः यह निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि ऊपर वर्णित प्राक् कल्पना सत्यापित हो रहा है। प्रतिदर्श के अन्तर्मुखी-बहिर्मुखी प्राप्तांक तीन सौ तथा भ्रूण-हत्या मनोवृत्ति प्राप्तांकों के बीच प्रोडक्ट मोमेन्ट सह सम्बन्ध विधि के द्वारा देखा गया। इस जाँच के आधार पर दानों ही चरों के बीच 46 सह सम्बन्ध गुणांक पाया गया है जो 298 डी० एफ० के लिए 01 स्तर पर सार्थक प्रमाणित होता है। यह सह-सम्बन्ध गुणांक दोनों ही चरों के बीच धनात्मक घनिष्ठ सम्बन्ध को दर्शाता है।

निष्कर्ष - व्यक्तित्व के अन्तर्मुखता-बहिर्मुखता चर के सम्बन्ध में प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर प्राक्कल्पना से सम्बन्धित निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त हुआ है।

- अन्तर्मुखी महिलाओं में बहिर्मुखी महिलाओं की अपेक्षा कन्या भ्रूण-हत्या मनोवृत्ति के प्रति अधिक अनुकूलता पायी जाती है।
- अन्तर्मुखता-बहिर्मुखता तथा भ्रूण-हत्या मनोवृत्ति के बीच अत्यन्त एवं सार्थक सह-सम्बन्ध पाया गया है।
- व्यक्तित्व के अन्तर्मुखता-बहिर्मुखता चर का जनसंख्या में सामान्य वितरण प्रमाणित होता है।
- अन्तर्मुखता-बहिर्मुखता चर एवं भ्रूण-हत्या से सम्बन्धित प्राक्कल्पना सत-प्रतिशत अनुकूल दिशा में प्रमाणित हो रही है।

Reference

- (1) Eysenck H (1959): The Manual of the maudsley personality inventory london, university of London Press.
- (2) Garrette H.E. (1955): Satisfaction in Psychology and Education (FaurtherEdition) long man, green and co. New York.
- (3) Thakur L.& Sinha
Abla Rani (2007): Attitude towards Foeticide scale, J.B.S.D. college Bakuchi & Vaishali Mahila college Hajipur, B.R.A.B.U. Muzaffarpur, 2007.
- (4) Giniraj R (2004): Changing attitude to Female infanticide in salem, Journal social welfare, vol. 50, No. 11
- (5) Desai.N.(1988): Born to die, The Indian Post 7th October 1988 Bombay.
- (6) Karbe Dr. D.D.(1963): The Universities and public in india Minerva vol. No. 3.
- (7) Majumdar and Madan(1962): An introduction to social anthropology P. 76.
- (8) Pakrasi K.B (1970): Female infanticide in india, editions Indian Calcutta.
- (9) Rai U. (1992): Female infanticide rampant in salem india express July 1992.

भारतीय समाज और महिला उत्पीड़न, शोषण एवं अधिकार (एक मनोवैज्ञानिक अध्ययन)

डॉ० घनश्याम पति त्रिपाठी

मनोविज्ञान विभाग,
रामलखन सिंह यादव कॉलेज, बेतिया, प० चम्पारण

भारतीय समाज में महिलाओं की विभिन्न समस्याओं में सबसे ज्वलन्त समस्या उनके विरुद्ध की जाने वाली हिंसा एवं उत्पीड़न है। यह एक ऐसी स्थिति है जो न केवल अनैतिक बल्कि प्रत्येक सभ्य समाज के लिए चिंता और शर्म का विषय है। सबसे आश्चर्य की बात यह है कि तथाकथित सभ्यता के विकास के साथ-साथ यह समस्या तीव्रतर और वीभत्स होती जा रही है, जबकि धर्म और संस्कृति से ग्रामीण महिलाओं का गहरा जुड़ाव रहा है। धर्म की जड़ें हर नारी के हृदय में जमी हुई हैं। उनका खान-पान, पहनावा, रहन-सहन आदि सभी कार्य धर्म के अनुसार होती हैं। वे जन्म से मरण तक की यात्रा धर्म के अनुसार ही करती हैं। हर उत्सव-त्योहार से धर्म की मान्यताएँ जुड़ी हैं। धर्म के नाम पर वे कड़ी मेहनत कर सकती हैं, कष्ट सह सकती हैं, खूब खर्च कर सकती हैं, ठगी भी जाती हैं लेकिन फिर भी धर्म से उनका चोली-दामन का संबंध होता है। उनकी मान्यताओं को बदलना बड़ी टेढ़ी खीर है। पुरुषों की अपेक्षा महिलायें अधिक धार्मिक हैं।

पुत्र के लिए हर महिला की मान्यता है कि बिना बेटे के कल्याण नहीं होता है। उसे मोक्ष नहीं मिलता, वंश नहीं चल सकता। उनकी मान्यता है कि बेटे से ही वंश चलता है। बेटा ही घर का नाम चलाता है और घर का नाम रोशन करता है। बेटी को तो पराया धन मानती है। बेटे की आशा में कई बेटियाँ हो जाती हैं। इससे घर का ढाँचा बिगड़ जाता है। पूरा घर दीन हो जाता है और राम पर ही भरोसा होता है।

धर्म के आगे महिलाओं के सामने कोई तर्क नहीं चलता है। आजकल के पुत्र कैसे निहाल करते हैं, फिर भी बेटे के लिए मर-मिटती हैं। मरने पर दाह-संस्कार बेटा ही करेगा, पानी बेटा ही देगा, लेकिन होता क्या है? “जीते जी पर दंगम दंगा, मरे बाद पहुँचाए गंगा”। समय के बदलाव के साथ इस धार्मिक मान्यता में भी बदलाव आया है। अब महिलाएँ बालक और बालिका में अन्तर पहले की तरह नहीं समझ रही हैं। जनसंख्या वृद्धि में रोकथाम हेतु दो-तीन बच्चों के बाद ही ऑपरेशन में विश्वास करने लगी हैं और उस दिशा में सफलता भी प्राप्त हुई है। जनसंख्या वृद्धि में रोकथाम हुई है। समाज की यह धारणा, कि लड़का ही दाह-संस्कार करेगा, तभी मोक्ष की प्राप्ति होगी, यह धारणा भी आज बदलने लगी है। लड़कियाँ भी अपने माँ-बाप की दाह-संस्कार करने लगी हैं। जैसे अहमदाबाद में सुनीता मेहता एवं ज्योति गुणे, लड़की होते हुए भी अपने-अपने पिता का दाह-संस्कार किया एवं सभी संस्कार जैसे मुण्डन आदि भी करवाये। इन दोनों के भाई होते हुए भी समाज की इस धारणा को बदलने के लिए ऐसा प्रयास किया। इन्हें समाज से विरोध भी लेना पड़ा। यह सर्वविदित है कि बिहार के मुजफ्फरपुर में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की पुत्री ने भी अपने पिता को मुखाग्नि दी।

समाज के सभी क्रियाकलाप चाहे वे सामाजिक हों या सांस्कृतिक, कोई उत्सव या त्योहार, बिना स्त्री की उपस्थिति के पूर्ण नहीं हो सकता है। हिन्दू समाज में स्त्री को पुरुष की अर्धांगिनी कहा गया है। कोई भी पुरुष बिना स्त्री के यज्ञ-हवन आदि में हिस्सा नहीं ले सकता है। किसी भी धार्मिक अनुष्ठानमें पुरुष स्त्री के बिना अपूर्ण माना जाता है। होली-दीवाली आदि के बाद आने वाले भईया दूज का समाज में महत्वपूर्ण स्थान है। इसी तरह रक्षाबन्धन भी भाई-बहन का त्योहार है, जिसमें बहन अपने भाई के कल्याण के लिए कामना करती है एवं भाई अपनी बहन की रक्षा का दायित्व अपने ऊपर लेता है। आषाढ़ के महीने में एकादशी को देवताओं को सुलाने की प्रथा प्रचलित है एवं दीवाली के बाद आने वाली एकादशी को गन्ने तथा सिंघाड़ों द्वारा पूजा करते हुए देवताओं को जगाया जाता है। इन चार महीनों में देवता सोए हुए होते हैं, इन महीनों में शादी-विवाह नहीं होते हैं। चैत्र मास में भी विभिन्न प्रकार के पकवानों के द्वारा देवताओं की पूजा की जाती है, नृत्य का भी आयोजन किया जाता है।

उपर्युक्त वर्णित तथ्यों से स्पष्ट है कि भारतीय समाज में धर्म का विशेष महत्व है। एक भारतीय नारी प्रातःकाल उठने से रात्रि सोने तक तथा जन्म से मृत्यु तक अनेक धार्मिक क्रियाएँ सम्पन्न करती हैं। उनके वैयक्तिक, सामाजिक, पारिवारिक, आर्थिक आदि सभी कार्यों में धर्म का पुट पाया जाता है। एक हिन्दू स्त्री पति को परमेश्वर स्वीकार करते हुए उसके अत्याचारों को भी सहन करती है, क्योंकि पति को खुश रखना, उसकी सेवा करना, इच्छाओं की पूर्ति करना आदि को वह अपना धर्म मानती है। वह विधवा भी हो जाने पर या उसके बाद विधवा व्रत का पूर्ण मनोयोग से पालन करती है एवं वह ऐसा मानती है कि पति के साथ ही सती हो जाना उसका धर्म है। अतः पति की मृत्यु होने पर वह सहर्ष जीवित जलने की पीड़ा को भी सहन करती है। स्त्री परिवार की सुख समृद्धि के लिए, व्रत-पूजा-पाठ, मूर्ति-पूजा, दान आदि अनेक प्रकार के धर्म करती है। पति की प्रगति और उसके उत्थान के लिए वह हर संभव प्रयास करती है और उसे अपना धर्म समझती है। तुलसीदास एवं कालिदास जैसे श्रेष्ठ कवि अपनी पत्नियों की प्रेरणा से ही इतनी ख्याति को प्राप्त कर पाये। कोई भी धार्मिक अनुष्ठान जैसे यज्ञ-हवन आदि पत्नी की अनुपस्थिति में सम्पन्न नहीं हो सकता। एक बार गौतम बुद्ध अरुबेला गये और वे तपस्या में लीन हो गये। वहाँ उन्हें पांच ब्राह्मण सन्यासियों का साथ मिला। तपस्या करते हुए उन्हें 6 वर्ष हो गये और उन्हें कोई सफलता नहीं मिली। ऐसी कहावत है कि नगर की कुछ स्त्रियाँ गीत गाते हुए उस जगह से गुजरें जहाँ गौतम बुद्ध तपस्या में लीन थे। स्त्रियों के द्वारा जो गीत गाया जा रहा था, उसका सारांश निम्न था-

“वीणा के तारों को ढीला मत छोड़ो, छोड़ देने से उनमें सुरीला स्वर नहीं निकलेगा और इतना कसो भी मत कि तार टूट जाएँ।”

गौतम बुद्ध के हृदय को इस गीत के भावों ने प्रभावित किया और उन्होंने इस बात को समझा कि किसी भी बात में अति ठीक नहीं है और उन्होंने मध्यम मार्ग अपना लिया। धर्म, पुरुष और स्त्री के बिना नहीं हो सकता। दोनों एक ही चक्की के दो पाट हैं।

प्राचीन काल में अनेक सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक कारणों से स्त्रियों को शिक्षा देना अनिवार्य नहीं समझा जाता था। स्त्रियों से नौकरी नहीं करानी है। अतः उन्हें शिक्षा दिलाने की कोई आवश्यकता नहीं है। शिक्षा के अभाव में स्त्रियाँ अपने अधिकारों के प्रति जागरूक नहीं रह सकी और वे अन्ध-विश्वासों, कुसंस्कारों और रूढ़ियों में इस प्रकार जकड़ ली गई कि उनमें चेतना नाम की कोई वस्तु शेष नहीं रह गयी। आज जैसे-जैसे शिक्षा का स्तर बढ़ रहा है, महिलाओं में जागृति पैदा हुई है। उनका कहना है हम कोई बाजार में बिकने वाले खिलौने नहीं हैं, जिनको दान किया

जा सके या किसी दूसरे को हस्तान्तरित किया जा सके। मुझे भी अपना साथी स्वयं चुनने एवं इच्छानुसार जीवन व्यतीत करने का अधिकार है।

समय के बदलाव के साथ स्त्रियों की दशा सुधारने के लिए 'सती प्रथा निषेध अधिनियम' 1987 संसद द्वारा पारित किया गया, जिसके अनुसार सती होने का प्रयास करने पर वही सजा दी जायेगी जो आत्महत्या का प्रयास करने पर दी जाती है। सती होने के लिए प्रेरित करने वालों को आजीवन कारावास या फाँसी की सजा दी जायेगी। बाल विवाह को रोकने के लिए 'हिन्दू विवाह अधिनियम' 1976 बनाया गया है, जिसके अनुसार वर की आयु 21 वर्ष एवं वधू की आयु 18 वर्ष से कम न हो। विशेष परिस्थितियों में उन्हें न्यायिक पृथक्करण एवं विवाह विच्छेद की स्वीकृति प्रदान की जायेगी। स्त्रियों को आर्थिक रूप से निर्भर बनाने के लिए 'हिन्दू उत्तराधिकारी अधिनियम' 1956 पारित किया गया, जिसके अनुसार विधवा स्त्री को पति की सम्पत्ति में से पुत्र के बराबर का अधिकार होगा। स्त्री को संरक्षक का दर्जा दिलाने के लिए 'हिन्दू नाबालिक तथा संरक्षकता अधिनियम' 1956 पारित किया गया है। इसके अनुसार संरक्षकों में पहला स्थान पिता तथा दूसरा स्थान माँ का होगा। नाबालिग विवाहित लड़की का संरक्षक उसका पति होगा। वेश्यावृत्ति रोकने हेतु स्त्रियों व कन्याओं का अनैतिक व्यापार निरोधक अधिनियम 1956 पारित किया गया, जिसके अनुसार वेश्यावृत्ति करना व इसे पारित करना दण्डनीय अपराध है। दहेज प्रथा रोकने हेतु 'दहेज निरोध अधिनियम' 1961 बनाया गया है, जिसके अनुसार दहेज लेने एवं देने वाले तथा उस कार्य में मदद करने वाले व्यक्ति को 6 माह की कैद और 5 हजार रुपये जुर्माना तक का दण्ड दिया जा सकता है। विवाहोपरान्त दी जाने वाली भेंट या उपहार को दहेज नहीं माना गया है एवं उस पर कन्या का अधिकार होगा।

महिलाओं की सुरक्षा के लिए उपर्युक्त वर्णित अधिनियम के बावजूद भी समाज में अनेक प्रकार के हिंसात्मक कार्यवाहियाँ देखी जाती हैं। इनके मुख्य कारणों में उच्च दहेज प्रथा एवं अधिक दहेज की माँग हैं। इन्हें निम्न वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

1. पारिवारिक हिंसा : पत्नी को पीटना, विधवा-वृद्ध महिला अत्याचार आदि।
2. दहेज हत्याएँ : जैसे वधू-दहन (Dowry Vidence)
3. लैंगिक हिंसा : (Sexual Assault) जैसे वेश्यावृत्ति, लैंगिक अत्याचार, देह व्यापार।
4. हिंसात्मक अपराध : जैसे अपहरण, हत्या, लूट-पाट।
5. सामाजिक हिंसा : (Social Violence) जैसे- भ्रूण हत्या, महिला के साथ छेड़छाड़ आदि।

महिलाओं के विरुद्ध हिंसात्मक कार्यवाही के आँकड़े गृह मंत्रालय, पुलिस अन्वेषण ब्यूरो, सामाजिक प्रतिरक्षा का राष्ट्रीय संस्थान आदि के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि 2001 से 2013 की अवधि में इन अपराधों में 56 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। प्रत्येक 33 मिनट में एक प्रकरण महिला अत्याचार का आता था। महिला अपराध में 2/3 अपराध (62.6 प्रतिशत) पाँच राज्यों में क्रमशः मध्य प्रदेश 17.6 प्रतिशत, उत्तर प्रदेश 20.7 प्रतिशत, महाराष्ट्र 18.7 प्रतिशत, आन्ध्र प्रदेश 16.9 प्रतिशत तथा राजस्थान 10.9 प्रतिशत है। शेष अन्य राज्यों एवं केन्द्रशासित प्रदेशों में अपराध का विवरण प्रस्तुत करता था। अब तो एक घोर विडम्बना है कि एक महिला की स्मिता मन्दिर में भी सुरक्षित नहीं है। आजकल समाचार पत्रों में करीब प्रतिदिन यह देखने को मिलता है कि पुजारी या धर्म-प्रचारकों (आसाराम बापू) के द्वारा महिलाओं की स्मिता लूटी जाती है।

हमारे 'भारत महान' में हर रोज 53 बलात्कार के मामले दर्ज होते हैं, 23 महिलाओं की दहेज से मृत्यु हो रही है, 51 का अपहरण होता है, 138 यौन उत्पीड़न की शिकार होती है, 98 की छेड़-छाड़ की जाती है। राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो की 2010 की सूचना के अनुसार महिलाओं के साथ होने वाले अपराधों की संख्या सालाना 2 लाख तक पहुँच गयी है।

भारतीय संविधान में महिलाओं को प्रमुख अधिकार प्राप्त है-

1. समानता का अधिकार, अर्थात् अवसरों की समानता, कानून के समक्ष समानता, कानून के सामने संरक्षण तथा नौकरियों आदि में लिंग के आधार पर भेदभाव न समझा जाय।
2. स्वतंत्रता का अधिकार, अर्थात् भाषण की स्वतंत्रता, निवास की स्वतंत्रता एवं व्यवसाय एवं गतिशीलता की स्वतंत्रता।
3. शोषण के विरुद्ध स्वतंत्रता अर्थात् बेगार के विरुद्ध स्वतंत्रता।
4. धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार, अर्थात् उपदेश तथा धर्म का स्वतंत्रता पूर्वक अनुपालन।
5. सम्पत्ति का अधिकार अर्थात् सम्पत्ति प्राप्त करने, रखने तथा बेचने का अधिकार।
6. सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक अधिकार, अर्थात् संस्कृति का संरक्षण तथा शैक्षणिक संस्थाओं में प्रवेश प्राप्त करने का अधिकार।
7. संवैधानिक उपचार का अधिकार, अर्थात् भौतिक अधिकारों का लागू करने के लिए न्यायालय की शरण में जाने का अधिकार।

इन मूल अधिकारों के आश्वासन के अतिरिक्त राज्य सरकारों को भी यह अधिकार दिये गये हैं कि वे समय-समय पर ऐसे विधान लागू करें जो महिलाओं के हितों की रक्षा करते हों तथा महिलाओं के साथ व्यवहार में उन्हें वरीयता दी जाय। इस आधार पर राज्य सरकारें समय-समय पर ऐसे वैधानिक उपाय करती रही हैं जिनसे महिलाओं में सामाजिक व्यवस्था एवं उनकी न्याय भावना बनी रहे। डॉ० राम अहूजा ने महिलाओं के अधिकार चेतना की विशद विवेचना की है। आपके अनुसार यद्यपि भारत की महिलाओं को अन्य देशों की महिलाओं की अपेक्षा अधिक अधिकार प्राप्त है, तथापि क्या हमारे देश की महिलाओं में अपने अधिकारों के प्रति चेतना है? उन्होंने कुछ वर्ष पूर्व बिहार के एक जिले के एक गाँव को 18 से 50 वर्ष की आयु की 753 महिलाओं का अध्ययन किया। अध्ययन का मुख्य उद्देश्य महिलाओं में अधिकारों के लिए चेतना का मूल्यांकन तथा संविधान एवं विशेष विधानों द्वारा प्रदत्त अधिकारों के प्रति संतुष्टि के स्तर को मापना था। इस अनुसंधान का सैद्धांतिक मॉडल यह था कि किसी विशेष क्षेत्र में महिलाओं के अधिकार चेतना का स्तर चार बातों पर निर्भर करता है- महिला की व्यक्तिगत पृष्ठभूमि (शैक्षिक स्तर, आकांक्षाओं का स्तर और व्यक्तिगत आवश्यकता) उसकी सामाजिक परिस्थितियाँ (रिश्तेदारों की अपेक्षाएँ, पति के आदर्श तथा परिवार के सदस्यों के दृष्टिकोण), उसका अपना दृष्टिकोण (अपने स्तर तथा भूमिका के प्रति) तथा उसका आर्थिक आधार (वर्ग सदस्यता का स्तर)। भारतीय संविधान में उपर्युक्त वर्णित अधिकारों के बावजूद पुरुष प्रधान समाज के नाते उनका व्यक्तित्व उतना विकसित नहीं हो पाया है, जितना होना चाहिए। फिर भी महिलाएँ अपने को विकसित करने का प्रयास कर रही हैं और संविधान में वर्णित अधिकारों को प्राप्त करने का प्रयास कर रही हैं। महिलाएँ समाज के विभिन्न क्षेत्रों में, विभिन्न पदों पर अपनी भागीदारी सुनिश्चित कर रही हैं, चाहे वह शिक्षा का क्षेत्र हो, राजनीति का क्षेत्र हो या तकनीकी क्षेत्र हो, खेल क्षेत्र हो अथवा विज्ञान का क्षेत्र हो, हर क्षेत्र में वे अग्रणी होकर अपनी भागीदारी सुनिश्चित कर रही हैं।

भारतीय समाज पितृ प्रधान है। समाज में सभी दृष्टिकोण से पुरुष को प्रधान माना गया है। अतः प्रत्येक परिवार या समाज में लड़के का जन्म उत्तम और लड़की के जन्म को श्राप माना जाता है। इस प्रवृत्ति में वैज्ञानिक तकनीकी ने बढ़ोतरी की है। गर्भ में शिशु परीक्षण कर गर्भस्थ महिला के द्वारा शिशु की हत्या की जा रही है। बिहार के कुछ क्षेत्रों में महिला की हिंसा के रूप में लड़कों को जन्म देते ही उसकी हत्या कर दी जाती है। इस हत्याओं के प्रति अन्य प्रमुख कारणों में उच्च दहेज, पुरुष प्रधान समाज, स्त्री की घटती परिस्थिति आदि प्रमुख हैं। महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के प्रमुख कारण निम्नांकित प्रकार से हैं -

1. परिस्थिति जिसके कारण हिंसापूर्ण व्यवहार किया जाता है।
2. पीड़ितों की विशेषताएँ।
3. उत्पीड़ित करने वाले की विशेषताएँ :

क- पीड़ित द्वारा भड़काना।

ख- नशा।

ग- महिलाओं के प्रति शत्रुता की भावना।

घ- परिस्थिति संबंधी लालसा।

हिंसक व्यक्तित्व की पहचान उसका अत्यधिक शक्की, वासनामय, प्रभावी विवेकहीन, व्यभिचारी आसानी से भावनात्मक रूप से अशांत, ईर्ष्यालु स्वतत्त्वात्मक और बंडसाफ होना है। जो विशेषताएँ प्रारंभिक जीवन में विकसित हो जाती हैं, वे वयस्कता में एक व्यक्ति के आक्रमणशील व्यवहार को प्रभावित करती हैं। आक्रमण का बच्चे के रूप में दुर्व्यवहार या बचपन में हिंसा के प्रभाव में आने को उसके हिंसात्मक व्यवहार का अध्ययन करते समय परीक्षण अवश्य करना चाहिए। प्रायः यह देखा जाता है कि बच्चे के रूप में यदि कोई हिंसा से प्रभावित होता है तो साधारणतया उसकी वयस्कावस्था में हिंसात्मक हो जाने की संभावना बढ़ जाती है।

महिलाएँ भी आज सभी समाजों में अपराध के रास्ते पर तेजी से बढ़ रही हैं। 15 जनवरी, 1996 की 'बिहार पत्रिका' के अनुसार देश में महिला अपराधियों की संख्या निरन्तर बढ़ रही है। उसके साथ ही उनके द्वारा कम उम्र की लड़कियों के अपहरण की घटनाओं में वृद्धि हो रही है। राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो द्वारा एक ताजा आंकड़ों के अध्ययन से पता चलता है कि अपराधियों द्वारा कम उम्र की लड़कियों को बहला-फुसलाकर अगवा किए जाने के मामले में अप्रत्याशित वृद्धि हुई है। देश में पिछले चार दशकों में लड़कियों और नवयुवतियों के अपहरण के मामलों में 18.1 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। ऐसे मामलों में महिला अपराधियों की भूमिका न केवल बढ़ी है बल्कि वे अन्य अपराधों के बजाय इस अपराध में औसतन सबसे ज्यादा लिप्त होने लगी हैं। ताजा आंकड़ों के अध्ययन से पता चलता है कि भारतीय दण्ड संहिता के तहत विभिन्न अपराधों के लिए गिरफ्तार व्यक्तियों में महिला अपराधियों की संख्या वर्ष 1995 में 3.5 प्रतिशत थी, जो उसके पिछले दो वर्षों की तुलना में 0.5 प्रतिशत ज्यादा थी। यही नहीं, वर्ष 1995 में लड़कियों एवं युवतियों के अपहरण के 14056 मामले प्रकाश में आए तथा इनमें हुई तमाम गिरफ्तारियों में महिला अपराधियों का औसत 4.7 प्रतिशत रहा। महिलाओं द्वारा किये जाने वाले अपराधों का सिलसिलेवार अध्ययन करने पर यह पता चलता है कि लड़कियों और युवतियों के अपहरण को वे अपना मुख्य पेशा बनाती जा रही हैं।

आंकड़ों के मुताबिक चोरी और डकैती में एक ओर जहाँ पिछले वर्षों में महिला अपराधियों की संख्या में 2.2 प्रतिशत की रिकॉर्ड कमी दर्ज की गई है, वहीं दंगा, धोखाधड़ी, देह व्यापार और जुआ

जैसे दण्डनीय अपराधों में इनकी भागीदारी निरन्तर बढ़ रही है। देह व्यापार में लिप्त महिला अपराधियों की उत्तर प्रदेश में सर्वाधिक 5205 गिरफ्तारियाँ वर्ष 1995 में हुई।

इसके बाद कर्नाटक में 4947, महाराष्ट्र में 2406 एवं आन्ध्र प्रदेश में 2704 महिला अपराधियों की गिरफ्तारी हुई। आंकड़ों के विस्तृत अध्ययन से यह पता चलता है कि दक्षिणी राज्यों में देह व्यापार का धंधा तेजी से पनप रहा है, जबकि अरुणाचल प्रदेश, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, मणिपुर, मिजोरम, मेघालय, नागालैंड, सिक्किम एवं त्रिपुरा ऐसे राज्य हैं, जहाँ अनैतिक देह व्यापार निरोधक कानून के तहत पिछले कई वर्षों में शून्य के बराबर गिरफ्तारी हुई है।

दहेज हत्या के मामलों में भी महिला अपराधियों की संख्या में निरन्तर वृद्धि के संकेत मिलते हैं। वर्ष 1995 में दहेज हत्या के आरोप में कुल 4571 अपराधियों में 894 महिलायें पाई गयी हैं।

महिलाओं के विरुद्ध हिंसा की वर्तमान स्थिति

प्रकरण प्रतिदिन	भारत	बिहार
बलात्कार	51	7
यौन-शोषण के सभी अपराध	113	12
दहेज हत्या	22	5
दहेज उत्पीड़न	53	18
अपहरण	47	21

राष्ट्रीय अपराध रिकॉर्ड ब्यूरो के अनुसार भारत में महिलाओं के साथ होने वाले अपराधों की संख्या 2 लाख से अधिक हो गयी है। बिहार पुलिस आंकड़ों के अनुसार वर्ष 2005 में राज्य में दहेज मृत्यु के 399, दहेज के खातिर आत्महत्या के लिए प्रेरित करने के 97, महिला उत्पीड़न के 5691, बलात्कार के 1051, छेड़छाड़ के 2730, अपहरण के 2010 तथा अन्य 444 मामले दर्ज हुए। महिलाओं के विरुद्ध अपराधों की स्थिति की सम्पूर्ण चित्र नीचे की सारणी में देखा जा सकता है। भारत में वर्ष 2001 से 2010 तक हुए महिलाओं के विरुद्ध विभिन्न प्रकार के अपराधों की स्थिति इस प्रकार है-

भारत में महिलाओं के विरुद्ध अपराध

अपराध	वर्ष									
	2001	2002	2003	2004	2005	2006	2007	2008	2009	2010
1. बलात्कार	20330	20151	20464	21617	20567	20668	20918	21005	2100576	
2. अपहरण	20617	20351	20362	21637	21527	21837	20617	21832	27612	
3. दहेज हत्या	6006	6975	6699	6712	6834	6915	7118	7617	7918	
4. यातना	36592	41376	73823	44404	45302	46417	47318	47618	47917	48318
5. छेड़छाड़	30764	30959	31311	32364	33203	34304	34618	35518	36118	
6. यौन शोषण	5796	8054	8858	8912	9022	9179	9189	10151	10578	11517
7. लड़कियों का आयात	78	146	178	190	199	12	3	15	35	66
8. सही निरोधक कानून	1	0	0	0	0	0	1	0	3	5
9. अनैतिक व्यापार कानून	8323	8695	9363	8412	3412	9502	9544	8756	9763	10518
10. नारी का अश्लील प्रदर्शन कानून	2973	118	190	222	256	276	290	301	345	412
11. दहेज निरोधक कानून	2685	3578	3064	3512	3311	3746	3812	3940	4012	4316

महिलाओं के विरुद्ध हिंसा को रोकने एवं इनके स्तर में सुधार करने, पुरुषों के समान दर्जा देने हेतु वर्ष 2002 में बनाई गयी राष्ट्रीय नीति में महिला हिंसा को रोकने के लिए निम्नलिखित संकेत दिये गये हैं -

1. राजनीतिक निर्णय प्रक्रिया में भागीदारी निर्धारित की गई।
2. शिक्षा, स्वास्थ्य, सम्पत्ति का समान अधिकार।
3. लैंगिक मामलों में पुरुष के समान अधिकार।
4. वैधानिक प्रक्रिया में परिवर्तन।
5. महिला हिंसा एवं उत्पीड़न रोकने हेतु समुचित मशीनरी का विकास।

संसार के सभी सभ्य देश और समाज इस दिशा में कार्य कर रहे हैं। पहले की अपेक्षा मानव चेतना का काफी विकास भी हुआ है, किन्तु विकास की गति ने सामाजिक संस्थाओं को कमजोर किया है जिससे सामाजिक असंतुलन बढ़ा और लिंग आधारित हिंसा में शर्मनाक बढ़ोतरी हुई है।

भारतीय संविधान में महिलाओं के विकास के लिए जो विशेष प्रावधान किये गये हैं, वे इस प्रकार हैं -

1. विधि के समक्ष समता (अनुच्छेद-14)।
2. धर्म, मूल, वंश, जाति, लिंग या जन्म स्थान के आधार पर विभेद का अन्त (अनुच्छेद-15)।
3. लोक नियोजन के विषय में अवसर की समानता (अनुच्छेद-16)।
4. मानव के दुर्व्यापार और बलात् श्रम का प्रतिरोध (अनुच्छेद-23)।
5. राज्य द्वारा अनुसरणीय कुछ नीति-निदेशक तत्व (अनुच्छेद-39)।
6. समान न्याय और विधिक सहायता (अनुच्छेद-39 क)।
7. काम की न्यायसंगत और मानवोचित दिशाओं का तथा प्रसूति सहायता का उपबंध (अनुच्छेद-42)।
8. धर्म, मूल, वंश, जाति या लिंग अथवा इनमें से किसी के आधार पर किसी भी व्यक्ति को निर्वाचक नामावली में सम्मिलित करने से मना न करना।
9. कठोरतम सजा - बलात्कार के अपराधियों को न्यायालयों द्वारा कठोरतम सजा दी जानी चाहिए। सुप्रीम कोर्ट ने एक मुकदमे में बलात्कार की शिकार छात्रा को आरोपी प्रवक्ता (Lecturer) द्वारा प्रतिमाह एक हजार रुपये बतौर मुआवजा देने का आदेश दिया था। यह सजा अपने आप में एक उदाहरण है।

इस सुझावों के बाद महिला संगठनों की जागरूकता बढ़ी और 10 दिसम्बर 2002 को 30 महिला संगठनों की दिल्ली में एक रैली हुई और इस रैली के बाद इन संगठनों ने एक ज्ञापन भारत के पूर्व उप प्रधानमंत्री लालकृष्ण आडवाणी को दिया था। इस ज्ञापन में निम्नांकित महत्वपूर्ण मांगें रखी गयी थी -

1. बलात्कार संबंधी मामलों का जल्दी निपटारा करने के लिए 'फास्ट ट्रैक कोर्ट' स्थापित किये जाएँ।
2. इन अदालतों में विशेष महिला न्यायाधीशों की नियुक्ति की जानी चाहिए तथा सारे प्रकरण उन्हीं को सौंपे जाएँ।
3. घरेलू हिंसा की परिभाषा नये सिरे से की जाए।
4. कानून में बलात्कार शब्द की परिभाषा नये सिरे से की जाए।
5. अस्पतालों में ट्रौमा सेंटर स्थापित किया जाए।

6. पुलिस, न्यायपालिका तथा स्वास्थ्य विभाग के उन सभी कर्मचारियों और अधिकारियों को जो इस प्रकार के मामले देखते हों, उन्हें यौन शोषण संबंधी मामलों में संवेदनशील व्यवहार करने का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए।
7. बलात्कार की शिकार महिला, युवती अथवा बालिका के पुनर्वास की व्यवस्था हो। उन्हें अपनी मर्जी के स्थान पर पढ़ने की सुविधा मिले।

निष्कर्ष

उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर यह कहना समीचीन होगा कि नारी की समुचित भागीदारी जब तक संसद, समाज, सम्पत्ति, शिक्षक और कानून व्यवस्था में पुरुषों की तरह सुनिश्चित नहीं होगी, तब तक समस्त स्त्री जाति पराधीन ही रहेगी। विवाह संस्थाओं के द्वारा समाज के नियमों में बँधकर वह पुरुष की सम्पत्ति और इन नियमों से बाहर वह बाजारू वस्तु बनकर रह जायेगी। ऐसी स्थिति में नारी सशक्तिकरण के नारे अर्थहीन ही रहेंगे। पुरुष जाति का स्त्रियों के प्रति सकारात्मक चिन्तन, संवेदनशील व्यवहार और सहिष्णुतापूर्ण सहवास ही नारी उत्थान के कारक बन सकते हैं। यह सर्वथा अपेक्षित है कि स्त्री पति की पैतृक सम्पत्ति में पति के जीवन काल में ही बराबर का अधिकार प्राप्त करें। नारी जब आर्थिक रूप से सबल होगी तब उसका परिवार और समाज में सम्मान बढ़ेगा और सम्मानित व्यक्ति ही सामाजिक मामले में पंच की हैसियत से हस्तक्षेप करने में समर्थ होता है। पूंजी ही सही शक्ति है, जिसमें विजय का बल निहित है। दिनकर की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

सच पूछो तो शर में ही बसती है दीप्ति विनय की।

संधि-वचन सम्पूज्य उसी का जिसमें शक्ति विजय की॥

धन-बल से सम्पन्न महिला विनयशील रहकर समाज के किसी मामले में समझौता का संदेश दे तो वह सर्वमान्य होगा। और, यदि दीन-हीन एवं लाचार स्त्री मेल-मिलाप की बात करे तो लोग उसे हास्य की वस्तु बना देंगे। हृदय के स्तर पर जब हम स्त्रियों की सामाजिक स्थिति की समीक्षा करते हैं तो उनकी पीड़ा हृदय की गहराईयों में उतरती चली जाती है। अतः हमें समाज, राजनीति एवं राष्ट्र से स्त्रियों के लिए सभ्य एवं सुसंस्कृत सोच की सर्वथा अपेक्षा है जिससे उनकी सर्वतोभावेन सुरक्षा से संबंधित कानून का निर्माण संभव हो जाए।

भारत में उच्च शिक्षा: चुनौतियाँ एवं समाधान

डॉ० राम प्रवेश सिंह

सहायक शिक्षक, +2 एस.आर.एस., बड़हिया

“उच्च शिक्षा लोगों को एक अवसर प्रदान करती है कि वह सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक मुद्दों से जूझ रही मानवता को प्रतिबिंबित करे तथा उच्च शिक्षा राष्ट्रीय विकास में अपना योगदान विशिष्ट ज्ञान और कुशलता को दूर तक फैला कर करती है।”

इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों पर प्राचीन भारत का नाम विश्वगुरु के रूप अंकित है। राष्ट्र की समृद्धि के लिये व्यक्तिगत जीवन का अर्पण प्राचीन भारतीय शिक्षा का सार है। आजादी के स्वर्ण जयंती वर्ष के पश्चात् नई शताब्दी में यह सोचना लाजिमी है कि क्यों हम अपनी प्राचीन धरोहर से वंचित होकर पश्चिमी राष्ट्रों के अनुकरण को तत्पर हैं। जीवन के प्रश्नों का समाधान करने वाली हमारी शिक्षा पद्धति स्वयं प्रश्नचिन्ह के घेरे में कैद है। सहस्राब्दी के प्रथम चरण में समूची शिक्षा प्रणाली पर गंभीर चिंतन की महती आवश्यकता है।

भारत में उच्च शिक्षा क्षेत्र में जहाँ गणनात्मक दृष्टि से बढ़ोत्तरी हुई है वही दूसरी ओर शिक्षा की गुणवत्ता प्रश्न चिन्ह के घेरे में है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली बेरोजगारों की फौज तैयारी करती है। देश के विकास में उपयोगी पर महत्वपूर्ण इकाई रोजगार के अभाव में शारीरिक रूप से अक्षम एवं मानसिक रूप से कुंठित होती जा रही है। रोजगार के अवसरों की कमी कड़ी प्रतिस्पर्धा को जन्म देती है यह स्पर्धा विकृत रूप में जातिगत क्षेत्रगत, भाषागत द्वेष को जन्म देती है इससे राष्ट्र की सामाजिक समरसता प्रभावित होती है। परिणामस्वरूप धर्मगत, जातिगत, तथा क्षेत्रगत विवादों का जन्म होता है।

वर्तमान में उच्च शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण समस्याएँ निम्नानुसार हैं—

शिक्षण के महत्वपूर्ण अंगों में तालमेल का अभाव, संसाधनों की कमी, उपलब्ध संसाधनों का समुचित उपयोग न होना, पाठ्यक्रम समय के अनुकूल नहीं, विदेशी भाषा, संस्कृति से दूर, सैद्धांतिक व उद्देश्य विहीन शिक्षा, अविश्वसनीय परीक्षा प्रणाली, जैसी अनेक समस्याओं ने हमारे समक्ष चुनौतियाँ प्रस्तुत की हैं। आइये इन समस्याओं पर विस्तार से चर्चा करें:

1. शिक्षण के महत्वपूर्ण अंगों में तालमेल का अभाव:

उच्च शिक्षा के सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग हैं: (1) छात्र (2) शिक्षक (3) प्रशासन (4) जन समुदाय। हमारे विद्वान छात्र, शिक्षक तथा प्रशासन को तो उच्च शिक्षा का अंग मानते हैं पर सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग जनसमुदाय की उपेक्षा कर जाते हैं। उच्च शिक्षा में संसाधनों की कमी का रोना तो रोया जाता है। परन्तु उसके पीछे यही कारण दृष्टिगोचर होता है कि इसमें महत्वपूर्ण जनसमुदाय को महत्व नहीं दिया जाता।

2. संसाधनों की कमी, उपलब्ध संसाधनों का उपयोग नहीं:

उच्च शिक्षा में संसाधनों का अभाव तो है ही परन्तु उपलब्ध संसाधनों को समुचित दोहन न होने से स्थिति और भी गंभीर हो जाती है। भारत के कितने विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों में परस्पर आदान-प्रदान होता

है। यदि होता है तो किस स्तर पर? सूचना प्रौद्योगिकी के विकास से परस्पर संवाद का मार्ग प्रशस्त हुआ है पर यदि संवाद की मानसिकता ही न हो।

3. **पाठ्यक्रम समय के अनुकूल नहीं:** प्रचलित पाठ्यक्रम समय के अनुकूल नहीं है। इस परिवर्तनशील दुनिया में पाठ्यक्रमों में आवश्यकतानुसार सामयिक परिवर्तन अपरिहार्य है किन्तु जटिल प्रक्रियाओं, प्रशासनिक अवरोधों के कारण पाठ्यक्रमों में समायानुसार परिवर्तन नहीं हो पाते। इसका दुष्परिणाम यह होता है कि उत्तीर्ण छात्र जीवन की पाठशाला में अयोग्य साबित होते हैं।
4. **विदेशी भाषा कैसी आशा:** हमारे राष्ट्र निर्माताओं ने उच्च शिक्षा के लिये तात्कालिक रूप से अंग्रेजी भाषा को स्वीकार किया था। हमारी बहुसंख्यक आबादी अंग्रेजी के ज्ञान से वंचित है। यदि उच्च शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी होगा तो शिक्षा में जनभागीदारी की संभावना ही नहीं बनती।
5. **संस्कृति से दूर:** हमारी उच्च शिक्षा दिन प्रतिदिन अपनी सांस्कृतिक विरासतों से दूर होती जा रही है। “वसुधैव कुटुम्बकम्” और ‘सर्वे भवन्तु सुखिन’ का हमारा आदर्श ‘मैं और मेरा’ का सूत्र वाक्य आत्मसात कर रहा है। जब भाषा बदलती है तो वेष-भूषा भी बदल जाती है। इसी क्रम में हम अपनी संस्कृति व सभ्यता से वंचित हो जाते हैं।
परिणामस्वरूप राष्ट्रीय एकता, सामाजिक समरसता, चरित्र की दृढ़ता, दूर-दर्शन पर भी हल्ले लगते हैं। वास्तविकता जीवन से इनका कोई सरोकार नहीं होता।
6. **सैद्धांतिक व उद्देश्यहीन शिक्षा:** हमारी उच्च शिक्षा अत्यधिक सैद्धांतिक व उद्देश्यहीन है। उच्च शिक्षा ग्रहण करने के बाद अधिकांश विद्यार्थियों के सामने यह प्रश्नचिह्न उपस्थित होता है कि अब वे क्या करें। हमारी शिक्षा पद्धति प्रारंभ से ही विद्यार्थियों को उचित मार्गदर्शन प्रदान नहीं करती है कि वे अपने लिये कैसे एक उपयुक्त कैरियर का चरण करें व उसमें सफल हों।
7. **अविश्वसनीय परीक्षा प्रणाली:** हमारी परीक्षा प्रणाली की विश्वसनीयता संदिग्ध है। उपयुक्त समायानुसार परीक्षा का न होना, प्रश्न पत्रों का आउट होना, अनुपयुक्त मूल्यांकन, मार्कशीट में त्रुटियाँ। इन सबसे बढ़कर इन त्रुटियों के प्रकाश में आने के उपरांत किसी तरह की उचित कार्यवाही न होना।

उच्च शिक्षा की इन कमियों को दूर करना कठिन है पर असंभव नहीं। “जब जागे तब हुआ सवेरा” के सूत्र वाक्य को आत्मसात कर हम इन कमियों को दूर कर सकते हैं। आइए उच्च शिक्षा की कमियों को दूर करने के कुछ उपायों पर चर्चा करें।

- (1) **शिक्षण की विभिन्न इकाइयों का तालमेल:** शिक्षण की सभी इकाइयों को संगठित करने के लिये उनमें परस्पर विश्वास, सौहार्द एवं शुचिता की भावना का प्रसार करना होगा। हमें मानना होगा कि शिक्षण के सभी अंग समान रूप से महत्वपूर्ण हैं। शिक्षण की सभी इकाइयों को अधिकार की भावना से मुक्त होकर कर्तव्य के पथ का आश्रय ग्रहण करना होगा। ऐसी प्रणाली का विकास करना होगा जिसमें शिक्षण की इन इकाइयों में सार्थक संवाद हो। ऐसे आयोजनों की व्यवस्था करनी होगी जिसमें शिक्षण की सभी इकाइयों को अभिव्यक्ति का अवसर मिले।
- (2) **संसाधनों की कमी:** संसाधनों की कमी उपलब्ध साधनों के समुचित दोहन से किसी हद तक पूरी की जा सकती है। संसाधनों की कमी दूर करने के लिये हमें आत्म निर्वासन से मुक्त होकर विस्तृत व्यापक समाज से संवाद स्थापित करना होगा।

- (3) **पाठ्यक्रम का निर्धारण:** पाठ्यक्रम का निर्धारण उच्च शिक्षा का अत्यंत महत्वपूर्ण पहलू है। पाठ्यक्रम जितना व्यवस्थित होगा, उच्च शिक्षा का स्वरूप उतना ही निखरा होगा। सूचना प्रौद्योगिकी के विस्तार के साथ पाठ्यक्रम का निर्धारण सुगम हो गया है। पाठ्यक्रम की प्रचलित प्रक्रिया में प्रशासनिक दुरुहता, जटिल प्रक्रिया और जड़ता का दोष घर कर गया है। इसे दूर करने में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। पाठ्यक्रम निर्माण के पूर्व सभी अध्ययनशील इकाईयों का अभिमत आमंत्रित करना चाहिये।
- (4) **व्यवहारिक तालमेल:** शिक्षण संस्थानों के पाठ्यक्रम एवं सुविधाओं को समयानुकूल तथा बाजारोन्मुखी बनाया जाये। व्यावसायिक पाठ्यक्रमों में प्रवेश के लिये सैट, जी.आर.आई. तथा जीमैट के अनुरूप राष्ट्रीय स्तर पर प्रवेश परीक्षाएँ आयोजित की जाये तथा एक संस्थान से दूसरे संस्थान में स्थानान्तरण का आधार इनमें प्राप्त प्राप्तांक को बनाया जाये। शिक्षकों को सतत् प्रशिक्षण व गुणवत्ता विकास के लिये प्रोत्साहित किया जाये।
- (5) **दीर्घकालीन नियोजन:** विश्वविद्यालयों, कॉलेजों, संस्थानों तथा स्कूलों के स्तर को निर्धारित करने के लिए स्वतंत्र एजेंसियों द्वारा समय-समय पर इनकी रेटिंग कराई जाये तथा उनका स्तर तय किया जाये।
- (6) **राजनीतिक प्रशासकीय दृढ़ इच्छाशक्ति:** उच्च शिक्षा हेतु सरकार की भूमिका उच्च शिक्षा के संस्थानों की मदद करने, उन्हें कोष प्रदान करने, विद्यार्थियों को कर्ज दिलाने में वित्तीय गारंटी देने, पाठ्यक्रम तथा उनकी गुणवत्ता में एकरूपता लाने तथा शैक्षिक विकास योजना बनाने तक सीमित की जाये। सभी राजनैतिक पार्टियों के बीच इस बात की सहमति बनाई जाये, कि वे विश्वविद्यालयों और शिक्षण संस्थानों से दूर रहेंगे। विश्वविद्यालयों और अन्य शिक्षण संस्थानों में राजनीतिक गतिविधियों पर पाबंदी लगाई जाये।
- (7) **जन सहयोग:** किसी भी कार्यक्रम की सफलता जनसहयोग पर निर्भर करती है। उच्च शिक्षा की इन समस्याओं के समाधान हेतु जनता को एक प्रभावी पक्ष बनाया जाना आवश्यक है। साथ ही साथ विज्ञान, तकनीकी, प्रबंधन तथा वित्तीय क्षेत्रों में पढ़ाई के लिये निजी क्षेत्र की सहभागिता को प्रोत्साहन दिया जाये।

उपरोक्त उपायों के माध्यम से इन चुनौतियों का उपचार संभव है।

स्वामी विवेकानंद ने शिक्षा को मनुष्य की अंतर्निहित प्रतिभा के प्रकाशन को उत्कृष्ट निरूपित किया है। शिक्षा केवल सूचनाओं का संकलन न होकर जीवंत होनी चाहिये। विश्वविद्यालय या महाविद्यालय शिक्षा का आखिरी पड़ाव नहीं है, वस्तुतः शिक्षा जन्म से प्रारंभ होकर मृत्यु पर समाप्त होती है। विश्व-विद्यालयीन शिक्षा जीवन यात्रा को सुगम, उद्देश्यपूर्ण बनाने का उपक्रम है। विश्व-विद्यालयीन शिक्षा जितनी बेहतर होगी मनुष्य का जीवन उतना ही गौरवमय, शांतिपूर्ण तथा उत्कृष्ट होगा।

संदर्भ ग्रंथ:

1. भटनागर, डॉ. सुरेश, शिक्षा मनोविज्ञान, लायल बुक डिपो, आगरा, 1992।
2. भटनागर, डॉ. सुरेश, आधुनिक भारतीय शिक्षा और उसकी समस्याएँ। मेरठ पब्लिशिंग हाउस, मेरठ, 1992।
3. पाठक, पी.डी. शिक्षा मनोविज्ञान, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, 1990।
4. कोहली, बी.के. भारतीय शिक्षा की वर्तमान समाचार।
5. रोजगार और समाचार
6. प्रतियोगिता दर्पण।

आर्थिक मानवाधिकार और विकास

डॉ० कुमारी विद्या

बी.आर.ए. बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

भूमिका

मानव के गरिमामयी जीवन जीने के लिए एवं उसके मौलिक अधिकारों एवं स्वतंत्रताओं की रक्षा के लिए मानवाधिकारों की जरूरत पड़ती है। तीव्र प्रतिस्पर्धा, भौतिकवादी जीवन, संसाधनों की सीमितता, नैतिक मूल्यों का हास, भ्रष्टाचार, गरीबी, अशिक्षा, बेरोजगारी आदि समस्याएँ, लैंगिक एवं जातिगत भेदभाव, आर्थिक विषमता, हकमारी गरीबों का शोषण आदि के विषाक्त परिवेश में मनुष्य को आर्थिक रूप से सशक्त और सुरक्षित करके ही हम राष्ट्र के विकास को सुनिश्चित कर सकते हैं।

मानवाधिकार

मानव अधिकारों से अभिप्राय, मौलिक अधिकारों एवं स्वतंत्रता से है, जिसके सभी मानव प्राणी हकदार हैं। अधिकारों एवं स्वतंत्रताओं के उदाहरण के रूप में जिनकी गणना की जाती है, उनमें नागरिक और राजनीतिक अधिकार सम्मिलित हैं, जैसे- जीवन और आजाद रहने का अधिकार, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, कानून के सामने समानता एवं आर्थिक, समाजिक और सांस्कृतिक अधिकारों के साथ ही साथ सांस्कृतिक गतिविधियों में भाग लेने का अधिकार, भोजन का अधिकार, काम करने का अधिकार एवं शिक्षा का अधिकार शामिल हैं।

मानवाधिकार के विभिन्न रूप:-

सांस्कृतिक मा0	
राजनीतिक मा0	शैक्षिक मा0
धार्मिक मा0	स्वास्थ्य मा0
आर्थिक मा0	मानवाधिकार
महिला मा0	सामाजिक मा0
	पर्यावरणीय मा0
श्रमिक मा0	

आर्थिक मानवाधिकार

मानवाधिकारों के सभी रूपों में आर्थिक मानवाधिकार विशेष रूप से महत्वपूर्ण है, क्योंकि भूखे व्यक्ति के लिए विकास, आजादी और अधिकार का कोई मतलब नहीं है। भूखा व्यक्ति अपने तथा परिवार का पेट भरने के लिए किसी भी हद तक जा सकता है, राष्ट्र को नुकसान पहुँचा सकता है, अतः गरीबों के लिए आजिविका, उचित मजदूरी, गरिमामयी माहौल, खाद्य सुरक्षा, आर्थिक सुरक्षा आदि की पर्याप्त व्यवस्था करनी चाहिए।

राजनीतिक मानवाधिकार

व्यक्ति से परिवार, परिवार से समाज और समाज से राष्ट्र बनता है। कोई भी राष्ट्र सशक्त तभी होगा जब वहाँ के नागरिक राजनीतिक रूप से शिक्षित, प्रशिक्षित और जागरूक होंगे तथा उन्हें

राजनीतिक अधिकार यथा- जीवित रहने और आजाद रहने का अधिकार, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, कानून के सामने समानता, मताधिकार राजनीतिक प्रक्रिया में भाग लेने, निर्णय लेने आदि का अधिकार दिये जाएंगे। इस तरह राजनीतिक मानवाधिकार राष्ट्र के विकास की गारंटी है।

सामाजिक अधिकार

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में ही जन्म लेता है, समाज में ही पलता-बढ़ता है और अंतिम सांस समाज में ही लेता है। अतः उसे समाज में विचरण करने, क्रियाशील रहने और सभी व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करने के लिए सामाजिक अधिकारों की आवश्यकता पड़ती है।

धार्मिक मानवाधिकार

धार्मिक मानवाधिकार से तात्पर्य व्यक्ति विशेष को अपने धर्म के मान्यताओं के प्रति आस्था रखने की छूट देने से है। सभी व्यक्ति को अपनी पसंद, आस्था, विश्वास, रूचि के अनुसार धर्म अपनाने और मानने की छूट होनी चाहिए। उस पर कोई विशेष धर्म, सम्प्रदाय थोपा न जाए अथवा अपनाने को मजबूर न किया जाए।

सांस्कृतिक मानवाधिकार

सभी जाति, धर्म, सम्प्रदाय के लोगों की अपनी अलग-अलग रहन-सहन, वेशभूषा, आचार-विचार, खान-पान, मान्यताएं एवं आस्थाएं होती हैं। यही उनकी पहचान होती है, जो इन्हें दूसरों से अलग और श्रेष्ठ बनाती है। अतः विभिन्न सम्प्रदायों एवं धर्मों में परस्पर वैमनस्य, प्रतिस्पर्धा, घृणा न होकर सामंजस्य, सहयोग, प्रेम, आदर और सम्मान होना चाहिए। सरकार को इस बात को पूर्ण रूप से सुनिश्चित करना चाहिए की सभी वर्गों की सांस्कृतिक विशिष्टता बनी रही और अन्य द्वारा अतिक्रमण, नुकसान अथवा क्षरण न किया जा सके।

शैक्षिक मानवाधिकार

अशिक्षित मनुष्य पशु के समान है। शिक्षा ही मनुष्य को पशु से अलग करती है और बुद्धि, विवेक, तार्किक, क्षमता, गलत-सही की पहचान क्षमता और विपरित परिस्थितियों में सामंजस्य बिठाने की क्षमता प्रदान करती है। अतः इस बात को सुनिश्चित किया जाना चाहिए की कोई भी व्यक्ति जो आचार-विचार व्यापार के काम आ सके, की व्यवस्था की जानी चाहिए। वर्तमान में 14 वर्ष की आयु तक की शिक्षा के अधिकार कानून के तहत मुफ्त और अनिवार्य बनाया गया है। इसे 18 वर्ष की आयु तक यानी उच्चतर माध्यमिक तक बढ़ाने की जरूरत है।

स्वास्थ्य मानवाधिकार

स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क का निवास होता है। जब शरीर अस्वस्थ होगा तो मस्तिष्क कार्य नहीं करेंगा। फलतः राष्ट्र का विकास अवरूद्ध होगा। अतः अंतिम पंक्ति में खड़े व्यक्ति के पास तक स्वस्थ सुविधा पहुंचाना प्रत्येक सरकार की प्राथमिकता होनी चाहिए। स्वास्थ्य सुविधा के अभाव में कार्यक्षमता का हास, निम्न जीवन प्रत्याशा, मानव संसाधन की कमी, क्रय शक्ति में हास, आर्थिक प्रगति में बाधा आदि समस्याएं पैदा होती हैं जिससे राष्ट्र कमजोर होता है।

महिला मानवाधिकार

आधी आबादी के साथ भेदभाव, उपेक्षा और दोहरी नीति अपना कर हम विकास के शिखर को नहीं छू सकते। विकास का रथ तभी दौड़ेगा जब उसका दोनों पहिया मजबूत हो, महिलाओं के हितों

की रक्षा को हमें पूर्णरूप से सुनिश्चित करना होगा। महिलाओं लैंगिक भेदभाव, अवसरों में भेदभाव, मजदूरी में भेदभाव आदि से मुक्त करना होगा। इनके प्रति हिंसा, शोषण आदि को समाप्त करना होगा। इन्हें आर्थिक रूप से सशक्त करना होगा। इसके लिए हमें सोच-विचार को बदलना होगा। बदलते परिवेश में सम्यक् दृष्टिकोण अपनाना होगा। इनके मान-सम्मान एवं अस्मिता की रक्षा सुनिश्चित करके, सभी को शिक्षण-प्रशिक्षण स्वास्थ्य एवं सुरक्षा प्रदान करके हम इन्हें आत्म निर्भर कर राष्ट्र विकास में पूर्ण सहयोग ले सकते हैं।

श्रमिक मानवाधिकार

राष्ट्र निर्माण में श्रमिकों का महत्वपूर्ण योगदान होता है। श्रमिक ही उत्पादन कार्य में सक्रिय रूप से भाग लेकर विकास की गति को सुनिश्चित करते हैं। अतः श्रमिकों के हितों की रक्षा को सुनिश्चित करना अति आवश्यक है। इन्हें उचित मजदूरी, अनुकूल माहौल, रोजगार की सुरक्षा कार्य के घण्टे, सवेतन अवकाश, विश्राम आदि उपलब्ध कराकर ही हम इनका सर्वश्रेष्ठ योगदान ले सकते हैं। उससे उत्पादन में वृद्धि होगा, तो राष्ट्र का विकास सुनिश्चित करेगा।

पर्यावरणीय मानवाधिकार

जीवन और पर्यावरण में घनिष्ठ संबंध है। बिना पर्यावरण के जीवन और प्रगति की कल्पना तक नहीं की जा सकती पर्यावरण को नुकसान पहुँचाकर मानव अपने अस्तित्व को चुनौती दे रहा है। एक निश्चित अनुपात में जल जंगल, जमीन और शुद्ध वायु का होना सभी सजीव प्राणी के रक्षा के लिए अनिवार्य शर्त है। हमें भविष्य की चुनौतियों के मद्देनजर सतत् विकास की अवधारणा को अपनाना होगा। अंधाधुन्ध पेड़ों की कटाई, जल-थल-वायु ध्वनि प्रदूषण, जनसंख्या वृद्धि, प्राकृतिक संसाधनों का अकुशल विदोहन, परिस्थितिकी असंतुलन, ओजोन क्षरण आदि पर नियंत्रण करना होगा।

इस तरह, मानवाधिकार के उपरोक्त सभी रूप समग्र रूप से मानव अस्तित्व और उसके विकास के लिए परम आवश्यक है। सभी का अपना-अपना महत्व है।

संविधान में मानवाधिकारों की व्यवस्था

हमारे संविधान निर्माताओं ने संविधान बनाते समय मानवाधिकार का विशेष ध्यान रखा है प्रस्तावना में ही इसकी झलक दिखाई पड़ती है। हमारा संविधान इस देश के समस्त नागरिकों को समाजिक, आर्थिक, राजनीतिक न्याय देने का वचन देता है। साथ ही, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता देते हुए प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्रदान कर व्यक्ति की गरिमा बढ़ाने का संकल्प लेता है।

संविधान के भाग तीन में अनुच्छेद 12 से 35 तक मौलिक अधिकारों की व्यवस्था करके मनुष्य को गरिमामयी जीवन उपलब्ध कराने की व्यवस्था करता है।

प्रमुख अनुच्छेद और उसमें उल्लेखित तथ्य निम्नलिखित हैं -

14 से 18	समता या समानता का अधिकार -
14	सभी व्यक्ति विधि के समक्ष समान होंगे। सबके लिए एक कानून होगा और सब पर एक समान लागू होगा।
15	राज्य के द्वारा धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग एवं जन्म स्थान के आधार पर नागरिकों के प्रति जीवन के किसी भी क्षेत्र में भेद-भाव का निषेध।

क्रमशः

16	लोक नियोजन के विषय में कुछ अपवादों को छोड़कर अवसर की समानता होगी।
17	अस्पृश्यता के उन्मूलन हेतु इसे दण्डनीय अपराध घोषित किया गया है।
18	उपाधियों का अंत। राज्य द्वारा केवल सेना या विद्या संबंधी उपाधि ही दी जायेगी।
19 से 22	स्वतंत्रता का अधिकार -
19	वर्तमान में छः मूल अधिकार हैं -
19 (अ)	बोलने की स्वतंत्रता
19 (ब)	शांतिपूर्वक बिना हथियारों के एकत्रित होने और सभा करने की स्वतंत्रता।
19 (स)	संघ बनाने की स्वतंत्रता।
19 (द)	देश के किसी भी क्षेत्र में आवागमन की स्वतंत्रता।
19 (य)	देश के किसी भी क्षेत्र में निवास करने और बसने की स्वतंत्रता। (अपवाद जम्मू-काश्मीर)
19 (र)	कोई भी व्यापार या जीविका चलाने की स्वतंत्रता।
20	अपराधों को दोष सिद्धि के संबंध में संरक्षण।
21	प्राण एवं दैहिक स्वतंत्रता का संरक्षण - व्यक्ति को विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अतिरिक्त उसके जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता।
21 (अ)	राज्य 6 से 14 वर्ष तक के समस्त बच्चों को निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था।
22	कुछ दशाओं में गिरफ्तारी और निरोध में संरक्षण।
23 से 24	शोषण के विरुद्ध अधिकार:-
23	मानव के दुर्व्यापार और बलात् श्रम को निषिद्ध ठहराया गया है।
24	14 वर्ष से कम आयु के बच्चों को कारखानों, या जोखिम भरे कार्यों में नियोजन पर प्रतिबंध लगाया गया है।
25 से 28	धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार:-
25	अंतःकरण और धर्म को अबाध रूप से मानने, आचरण और प्रचार करने की स्वतंत्रता।
26	धार्मिक कार्यों के प्रबंध की स्वतंत्रता।
27	राज्य उस आय से कर देने के लिए व्यक्ति को बाध्य नहीं कर सकता जो किसी धर्म विशेष की उन्नति हेतु निश्चित कर दी गई है।
28	राज्य विधि से पूर्णतः पोषित किसी शिक्षा संस्था में कोई धार्मिक शिक्षा नहीं देगा।

क्रमशः

29 से 30	सांस्कृतिक एवं शिक्षा संबंधि अधिकार:-
29	अल्पसंख्यक वर्गों के हितों का संरक्षण - वह अपनी भाषा, लिपि और संस्कृति को सुरक्षित रख सकता है और इस आधार पर उसे किसी भी सरकारी शैक्षिक संस्था में प्रवेश से वंचित नहीं किया जा सकता।
30	अपनी पसंद की शिक्षा संस्थाओं की स्थापना और प्रशासन करने का अल्पसंख्यक वर्गों का अधिकार प्राप्त है। सरकार इसे अनुदान देने में किसी भी तरह का भेदभाव नहीं करेगी।
32	संवैधानिक उपचारों का अधिकार - इसके अंतर्गत मौलिक अधिकारों को प्रवर्तित करने के लिए समुचित कार्रवाईयों द्वारा उच्चतम न्यायालय में आवेदन करने का अधिकार प्रदान किया जाए। इस संदर्भ में सर्वोच्च न्यायालय को पांच तरह के रिट निकालने की शक्ति प्रदान की गई है- 1. बंदी प्रत्यक्षीकरण 2. परमादेश 3. प्रतिषेध-लेख 4. उत्प्रेषण और 5. अधिकार - पृच्छा-लेख

संविधान के भाग 4 में राज्यों के लिए नीति-निर्देशक सिद्धांतों का वर्णन किया गया है - जिसमें मानवाधिकारों की रक्षा को सुनिश्चित किया गया है-

अनुच्छेद	वर्णित विषय
38	राज्य लोक कल्याण की अभिवृद्धि के लिए सामाजिक व्यवस्था बनाएगा, जिससे नागरिकों को सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय मिलेगा।
39	सार्वजनिक धन के स्वामित्व और नियंत्रण में सार्वजनिक हित को ध्यान में रखा जाएगा।
39 (ग)	धन का समान वितरण किया जायगा।
40	ग्राम पंचायतों का गठन किया जाएगा।
41	कुछ दशाओं में काम, शिक्षा और लोक सहायता पाने का अधिकार।
42	काम की न्याय-संगत और मानवोचित दशाओं का तथा प्रसूति सहायता का उपबंध।
43	कर्मकारों के लिए निर्वाचन मजदूरी और कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन।
44	नागरिकों के लिए एक समान सिविल संहिता।
46	अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य दुर्बल वर्गों के लिए शिक्षा और अर्थ संबंधी हितों की अभिवृद्धि।

- 47 पोशाहार स्तर, जीवन स्तर को ऊँचा करने और लोक स्वास्थ्य को सुधार करने का राज्य का कर्तव्य।
- 48 कृषि तथा पशुपालन का संगठन।

इस तरह संविधान में मानवाधिकारों की समुचित व्यवस्था की गई है। मानव जीवन के प्रत्येक पहलु-भोजन, आवास, स्वास्थ्य, रोजगार, मजदूरी शिक्षा आदि को विशेष रूप से उपबधित करके प्रत्येक नागरिक की सुरक्षा और उन्नति को सुनिश्चित किया गया है।

आर्थिक मानवाधिकार

आर्थिक मानवाधिकार मनुष्य को जीवित रहने, जीवन-यापन करने, आर्थिक रूप से आत्म-निर्भर बनाने का मार्ग प्रशस्त करता है। मनुष्य की पहली आवश्यकता और समस्या रोटी की है। वह तब तक विकास प्रक्रिया में भाग नहीं ले सकता जब तक उसके भोजन का प्रबंध सुनिश्चित नहीं किया जा सकता। जिन्दा रहने के लिए आर्थिक पक्ष मजबूत होना अति आवश्यक है। आर्थिक-मानवाधिकार के अन्तर्गत निम्न तत्व आते हैं:

1. **शिक्षा:** व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के विकास में शिक्षा का महत्वपूर्ण योगदान है। कहा भी गया है कि शिक्षा के बिना मनुष्य पशु के समान है। शिक्षा, मानव को कौशल प्रदान कर पुनर्निर्माण करती है। एक शिक्षित और प्रशिक्षित व्यक्ति, अशिक्षित के वनिस्पत अर्थव्यवस्था में अपना अधिक योगदान दे सकता है। शिक्षण-प्रशिक्षण से ही व्यक्ति में दक्षता, निपुणता और विषय-विप्रेक्षता आती है जिससे उसकी कार्यक्षमता और उत्पादकता बढ़ जाती है और जिसका उपयोग वह उच्च उत्पादन में करता है, जो आगे चल कर गुणक रूप में राष्ट्र का विकास सुनिश्चित करता है।
2. **भोजन अथवा खाद्य-सुरक्षा:** सरकार को इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए की उसका कोई नागरिक भूख अथवा गरीबी से न मरें। उसे इतना खाद्यान्न जरूर उपलब्ध हो जाना चाहिए, जिससे उसका स्वास्थ्य एवं कार्यक्षमता बनी रहे। खाद्य असुरक्षित होने पर वह गलत कार्यों में लिप्त हो सकता है। जिससे राष्ट्र को नुकसान होगा। कार्यक्षमता गिरने पर उत्पादन प्रभावित होगा फलतः विकास प्रक्रिया थमेगी। अतः खाद्य सुरक्षा को गंभीरता से लागू करके इसका प्रभावी क्रियान्वयन करना होगा।
3. **आवास का प्रबंध:** लोगों को विशेष कर अंतिम पंक्ति के लोगों हेतु आवास का प्रबंध करना सरकार की नैतिक जिम्मेदारी है। ताकि वे सुरक्षित और विभिन्न गंभीर बिमारियों से मुक्त रह कर राष्ट्र निर्माण में अपना सर्वोच्च योगदान दे सकें।
4. **अवसर की उपलब्धता एवं समानता:** सभी नागरिकों को बिना किसी भेद-भाव के उनकी क्षमता अनुसार अवसरों की उपलब्धता होनी चाहिए, ताकि वे जीवन यापन कर सकें और अपना तथा देश का विकास कर सकें। अवसर उपलब्ध नहीं होने पर मानव संसाधन का सदुपयोग नहीं होता और अनेक समस्याएं पैदा होने लगती हैं। स्वयं को साबित करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को बिना भेदभाव के अवसर उपलब्ध होने चाहिए।
5. **रोजगार की उपलब्धता:** देश में जनसंख्या के अनुपात में रोजगार उपलब्ध होने चाहिए ताकि श्रम का नाश न हो और समाज में गरीबी, बेरोजगारी, कुपोषण आदि समस्याएं जन्म न ले

सकें। इसके लिए आधारभूत संरचना का विकास, प्राथमिक, द्वितीयक और तृतीयक क्षेत्रों का विकास, औद्योगीकरण आदि पर बल देना होगा। कुटीर एवं लघु उद्योग-धंधे का विकास एवं प्रसार आदि पर विशेष कार्य करना होगा।

6. **लैंगिक भेदभाव का निषेध:** महिलाओं को पुरुषों के समान अवसर एवं सुविधा प्रदान करने होंगे। उनके साथ किसी भी प्रकार का भेदभाव वर्जित करना होगा। वे भी अपनी योग्यता एवं क्षमता का सदुपयोग देश के विकास में कर सकती हैं।
7. **उचित एवं न्यायपूर्ण मजदूरी:** प्रत्येक व्यक्ति को कार्य के बदले न्यूनतम, सम्मानपूर्ण जीवन जीने लायक, उसकी बुनियादी आवश्यकताओं का पुरा करने वाला, उसके योग्यता, क्षमता और दुर्लभता को ध्यान में रखते हुए मजदूरी दी जानी चाहिए, जिससे उसे कार्य करने की प्रेरणा मिले एवं गरिमा की अनुभूति हो। न्यायपूर्ण एवं उचित मजदूरी रहने से वह रूचि, पूर्णक्षमता और योग्यता का सर्वोत्तम दे सकता है। अपने परिवार को सम्मानपूर्ण ढंग से रख सकता है।
8. **कार्य करने का अनुकूल एवं मानवोचित माहौल:** सभी श्रमिकों को कार्यस्थल पर आवश्यक एवं मानवोचित सुविधा और माहौल दिया जाना चाहिए। उनसे दुर्व्यवहार, जबरदस्ती न हो और उनको मानसिक, शारीरिक, प्रताड़ना एवं शोषण से सुरक्षा प्राप्त हो ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए। कार्य के घंटे, विश्राम का समय, सवेतन-छुटी, स्वास्थ्य एवं पेयजल, सुविधा व अन्य सुविधाओं की व्यवस्था रहनी चाहिए उनके साथ सम्मानपूर्ण ढंग से पेश आया जाय। जब तक श्रमिक कार्य में रूचि नहीं लेंगे तब तक परिणाम संतोषजनक प्राप्त नहीं होगा। अतः इस बात को विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिए।
9. **कोई भी पेशा अपनाने की छूट:** कामगारों की अपनी रूचि, योग्यता, क्षमता, पसंद के अनुरूप बिना किसी दबाव के अपनी जीविका चुनने की पूरी छूट होनी चाहिए। उनपर किसी प्रकार की बाध्यता या शर्तें न थोपी जाएं। तभी वे पूर्ण रूप से क्रियाशील होंगे और उत्पादन कार्य सम्पादित हो सकेंगे।
10. **आर्थिक समानता:** सरकार को अपने प्रयासों से आर्थिक समानता का लक्ष्य प्राप्त करना चाहिए। आर्थिक असमानता समाज में अनेक समस्याओं वर्गवाद, संघर्ष, शोषण, नैतिकपतन आदि को जन्म देती है। संसाधनों का संकेन्द्रण होने लगता है और सारी शक्ति कुछ कुपोषण, निम्न जीवन-स्तर आदि बढ़ने लगता है। सरकार को उनपर भारी धनराशि व्यय करनी पड़ती है और विकास अवरूद्ध होता है। समाज में अशांति हिंसा आदि पनपने लगता है। अतः आर्थिक समानता के लिए प्रयासरत् रहना सरकार का कर्तव्य है।
11. **उत्पादों का उचित मूल्य:** ऐसी प्रणाली का विकास होना चाहिए जिससे किसानों को उनके उत्पादों का उचित मूल्य प्राप्त हो सके। उन्हें दलाल एवं बिचौलियों से बचाने की ठोस रणनीति बनानी होगी। उत्पाद का उचित मूल्य प्राप्त नहीं होने से उनमें और अरूची, निराशा आती है। जिससे उत्पादन कार्य प्रभावित होते हैं और उनकी समस्याएं फलीभूत होती हैं। उत्पाद का उचित मूल्य प्राप्त होने से वे अपना जीवन-स्तर उठा सकते हैं। इनकी कार्य क्षमता और उत्पादकता बढ़ जाती है। जो विदेशी द्वारा मुद्रा लाता है और राष्ट्र का विकास होता है। अतः इस ओर पूरी गंभीरता से ध्यान देने की आवश्यकता है।
12. **उपभोक्ता की सुरक्षा:** उपभोक्ताओं को वस्तुएं गुणवत्तायुक्त और सस्ती प्राप्त हो इसका ध्यान रखना होगा। वस्तु में मिलावट न हो मात्रा और मूल्य उचित हो, उपभोक्ता का शोषण न हो, सही सेवा प्राप्त हो आदि बातों पर दृष्टि रख कर हम उपभोक्ता हितों की रक्षा कर सकते

हैं। भारत में उपभोक्ता के अधिकारों की रक्षा हेतु अधिनियम बनाया गया है। लेकिन अशिक्षा, ग्रामीण आबादी, गरीबी और जागरूकता के अभाव में यह प्रभावी नहीं हो पाया है। इसका दायरा बहुत ही सीमित है, इसे बढ़ाना होगा।

इस प्रकार, उपरोक्त सभी तत्व मिलकर आर्थिक मानवाधिकार को पूर्ण करते हैं। मनुष्य के आर्थिक पक्ष को मजबूत करते ही हम विकास के लक्ष्य प्राप्त कर सकते हैं। उपरोक्त एक-एक बिन्दुओं पर राज्य को गंभीरता से समीक्षात्मक नजर रखनी होगी। तभी आर्थिक मानवाधिकार का यथार्थ रूप प्राप्त होगा।

आर्थिक मानवाधिकार और विकास

आर्थिक मानवाधिकार और विकास में घनिष्ठ संबंध है। बिना आर्थिक पक्ष मजबूत किए विकास की बात करना बेमानी है। आर्थिक रूप से सशक्त होने के बाद ही लोगों के पास क्रय-शक्ति बढ़ती है, जिसमें मांग बढ़ता है। फलतः उत्पादन बढ़ता है और राष्ट्र का विकास होता है। आर्थिक मांग और विकास के आपसी संबंध को निम्नलिखित शब्द-चित्रों द्वारा देखा जा सकता है।

vkfFkd ekuokf/kdkj di rRo	iHkko
f'k'kk	ekuo l:l/ku dk fodkl & Je dk lni;kx & mRikndrk ei of)A
[kk] & l:j'kk	ik'k.k ,o fcekfj;k l: futkr &
LokLF; & lfo/kk	diik'k.k ,o fcekfj;k l: futkr & dk;{kerk ei of) & thou&iR;k'kk ei of)A
volj dh miyC/krk ,o lekurk	nyHk Je ,o ;kx;rk dh ikfirA
jktxkj dh miyC/krk	Ø; 'kfDr ei of) & ekx ,o fuo'k ei of)A
yfxd Hkn&Hkko dk fu'k/k	vk/kh vkcnh dh {kerk ,o ;kx;rk dk lni;kxA
mfpr ,o U;k; i:l.k etnjh	dk;l dju dh iij.kk ,o :fp & i:l.k {kerk dk mi;kxA
dk;l dju dk vudy ,o ekuokfpr ekgky	dk;{kerk ,o mRikndrk ei of)
dkbi Hkn i'kk&thfodk viuku dh NV	:fp l: dk;l & i:l.k {kerk dk fonkguA
vkfFkd lekurk	vkfFkd l'kfDrdj.k ei of) & thou Lrj ei l/kj & ekx vk; ,o jktxkj ei of)A
mRiknk dk mfpr eY;	mRiknu dk;l ei :fp vkj dk;l {kerk dk i:l.k mi;kx & mRiknu ei of)A
mfpr eY;	ekx ei of)A
vk/kkjHkr ljpuk dk fodkl	mPp fuo'k dk c<kok & vk kfxdj.k dk c<kokA

vf/kd jktxkj
vf/kd mRiknu & ,o vk; dk
& fodkl dk ltu xfr

इस तरह यह स्पष्ट होता है कि-

1. आर्थिक पक्ष मजबूत होने से - क्रयशक्ति में वृद्धि - माँग और निवेश में वृद्धि - उत्पादन में वृद्धि - रोजगार और आय में वृद्धि - जी.डी.पी. में वृद्धि - विकास का लक्ष्य प्राप्त।

2. आर्थिक पक्ष कमजोर होने से – क्रयशक्ति में कमी – माँग और निवेश में कमी – उत्पादन में कमी – रोजगार और अन्य में कमी – जी.डी.पी. में कमी – विकास प्रक्रिया बाधित।

आर्थिक मानवाधिकार के राह के रोड़े

सरकार ने संविधान की निर्दिष्ट प्रावधानों के मद्देनजर आर्थिक मानवाधिकार के रक्षा हेतु अनेक कदम उठाए हैं। इसमें काम का अधिकार, बिना भेदभाव के रोजगार एवं अवसरों की उपलब्धता एवं समानता, लैंगिक भेदभाव का निषेध, न्यूनतम मजदूरी एक्ट – 1948, उपभोक्ता के हितों की रक्षा हेतु कानून – 1986, न्यूनतम समर्थन मूल्य नीति, कार्य के घंटे व अन्य देय सुविधाएं खाद्य-सुरक्षा, शिक्षा का अधिकार आदि शामिल हैं। फिर भी मानवाधिकारों का हनन अनेक कारणों से हो रहा है, जो निम्न है:-

1. नख से शिख तक व्याप्त भ्रष्टाचार।
2. तीव्र गति से बढ़ती जनसंख्या।
3. अशिक्षा, गरीबी, बेरोजगारी।
4. राजनीतिक स्वार्थ एवं इच्छाशक्ति की कमी।
5. आधारभूत संरचना का अपूर्ण विकास।
6. प्रशिक्षण एवं कौशल परक कार्यक्रमों का आभाव।
7. शिक्षित वर्ग का श्रम से घृणा।
8. अगुणतापूर्ण एवं संस्कार-विहीन शिक्षा।
9. संसाधनों का अपूर्ण, अविवेकी विदोहन और सीमितता।

हम उपरोक्त अवरोधों को दूर करके ही आर्थिक मानवाधिकार को मूर्त रूप दे सकते हैं और विकास मार्ग को प्रशस्त कर सकते हैं। हालांकि सरकार ने राष्ट्रीय और राज्य स्तर पर मानवाधिकारों की रक्षा के लिए आयोग का गठन किया हुआ है, लेकिन ये नागरीक अधिकारों को ही विशेष रूप से देखते हैं, जबकि आर्थिक मानवाधिकार प्राथमिक मुद्दा है। इस ओर यथाशीघ्र सरकार समाज और बुद्धिजीवी वर्ग को कार्य करना होगा। एक बार जब हम इन अवरोधों पर विजय प्राप्त कर लेंगे तो हमें आर्थिक महाशक्ति बनने से कोई नहीं रोक सकता।

संदर्भ सूची:

1. शर्मा सुभाष: भारत में मानवाधिकार नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली।
2. ह्यूमनस्कॉप सितम्बर 2001, मुम्बई आवरण।
3. कश्यप, सुभाष हमारा संविधान, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली।
4. अमर्त्यसेन: गरीबी और अकाल (आर्थिक परिपेक्ष्य) द्वितीय संस्करण – 2002
5. एस० कौशिक: मानवाधिकार और आर्थिक विकास नवनिर्माण प्रकाशन, उज्जैन।

महिला आधारित आर्थिक विकास: एक विवेचन

गीता जादोन

सहायक प्राध्यापक, ए.डी.एम. कॉलेज, सिरसागंज, उ०प्र०

डॉ० गगनदेव प्रसाद यादव

रीडर, स्नातकोत्तर अर्थशास्त्र विभाग, बी०आर०ए० बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

विकास प्रक्रिया में अगर गरीब और ग्रामीण महिलाओं को केन्द्रबिन्दु न बनाया गया तो, न तो उसमें तेजी आएगी और न ही वह संपूर्ण होगी। ग्रामीण महिलाएँ ग्रामीण जीवन की मेरुदंड हैं, उनकी वास्तविकता यह है कि दुनिया भर के विकास कार्यों में तकनीकी प्रगति एवं करोड़ों – अरबों रुपये की असंख्य योजनाओं के बावजूद इन महिलाओं के कष्टों में कोई विशेष कमी नहीं आई है। शहरी क्षेत्रों में महिलाएँ विकास की मुख्यधारा में जुड़ने लगी हैं। लेकिन सुदूरवर्ती ग्रामीण क्षेत्रों की महिलाओं की स्थिति असंतोषजनक है। ग्रामीण महिलाएँ शिक्षा, स्वास्थ्य, पोषण, पेयजल, विद्युत आदि बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मोहताज हैं। महिलाओं की भूमिका के संबंध में पारस्परिक विश्वासों, सामाजिक और सांस्कृतिक बंधनों तथा निर्णयों में सीमित सहभागिता में महिलाओं को घर और कृषि कार्यों तक ही सीमित कर दिया है। महिलाओं के विवेक और ज्ञान को समाज द्वारा आज भी कोई विशेष महत्व नहीं दिया जाता।

देश का तीव्र किन्तु संतुलित विकास मुख्य रूप से मानव संसाधनों पर निर्भर करता है। देश के लोग जितने अधिक प्रशिक्षित, परिश्रमी, बुद्धिजीवी होंगे, विकास की गति उतना ही अधिक होगा। अतः किसी भी क्षेत्र के सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक उत्थान में वहाँ की श्रम-शक्ति का आकार, कार्य का गुणात्मक स्वरूप तथा कार्य में नियमितता का बड़ा ही महत्वपूर्ण योगदान होता है। लेकिन किसी भी देश या क्षेत्र का सर्वांगीण विकास तभी संभव है जब महिलाओं को पुरुषों के समान अधिकार एवं समानता प्राप्त हो। जनगणना आँकड़े बतलाते हैं कि बच्ची भ्रूण हत्या के बाद भी समाज की आधी आबादी महिलाओं की है जिन्हें विकास की मुख्यधारा में जोड़े बिना किसी भी क्षेत्र, राज्य या देश के आर्थिक, सामाजिक, पर्यावरणीय एवं राजनीतिक विकास की कल्पना नहीं की जा सकती। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् महिलाओं के उत्थान एवं विकास के लिए अनेक कार्यक्रम चलाए गए। कानून एवं अधिनियम बनाए गए तथा संसद एवं विधान सभाओं में महिलाओं को समान प्रतिनिधित्व देने के लिए 33 प्रतिशत आरक्षण का विधेयक संसद में विचाराधीन है। भारतीय संविधान भाग 3, अनुच्छेद 15, नागरिकों को समानता का अधिकार प्रदान करते हुए लिंग, जाति, धर्म, भाषा, नस्ल, क्षेत्र आदि के आधार पर भेदभाव को नकारता है और सामाजिक आर्थिक एवं राजनैतिक रूप से पिछड़े वर्गों विशेषतः महिलाओं, बच्चों तथा श्रमिकों को समुचित संरक्षण प्रदान करने का निर्देश देता है। लेकिन दुर्भाग्यवश आजादी के 65 वर्षों बाद भी हम समाज में इस भेदभाव को मिटाकर समानता लाने में असफल रहें हैं।

नोबल पुरस्कार विजेता बंगलादेश के मोहम्मद यूनस ने साबित कर दिया है कि आर्थिक विकास में गरीब महिलाओं की उल्लेखनीय भागीदारी हो सकती है। ग्रामीण बैंक के शुरुआत में पुरुष द्वारा

लिए गए ऋणों को चुकाने का औसत काफी कम था। फलतः ग्रामीण बैंक का विकास रुक गया। लेकिन महिलाएँ कर्ज लेकर वापस करने में पुरुषों की अपेक्षा ज्यादा सतर्क हैं। अतः उन्होंने महिलाओं को प्राथमिकता देना शुरू कर दिया। वर्ष 2006 में बंगलादेश के ग्रामीण बैंक से लाभ उठाने वालों में से 97 प्रतिशत महिलाएँ थी। साथ ही, अन्य कार्यों दूरसंचार, हैंडलूम और उर्जा उत्पादन में भी महिलाएँ आगे हैं।

यह हमारे देश के लिए भी एक सबक है। 12वीं योजना के लक्ष्य की प्राप्ति तथा तीव्र विकास करने एवं विकास प्रक्रिया में सबको शामिल करने के लिए आवश्यक है कि ग्रामीण महिलाओं की कार्यक्षमता को पहचाना जाय। करोड़ों गरीब काम काजी महिलाएँ हैं जिनमें उद्यमिता एवं क्षमता है और जो देश की गरीबी से मुक्त कराने में मददगार हो सकती हैं, लेकिन नीति निर्धारक उन्हें आगे बढ़ने का मौका देते डरते हैं। भारत के विकास की नीतियाँ तैयार करते समय जो भी वाद-विवाद, बहस और संवाद होते हैं उनमें महिलाओं की आवाज बुलंद नहीं होती है। हमारी अर्थव्यवस्था दो असमान पहियों पर चलाई जा रही है। एक आधुनिकतम जेट विमान का है और दूसरा बैलगाड़ी का। इन पहियों पर अर्थव्यवस्था तो आगे बढ़ती है, लेकिन इन पर की जाने वाली यात्रा कैसी होगी? ग्रामीण विकास एवं महिलाओं के उत्थान करने से भारत की अर्थव्यवस्था में समान पहिए लग जायेंगे और विकास यात्रा जल्दी पूरी हो सकेगी।

गरीब एवं महिलाएँ और खासतौर से ग्रामीण महिलाएँ भारत की तेज और सतत् विकास प्रक्रिया के लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं। यदि हम महिलाओं एवं उसके गरीबी से उबरने के लिए पूँजी लगाते हैं असल में तो हम उनके सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक विकास में निवेश कर रहे होते हैं, उनकी नागरिकों के रूप में परिपक्वता और सशक्तीकरण में निवेश करते हैं। इस विकेन्द्रीकृत मगर सच्चे सशक्तीकरण से अर्थव्यवस्था और लोकतंत्र दोनों तेजी से बढ़ते हैं।

इस प्रकार महिलाओं में पूँजी निवेश से न केवल आर्थिक विकास को समन्वित किया जाएगा बल्कि उनके परिवार और भविष्य के लिए आर्थिक एवं सामाजिक परिवर्तन के उद्देश्यों में सफल होंगे। साथ ही महिला विकास के लिए किया गया निवेश अधिक लाभदायक और कम जोखिम वाला है, यह किसी राष्ट्र द्वारा किया जाने वाला आदर्श निवेश है। यह अधिक लाभदायक इसलिए है क्योंकि यह दीर्घावधि के लिए तेजी से प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष लाभ सुनिश्चित करता है।

आज भारत विश्व में मजबूत आर्थिक शक्ति के रूप में उभर रहा है। विश्व बैंक की एक रिपोर्ट के अनुसार भारतीय अर्थव्यवस्था विश्व की चौथी बड़ी अर्थव्यवस्था हो गई है। भारत में बीमा, बैंकिंग, आयात-निर्यात वृद्धि दर औद्योगिक उत्पादन दर तथा आर्थिक विकास दर औसतन बढ़ा है। वर्ष 2006-07 में आर्थिक विकास दर 9 प्रतिशत रही जबकि आई. टी. एवं सेवा क्षेत्र में 11 प्रतिशत से भी अधिक वृद्धि दर दर्ज की गई। हाल के वर्षों में यू. एस. ए. एवं यूरोपीय देशों में मंदी के कारण भारत के विकास दर में गिरावट आई है। इसके बावजूद आज भारत तीव्र विकास की ओर बढ़ रही है। लेकिन ग्रामीण क्षेत्रों की बदहाली देश के संतुलन आर्थिक विकास की राह में कांटा बनी हुई है। देश के नियोजन काल में ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी निवारण के अनेक प्रयत्न किये गए, परन्तु ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी और गरीबी की समस्या निरंतर बढ़ती जा रही है।

गाँवों का वर्तमान स्वरूप

ग्रामीण अर्थव्यवस्था की समस्याओं पर समुचित ध्यान दिए बिना सम्पूर्ण भारत के विकास की कल्पना नहीं की जा सकती है। भूमंडलीकरण उदारीकरण और औद्योगीकरण के इस उन्नत आधुनिक

दौर में भी भारत का मुख्य व्यवसाय कृषि है। देश की ग्रामीण अर्थव्यवस्था मुख्य रूप से कृषि आधारित है। कृषि एवं कृषि आधारित छोटे-छोटे उद्योगों, कुटीर उद्योग हस्तशिल्प उद्योग, दुग्ध उद्योग आदि आजीविका का प्रमुख साधन है। वर्तमान समय में 56.5 प्रतिशत लोग कृषि कार्य में लगे हुए हैं। गाँवों में 70 प्रतिशत से भी अधिक लोग निवास करते हैं। राष्ट्रीय आय में कृषि का योगदान 40 प्रतिशत से घटकर मात्र 18.5 प्रतिशत रह गया है। वर्ष 2006-07 में कृषि एवं सहयोगी क्षेत्र की विकास दर मात्र 2.7 प्रतिशत रही जिसे 11 वीं (2007-12) पंचवर्षीय योजना में 4.1 प्रतिशत करने का मुख्य लक्ष्य रखा गया है। वर्ष 2006-07 में 216 मिलियन टन कुल खाद्यान्न का उत्पादन हुआ। कृषि क्षेत्र का देश के कुल निर्यात मूल्यों में वर्ष 2005-06 में 10.2 प्रतिशत योगदान था।

अखिल भारतीय स्तर पर निवेश दर बाजार मूल्यों पर जी०डी०पी० का 37 प्रतिशत है। जब कि कृषि क्षेत्र में यह दर मात्र 1.9 प्रतिशत है। अतः राष्ट्रीय अनुपात की दृष्टि से निवेश दर 6 प्रतिशत कृषि क्षेत्र में किया जाना चाहिए। अर्थात् 4 प्रतिशत निवेश दर कृषि क्षेत्र में वृद्धि करने की आवश्यकता है। स्पष्ट है कि एकतरफ कृषि पर जनसंख्या की निर्भरता 56 प्रतिशत से अधिक है। लेकिन राष्ट्रीय आय में कृषि का योगदान क्रमशः घट रही है। कृषि विकास दर 3 प्रतिशत से भी कम है। ऐसी परिस्थिति में ग्रामीण लोगों की आय, उपभोग एवं जीवन स्तर घट रही है, जो गंभीर ग्रामीण समस्या को दर्शाता है।

अतः यदि जनसंख्या वृद्धि दर 1.5 प्रतिशत को ध्यान में रखते हुए कृषि में पर्याप्त सुधार नहीं किया गया तो देश में खाद्य संकट की स्थिति उत्पन्न होगी। इस प्रकार अर्थशास्त्री प्रधानमंत्री डॉ० मनमोहन सिंह द्वारा द्वितीय हरित क्रान्ति पर विशिष्ट बल देना अत्यन्त स्वाभाविक है। कृषि पर समुचित ध्यान दिये बिना 12 वीं योजना के लक्ष्य को पूरा नहीं किया जा सकता है तथा गाँव का सर्वांगीण विकास प्राप्त करना भी मुश्किल होगा। गाँव के गरीब किसान सम्पत्ति बनाने, रोजगार पाने, अपनी आय बढ़ाने या जीवन की गुणवत्ता सुधारने में किल रहे हैं। आज गाँव में खुशहाली, हरियाली और समृद्धि लाने के लिए गाँवों को आधुनिक विश्व बाजार से जोड़कर ही सफलता पायी जा सकती है।

ग्रामीण क्षेत्रों के लोगों की आय का मुख्य स्रोत कृषि है। परन्तु कृषि तो अपने स्वरूप में ही मौसमी व्यवस्था है। इसलिए कृषि तथा इस पर आधारित उद्योगों में मौसमी बेरोजगारी पाया जाना स्वाभाविक है। एक सही अनुमान के मुताबिक उत्तरी भारत में औसत किसान वर्ष के 150 दिन बेकार रहता है। मौसमी बेरोजगारी में वृद्धि का सबसे महत्वपूर्ण कारण ग्रामीण शिल्प उद्योग तथा कुटीर उद्योगों का पतन रहा है। ग्रामीण बेरोजगारी का दूसरा स्वरूप अल्प रोजगार या चिरकालीन अदृश्य बेरोजगारी है।

भगवती रिपोर्ट के अनुसार 1971 में देश में बेरोजगारों की संख्या 187 लाख थी जिसमें से 161 लाख ग्रामीण क्षेत्र के थे तथा जिनमें 76 लाख पुरुषों तथा 85 लाख महिलाएँ बेरोजगार थी। 1994 में बेरोजगारों की संख्या 3 करोड़ 77 लाख थी जिनमें 62 प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्रों के लोग थे। वर्ष 2006 में एन०एस०एस० द्वारा जारी रिपोर्ट में बतलाया गया कि 2004-05 में ग्रामीण पुरुषों में 56 प्रतिशत लोग कामकाजी हैं, जबकी महिलाओं में कामकाजी का हिस्सा मात्र 33 प्रतिशत है। 1999-2000 से 2004-05 तक महिलाओं के रोजगार प्रतिशत में क्रमशः वृद्धि हो रही है, यह एक अच्छा संकेत है। वर्ष 2004-05 में ग्रामीण क्षेत्रों में 64 प्रतिशत पुरुष तथा 45 प्रतिशत महिलाएँ शिक्षित पाई गईं। शहरी क्षेत्रों में यह दर क्रमशः 81 प्रतिशत और 69 प्रतिशत थी। वर्ष 1993-94 में ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी दर 5.61 प्रतिशत था जो 1999-2000 में बढ़कर 7.21 प्रतिशत हो गया। इस अवधि में बेरोजगारों की संख्या 14.34 मिलियन से बढ़कर 19.5 मिलियन हो गया। देश में

उदारीकरण के पश्चात् लगभग 23.85 करोड़ लोग अभी भी गरीबी रेखा से नीचे जीवन-यापन करने को मजबूर है।

देश में इस समय 21.8 प्रतिशत लोग गरीबी रेखा से नीचे जीवन-यापन करते हैं जबकि बिहार में 40 प्रतिशत लोग बी०पी०एल० के अन्तर्गत आते हैं। 1993-94 में शहर एवं गाँवों का निर्धनता अनुपात 3.2: 3.7 था। उदारीकरण के पश्चात् 2001-02 में यह अनुपात बढ़कर 3: 4.2 हो गया। स्पष्ट है कि सुधार प्रक्रिया का गाँव पर अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ा है। अर्थात् निर्धनता बढ़ी है। इस तथ्य को निम्न तालिका-01 से स्पष्ट किया जा सकता है।

तालिका -01: निर्धनता अनुपात (प्रतिशत में)

वर्ष	शहरी	ग्रामीण	अखिल भारत
1973-74	49	56.4	54.90
1983-84	40.8	45.7	44.50
1993-94	32.4	37.3	36.00
1999-2000	23.62	27.09	26.10
2001-2002	15.10	21.10	19.13

शिक्षा

शिक्षा अंधविश्वास, कुरितियों तथा पिछड़ेपन रुपी अंधकार को दूर भगाता है और स्वच्छ समाज का निर्माण करता है। यदि देश की आधी भगीदारी अर्थात् महिला शिक्षा के विषय में ध्यान दे तो पाते हैं कि महिलाओं को शिक्षित करना अनिवार्य होना चाहिए, उन्हें शिक्षित बनाना समाज का नैतिक उत्तरदायित्व है। यह सत्य है कि एक पुरुष शिक्षित होकर एक परिधि तक ज्ञान सीमित रखता है, परन्तु एक महिला शिक्षित होकर दो परिवारों तथा देश के भविष्य को शिक्षित करती है। महिलाओं के पिछड़ेपन एवं समस्याओं का सबसे बड़ा कारण शिक्षा एवं प्रशिक्षण का अभाव है। विश्व का जहाँ प्रत्येक तीसरा व्यक्ति निरक्षर है, वहीं हर दूसरी महिला निरक्षर की श्रेणी में आती है।

तालिका -02

निम्न तालिका से महिला एवं पुरुष की साक्षरता की स्थिति वर्ष 1951 से 2011 के बीच जाना जा सकता है।

जनगणना वर्ष	पुरुष	महिलाएँ	व्यक्ति	पुरुष-महिला अंतराल
1951	27.2	8.9	18.3	18.3
1961	40.4	15.4	28.3	25.0
1971	46.0	22	34.4	24
1981	56.4	29.8	43.6	26.6
1991	64.1	39.3	52.2	24.8
2001	75.3	53.7	64.8	21.6
2011	82.1	65.5	74	16.7

आजादी के समय महिलाओं की साक्षरता दर दयनीय थी। वर्ष 1951 में यह दर मात्र 8.9 प्रतिशत था जो पुरुषों की तुलना में एक तिहाई से भी कम थी। वर्ष 1981 में स्त्री-पुरुष साक्षरता दर अंतराल सर्वाधिक 26.6 प्रतिशत था। 2011 की जनगणना में पुरुष साक्षरता में 7 प्रतिशत जबकि महिला साक्षरता में 12 प्रतिशत वृद्धि हुई है फिर भी दोनों में अंतराल 16.7 बना हुआ है।

तालिका-03: राज्यवार महिलाओं एवं पुरुषों की साक्षरता दर 2011 (जनगणना)

केन्द्र शासित क्षेत्र का कोड	भारत/राज्य/केन्द्रशासित क्षेत्र	व्यक्ति	पुरुष	महिला
1	जम्मू-कश्मीर	68.74	78.26	58.01
2	हिमाचल प्रदेश	83.78	90.83	76.60
3	पंजाब	76.68	81.48	71.34
4	चंडीगढ़	86.43	90.54	81.38
5	उत्तराखण्ड	79.63	88.33	70.70
6	हरियाणा	76.64	85.38	66.77
7	दिल्ली	86.34	91.03	80.93
8	राजस्थान	67.06	80.51	52.66
9	उत्तर प्रदेश	69.72	79.24	54.26
10	बिहार	63.82	73.39	53.33
11	सिक्किम	82.20	87.29	76.43
12	अरुणाचल प्रदेश	66.95	73.69	59.57
13	नगालैण्ड	80.11	83.29	76.69
14	मणिपुर	79.85	86.49	73.17
15	मिजोरम	91.58	93.72	89.40
16	त्रिपुरा	87.75	92.18	83.15
17	मेघालय	75.48	77.17	73.78
18	असम	73.18	78.81	66.27
19	पं० बंगाल	77.08	82.67	71.16
20	झारखण्ड	67.63	78.45	56.21
21	उड़ीसा	73.45	82.40	64.36
22	छत्तीसगढ़	71.04	81.45	60.59
23	मध्य प्रदेश	70.63	80.53	60.02
24	गुजरात	79.31	87.23	70.73
25	दमन एवं दीव	87.07	91.48	79.59

क्रमशः

केन्द्र शासित क्षेत्र का कोड	भारत/राज्य/केन्द्रशासित क्षेत्र	व्यक्ति	पुरुष	महिला
26	दादर एवं नगर हवेली	77.65	86.46	65.93
27	महाराष्ट्र	82.91	89.82	75.48
28	आन्ध्र प्रदेश	67.66	75.56	59.74
29	कर्नाटक	75.60	82.85	68.13
30	गोवा	87.40	92.81	81.84
31	लक्षद्वीप	92.28	96.11	88.25
32	केरल	93.91	96.02	91.98
33	तमिलनाडू	80.33	86.81	73.86
34	पुदुचेरी	86.55	92.12	81.22
35	अंडमान एवं निकोबार द्वीप समूह	86.27	90.11	81.84

महिला उद्यमशीलता का विकास

महिलाओं के विकास एवं सशक्तीकरण का महत्वपूर्ण तरीका उनमें उद्यमशीलता एवं तकनीकी ज्ञान का विकास है। एक उद्यमशील महिला एक श्रमिक महिला से आर्थिक दृष्टि से अधिक शक्तिशाली होती है क्योंकि स्वामित्व उसे न केवल परिसम्पत्तियों और देनदारियों पर नियंत्रण प्रदान करता है, बल्कि उसे निर्णय करने की स्वतंत्रता भी प्रदान करता है। इससे उसकी सामाजिक एवं आर्थिक हैसियत में भी उल्लेखनीय बढ़ोतरी होती है।

इसके अलावा एक महिला उद्यमशीलता के विकास द्वारा न केवल अपने लिए आय पैदा करती है। बल्कि अपने समाज की अन्य महिलाओं के लिए भी रोजगार के अवसर पैदा करती है। फलतः उद्यमशीलता का बहुअयामी प्रभाव पड़ेगा तथा गरीबी दूर करने में सहायता मिलेगी।

परिवार के लिए आय पैदा करने वाली गतिविधियों में महिलाओं की भागीदारी हाल के वर्षों में तेजी से बढ़ी है। महिलाओं के काम करने से न केवल परिवार की आय बढ़ती है बल्कि घर की महिलाओं को आर्थिक स्वतंत्रता भी मिलती है। जहाँ महिलायें आर्थिक दृष्टि से सक्रिय होती हैं, वहाँ लड़कियों को बोझ नहीं समझा जाता और उन्हें घर के संसाधनों में अधिक हिस्सा मिलता है। व्यवसायिक एवं प्रबंधकीय कामों में महिलाओं की संख्या बढ़ने के बावजूद उद्यमशीलता में महिलाओं की अभी भी काफी कमी है। अतः भारत में “अवसर उद्यमशीलता” के स्थान पर “महिला आवश्यक उद्यमशीलता” होना चाहिए।

महिला विकास के विभिन्न राष्ट्रीय कार्यक्रम

महिला विकास एवं सशक्तीकरण को मूर्त रूप देने के लिए महिलाओं के शैक्षिक, स्वास्थ्य एवं सामाजिक स्तर में सुधार की अनिवार्यता को देखते हुए केन्द्र सरकार द्वारा अनेक कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं, इन कार्यक्रमों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

क्र०	कार्यक्रम	वर्ष	उद्देश्य
1	स्वावलम्बन	1982	कमजोर वर्ग की महिलाओं के लिए प्रशिक्षण के माध्यम से रोजगार उपलब्ध कराना तथा आर्थिक सहायता प्रदान करना।
2	स्वशक्ति	1988	महिलाओं में आत्मनिर्भरता और आत्म विश्वास बढ़ाने तथा स्वरोजगार की दिशा में प्रेरित करने में सहायता प्रदान करना।
3	स्वयंसिद्ध	2001	ग्रामीण महिलाओं को स्वास्थ्य, शिक्षा कानूनी अधिकार, आर्थिक गतिविधियों, घरेलू बचत के प्रति जागरूक किया जाना। ऋण एवं रोजगार के लिए प्रेरित किया जाना।
4	आशा योजना	2005	ग्रामीण महिलाओं के स्वास्थ्य की देखभाल करना, इसके लिए प्रत्येक गाँव में एक आशा कार्यकर्ता की तैनाती का प्रावधान
5	स्वर्णिम योजना		बी० पी० एल० से नीचे जीवनयापन करने वाले अत्यंत पिछड़े वर्ग की महिलाओं को 4 प्रतिशत व्याज दर पर ऋण उपलब्ध कराना।
6	राष्ट्रीय पोषाहार मिशन	2001	बी० पी० एल० से नीचे जीवनयापन करने वाली महिलाओं को सस्ते दर पर खाद्यान्न उपलब्ध कराना।
7	जीवन भारती महिला सुरक्षा योजना	2003	18-50 वर्ष आयु की ग्रामीण महिलाओं को गंभीर बीमारियों एवं उनके बच्चों की अपंगता की स्थिति में एल० आइ० सी० द्वारा सुरक्षा कवच प्रदान करना।
8	एस० टी० इ० पी०	1986-87	महिलाओं के लिए 8 परंपरागत क्षेत्रों कृषि, पशुपालन, मतस्य पालन, दुग्ध उत्पादन, हस्तशिल्प, खादी तथा ग्रामोद्योग एवं रेशम कीट पालन में प्रशिक्षण एवं रोजगार उपलब्ध कराना।

उपर्युक्त कार्यक्रमों के अतिरिक्त बालिका प्रोत्साहन, राष्ट्रीय महिला कोष, परिवार परामर्श केन्द्र, बालिका समृद्धि योजना, विल योजना, किशोरी शक्ति योजना, बंदे मातरम् योजना आदि महिला विकास एवं समृद्धि के लिए केन्द्र सरकार द्वारा चलाये जा रहे हैं। इन कार्यक्रमों के संचालन के बाद भी महिलाओं की स्थिति में अपेक्षित सुधार नहीं हुआ है। जाहिर है कि हमारी नीतियों, कार्यक्रमों और कानूनों के क्रियान्वयन में कमियाँ हैं तभी तो इस तरह का असंतुलन बना हुआ है।

गाँव के विकास के लिए आवश्यक है कि कृषि में अपेक्षित सुधार हो तथा कृषि में जी० डी० पी० का 7 प्रतिशत निवेश किया जाय। द्वितीय हरित क्रांति के लिए आवश्यक सुविधाएँ समय पर किसानों को उपलब्ध कराया जाय। कृषि आधारित उद्योग, ग्रामोद्योग, हस्तशिल्प, मतस्य पालन, दुग्ध उत्पादन पर समुचित ध्यान दिया जाय। अकेले बिहार में 25 हजार से भी अधिक लघु औद्योगिक इकाईयाँ बीमार हैं। इसका मुख्य कारण महँगा कच्चा माल, बिजली की कमी, पूंजी का अभाव,

अधिक कीमत एवं निम्न मांग माना जाता है। ऐसी परिस्थिति में कृषि आधारित स्थानीय एवं सस्ते कच्चे माल द्वारा संचालित लघु एवं छोटे-छोटे उद्योगों के विकास के लिए विशेष अभियान चलाना होगा। साथ ही बिजली एवं सड़क परियोजनाओं को समय से पूरा किया जाय तथा इसमें अधिक निवेश कर ग्रामीण आवश्यकताओं को पूरा किया जाय।

गाँव में गरीब परिवारों की महिलायें कुटीर एवं हस्तकरघा उद्योग, खादी उद्योग द्वारा कपड़ा तैयार कर अपनी आय बढ़ा सकती है। चटाई, डलिया एवं बांस से निर्मित अनेक दैनिक उपयोग एवं सजावट की वस्तुएँ तैयार कर आय का साधन बना सकती है। इसके लिए थोड़े से प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। गाँव में महिलायें फल सब्जियाँ एवं दुग्ध उत्पादन कर आय में वृद्धि कर सकती है। महिलाओं के लिए वस्त्र सिलाई का धंधा भी उनकी आय बढ़ाने में सहायक सिद्ध हो सकता है।

गाँव की महिलायें सहकारी संस्थायें बनाकर उद्योग धंधे चलाये तो वे सरकार से अंश पूँजी, संरचना विपणन, प्रबंध आदि के लिए वित्तीय सहायता प्राप्त कर सकती है। इतना ही नहीं, उनकी औद्योगिक सहकारी संस्थायें सरकार का ब्याज अनुदान योजना अंतर्गत रियायती ब्याज दर पर ऋण भी प्राप्त कर सकती है।

शहरों के साथ ही गाँव में भी महिलाओं का शोषण और उत्पीड़न रोकने के लिए महिलाओं में शिक्षा का व्यापक प्रसार करना होगा। उन्हें संगठित होकर अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाने की प्रेरणा देनी होगी। महिलाओं को यह समझना भी आवश्यक है कि वे अपने बीच बनी खाई को समाप्त करे, एक महिला दूसरी महिला को उत्पीड़ित करने की बजाय उसे स्नेह दे। साथ ही आबादी की बाढ़ पर अंकुश लगाना महिलाओं का धर्म है।

इस प्रकार गाँव का सर्वांगीण विकास तभी संभव है जब यहाँ कि महिलाओं को शिक्षित-प्रशिक्षित किया जाय तथा उनमें जागृति लायी जाय। इसके अलावे राज्य के लिए बनायी जाने वाली योजनाओं तथा उनको क्रियान्वित करने में महिलाओं को सम्मिलित किया जाना आवश्यक है।

अतः महिलाओं की आय, रोजगार एवं व्यवसाय में उत्तरोत्तर वृद्धि के लिए आवश्यक है कि महिला-केन्द्रित ग्रामिण विकास की विशिष्ट योजनायें विशेषकर गाँवों में सफलतापूर्वक लागू किया जाय।

“यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता”

संदर्भ स्रोत

योजना, कुरुक्षेत्र, जनगणना 2011, अर्थिक सर्वे, इंटरनेट, आदि

बच्चों के शैक्षणिक विकास में सामाजिक-आर्थिक स्थिति का प्रभाव

संजय कुमार गुप्ता

शोधप्रज्ञ, श्रम एवं समाज कल्याण विभाग,
मगध विश्वविद्यालय, बोधगया

मानव जाति का उद्विकास पशुजगत् सह ही हुआ है। अर्थात्, मानव मूलरूप से पाशविकता से जुड़ा है। यह प्रकृति की असीम कृपा रही है कि उसमें मानवता का विकास हुआ है और वह पशु से अलग एक विशेष पूर्ण नहीं हो पाया है।

आज हम भले ही मानव कहलाते हैं किन्तु हममें गलतियाँ कर बैठते हैं अर्थात् मानवीकरण की हमारी यात्रा अभी पूर्ण नहीं हो पायी है। अभी तक देश-विदेश की अरबों की जनसंख्यामें इने-गिने ही इस सफर के उच्चस्तरीय मानवता की यात्रा पूर्ण कर पाये हैं और वे नर से नारायण अर्थात् ईश्वर/खुदा की उपाधि पाये हैं।

समाज में ऐसे उत्कृष्ट मानवीय गुणों को अधिक से अधिक प्रचारित-प्रसारित करने की आवश्यकता है। तभी समाज राष्ट्र और विश्व मानव समुदाय का कल्याण संभव है।

शिक्षा सीखने की एक प्रक्रिया है। सभ्यता के प्रारंभ में मानव अपने जीवन में अनुभवों से जो भी सीखते थे, उसे अपने बच्चों को सिखाने की चेष्टा करते थे। बाद में धीरे-धीरे जीवन के कुछ विशेष और आवश्यक ज्ञान को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तान्तरित करने का बीड़ा एक विशेष वर्ग ने उठाया जो आगे चलकर गुरु या शिक्षक कहलाये।

समाज के हर वर्ग ने इनका महत्व समझा और इन्हें विशिष्ट पद एवं सम्मान से सम्मानित करने लगा। ये समाज एवं राष्ट्र के निर्माता माने जाने लगे। जैसे शिक्षा होगी, जैसा शिक्षक होगा, राष्ट्र या बच्चे भी वैसा ही होगा।

आज समाज दिग्भ्रमित हो चुका है। मानव जीवन की सार्थकता को भूल चुका है और भौतिकता एवं मानसिक उन्माद के चक्रव्यूह में उलझ चुका है। किसी भी देश के बच्चों के सभी तरह के विकास में चाहे वे सामाजिक-आर्थिक या अन्य कोई भी कारण हो, उनपर वहाँ के वातावरण का प्रभाव बहुत ज्यादा पड़ता है। कोई भी देश कितना ही उन्नति क्यों न कर ले, परन्तु आज भी समाज में बच्चों पर सामाजिक-आर्थिक परिवेश का असर बहुत ज्यादा पड़ता है।

आज समाज बच्चों के शैक्षणिक विकास में आनुवंशिकता का प्रभाव मानता है। गर्भावस्था से ही बच्चों का सभी तरह का विकास प्रारंभ हो जाता है। इसमें भी आर्थिक सुदृढ़ता के अनुसार बच्चों को उचित पोषण देकर उनके मानसिक स्तर को उन्नत किया जाता है। मानसिक विकास की गति में भी व्यक्तिगत विभिन्नताएँ पायी जाती हैं और आस-पास के वातावरण का भी प्रभाव उनके शैक्षणिक वातावरण पर पड़ता है।

हम कह सकते हैं कि बच्चों के शैक्षणिक विकास की समस्या विकास का महत्वपूर्ण अंग है जो सीधे किसी देश या समाज के विकास से संबंधित है। कई मनोवैज्ञानिकों ने बालकों के शैक्षणिक विकास के क्रम में सामाजिक-आर्थिक स्थिति का अध्ययन किया है और अन्तर भी देखा है। वर्तमान

समय में भी अच्छे सामाजिक-आर्थिक स्थिति वाले परिवारों के बच्चों के शैक्षणिक विकास में समस्याएँ देखी जा रही है।

पारिवारिक वातावरण के साथ-साथ विद्यालय के वातावरण और संगठन का प्रभाव बच्चों के शैक्षणिक विकास पर पड़ता है। बच्चों को विद्यालय जाने के पूर्व जो पारिवारिक वातावरण मिलता है, वह बच्चों के शैक्षणिक विकास को काफी प्रभावित करता है।

अतः हम कह सकते हैं कि किसी भी परिवार के बच्चे के शैक्षणिक विकास पर उनके आर्थिक स्थिति का प्रभाव पड़ता है। इसलिए आर्थिक विकास को सुदृढ़ करने के लिए इन्हें स्वयं मेहनत करना पड़ेगा ताकि अपने बच्चों को सही शिक्षा दे सकें।

सरकारी विद्यालयों के बच्चों के शैक्षणिक विकास में सामाजिक-आर्थिक स्थिति का प्रभाव

(बोकारो शहर के विशेष संदर्भ में)

डॉ० शोभा कुमारी

गृह विज्ञान विभाग, जवाहरलाल मेमोरियल कॉलेज, सुरसन्द
बी०आर०ए० बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

परिचय

बच्चों के शैक्षणिक विकास में सामाजिक-आर्थिक वातावरण का बहुत बड़ा योगदान होता है। आज हमारा देश काफी उन्नति कर चुका है परन्तु आज भी यहाँ के समाज में बच्चों को सामाजिक-आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। एक योग्य शिक्षक शैक्षणिक विकास के कारणों को बालक के वातावरण में ढूँढते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि शैक्षणिक विकास में आनुवंशिकता का प्रभाव किसी तरह से कम होता है। सामान्य रूप से बालक आनुवंशिकता से ही बुद्धि का एक विशेष स्तर तथा विभिन्न मानसिक योग्यताएँ लेकर उत्पन्न होता है। इनमें अच्छा वातावरण देकर केवल एक सीमा तक ही उन्नति की जा सकती है। परन्तु शिक्षा का प्रयोजन वातावरण में सुधार करके बालक के शैक्षणिक विकास को प्रोत्साहित करना है।

गर्भावस्था से ही बच्चों का मानसिक तथा शारीरिक विकास आरंभ हो जाता है। इस अवस्था में गर्भवती को उचित पोषण देकर बच्चे के मानसिक स्तर को उन्नत किया जा सकता है। मानसिक विकास की गति में भी व्यक्तिगत विभिन्नताएँ पायी जाती हैं। साथ में इसके आस-पास के वातावरण के कारण भी उसके शैक्षणिक विकास में विभिन्नताएँ पायी जाती हैं। स्वस्थ पोषण एवं स्वस्थ वातावरण से ही बच्चों का विकास अच्छा हो सकता है।

इस संदर्भ में अरस्तु का कथन है कि 'स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क निवास करता है'। पी.डी. पाठक के अनुसार 'उच्च सामाजिक स्थिति वाले परिवार के बच्चे की बुद्धि की मौखिक और लिखित परीक्षाओं में निम्न सामाजिक स्थिति वाले परिवार के बच्चे की बुद्धि की मौखिक और लिखित परीक्षाओं में निम्न विकास को बहुत हद तक प्रभावित करती है। अगर बच्चों के सही पोषण और उनके सामाजिक-आर्थिक पहलुओं पर ध्यान दिया जाय तो उनके विकास को सही दिशा मिलेगी। अतः कहा जा सकता है कि समुचित पोषण ही बच्चों के शैक्षणिक विकास की समस्या का महत्वपूर्ण पहलू है जो सीधे-सीधे देश व समाज के विकास से संबंधित है। मनोवैज्ञानिकों द्वारा पूर्व में भी बालकों के शैक्षणिक विकास के क्रम में सामाजिक-आर्थिक प्रभावों का अध्ययन किया गया है एवं अन्तर भी देखा गया है। वर्तमान में अच्छे सामाजिक-आर्थिक स्तर के परिवारों में बच्चों के शैक्षणिक विकास में समस्याएँ देखी जा रही है। अतः विकास से संबंधित इस महत्वपूर्ण पहलू को और अधिक गहनता से अध्ययन करने की आवश्यकता है।

पूर्व अध्ययनों की समीक्षा

सम्पूर्ण जनसंख्या को तीन वर्गों में बांटा जा सकता है- उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग एवं निम्न वर्ग। उच्च वर्ग के अन्तर्गत सम्पन्न जमीनदार, सेठ-साहूकार, बिन कमाये बड़ी सम्पत्ति और धन के मालिक इत्यादि आते हैं। मध्यम वर्ग में नौकरी पेशा या व्यवसायी आते हैं, जिनकी आमदनी से किसी प्रकार खर्च चलता है। निम्न वर्ग में ऐसे लोग आते हैं जो कठिन शारीरिक श्रम द्वारा अपर्याप्त जीविका प्राप्त करते हैं। प्रत्येक वर्ग में ऊँचे-नीचे लोग हो सकते हैं। अभिभावक के सामाजिक-आर्थिक स्तर का व्यापक प्रभाव बच्चों के व्यक्तित्व पर पड़ता है। ड्कर एवं रेमर्स (1952) ने उच्च विद्यालय के 1000 विद्यार्थियों की व्यक्तिगत संबंधी समस्याओं को निर्धारित किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि निम्न आर्थिक स्तर के विद्यार्थियों में ऊँचे स्तर के विद्यार्थियों की अपेक्षा 50 प्रतिशत व्यवहार समस्याएँ अधिक थी। सिम्स (1954) ने उच्च विद्यालय और महाविद्यालय के विद्यार्थियों से पूछा कि वे मध्यवर्ग के हैं या श्रमिकवर्ग के। विद्यार्थियों द्वारा दी गई रिपोर्ट के आधार पर ही उनका वर्गीकरण किया, फिर उनकी सामंजस्य समस्याओं की जाँच की। देखा गया कि श्रमिक-वर्ग के विद्यार्थियों में सामंजस्य समस्या अधिक थी। स्प्रांगर (1938) के अनुसार प्रत्येक सामाजिक-आर्थिक वर्ग में बाल-पोषण पद्धति एक विशेष ढंग की होती है। निम्नवर्ग में प्रधानतः स्तन्यदान द्वारा बाल-पोषण होता है, जबकि ऊँचे वर्ग में बोतल से दूध पिलाकर बच्चे का पोषण किया जाता है। निम्न वर्ग में ऊँचे वर्ग की अपेक्षा शौच प्रशिक्षण सहज और आसान होता है, निम्नवर्गीय माताएँ अपने बच्चों के साथ उतना समय नहीं देती हैं जितना ऊँचे वर्ग की माताएँ देती हैं। ये सभी भेद व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं। सीयर्स मैककोबी एवं लेविन (1957) के अध्ययन से पता चलता है कि श्रमिकवर्ग की माएँ अपने बच्चों को अधिक प्रतिबन्धों में जकड़ती हैं और उच्चवर्गीय माएँ अधिक अनुज्ञापक (Permissive) होती हैं। रीजेन (1956) ने देखा कि मध्य और उच्चवर्ग के बच्चों की आवश्यकता निम्नवर्गीय बच्चों से ऊँची होती है, इसलिए वे समाज में अपना स्थान क्रमशः ऊँचा करते जाते हैं।

निम्नवर्गीय बच्चों की जैविक निराशाएँ अनेक प्रकार की होती हैं। उन्हें भोजन कम मिलता है, वस्त्र तथा आवासीय सुविधाओं का अभाव रहता है और ये सभी बातें पिता के निम्न व्यवसाय तथा अल्प आय के कारण होती हैं। निम्नवर्गीय बच्चों को जैविक निराशाओं के अतिरिक्त सामाजिक निराशाएँ भी होती हैं। स्कूल के सारे खेल-कूद तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमों पर मध्य एवं उच्चवर्गीय विद्यार्थियों का अधिकार रहता है और नेतृत्व भी उन्हीं को मिलता है। निम्नवर्गीय विद्यार्थी विवश दर्शक बने रहते हैं। इतना ही नहीं, इनके साधारण कपड़े, खराब मकान आदि की खिल्ली भी उड़ायी जाती है। इन सभी जैविक एवं सामाजिक निराशाओं का प्रभाव बच्चों के व्यक्तित्व पर पड़ता है।

आर्थिक अभाव के कारण निम्नवर्गीय परिवारों में प्रायः एक तनावपूर्ण स्थिति रहती है। परिवार की मूल आवश्यकताओं की भी पूर्ति में असमर्थ पिता अपने मानसिक तनाव का बुखार बच्चों पर उतारता है। कठिनाईग्रस्त पिता बच्चों के साधारण दोष के लिए भी कठोर दण्ड देता है जिससे पारिवारिक असामंजस्य बढ़ता है और बच्चों का व्यक्तित्व कुठित होने लगता है। हेवार्ड (1935) ने उच्च, मध्य एवं निम्नवर्गीय का पारिवारिक असामंजस्य अंक निर्धारित किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि जैसे-जैसे परिवार का आर्थिक स्तर गिरता जाता है, वहाँ आन्तरिक असामंजस्य बढ़ता है तथा व्यक्ति पर उसके कुप्रभाव बढ़ते जाते हैं। ऐसे असामंजस्य के कारण बहुत से परिवार टूट जाते हैं। टूटे हुए परिवारों में बच्चों का मानसिक स्वास्थ्य इतना घट जाता है कि अधिकांश अपराधी बच्चे ऐसे ही परिवारों के होते हैं।

आर्थिक स्तर का प्रभाव व्यक्ति की अभिवृत्तियों पर भी पड़ता है जो व्यक्तित्व के अभिन्न अंग होते हैं। जब व्यक्ति अपनी निराशाओं से उत्पन्न आक्रमणशीलता को समाज के किसी भी ऐसे कमजोर वर्ग पर स्थानान्तरित कर देता है जो प्रतिरोध में सक्षम नहीं रहता है। फ्रायड का विचार है कि आक्रमणशीलता की यह भावना मूल रूप से अपने माता-पिता के प्रति रहती है जो स्थानान्तरित होकर कमजोर वर्ग पर चली जाती है। यह आक्रमणशीलता एक प्रकार की अभिवृत्ति है जो आधुनिक विश्वास के अनुसार मूलतः आर्थिक नैराश्य से उत्पन्न होती है। जब भी देश के मुख्य वर्गवालों को आर्थिक निराशा होती है तो वे अपने निकट के कमजोर वर्ग, जैसे भारत में हरिजन, मुसलमान आदि और अमेरिका में यहूदी, हब्सी आदि पर आक्रमण करने लगते हैं। वर्ड और मोनेकेसी (1954) ने देखा कि जब गौरांगों के एक आवासीय क्षेत्र में हब्सी भी प्रवेश करने लगे और गौरांगों की आर्थिक स्थिति खराब होने लगी तो वे हब्सीयों के प्रति अधिक प्रतिकूल होते गये। निम्नवर्गीय विद्यार्थियों में संवेगात्मक स्थिरता अपेक्षाकृत कम होती है। जेसेल और लाडे (1929) के अनुसार शिशु पाठशाला में भी यह दोष देखे जाते हैं। लावाव (1970) ने देखा कि निम्न और मध्यवर्ग के बच्चों की भाषा भी निम्न होती है। अमेरिका के अल्पसंख्यकों की घनी आबादी वाली गंदी बस्तियों में पलने वाले बच्चों की अंग्रेजी भाषा मध्यवर्ग की साफ-सुथरी आबादी में पलने वालों से भिन्न होती है। निम्नवर्गीय बच्चों की भाषा अधिक प्रत्यक्ष और भावसूचक होती है और यदि विद्यालय में मध्यवर्गीय शिक्षक हुए तो इन बच्चों को कठिनाई होती है।

गफ (1946) ने अपने अध्ययन में देखा कि निरन्तर आशंका एवं असुरक्षा के कारण निम्नवर्गीय व्यक्तियों में संतुलन एवं आत्मविश्वास का अभाव रहता है और लैंगिकता के प्रति उनके विचार रूढ़िवादी होते हैं। गफ ने यह भी देखा है कि श्रमिक वर्ग के लोगों में शारीरिक व्याधियाँ अधिक होती हैं, ये अधिक विद्रोही होते हैं तथा उनमें संवेगात्मक अशान्ति अधिक होती है। स्टीट (1945) के अनुसार कृषक बच्चे छोटे शह के अकृषक बच्चों से अच्छा आत्मसमंजन प्रदर्शित करते हैं और कृषकों में भी निम्न आर्थिक स्तर के बच्चों में आत्म-समंजन तथा सामाजिक संगठन की कठिनाईयाँ रहती हैं। अध्ययन से यह भी सिद्ध हुआ है कि गरीबों में चिन्ता अधिक होती है, आत्मनिर्भरता कम होती है, अन्तर्मुक्ता अधिक और प्रभुत्वाकांक्षा कम होती है। ग्लूएक एवं ग्लूएक (1950) ने अपने अध्ययन में पाया कि गरीबों में एक सामान्य अस्पष्ट अचेतन चिन्ता और असुरक्षा की भावना रहती है। ओल्ड (1952) के अनुसार मध्यमवर्गीय बच्चे निम्नवर्गीय बच्चों की तुलना में अधिक कल्पनाशील, बुद्धिमान और प्रौढ़ होते हैं।

व्यक्तिगत विकास पर सामाजिक-आर्थिक स्थितियों का प्रभाव पड़ता है। यह सत्य है कि कभी-कभी गरीबी वरदान बन जाती है और अमीरी अभिशाप, परन्तु अधिकांश परिस्थितियों में सामाजिक एवं आर्थिक सम्पन्नता समुचित एवं प्रभावशाली व्यक्तित्व के विकास में सहायक होती है। हिमिलविट (1955) ने निम्न सामाजिक-आर्थिक वर्ग की अपेक्षा मध्य सामाजिक-आर्थिक वर्ग के लोगों में अधिक संतुलन पाया। परामेश्वरन (1957) ने निम्न सामाजिक-आर्थिक स्थिति वाले व्यक्तियों में कुसुमायोजन के अधिक लक्षणों का उल्लेख किया है। कैनर (1985) के अनुसार गरीब परिवार के बच्चों में आत्मविश्वास के भाव और परिपक्वता में कमी पाई जाती है। हाफिडिज (1934) के अनुसार निम्न सामाजिक-आर्थिक स्थिति के बच्चों की अपेक्षा उच्च सामाजिक-आर्थिक स्थिति के बच्चों में आधिपत्य, आत्मनिर्भरता एवं अभिमान आदि शीलगुण अधिक पाये जाते हैं। स्टॉट (1962) के अनुसार लाभान्वित बच्चों की अपेक्षा अलाभान्वित बच्चों में व्यवहार विकृतियाँ अधिक पाई जाती हैं।

आइजिंक एवं कूकसन (1970) ने उच्च सामाजिक-आर्थिक स्थिति के बच्चों में बहिर्मुखता अधिक और स्नायु रोग कम पाया। हॉलिंगशीड एवं रेडलिच (1988) में उच्च वर्ग की अपेक्षा निम्न वर्ग के व्यक्तियों में चरित्र विकृति अधिक पाई। थॉपे एवं जानसन (1958) में निम्न आर्थिक स्तर के बच्चों में अपराध प्रवृत्ति अधिक पाई।

सुलेमान (1949) के अध्ययन में निम्न सामाजिक-आर्थिक स्थिति के बच्चों में ढीला-ढाला अनुशासन, नीचा मनोबल, दुर्बल अहम शक्ति आदि शील गुण देखे गये। हिमशो (1984) के अध्ययन में उच्च वर्ग की अपेक्षा निम्नवर्ग के व्यक्तियों में आक्रमणकारी प्रवृत्ति पाई गयी। लेकिन ग्रीन (1946) के अध्ययन में निम्नवर्ग की अपेक्षा मध्यमवर्ग के बच्चों में दोष भाव तथा चिन्ता बोध अधिक पाया गया।

भारतीय परिवेश में किये गये अध्ययनों से भी व्यक्तित्व विकास पर सामाजिक-आर्थिक स्थिति का प्रभाव प्रमाणित होता है। शुक्ला और मिश्र (1980) ने निम्न सामाजिक-आर्थिक स्थिति की तुलना में उच्च सामाजिक-आर्थिक स्थिति के बच्चों में बेहतर अभियोजन पाया। दास एवं दास ने निम्न जाति की अपेक्षा उच्च जाति के बच्चों में अधिक संज्ञानात्मक योग्यता पाई।

सक्सेना (1982) ने अलाभान्वित बच्चों में अमूर्त बुद्धि अधिक पाई। घोष एवं पाल (1982) ने उच्च सामाजिक-आर्थिक कॉलेज छात्रों तथा छात्राओं में सर्जनात्मक तथा अभियोजन की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक पाई है। सुलेमान तथा विजय (1994) ने उच्च सामाजिक-आर्थिक स्थिति तथा समायोजन के बीच घनात्मक सह संबंध पाया।

सामाजिक वर्गभेद का प्रभाव भी व्यक्तित्व पर दो साधनों से पड़ता है- (1) वर्गभेद से बाल पोषण पद्धति बदल जाती है और (2) वर्गभेद से बच्चों का आर्थिक नैराश्य तथा आवासीय अवस्था के भेद उत्पन्न होते हैं और इन दोनों अंगों से व्यक्तित्व प्रभावित होता है। जिन लोगों की आर्थिक स्थिति अधिक खराब थी और जो अपने व्यवसाय से असंतुष्ट थे और वे अधिक आक्रामक हो जाते हैं।

शोध का उद्देश्य

1. बच्चों के शैक्षणिक विकास में पारिवारिक वातावरण की भूमिका को जानना।
2. बच्चों के शैक्षणिक विकास में माता-पिता के शैक्षणिक योग्यता को जानना।
3. बच्चों के शैक्षणिक विकास में शिक्षण संस्थाओं के प्रभावों को जानना।
4. बच्चों के शैक्षणिक विकास में माता-पिता के आर्थिक स्तर के प्रभाव को जानना।
5. बच्चों के शैक्षणिक विकास में माता-पिता के रोजगार के प्रभाव को जानना।
6. माता-पिता के सामाजिक सम्पर्क का बच्चों के शैक्षणिक विकास पर पड़ने वाले प्रभावों को जानना।

उपकल्पना

1. बच्चों के शैक्षणिक विकास पर उनके पारिवारिक वातावरण का गहरा प्रभाव पड़ता है?
2. बच्चों के शैक्षणिक विकास में माता-पिता के शैक्षणिक योग्यता का प्रभाव पड़ता है?
3. बच्चों के शैक्षणिक विकास में शिक्षण संस्थाओं का प्रभाव पड़ता है?
4. बच्चों के शैक्षणिक विकास में आर्थिक स्थिति का प्रभाव पड़ता है?

5. बच्चों के शैक्षणिक विकास में माता-पिता के रोजगार का प्रभाव पड़ता है?
6. बच्चों के शैक्षणिक विकास में माता-पिता के सामाजिक सम्पर्क का प्रभाव पड़ता है?

शोध विधि

प्रस्तुत अध्ययन में तुलनात्मक एवं सांख्यिकी विधि का प्रयोग किया गया है। तथ्यों के संकलन में निदर्शन, अवलोकन, साक्षात्कार और अनुसूची का प्रयोग किया गया है। निदर्श के रूप में बोकारो शहर के 4 विद्यालयों से 100 बच्चों का चुनाव उद्देश्यपूर्ण निदर्शन द्वारा किया गया है। 100 निर्देशों में 50 छात्र और 50 छात्राएँ हैं जिनसे प्राप्त तथ्यों की व्याख्या निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया गया है।

तथ्यों का विश्लेषण एवं व्याख्या

तथ्यों के विश्लेषणों से यह स्पष्ट होता है कि बच्चों के शैक्षणिक विकास पर विद्यालय का प्रभाव पड़ता है लेकिन जिस परिवेश से वे विद्यालय में पढ़ने आते हैं उनका महत्वपूर्ण प्रभाव बच्चों के शैक्षणिक विकास पर पड़ेगा। उस परिवेश में प्रथमतः अभिभावक की सामाजिक-आर्थिक स्थिति आता है। अतः अभिभावक के सामाजिक-आर्थिक स्थिति को जानना आवश्यक है। इसके लिए पारिवारिक वातावरण, परिवार के स्वरूप, अभिभावकों की शैक्षणिक स्थिति, परिवार की आय और व्यवसाय आदि आधारों को सम्मिलित किया गया है। इससे संबंधित तथ्यों की व्याख्या निम्नलिखित रूप में विभिन्न सारणियों में दर्शाया गया है।

सारिणी संख्या-1

पारिवारिक वातावरण	छात्र (सं. एवं प्रति.)	छात्रा (सं. एवं प्रति.)	कुल योग (सं. एवं प्रति.)
सुखद एवं सौहार्दपूर्ण	08	10	18
कलहपूर्ण	16	20	30
सामान्य	26	20	46
योग	50	50	100

सारिणी संख्या-1 के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि सरकारी विद्यालय में पढ़ने वाले 18 प्रतिशत बच्चे सुखद एवं सौहार्दपूर्ण वातावरण से विद्यालय आते हैं। 46 प्रतिशत बच्चे सामान्य वातावरण से तथा 36 प्रतिशत बच्चे कलहपूर्ण वातावरण से विद्यालय आते हैं। अतः कहा जा सकता है कि 36 प्रतिशत बच्चों का शैक्षणिक विकास बाधित है।

सारिणी संख्या-2

पारिवारिक वातावरण	छात्र परिवार (सं. एवं प्रति.)	छात्रा परिवार (सं. एवं प्रति.)	कुल योग (सं. एवं प्रति.)
नाभिक	34	32	66
संयुक्त	16	18	34
योग	50	50	100

सारणी संख्या-2 से स्पष्ट होता है कि सरकारी विद्यालयों में अध्ययनरत बच्चों में 66 प्रतिशत नाभिक परिवार के और 34 प्रतिशत संयुक्त परिवार के हैं। अतः कहा जा सकता है कि नाभिक परिवार के बच्चे और अभिभावकों का प्रतिशत संयुक्त परिवार की अपेक्षा अधिक है।

सारणी संख्या-3

बच्चों के अभिभावकों का शैक्षणिक स्तर

शैक्षणिक स्तर	महिला (सं. एवं प्रति.)	पुरुष (सं. एवं प्रति.)	कुल योग (सं. एवं प्रति.)
निरक्षर	12	8	20
हाई स्कूल	16	16	32
इण्टर	8	6	14
स्नातक	14	20	34
योग	50	50	100

उपर्युक्त सारणी संख्या-3 के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि जिन अभिभावकों के बच्चे सरकारी विद्यालयों में पढ़ रहे हैं, वैसे अभिभावकों में 20 प्रतिशत निरक्षर हैं। जबकि 32 प्रतिशत हाई स्कूल तक, 14 प्रतिशत इण्टर स्तर तक तथा 34 प्रतिशत स्नातक स्तर तक शिक्षा प्राप्त अभिभावक हैं।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि स्नातक तक शिक्षित अभिभावकों का प्रतिशत सबसे अधिक है।

सारणी संख्या-4

बच्चों के अभिभावकों का मासिक आय के आधार पर वर्गीकरण

पारिवारिक वातावरण	छात्र के अभिभावक (सं. एवं प्रति.)	छात्राओं के अभिभावक (सं. एवं प्रति.)	कुल योग (सं. एवं प्रति.)
2001-3000	16	14	30
3001-4000	24	28	52
4001-5000	8	6	14
5001 से ऊपर	2	2	4
योग	50	50	100

सारणी संख्या-4 के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि 30 प्रतिशत अभिभावकों की मासिक आय 2001-3000 रुपये है जबकि 3001-4000 रुपये मासिक आय वाले अभिभावकों का प्रतिशत 52 है। 14 प्रतिशत अभिभावकों की मासिक आय 4001-5000 रुपये है। 5001 रुपये से ऊपर मासिक आय वाले अभिभावकों का प्रतिशत सबसे कम अर्थात् 4 प्रतिशत है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सबसे ज्यादा प्रतिशत अर्थात् 52 प्रतिशत वैसे आय वाले अभिभावक हैं जिनकी मासिक आय 3001-4000 रुपये है। अभिभावक के व्यवसाय का प्रभाव भी बच्चों के शैक्षणिक विकास पर पड़ता है। अतः अभिभावकों के व्यावसायिक संगठन को भी जानने का प्रयास किया गया है। इसके लिए उनके आय को जानने का प्रयास किया गया है जिसे सारणी संख्या-5 में दर्शाया गया है।

सारिणी संख्या-5

बच्चों के अभिभावकों का आय के आधार पर वर्गीकरण

आय का साधन	छात्र के अभिभावक (सं. एवं प्रति.)	छात्राओं के अभिभावक (सं. एवं प्रति.)	कुल योग (सं. एवं प्रति.)
नौकरी	40	36	76
व्यवसाय	8	12	20
अन्य	2	2	4
योग	50	50	100

सारिणी संख्या-5 के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि 76 प्रतिशत बच्चों के अभिभावकों के आय का साधन नौकरी है जबकि 20 प्रतिशत अभिभावकों के मासिक आय का साधन व्यवसाय है। 4 प्रतिशत वैसे अभिभावक हैं जो अन्य पेशे में हैं। अतः इससे यह स्पष्ट होता है कि नौकरी पेशा वाले अभिभावकों का प्रतिशत सबसे ज्यादा है।

सारिणी संख्या-6

बच्चों का उम्र के आधार पर वर्गीकरण

आयु-समूह	छात्र के (सं. एवं प्रति.)	छात्राओं के (सं. एवं प्रति.)	कुल योग (सं. एवं प्रति.)
6-7 वर्ष	12	12	24
8-9	28	24	52
10 वर्ष से ऊपर	10	14	24
योग	50	50	100

सारिणी संख्या-6 के विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि सरकारी विद्यालयों में पढ़ रहे बच्चों में 24 प्रतिशत बच्चे 6-7 वर्ष के आयु-समूह के हैं जबकि 52 प्रतिशत बच्चे 8-9 वर्ष के आयु-समूह के हैं। 10 वर्ष से ऊपर आयु-समूह में पढ़ने वाले 24 प्रतिशत बच्चे हैं। अतः कहा जा सकता है कि 8-9 वर्ष के आयु-समूह के बच्चों का प्रतिशत सबसे अधिक है।

सारिणी संख्या-7

बच्चों का वर्गगत आधार पर वर्गीकरण

वर्ग समूह	छात्रों के (सं. एवं प्रति.)	छात्राओं के (सं. एवं प्रति.)	कुल योग (सं. एवं प्रति.)
1-2 वर्ग	20	12	32
3-4 वर्ग	24	20	44
5-6 वर्ग	6	18	24
योग	50	50	100

सारिणी संख्या-7 से स्पष्ट होता है कि 1-2 वर्ग में पढ़ने वाले बच्चों का प्रतिशत 32 है। जबकि 3-4 वर्ग में पढ़ने वाले बच्चों का प्रतिशत 44 और 5-6 वर्ग में पढ़ने वाले बच्चों का प्रतिशत 24 है। अतः कहा जा सकता है कि 3-4 वर्ग में पढ़ने वाले बच्चों का प्रतिशत सबसे अधिक है।

निष्कर्ष एवं सुझाव

अध्ययन के आधार पर निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि पारिवारिक वातावरण के साथ-साथ विद्यालय के वातावरण और संगठन का प्रभाव बच्चों के शैक्षणिक विकास पर पड़ता है। विद्यालय में आने के पूर्व ही जो पारिवारिक परिवेश मिलता है, वह बच्चों के शैक्षणिक विकास को काफी हद तक प्रभावित करता है। अतः बच्चे चाहे वे सरकारी विद्यालय में ही पढ़ रहे हों तो उनके अभिभावक की सामाजिक-आर्थिक स्थिति का प्रभाव शैक्षणिक विकास पर पड़ता है। परिवार के वातावरण के प्रभावों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 18 प्रतिशत बच्चे सुखद एवं सौहार्दपूर्ण वातावरण से विद्यालय आते हैं, जबकि 46 प्रतिशत बच्चे सामान्य वातावरण से विद्यालय आते हैं। उत्तम विकास के लिए पारिवारिक वातावरण का महत्व सर्वाधिक है। जो बच्चे सौहार्दपूर्ण वातावरण से विद्यालय आते हैं उनका शैक्षणिक विकास उत्तम होता है। वे विद्यालयों के क्रियाकलापों में दिलचस्पी लेते हैं। परिवार के स्वरूप के संबंध में यह कहा जा सकता है कि सरकारी विद्यालयों में अध्ययनरत 66 प्रतिशत बच्चे नाभिक परिवार के हैं। अतः उनमें शैक्षणिक विकास संयुक्त परिवार की अपेक्षा अधिक पाया गया। बच्चों के शैक्षणिक विकास पर उनके अभिभावकों के शैक्षणिक स्तर का भी प्रभाव पड़ता है। बच्चों के अभिभावकों में 34 प्रतिशत अभिभावक स्नातक स्तर तक शिक्षित हैं। अतः स्वाभाविक है कि वे बच्चों के शैक्षणिक विकास पर अधिक ध्यान देते हैं। अभिभावक की आर्थिक स्थिति का प्रभाव भी बच्चों के शैक्षणिक विकास पर पड़ता है। बच्चों की अच्छी शिक्षा के लिए अभिभावक तो चाहते ही हैं कि बच्चों की शिक्षा अच्छे स्कूलों में हो, परन्तु आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं होने के कारण मजबूरी में अभिभावक सरकारी विद्यालय में शिक्षा दिलवाते हैं। सरकारी विद्यालय में अध्ययनरत बच्चों के अभिभावकों में सबसे अधिक प्रतिशत 3001-4000 रुपये मासिक आय वाले हैं जिनका प्रतिशत 52 है। अभिभावकों के व्यवसाय का प्रभाव भी बच्चों के शैक्षणिक विकास पर पड़ता है। सरकारी विद्यालय में अध्ययनरत 76 प्रतिशत बच्चों के अभिभावक नौकरी पेशा वाले हैं। अतः अन्य पेशा समूह से इन बच्चों का शैक्षणिक विकास अधिक पाया गया।

अतः कहा जा सकता है कि बच्चों के शैक्षणिक विकास पर अभिभावक के सामाजिक-आर्थिक स्थिति का बहुत प्रभाव पड़ता है। अतः उनके आर्थिक विकास के लिए स्वयं पहल करना होगा ताकि बच्चों का उचित शैक्षणिक विकास हो सके।

संदर्भ-सूची

1. Asuwell, Theory & Problems of Child Development, New York, 1950.
2. Bossard, J.H.S., The Sociology of Child Development, Harper, New York, 1954.
3. Bowlby, J., Child Care & Growth of Love Policon, London, 1953
4. Block, V., Conflicts of Adolescents with their mothers, Journal of Abnormal & Social Psychology, Vol. 32.
5. Davis, Kengsly, The Sociology of Parent-Youth Conflict, American Sociological Review, Vol. 5, 1950.
6. Erikson, Childhood & Society, New York, 1950.
7. Gottlieb, D., Adolescent Behaviour in Urban Areas, the free Press of Glencoe, Mc Milan Ltd., London, 1963.
8. Meclaggage, Drinking Pattern of High School & Youth, Social Problem, Vol. 5, Others, 1958.
9. Mayer, S., Developing Personality in a Child at School, New York, 1947.

विकलांग कल्याण एवं समाज कार्य हस्तक्षेप की संभावनायें

हर्षुल ब्रजेश देशमुख

शोध छात्र, समाज कार्य विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

यह सारा विश्व विराट् परमात्मा का रूप है। इसमें चार प्रकार के जीव वास करते हैं। अंडज, जारज, स्वेदज और उद्भिज। सभी जीवों की समान अनिवार्यता को लेकर ईश्वर ने इस संसार का सृजन किया है। उनमें मनुष्य को सर्वोपरि बनाया। सृजन तथा संहार का कार्य भगवान ने अपने हाथ में लेकर पालन (अर्थात् सेवा तथा सदुपयोग) का दायित्व मनुष्य के हाथ में दिया है। शक्ति, सामर्थ्य, योग्यता प्रदान की है।¹

विविधता तथा अनेकता में एकता इस सृष्टि का सौन्दर्य है। इस सौन्दर्य को सुदृढ़ रखने के लिए मनुष्य ने समाज की परिकल्पना की है। सामाजिक नियमानुसार इस संसार में उपलब्ध समस्त वस्तु, पदार्थ, किसी के व्यक्तिगत नहीं हो सकते किन्तु कोई भी व्यक्ति बिना किसी दूसरे के सहयोग के जीवन जी सकता है, न कुछ व्यवहार ही कर सकता है।

मेरी दृष्टि में मनुष्य ही नहीं इस सृष्टि के लगभग समस्त जीव किसी न किसी अंश में विकलांगता ही होते हैं। आमतौर पर हम भले ही शरीर की विकलांगता को ही विकलांगता की श्रेणी में मानते हैं, किन्तु स्थूल दृष्टि से न दिखायी पड़ने वाली मनुष्य की विकलांगता जो शरीर के अतिरिक्त मानसिक, बौद्धिक, आर्थिक आदि भिन्न रूपों में जन-जन को अपनी गिरफ्त में लिये हुए हैं, उसे हम नजरअंदाज नहीं कर सकते। शारीरिक रूप से बलवान व्यक्ति को बौद्धिक बल की आवश्यकता रहती है, तथा बौद्धिक बलवान को शारीरिक बल की। तभी तो राजा अथवा नेता अपनी सुरक्षा हेतु शारीरिक बलवान व्यक्ति का सहयोग लेते हैं। एक के बिना दूसरा अधूरा है, अपूर्ण है, विकल है, विकलांग है या यूँ कहें कि बल, निर्बलों, धन निर्धनों की धरोहर है। उसके लिए यह दायित्व है कि वह अपना विनियोजन जिसकी धरोहर है उसमें ही लगाये। यदि वह ऐसा नहीं करता है तो सामाजिक न्याय की दृष्टि से दोषी है। किन्तु स्वार्थ तथा अभिमानवश मनुष्य अपने दायित्व का निर्वहन न कर उसे अपने व्यक्तिगत संतुष्टि में लगा देता है। फलस्वरूप उसकी सामर्थ्य उत्तरोत्तर घटती चली जाती है। अतः मनुष्य अपने भावी जीवन को सुखमय, आनन्दमय बनाने की इच्छा रखता हो तथा सुंदर समाज के निर्माण का संकल्प रखता हो तो उसे अपने आपको विकलांग की सेवा में निरभिमानपूर्वक लगाना चाहिये। उसकी सेवा ठीक उसी प्रकार होनी चाहिये, जैसे एक माँ अपने असमर्थ बालक की सेवा कर प्रसन्न होती है।

खेद की बात है कि आज समाज में भोगवाद की संस्कृति में अप्रत्याशित वृद्धि हुई है। स्वार्थ और अभिमान की अन्धी दौड़ में मनुष्य अपने-पराये का भाव नहीं रख रहा है। उत्तम-से-उत्तम वस्तुओं की उपेक्षा की जा रही है। फलस्वरूप, अनाथ बच्चे, वृद्ध माता-पिता, निराश्रित महिलाएं गरीबों की संख्या बढ़ रही है। फलस्वरूप गरीब, धनवान, बलवान, निर्बल, योग्य-अयोग्य के बीच की बड़ी गहरी खाई उत्पन्न हो रही है तथा एक वर्ग दूसरे वर्ग को शोषित करने का महान पाप तथा दुःसाहस कर रहा है। समाज की व्यवस्था चरमरा रही है। किसी के भीतर सेवा की भावना पनप नहीं रही है। युद्ध तथा गृहयुद्ध की संभावनाएं बढ़ रही हैं।

आज मानवता दानवता के पंजे में फंसी कराह रही है। सर्वगुणों से सम्पन्न मानव की कौन कहे अंगुलिगण्य गुणों से युक्त मानवों का भी उत्तरोत्तर अभाव होता जा रहा है।

अतः समाज सेवी कार्यकर्ताओं पर विशेष दायित्व आ गया है कि वे सभी तरह के विकलांगों की सेवा हेतु संस्थाओं का निर्माण कराये और अपने तथा दूसरों के जीवन को सुखमय, आनन्दमय बनाये। स्वतंत्रता के बाद (1947 ई०) से ही भारत सरकार एवं राज्य सरकारों ने समाज के विविध वर्गों विशेषकर वंचित एवं उपेक्षित वर्गों के कल्याण के लिए भरसक प्रयास किया है। लेकिन ये प्रयास अपेक्षित रूप में फलीभूत नहीं हुए। फलतः सभी पंचवर्षीय योजनाओं में सहयोगी विकास, जनकेन्द्रित विकास, लोकाभिमुखी विकास और समावेशी विकास की अवधारणाओं को समाहित कर इसके अनुरूप नीतियों एवं कार्यक्रमों का नियोजन किया गया है। समाज और उसके प्रयासों को सम्मान और स्वीकृति दी गई है। समाज में कार्य करने वाली संस्थाओं को सहायता देने और उनका सहयोग लेने की प्रक्रियाएं प्रारंभ हुई हैं। स्वतंत्रता के बाद के छः दशकों का अनुभव यह बताता है कि समाज कार्य में सक्रिय संस्थाओं का कार्य अ-सरकारी परन्तु असरकारी है। समाज की प्रस्थिति में परिवर्तन के लिए अपनी प्रतिबद्धताओं, समर्पण और निपुणताओं के कारण स्वयंसेवी संस्थाओं तथा उनके कार्यकर्ताओं को पहचान, प्रतिष्ठा और प्रोत्साहन मिलता रहा है। परिणामस्वरूप स्वयंसेवी संस्थाओं की पहुँच और प्रभाव भी बढ़ता गया है। समाज की आवश्यकता के हर क्षेत्र और विषय में प्रयासरत स्वयंसेवी संस्थाओं की संख्या भी बढ़ी है।

पीड़ित मानवता के कल्याण हेतु शासकीय एवं अशासकीय दोनों स्तर पर कार्य किया जाता है। सरकार के द्वारा जहाँ लोक कल्याण की संवैधानिक प्रतिबद्धता के कारण विधि, नीतियों का निर्माण, योजनाओं-कार्यक्रमों का नियोजन और क्रियान्वयन किया जाता है, वहीं दूसरी तरफ गैरसरकारी संस्थाएँ अपनी सामाजिक प्रतिबद्धताओं और दायित्वबोध के कारण समाज के वंचित-उपेक्षित वर्गों के लिए सेवा-कार्य करती हैं। सरकार एवं गैर सरकारी संस्थाएँ अपने कार्यों को अधिक प्रभावपूर्ण, व्यापक और सार्थक बनाने के लिए व्यावसायिक समाज कार्य की पद्धतियों तथा निपुण समाज कार्य व्यवसायिकों का उपयोग करती हैं। दक्ष समाज कार्य व्यवसायी (प्राफेशनल्स) समाज कार्य की निपुणताओं के आधार पर कार्यक्रमों का नियोजन-संयोजन-क्रियान्वयन करता है।

अध्ययन के क्रम में यह स्थापित हुआ है कि विकलांगजनों के कल्याण हेतु समाज कार्य पद्धतियों के माध्यम से प्रभावी हस्तक्षेप की पर्याप्त संभावनाएँ हैं। समाज कार्य की स्थापित पद्धतियों-वैयक्तिक सेवा कार्य, समूह सेवा कार्य, सामुदायिक सेवा कार्य और सामाजिक क्रिया के द्वारा विकलांगजनों के कल्याण, क्षमता वृद्धि और प्रभावशाली पुनर्वास का कार्य किया जाएगा।

वैयक्तिक सेवा कार्य

समाज कार्य की वैयक्तिक सेवा कार्यपद्धति के माध्यम से सम्बन्धित विकलांग व्यक्ति की अक्षमताओं का आकलन कर उनकी आवश्यकताओं का निर्धारण किया जाएगा। आवश्यकताओं के अनुरूप उनको सेवाएँ-सुविधाएँ उपलब्ध कराई जाएंगी। शारीरिक आवश्यकताओं के लिए आवश्यक चिकित्सक सुविधा उपलब्ध कराया जाएगा। शिक्षा की आवश्यकता के लिए विशेष-शिक्षा के केन्द्र से जोड़ा जाएगा। रोजगार की आवश्यकता की पूर्ति के लिए आवश्यक प्रशिक्षण उपलब्ध कराकर रोजगार योग्य बनाया जाएगा। पुनर्वास की आवश्यकता की पूर्ति के लिए समायोजन परक परिस्थितियों का अध्ययन-विश्लेषण कर परिजन और विकलांग जन के मध्य अनुकूल समायोजन को प्रोत्साहित किया जाएगा।

समूह सेवा कार्य

समाज कार्य की समूह सेवा पद्धति के माध्यम से विकलांगजनों की परस्पर आवश्यकताओं, सामूहिक समस्याओं और उनके समाधान का अध्ययन-विश्लेषण सर्वप्रथम किया जाएगा। तदुपरान्त आवश्यक कार्यक्रम का नियोजन तथा क्रियान्वयन किया जाएगा। कानूनी प्रावधानों का लाभ लेने योग्य बनाने हेतु विकलांगजनों को सामूहिक रूप से जागरूक बनाने के लिए शिविर लगाया जाएगा। इसके साथ ही विकलांगजनों के परिजनों-अभिभावकों, शिक्षकों और समाज कार्यकर्ताओं के लिए भी सामूहिक उन्मुखीकरण कार्यक्रम चलाया जाएगा।

सामुदायिक सेवा कार्य

व्यावसायिक समाज कार्य की 'सामुदायिक सेवा कार्य' पद्धति का उपयोग कर विकलांगजनों के लिए समाज में संवेदनशील, सहयोगपूर्ण और अनुकूल वातावरण का निर्माण किया जाएगा। विकलांगजनों के पड़ोसियों, सहकर्मियों, नीति-नियन्ताओं, कार्यक्रम क्रियान्वयन अभिकरणों के कार्मिकों और समाज कार्यकर्ताओं को विकलांगता के विविध आयामों, विकलांगजनों की समस्याओं-आवश्यकताओं के प्रति संवेदनशील बनाने हेतु कार्यशाला, संगोष्ठी और शिविर का आयोजन किया जाएगा।

सामाजिक क्रिया²

समाज कार्य की इस पद्धति का उपयोग कर विकलांगजनों के लिए संचालित नीतियों, योजनाओं और कार्यक्रमों का लाभ विकलांगजनों के लिए सुनिश्चित किया जा सकता है। इसके अन्तर्गत सभी हितग्रहियों के अवरोधों का समाधान किया जाता है। विशेषकर विधिक प्रावधानों के अन्तर्गत निर्धारित कानूनी लाभ को विकलांगजनों के लिए सुनिश्चित किया जा सकता है।

समाज कार्य हस्तक्षेप के संभावित क्षेत्र

विकलांगजनों के कल्याणार्थ समाज कार्य हस्तक्षेप की व्यापक संभावनायें हैं। सन् 2011 ई० की राष्ट्रीय जनगणना के अनुसार देश में विभिन्न प्रकार के विकलांगजनों की जनसंख्या लगभग ढाई-तीन करोड़ है। सभी प्रकार के निःशक्तजनों की आवश्यकतायें भी भिन्न-भिन्न हैं। इसलिए विकलांगजनों के लिए समाज कार्य हस्तक्षेप का क्षेत्र भी भिन्नतापूर्ण है। विकलांगजनों के कल्याण हेतु निम्नलिखित क्षेत्रों में सुनियोजित कार्य योजना के साथ हस्तक्षेप किया जा सकता है-

- (क) जागरूकता निर्माण हेतु प्रयास
- (ख) क्षमता वृद्धि हेतु प्रयास
- (ग) सेवाओं सुविधाओं को सुनिश्चित करने हेतु सहजीकरण
- (घ) पक्षपोषण या पैरवी (Advocacy)
- (ङ.) पुनर्वास
- (च) शोधकार्य
- (छ) लाइजनिंग एवं नेटवर्किंग

विस्तारपूर्वक समाज कार्य हस्तक्षेप के इन क्षेत्रों की पहचान अध्ययन के क्रम में निम्नवत् की गई है-

(क) जागरूकता निर्माण हेतु प्रयास

विकलांगजनों के कल्याण के लिए उन्हें जागरूक-शिक्षित बनाना अत्यन्त आवश्यक है। जागरूकता के द्वारा विकलांगजन भी अपनी समस्याओं के समाधान को जान-पहचान सकेंगे। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में उत्तरदाता सभी विकलांगजन शिक्षा प्राप्त हैं। जागरूक व्यक्ति ही अपनी समस्याओं के समाधान हेतु प्रयास करता है। अतएव विकलांगजनों में उनके हितार्थ निर्मित नीतियों-योजनाओं-कार्यक्रमों के प्रति जागरूकता का निर्माण करना महत्वपूर्ण है। शोध अध्ययन में यह तथ्य परिलक्षित हुआ है कि पर्याप्त जागरूकता के अभाव में विकलांगजन योजनाओं-कार्यक्रमों का समुचित लाभ नहीं प्राप्त कर सके हैं। जागरूकता के अभाव में विकलांगजनों को बहुविध शोषण और भ्रष्टाचार का शिकार होना पड़ता है। विकलांगजनों हेतु समाज कार्य हस्तक्षेप के रूप में जागरूकता शिविर को पंचायत एवं संकुल स्तर पर लगाने की आवश्यकता शोध अध्ययन के क्रम में दृष्टिगोचर हुई है।

(ख) क्षमता वृद्धि हेतु प्रयास

प्रशिक्षण: विकलांगजनों को दक्ष और विभिन्न प्रकार की निपुणताओं में पारंगत बनाने के लिए प्रशिक्षण कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है। विशेष शिक्षण के लिए शिक्षकों का प्रशिक्षण, विकलांगों के पुनर्वास हेतु पुनर्वास कार्यकर्ताओं का प्रशिक्षण, उनकी पैरवी या पक्षपोषण (Advocacy) हेतु समाज कार्यकर्ताओं का प्रशिक्षण, उनको मार्गदर्शन एवं परामर्श सेवायें देने वाले का कार्यकर्ताओं का प्रशिक्षण आदि में समाज कार्य हस्तक्षेप की अत्याधिक संभावना है। समाज कार्य की समूह कार्य पद्धति का उपयोग कर विकलांगजनों की आवश्यकताओं का आकलन कर तथा उचित प्रशिक्षण देकर उन्हें उपयोगी और यथासंभव आत्मनिर्भर बनाया जा सकता है। इसके साथ ही प्रशिक्षण के द्वारा विकलांगजनों के पुनर्वास को भी सार्थक और प्रभाव पूर्ण बनाया जा सकता है।

विकलांगजनों के साथ-साथ विकलांगजनों हेतु कार्यरत समाज कार्यकर्ताओं, शिक्षकों, सरकारी एवं गैरसरकारी कार्यकर्ताओं को भी उचित प्रशिक्षण देकर उन्हें सामाजिक दायित्वबोध से ओत-प्रोत, संवेदनशील और प्रभावपूर्ण बनाया जा सकता है, जिससे विकलांगजनों के कल्याण कार्य में वे अधिक सक्रिय और प्रभावोत्पादक बन सकें।

(ग) सेवाओं-सुविधाओं को सुनिश्चित करने हेतु सहजीकरण (Facilitation)

अध्ययन के क्रम में यह महत्वपूर्ण तथ्य दृष्टिगोचर हुआ है कि विकलांगजन विभिन्न शासकीय एवं अशासकीय सेवाओं-सुविधाओं से वंचित रह जाते हैं, क्योंकि उन्हें प्राप्त करने योग्य स्थिति में आने के लिए सहज स्थिति देने का उपयुक्त तंत्र का अभाव है। समाज कार्य हस्तक्षेप के द्वारा सहजीकरण (Facilitation) की व्यवस्था या तंत्र बनाकर प्रावधानित सेवाओं-सुविधाओं को विकलांगजनों हेतु सुनिश्चित करने की संभावना तथा आवश्यकता है। पंचायत एवं ब्लॉक स्तर पर विकलांगजनों का प्रमाण-पत्र बनवाने, पेंशन का आवेदन कराने, बैंक सुविधाओं से जोड़ने और अन्य योजनाओं का लाभ दिलाने का कार्य कर विकलांगजनों को सहज रूप में लाभार्थी बनाया जा सकता है।

(घ) पक्षपोषण या पैरवी (Advocacy)³

शोध अध्ययन के क्रम में यह तथ्य भी दृष्टिगोचर हुआ है कि विकलांगजन अपने हितों की पैरवी स्वयं कर पाने में प्रभावी और सहज नहीं है। क्योंकि पैरवी का कार्य विविधतापूर्ण और श्रमसाध्य है। विकलांगजनों को जीवन और समाज में आने वाली समस्याओं-चुनौतियों से उबारने के लिए यह आवश्यक है कि तीनमुखी पैरवी- (अ) नीतिगत पैरवी (Policy Advocacy), (ब) लोक पैरवी

(Public Advocacy) तथा (स) मीडिया पैरवी (Media Advocacy) का उपयोग समाज कार्य उपकरण के रूप में किया जाय।

(अ) नीतिगत पैरवी- विकलांगजनों के अनुकूल नीतियों के निर्माण के लिए आवश्यक है कि नीति निर्माताओं के बीच विकलांगजनों की पैरवी या पक्षपोषण (Advocacy) हो। समाज कार्य का अनुभव यह सिद्ध करता है कि लक्ष्य को प्राप्त करने में जमीनी संघर्ष की तुलना में नीतिगत परिवर्तन लाना अपेक्षाकृत कम समय एवं श्रमसाध्य है। नीतिगत परिवर्तन के द्वारा कम समय में नीतियों के लाभ को अधिकाधिक लाभार्थियों तक पहुँचाया जा सकता है। इसलिए नीतिगत पैरवी को परिवर्तन के एक महत्वपूर्ण उपकरण के रूप मान्यता मिल चुकी है।

(ब) लोक पैरवी (Public Advocacy)- विकलांगजनों के अनुकूल सामाजिक परिवेश बनाने के लिए लोगों के बीच विकलांगजनों की परिस्थिति, उनकी आवश्यकता तथा उपलब्ध सुविधाओं के बीच के अन्तर (Gap) को बताना और विकलांगजनों के हितवर्द्धन हेतु लोगों का समर्थन प्राप्त करना आवश्यक है। क्योंकि विकलांगजन समाज में छिटपुट स्थिति में हैं अर्थात् किसी स्थान विशेष पर वे बहुतायत में नहीं हैं, जिससे वे जनमत का निर्माण या जन दबाव नहीं बना पाते हैं। इसलिए लोगों के बीच विकलांगजनों के हितों की पैरवी करने हेतु संगोष्ठी तथा परिसंवाद का आयोजन जरूरी है।

(स) मीडिया पैरवी (Advocacy)- विकलांगजनों के प्रति लोकमानस तथा प्रशासन, सरकार, विधायिका एवं न्यायपालिका को संवेदनशील बनाने हेतु मीडिया (प्रिंट, इलेक्ट्रॉनिक, सोशल मीडिया आदि) के माध्यम से एडवोकेसी का काम कर समाज कार्य द्वारा प्रभावी हस्तक्षेप किया जा सकता है। मीडिया आज एक सशक्त माध्यम है जिसके द्वारा किसी भी विषय पर जनसामान्य एवं सरकार का ध्यान त्वरित रूप से खिंचा जा सकता है।⁴ इसके द्वारा जहाँ जनसामान्य एवं विकलांगजनों में जागरूकता तथा संवेदनशीलता उत्पन्न की जा सकती है तो दूसरी तरफ विकलांगजनों के कल्याणार्थ आवश्यक नीतियों के निर्माण, नीतियों में संशोधन, कार्यक्रमों के प्रभावी क्रियान्वयन तथा उसके दुरुपयोग के प्रति सरकार का ध्यान आकर्षित किया जा सकता है।

(ड) पुनर्वास (Rehabilitation)

विकलांगों की दशा को इस अवस्था तक पहुँचाने में अभिभावकों एवं गैर सरकारी संगठनों की भूमिका बहुत ही महत्वपूर्ण रही है। विकलांगों हेतु उपलब्ध उल्लेखों के आधार पर हम पाते हैं कि पहले विकलांगों की दशा अत्यन्त शोचनीय थी तथा इसकी जड़ें, अंधविश्वासों से घिरी थी। परन्तु समयानुसार इनकी योग्यता को पहचाना गया तथा इनके लिए शिक्षण, प्रशिक्षण एवं पुनर्वास की बात सोची गयी। इनके पुनर्वास प्रक्रिया में सबसे अधिक शिक्षा के लिए बल दिया जाता रहा है जबकि उस समय शिक्षा अनौपचारिक एवं अवैज्ञानिक ढंग से दी जाती रही है। विकलांगता से सम्बंधित पुनर्वास सेवाएं एवं विशिष्ट शिक्षा का क्रमवार ऐतिहासिक प्रगति देखने पर यह और अच्छी तरह से स्पष्ट हो जाता है।⁵

पुनर्वास के उपाय

पुनर्वसन - पुनर्वास अर्थात् क्या? शब्दकोश में यदि इसका अर्थ ढूँढ़ने जाएँ तो “जैसी पूर्व स्थिति थी, उस तक पहुँच जाना” अर्थात् पुनर्वसन। विकलांगता से पूर्व परिवार व समाज में उसका जो स्थान होना था, उसकी पुनः प्राप्ति करा देना- उसकी खोई हुई कार्यक्षमता, उसका खोया हुआ स्वावलम्बन, खो गया आत्मविश्वास, खोया हुआ स्वाभिमान कहीं खो गयी जीवन के प्रति आशा भरी

उमंग और विशेषकर उसकी खो गयी सामाजिक एकात्मता इन सबकी पुनः प्राप्ति ही 'पुनर्वसन' शब्द को सार्थक बनाती है।

पुनर्वसन, पुनर्वास व सामाजिक एकात्मता सहभागी प्रक्रियाएं हैं। पुनर्वसन का अंतिम उद्दिष्ट अथवा पुनर्वसन का अंतिम परिणाम सामाजिक एकात्मता ही है। विकलांग व्यक्ति का समाज में अपना योग्य स्थान ले सकना अपनी सामाजिक जिम्मेदारियाँ निभा सकना, समाज का एक अभिन्न अंग बन जाना ही सामाजिक एकात्मता है और यही पुनर्वसन संबंधी प्रक्रियाओं की अपेक्षा है। जैसे-जैसे व्यक्ति का पुनर्वसन होता चला जाता है वैसे ही वैसे धीरे-धीरे उस व्यक्ति में सामाजिक एकात्मता आने लगती है अर्थात् वह समाज का अभिन्न अंग बनने लगता है और सामाजिक एकात्मता उसकी पुनर्वसन प्रक्रिया में गति लाती है।

(च) शोधकार्य (Reserch)

विकलांगजनों संबंधित शोधकार्य अत्यंत महत्वपूर्ण एवं आवश्यक हैं। परन्तु शोधकार्य अत्यंत दुरूह होता है। शोध अध्ययन के क्रम में यह बात समझ आई है कि विकलांगता विषयक शोध विकलांगजनों के लिए अत्यंत कष्टकर है। इसलिए व्यावहारिक दृष्टिकोण से यही उचित है कि विकलांगजनों ही विकलांगता के विविध आयामों एवं विकलांगजनों के विविध पक्षों के विषय में शोध कार्य करें। शोधार्थी को अपने शोध अध्ययन के क्रम में अनेक विश्वविद्यालयों, सरकारी संस्थानों, गैरसरकारी संस्थानों में जाने का अवसर प्राप्त हुआ है। इस क्रम में यह दृष्टिगोचर हुआ है कि विकलांगों के शिक्षण-प्रशिक्षण संबंधित साहित्य एवं उनकी विशेष शिक्षा के क्षेत्र में तो अनेक शोध अध्ययन हुए हैं, परन्तु विकलांगता का सम्यक् और संपूर्ण अध्ययन का अभाव है। इसलिए आवश्यक है विकलांगजनों के विविध पक्षों के विषय में शोध अध्ययन का काम समाज कार्य हस्तक्षेप के द्वारा करने की दिशा में प्रयास किया जाय।

(छ) लाइजेनिंग एवं नेटवर्किंग

विकलांगजनों के हित से जुड़े सभी पक्षों- विकलांगजन, सरकारी तंत्र, गैरसरकारी संस्थाओं, दाता संस्थाओं, कॉर्पोरेट घरानों, मीडिया एवं सामाजिक कार्यकर्ताओं को आपस में आवश्यकता अनुसार जोड़ने हेतु उनकी परस्पर नेटवर्किंग एवं लाइजेनिंग जरूरी है। इस दिशा में समाज कार्य हस्तक्षेप की पर्याप्त संभावनायें हैं, जिनके द्वारा विकलांग कल्याण कार्य को प्रभावी एवं सार्थक बनाया जा सकता है। सभी हितबद्ध समूहों में परस्पर समन्वय के अभाव में विकलांग कल्याण का काम प्रभावी रूप से नहीं हो पाता है। समाज कार्य की विभिन्न पद्धतियों और निपुणताओं के माध्यम से इस समस्या का समाधान संभव है।

सन्दर्भ साहित्य सूची

1. निःशक्त चेतना, विशेषांक (2006), अखिल भारतीय विकलांग चेतना परिषद्, विलासपुर (छत्तीसगढ़), पृष्ठ-128.
2. सोशल एक्शन एन इण्डियन पैनोरमा, सम्पादक जॉन सैमुअल, वाणी नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ-57.
3. एडवोकेसी मार्गदर्शिका, उपवन लखनऊ द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ-35.
4. मीडिया एडवोकेसी मार्गदर्शिका, सहभागी शिक्षण केन्द्र लखनऊ द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ-18, 20.
5. कुरुक्षेत्र मासिक पत्रिका, दिसम्बर 1999, पृष्ठ-13.
6. नेटवर्किंग एवं लाइजेनिंग मार्गदर्शिका, समर्थन भोपाल द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ-11.

भारतीय संस्कृति और लोक कलाएं

सुरभि मिश्रा

शोध छात्रा, कला एवं शिल्प महाविद्यालय,
ललित कला संकाय, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

प्राचीनता के साथ-साथ निरंतरता भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशिष्टताएं हैं। भारतीय संस्कृति में सदैव विश्व कल्याण का भाव निहित रहा, जिसकी पुष्टि हमारे प्राचीनतम ऋग्वेद से होती है। इसमें कहा गया है- 'सा संस्कृति प्रथिमा विश्ववारा'। प्राचीनकाल से हमारी संस्कृति का ध्येय विश्व कल्याण रहा। भारतीय संस्कृति सदैव गतिशील रही। इसने अपनी निरंतरता को बनाए रखा।

भारतीय संस्कृति एक सुदृढ़ संस्कृति है। इसकी सुदृढ़ता ने ही इसे स्थायित्व प्रदान किया है। भारतीय संस्कृति के स्थायित्व का मुख्य कारण यह है कि हमने अपने सांस्कृतिक विकास में संस्कृति के मूल तत्वों के स्थायित्व पर विशेष ध्यान दिया। यदि भारतीय संस्कृति अपनी पहचान को बनाए हुए है, तो इसके पीछे इसकी ग्रहणशीलता जैसी विशिष्टता ही है। सार्वभौमिकता एवं सर्वांगीणता दोनों भारतीय संस्कृति की वे विशिष्टताएं हैं, जो प्रायः दूसरी संस्कृतियों में देखने को नहीं मिलती। भारतीय संस्कृति में सार्वभौमिकता पर बल दिया गया है यानी विश्व के कल्याण की कामना।

भारतीय संस्कृति की धार्मिकता एवं आध्यात्मिकता जैसे श्रेष्ठ तत्व इसकी पहचान से अभिन्न रूप से जुड़े हैं। हमारी संस्कृति में धर्म को प्रमुखता प्रदान की गई है। पुरुषार्थ के चार घटकों-धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष में धर्म को वरीयता प्रदान की गई और धर्म व अध्यात्म के जरिए भौतिक उन्नति के बजाय आत्मिक उन्नति पर बल दिया गया। धार्मिकता एवं आध्यात्मिकता के साथ-साथ हमने धार्मिक सहिष्णुता का निर्वहन कर अपनी संस्कृति को श्रेष्ठ पहचान दी। समन्वय की नीति को अपनाते हुए समूचे विश्व को अपना कुटुम्ब मानकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की अवधारणा का प्रतिपादन किया। हमारी संस्कृति विश्व के कल्याण की कामना करने वाली लोक कल्याण की उदार भावना से प्रेरित है। लोक कल्याण के हमारे सांस्कृतिक मूल्य कितने श्रेष्ठ हैं, इसका पता इस श्लोक से चलता है-

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग भवेत्॥

कुछ मनीषी भारतीय संस्कृति को स्थान की मर्यादा में सीमित न करके उसे "विश्वजनीन सर्वदेशीय" संस्कृति की संज्ञा प्रदान करते हैं। उनका चिन्तन है कि "भारतीय संस्कृति" का उच्चारण करने से भारत देश की संस्कृति ऐसा भाव सबके मन में उत्पन्न हो जाता है।

भारतीय संस्कृति की आधार भूमि लोक संस्कृति ही रही। इस संस्कृति में ऐसा लचीलापन था जिसमें आने वाले विभिन्न चिन्तनों को अपने में अन्तर्भुक्त किया जा सकता था। भारत का धर्म आज भी वैदिक है। आज भी वेद मन्त्रों के उच्चारण के साथ संस्कार और अनुष्ठानों को सम्पन्न किया जाता है। उपनिषद और गीता आज भी जनमानस में प्रवाहित हो रहे हैं।

हमारी संस्कृति विविधरूपिणी एवं बहुमुखी रही है। युद्ध और शान्ति की प्रत्येक कला में, राजनीति एवं शासन-व्यवस्था में, संगीत तथा साहित्य में स्थापत्य और प्रतिमा-निर्माण में, नृत्य और चित्रकला में हमारी संस्कृति विकसित हुई है और ऐसा आदर्श उपस्थित किये गये हैं, जो अत्यन्त प्रशंसनीय है।

भारतीय संस्कृति ने अपने को धर्म, वात्रमय, चित्रकला, मूर्तिकला के रूप में व्यक्त किया है। डॉ० सम्पूर्णानन्द जैसे मनीषी, विचारक भारतीय संस्कृति के स्वरूप को रूपायित करते हुए कहते हैं कि जगत का मूल तत्व चेतन है, जीव नित्य है, अपने सुख दुःख का स्वयं कर्ता है, कर्म फल भोगना ही होगा, जगत का विकास देवताओं अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक अधिभौतिक शक्तियों के सहयोग से हुआ है।

विश्व की सभी प्राचीन संस्कृतियों से तौल कर महामहोपाध्याय श्रीगोपीनाथ कविराज भारतीय संस्कृति को श्रेष्ठ मानते हैं। वह कहते हैं कि 'विश्व की समस्त प्राचीन संस्कृतियों का यदि तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो प्रत्येक देश की संस्कृति में, भारतीय संस्कृति के बीज निहित मिलते हैं। भारतीय संस्कृति की आत्मा लोक संस्कृति है। नगर संस्कृति से दूर ग्रामों, वन, पर्वतों में निवास करने वाले भारतीय साधारण-जन भारतीय लोक संस्कृति की आत्मा हैं। "आत्मौपम्येन सर्वत्र" यही भारतीय लोक संस्कृति का सिद्धान्त है। भारत की साधारण जनता स्वभाव से ही इस सिद्धान्त का पालन करती हुई ब्रह्मत्व और मायातत्त्व को अनजाने ही समझती है।

डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल के विचार में संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगणपूर्ण प्रकार है। हमारे जीवन का ढंग हमारी संस्कृति है। भारतीय संस्कृति को, लोक-संस्कृति से जो महत्वपूर्ण भाव मिला है वह है "आत्मीयता"। अपने समान सबको समझने का भाव भारत को छोड़कर किसी भी देश की संस्कृति में नहीं है। प्रो० उत्तम चन्द गोयल ने लोक संस्कृति को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि यदि भारतीय संस्कृति को समझना है तो लोक संस्कृति को समझना होगा। भारत की आत्मा उसके गाँव हैं। संस्कृति भी अपने पूर्ण रूप में लोक जीवन को भाती है। लोक का अर्थ है सर्वसाधारण जनता। लोक संस्कृति की आत्मा ग्रामीण रीति-रिवाज, परम्पराओं, लोकगीतों एवं आचार-विचार में निहित है। लोक संस्कृति हमारे देश की सामाजिक प्रगति की प्रतीक है।

हमारे समाज में संस्कृति, कला, साहित्य और राजनीति अलग-अलग स्वर नहीं बरन् एक ही वाद्य के ऐसे स्वर हैं जो सम्मिलित ध्वनि से बजते हैं। वस्तुतः सांस्कृतिक विचारों, व्यवहारों का कला से अभिन्न सम्बन्ध है। लोक संस्कृति में लोक धर्म, लोक साहित्य, लोक कलाएं, लोकोत्सव, लोकाचार, तीर्थ व्रत, लोकानुष्ठान, लोक विश्वास, लोकादर्श एवं लोक-मर्यादाएं प्रमुख हैं।

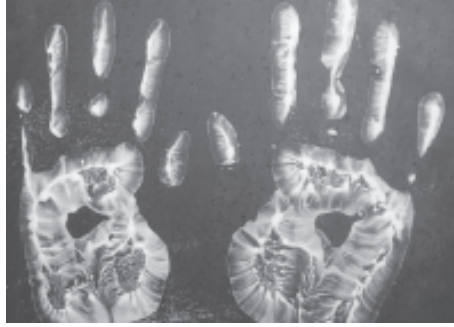
यहाँ का लोक मानस देवी-देवताओं में अटूट आस्था रखता है। साधु-सन्तों एवं ऋषि मुनियों के प्रति सेवा सत्कार की भावना इसके लोक धर्म का अभिन्न अंग है। यहाँ गाय, ब्राह्मण एवं गुरुजन की समान रूप से पूज्य हैं। यहाँ की सातों पुरियाँ-अयोध्या, मथुरा, माया (हरिद्वार) काशी, अवन्तिका और द्वारिका पापमोक्षक एवं मोक्षदायिनी हैं।

धर्म ने शुभ और मंगल का भाव भी कला को दिया है। शुभ से ही शोभा होती है। शुभ और मंगल का प्रतीकात्मक भाव अनेक चित्रों, मूर्तियों और मंगलाचरणों में उतारा गया है। अहोई, करवाचौथ, गणेश चतुर्थी, अक्षयतीज आदि अवसरों पर स्त्रियाँ चौक पूरती हैं। हल्दी-रोली आदि से छापा लगाती हैं। यंत्र-मंत्र-तंत्र, जो धर्म के अंगीभूत तत्व हैं इन मांगलिक और शोभा के कामों में पिरोए जाते हैं। हिन्दू धर्म में दूल्हे का द्वारचार (दरवाजे पर स्वागत) धर्म और कला के संगम का नमूना है। धर्म और कला के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए श्रीमती राची रानी गुर्दु ने ठीक ही कहा है कि धर्म से उपजी लोककला धीरे-धीरे भारतीय जन जीवन के हर पहलू में रम गई। इसने मिट्टी, बांस, लकड़ी, कपड़ा, कागद आदि विविध माध्यमों को आधार बनाकर अपने को रूपायित किया। अपने भीतर विभिन्न कालों की महान प्रवृत्तियों को आत्मसात किया और अपने भूत, वर्तमान और भविष्य की जनाकांक्षी आवश्यकता बनकर स्थापित हो गई।

वस्तुतः भारतीय संस्कृति की संरचना सतरंगे सूत्रों से हुई है, जिसमें मंगल चिह्नों का विशेष योगदान है। पर्व उत्सव, विवाह-शादी, व्रत अनुष्ठान आदि के समय दीवारों या धरती पर मंगल-चिह्न अंकित करने की प्रथा बहुत पुरानी है। भारत के लगभग सभी प्रदेशों में भिन्न-भिन्न नामों से इस परम्परा का प्रचलन देखने को मिलता है। विविध रूपों में दीवारों पर चित्रित किए जाने वाले इन मंगल-चिह्नों को थापा कहा जाता है, जबकि पृथ्वी पर अंकित किए जाने वाले ये चिह्न अल्पना कहलाते हैं। ये मांगलिक चिह्न सतिया, चीतण, चौकपूरना, रंगोली आदि नामों से पुकारे जाते हैं। मांगलिक आकृतियां हमारे समाज में सर्वत्र अपनी छटा बिखेरती हैं। राजमहलों से लेकर गरीबों की झोपड़ियाँ तक इनसे सुशोभित होती है।

मांगलिक आवृतियों में सर्वप्रमुख है 'सतिया'। 'सतिया' वस्तुतः स्वास्तिक शब्द का ही परिवर्तित रूप है, जो सुख समृद्धि एवं आनन्द मंगल का संवाहक है। विशेष आकृति के कारण धर्म परायण समाज ने इसे विघ्नविनाशक, मंगलदायक गणेश जी का रूप माना है। कुछ विद्वान् स्वास्तिक चिह्न का संबंध सूर्य से भी जोड़ते हैं तथा उसे सूर्य का प्रतीक मानते हैं। स्वास्तिक अंकन की परम्परा इतनी प्राचीन है कि ऋग्वेद में भी इसका उल्लेख मिलता है। भारत के घर-घर में कोई भी शुभ कार्य आरम्भ करने से पहले हल्दी, रोली, गेरू या गोबर आदि से स्वास्तिक-चिह्न बनाकर गणेश-पूजन किया जाता है।

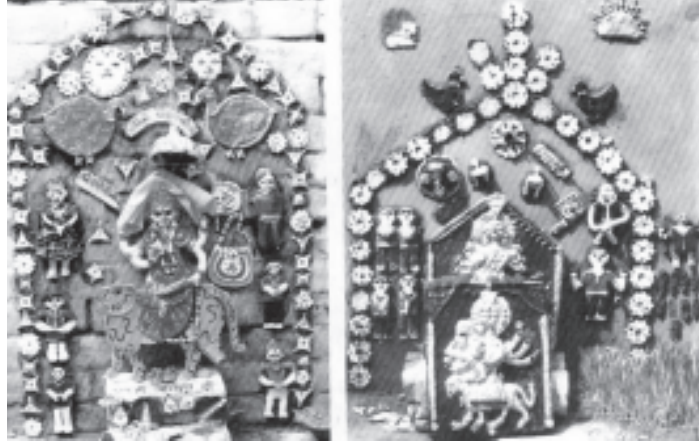
लोक कला के विभिन्न रूपों में धूलि चित्र भी प्रमुख है। ये धूलिचित्र पिसे हुए चावलों अथवा रंग बिरंगी मिट्टी से बनाये जाते हैं, जिनका प्रचलन मौर्य युग से ही हो गया था। लोक कला की प्राचीन परम्परा की शुरुआत शुंग कालीन सांची के तोरणों में अंकित जातक कथाओं के लोक चित्रों में होती है। सांची की कला को इतनी लोकप्रियता प्राप्त होने का यही कारण था कि उसमें लोक कला रुचियों का समावेश था। अलग-अलग त्योंहारों तथा उत्सवों पर भिन्न-भिन्न थापा अंकित किये जाने का प्रचलन है। हाथ की उंगलियों का थापा या छापा मारकर जो चित्र दीवार पर बनाए जाते हैं, उन्हें 'थापा' कहा जाता है।



विवाहोत्सव, पुत्र जन्म, अहोईव्रत, लक्ष्मी-पूजन, गूगा नौमी, सांझी आदि अनेक शुभ अवसरों पर विभिन्न प्रकार के थापे उकेरे जाते हैं। विवाह के अवसर पर अद्भुत अल्पना एवं अनुपम थापों की शोभा देखते ही बनती है। विवाह की वेदी रचना पर कलावन्त पण्डितों को अपना हुनर दिखाने का सुअवसर मिलता है।

भारत में माताएँ अपनी सन्तान की मंगलकामना के लिए कार्तिक कृष्ण अष्टमी को अपने घर की दीवारों पर 'अहोई माता' का थापा अंकित करती हैं। पहले दीवार के किसी कोने को खड़िया मिट्टी से पोत कर पवित्र किया जाता है। उसके बाद गेरू के घोल से 'अहोई माता' की आकृति उभारी जाती

है जिसके मध्य भाग में पुत्र, वधुएँ, चाँद, सीढ़ी आदि के चित्र अंकित किए जाते हैं। यदि किसी परिवार में उस वर्ष पुत्र जन्म या विवाह हुआ हो, तो अहोई माता के दो मुख और चार हाथ बनाए जाते हैं।



भारत की कन्याएँ आश्विन शुक्ला प्रतिपदा को अपने मोहल्ले की किसी प्रमुख दीवार पर 'सांझी' संजोने का उपक्रम प्रारम्भ करती हैं। पहले दीवार पर गोबर से एक मीटर ऊँची 'सांझी' की आकृति बनायी जाती है। फिर नीली-पीली रंग-बिरंगी चमकीली पन्नियों, शीशे के टुकड़ों, कौड़ियों, फूल-पत्तियों आदि से इसके विभिन्न अंगों का शृंगार किया जाता है। अन्तिम दिन 'किलाकोट' बनाया जाता है। इसे सजाने-संवारने में कोई कसर नहीं छोड़ी जाती। सन्ध्या के समय सांझी गाई जाती है तथा दशहरे के दिन इसे भोग लगाकर सरोवर या सरिता के जल में विसर्जित कर दिया जाता है।

लोक कला हमारे सामाजिक जीवन के हरेक पहलू में देखी जा सकती है। शिशु के जन्म के समय दरवाजे पर टोटे के रूप में कुछ लोक प्रतीक बना दिये जाते हैं। बड़ा होने पर विभिन्न प्रकार के खिलौनों से उसका मन बहलाया जाता है। शादी ब्याह तथा विशेष अवसरों पर अल्पना एवं चित्रकारी करके तथा विभिन्न सामग्रियों पर सुन्दर अल्पना आदि बनाकर मन की प्रसन्नता व्यक्त की जाती है। रचना की यह प्रक्रिया मनुष्य के खाने, पहनने तथा दैनिक उपयोग की अन्य सामग्रियों में देखने को मिलती है।

हमारे जितने भी सामाजिक उत्सव हैं उन सब में लोक कला किसी न किसी रूप में देखने को मिलती है। शादी ब्याह में 'कोहबर' के रूप में पूरा घर चित्रित कराया जाता है। दीपावली पर घर-घर दीपावली लिखी जाती है और गेरू से लक्ष्मी माता का चित्र बनाया जाता है। इसके मध्य में अमृतकलश एवं कमल आदि के चित्र बनाए जाते हैं। ऊपरी भाग में 'शुभ लाभ' तथा निचले भाग में 'श्री महा लक्ष्मी पूजनम' का आलेखन किया जाता है। गोवर्धन पूजन पर सामूहिक रूप से गोधना की आकृति बनाकर पूजा की जाती है। 'पिंडिया' पर घर के अन्दर छोटे-छोटे गोबर के पिण्ड दीवार पर चिपका कर पूजा की जाती है। प्रत्येक उत्सव पर मंगलघट की स्थापना का विधान लोक कला के ही अस्तित्व को सूचित करता है।

भारत में महिलाएं अपने सौन्दर्य वृद्धि के लिए गुदना गुदवाती हैं। गुदना एक पीड़ादायक प्रक्रिया है, जिससे शरीर की बाह्य त्वचा में सुइयों की सहायता से काली स्याही द्वारा स्थाई अलंकरण बना

दिए जाते हैं। समय के साथ सूई के स्थान पर अब मशीन से गोदना अंकित किया जाने लगा है। गोदना कही विजय चिह्न के रूप में कही वर्ण या कुल सूचक चिह्न के रूप में धार्मिक विश्वास या सामाजिक स्तर के सूचक के रूप में और कहीं जादूटोनामूलक अन्धविश्वास की दृष्टि के रूप में गुदवाया जाता है।

मेंहदी रचाने में लोककला का सूक्ष्म सौन्दर्य परिलक्षित होता है। भारत के लगभग सभी प्रान्तों में तीज, गनगौर, करवाचौथ, होली, दिवाली आदि त्योहारों तथा विवाहोत्सवों आदि विशेष अनुष्ठानों के दिन मेंहदी लगाई जाती है। विवाह के समय वधू के सौभाग्य की मंगलकामना के लिए उसके कपोल और भवों आदि पर स्फेद तथा लाल रंग से अंकित बिन्दु लोककला के ही रूप हैं।

लोक कलाओं में पशु पक्षियों का अंकन विविध रूपों में हुआ है। प्रागैतिहासिक युग से लेकर मध्ययुग तक जितनी भी चित्र शैलियां हैं उनमें सर्वत्र ही पशु पक्षियों का मनोरम चित्रण देखने को मिलता है। साहित्य में पक्षियों का वर्णन और उनके द्वारा संदेश लाने और ले जाने का कौशल बहुधा देखने को मिलता है। लोक कला में पशु पक्षियों का अंकन मंगलकामना से भी किया जाता है। पक्षियों को प्रेम, उल्लास और कोमलता का प्रतीक माना गया है।

लोक कलाओं के वैशिष्ट्य को देखकर कहा जा सकता है कि इन कलाओं ने भारतीय संस्कृति को नए-नए आयाम दिए हैं। इन कलाओं ने हमारी धार्मिक भावनाओं की सशक्त अभिव्यक्ति के साथ-साथ हमारी सौन्दर्यानुभूति को भी मनमोहक रूप में संजोया है। कल्पना और यथार्थ के मेल से परिपुष्ट लोक कलाएं हमारी संस्कृति के रथ को निरन्तर आगे बढ़ाती रही हैं। सौन्दर्य और आनन्द की धारा इन कलाओं में सदैव बहती रही है और बहती रहेगी।

सन्दर्भ सूची

- परीक्षा मंथन-भारतीय कला एवं संस्कृति।
- कल्याण : हिन्दू संस्कृति अंक।
- संस्कृति के स्तम्भ : डॉ पूर्णचन्द्र शर्मा।
- श्री रंगनाथ रामचन्द्र दिवाकर: संस्कृति की जीवन क्षमता
- गोपाल मधुकर चतुर्वेदी-भारतीय चित्रकला
- पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर : वैदिक संस्कृति के मूलतत्त्व।
- सम्मेलन पत्रिका, लोकसंस्कृति अंक
- डॉ० हर्ष नन्दिनी भाटिया : ब्रज लोककला।
- शवीरानी गुरु: कला दर्शन
- हिन्दुस्तान रविवासरीय, नई दिल्ली, 2 नवम्बर
- मदनगोपाल शर्मा : दैनिक जागरण, आगरा, 5 जुलाई, 1993
- डा० एच०एन० मिश्रा- बनारस की चित्रकला
- कला त्रैमासिक- लोक कला विशेषांक
- मधु जैन- फोक आर्ट आफ उत्तर प्रदेश
- डा० बिमला वर्मा- उत्तर प्रदेश की लोककला, भूमि और भित्ति अलंकरण।
- प्रेमचन्द्र गोस्वामी : भारतीय कला के विविध स्वरूप
- लोक संस्कृति : संस्कृति विभाग उत्तर प्रदेश
- डा० स्वर्णलता : लोकसाहित्य विमर्श (1979)

बौद्ध और जैन दर्शन का एक समीक्षात्मक अध्ययन

कहकशाँ कौसर

शोध-छात्रा, स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग,
तिलकामाँझी भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर

अनादि काल से ही भारतीय इतिहास में दो प्रकार की चिन्तन परम्पराएँ सामान्य रूप से द्रष्टव्य हैं- एक वह हैं जो परम्परामूलक हैं, ज्ञान के संरक्षित स्वरूप के अनुगमन पर जोर देती हैं और जिसके लिये सत्य का अन्तिम निश्चय वैदिक साहित्य के रूप में हो चुका है। यह ब्राह्मण्य या ब्राह्मणवादी परम्परा है। दूसरी परम्परा वह है, जिसे प्रगतिशील कहा जा सकता है, ज्ञान को विकासशील मानती है, यज्ञ के स्थान पर आचरण को प्रमुखता देती है, देवों के ऊपर मनुष्यत्व को बिठाने का प्रयत्न करती है और परम निःश्रेयस की प्राप्ति के लिए मानवीय पुरुषार्थ पर बल देती है। यह है श्रामण्य श्रमणों की परम्परा। मोटे तौर पर और अत्यन्त व्यावहारिक रूप में हम कह सकते हैं कि ब्राह्मणवादी परम्परा का जन्म और विकास पंजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में हुआ, जबकि श्रमण परम्परा का विशेषतः आसाम, बंगाल, बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश में। बाद में यह भौगोलिक विभेद मिट गया।

जैन धर्म की परम्परा बौद्ध धर्म की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। कुछ विद्वानों के मतानुसार जैन धर्म प्रागैतिहासिक धर्म है। श्रमण-संस्कृति का आदि प्रवर्तक धर्म वस्तुतः जैन धर्म ही है। मोहनजोदड़ो से प्राप्त ध्यानस्थ नग्न योगियों की मूर्तियों के आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि सिन्धु सभ्यता के काल में भी जैन धर्म विद्यमान था। ऋग्वेद और अथर्ववेद में ब्राह्मणों का उल्लेख है। उन्हें उपनयनादि वैदिक संस्कारों से विहीन श्रमण-ज्ञानियों की परम्परा का पूर्व रूप माना जा सकता है। ऋग्वेद के केशीसूक्त (10/136) में प्राचीन श्रमण योगियों के जीवन की एक झलक मिलती है, ऐसा भी कहा जा सकता है। जैन धर्म का विकास सहस्रावधि शताब्दियों में उन ज्ञानी महात्माओं के द्वारा किया गया है, जिन्हें तीर्थंकर कहा जाता है। 'तीर्थंकर' ज्ञान का प्रवर्तन करने वाले वीतराग महात्माओं का नाम है। 'तीर्थ' शब्द का अर्थ है, वह निमित्त जिससे भव-सागर तरा जाता है। 'तरति संसारमहार्णवं येन निमित्तेन तत्तीर्थमिति'। धर्म रूपी तीर्थ का निर्माण जिन अखिल ज्ञानदर्शी मुनियों ने किया है, वे तीर्थंकर कहलाते हैं। जैन धर्म की परम्परा के अनुसार चौबीस तीर्थंकरों ने जैन धर्म का उपदेश दिया है, जिनमें अन्तिम भगवान महावीर हैं। आद्य तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव हैं, जिनका उल्लेख सम्भवतः ऋग्वेद की एक ऋचा (10/166/1) में हुआ है। अथर्ववेद (11/5/24-26) और गोपथ ब्राह्मण (पूर्व 2/8) में स्वयम्भू काश्यप का उल्लेख है, जिन्हें भगवान ऋषभदेव से मिलाने का प्रयत्न किया गया है। यजुर्वेद में कहा गया है कि "वृषभ धर्मप्रवर्तकों में श्रेष्ठ है।" यह आदि जैन तीर्थंकर का द्योतक हो सकता है। श्रीमद्भागवत (5/28) में तो और भी स्पष्ट भगवान ऋषभदेव का उल्लेख है। आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के अतिरिक्त अरिष्टनेमि, जो बाईसवें तीर्थंकर माने जाते हैं, वैदिक साहित्य में प्रसिद्ध है। जैसा हम अभी देखेंगे, अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर बुद्ध के समकालिक थे, के विशेष संदर्भ में हम इस शोध-पत्र में बौद्ध एवं जैन दर्शन की समीक्षा करेंगे।

जैसा कि पूर्व में ही कहा है कि जैन श्रमण-संघ प्राचीन काल से ही चला आ रहा था और इस परम्परा के साधुओं को पालि असाहित्य में 'निगण्ठ' अथवा निर्गन्थ नाम से पुकारा गया है। 'निर्गन्थ'

शब्द आज भी पहले की तरह ग्रन्थि-विमुक्त जैन साधकों के लिए जैन साहित्य में प्रयुक्त होता है। ये निगण्ट नाटपुत्त (निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र) के अनुयायी बताये गये हैं। 'निगण्ट नाटपुत्त' पालि साहित्य में भगवान महावीर का नाम है। उनकी गणना उस समय के प्रसिद्ध आचार्यों में की गयी है। पालि वर्णनों के अनुसार निगण्ट साधु एक वस्त्र धारण करते थे, जबकि अचेलक बिल्कुल नग्न रहते थे। रजःकणों में भी जीवतत्त्व विद्यमान है, ऐसा निगण्टों का विश्वास था।¹² निगण्टों के मुख्य सिद्धान्त, जिसका उल्लेख पालि साहित्य में हुआ है, चातुर्याम संवर के नाम से प्रसिद्ध है। चातुर्याम संवर चार प्रकार के संयम का नाम था, जिसका विवरण पालि ग्रन्थों के अनुसार इस प्रकार है- (1) जीव हिंसा के भय से निग्रन्थ जल के व्यवहार का संयम करते हैं, (2) सभी पापों का वरण करते हैं, (3) सभी पापों के वारण करने में लगे रहते हैं, (4) पापों के वारण करने के कारण वह सदा धूत-पाप (पाप रहित) होते हैं।¹³ राजगृह, कालशिला, इसिगिलि पर्वत पर भी उनके निवास स्थान थे। बुद्धकाल में निग्रन्थ साधुओं के अनुयायियों में उस समय के अनेक महापुरुष थे। वैशाली का सिंह सेनापति निगण्टों का भक्त था और इसी प्रकार नालन्दा का उपालि गृहपति भी। असिबन्धकुपत्र और अभय राजकुमार निगण्टों के शिष्य थे। स्वयं बुद्ध की जन्मभूमि कपिलवस्तु में वप्प नामक शक्य, जो भगवान बुद्ध का चाचा (चूलपिता) था, निगण्टों का अनुयायी था।¹⁴

मज्झिमनिकाय के अनुसार निगण्टों के गृहस्थ शिष्य श्वेत वस्त्र पहनते थे। श्वेतवस्त्रधारी श्रमणी (सेतसमणी) का भी एक स्थान पर उल्लेख है।¹⁵ मज्झिमनिकाय की अठकथा में कहा गया है कि निर्ग्रन्थ लोगों का दावा था कि वे सभी ग्रन्थियों से विमुक्त हो चुके हैं, इसलिए उनका नाम निर्ग्रन्थ है। उनका कहना था, 'हमारे अन्दर ग्रन्थि' रूपी क्लेश, बाधारूपी क्लेश नहीं है। हम क्लेश रहित हैं। इसीलिए हमारा 'निगण्ट' नाम है। निगण्ट नाटपुत्त (निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र- भगवान महावीर) ने पावा में निर्वाण प्राप्त किया था। इसका उल्लेख पालि ग्रन्थों में है और वहीं यह भी कहा गया है कि उनकी मृत्यु के बाद उनके शिष्यों में सिद्धान्तों के सम्बन्ध में विवाद उठ खड़ा हुआ था।¹⁶ अतः बौद्ध ग्रन्थों के आधार पर भगवान महावीर ने बुद्ध-परिनिर्वाण से पूर्व शरीर छोड़ दिया था, जो प्रायः ऐतिहासिक सत्य माना जाता है। जटिलसुत्त (संयुक्त निकाय) में निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र का बुद्ध गणाचार्य तीर्थकर के रूप में वर्णन उपलब्ध होता है। निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र के कुछ सिद्धान्तों का वर्णन हमें देवहसुत्त (मज्झिमनिकाय) में भी उपलब्ध होता है। एक विशेष बात जो तीर्थकर भगवान महावीर के सम्बन्ध में पालि निकायों में कही गयी है, वह उनकी सर्वज्ञता या निखिलज्ञानदर्शनसम्पन्नता के सम्बन्ध में है। निगण्ट नाटपुत्र सर्वज्ञ, सर्वसदृशी हैं, निखिल ज्ञान-दर्शन को जानते हैं, चलते, खड़े होते, सोते, जागते, सदा उन्हें ज्ञान-दर्शन उपस्थित रहता है, ऐसा अनेक सुत्तों में कहा गया है।¹⁷ जबकि हम जानते हैं कि गौतम बुद्ध ने स्वयं अनी सर्वज्ञता का प्रतिवाद किया था। यदि उन्हें कोई सर्वज्ञ कहता तो इसे वे असत्य के द्वारा अपनी निन्दा मानते थे, ऐसा उन्होंने कई बार स्पष्ट कर दिया था। वे किसी प्राणी का सर्वज्ञ होना स्वीकार नहीं करते थे। अतः भगवान महावीर के बारे में भी उनकी क्या दृष्टि हो सकती थी, इसे हम आसानी से समझ सकते हैं।

बुद्ध-शिष्य आनन्द ने सर्वज्ञता के दावा करने वाले शास्ताओं की ओर व्यंग्य करते हुए कहा था, "यहाँ एक शास्ता सर्वज्ञ होने का दावा करते हैं, परन्तु सूने घरों में भी भिक्षा के लिए जाते हैं। भिक्षा तो पाते नहीं, उल्टे कुक्कुरों से शरीर को नुचवाते हैं। वे स्त्री-पुरुषों के नाम-गोत्र पूछते हैं, गाँव-नगर का नाम पूछते हैं, अपना रास्ता पूछते हैं।"¹⁸ कुछ विद्वानों का कहना है कि आनन्द का लक्ष्य निर्ग्रन्थ साधुओं की ओर था। सर्वज्ञता की मान्यता जिस धर्म में हो उसे स्वयं भगवान बुद्ध ने 'अनाश्वसिक ब्रह्मचर्य' आशवासनहीन धर्म कहा था।¹⁹ एक साथ कोई मनुष्य तीनों काल के और तीनों लोकों के

पदार्थों को जानेगा, ऐसा गौतम नहीं मानते थे, इसीलिए उन्होंने न वैदिक ऋषियों को सर्वज्ञ माना था और न स्वयं अपने को। जैन दर्शन में इस विषय सम्बन्धी वस्तुतः एक परिपूर्ण समाधान है, उसे पर्यायसहित एक द्रव्य जानना भी शक्य नहीं है।¹⁰ निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र के सिद्धान्तों को संक्षेप रूप में पालि निकायों में इस प्रकार रखा गया है, “जो कुछ भी यह पुरुष सुख-दुःख या असुख-अदुःख अनुभव करता है वे सभी पहले किये हुए हेतु से। इस प्रकार पुराने कर्मों का तपस्या से अन्त करने से, नये कर्मों को न करने से, भविष्य में सत्त्व परिणाम रहित होता है।”¹¹ सैद्धान्तिक दृष्टि से एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात जो हमें निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र के सिद्धान्त के सम्बन्ध में पालि निकायों में उपलब्ध होती है, वह है, उसके द्वारा मनसिक कर्म (मनोकम्म) और शारीरिक कर्म (कायकम्म) के पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध पर जोर देना। ‘चित्तं वयं कायो होति, कायं वयं चित्तं होति’¹² अर्थात् चित्त पर आधारित काया है और काया पर आधारित चित्त है। यह जैन साधकों का बुद्धकाल में प्रसिद्ध आदर्श वाक्य था। भगवान बुद्ध ने भी कहा है- चेतना (चित्त) को मैं कम करता हूँ।

जहाँ तक बौद्ध एवं जैन दर्शनों का वैदिक धर्म के साथ सम्बन्ध का प्रश्न है, हम स्वामी दयानन्द के शब्दों में कह सकते हैं। “जैनबौद्धयोरैक्यम्”¹³ वेद-प्रमाण्य को इन दोनों में से कोई नहीं मानता। वैदिक यज्ञादि की ओर दोनों में से किसी की सहानुभूति नहीं है। परन्तु दूसरी तरफ जब हम देखते हैं तो दोनों (जैन एवं बौद्ध) में काफी भेद भी दृष्टिगोचर होता है। जहाँ दर्शन पूर्णतः आत्मवादी दर्शन है वहीं बौद्ध दर्शन के नाम के साथ ‘अनात्मवाद’ अनिवार्य रूप से जुड़ा हुआ है, उसके उत्तरकालिक पुद्गलशून्यता और धर्मशून्यता की तो कोई बात ही नहीं। बौद्ध एवं जैन दोनों अहिंसावादी धर्म हैं, परन्तु अहिंसा की स्वीकृति जैन धर्म में बौद्ध धर्म की अपेक्षा अधिक व्यापक और गम्भीर है। यदि तपस्या करने तथा शरीर को क्लेश देने से, किसी के चित्त-मिल दूर होते हैं और उसके कुशल कर्मों की वृद्धि होती है, तो उसके लिए इस प्रकार की तपस्या को, काय क्लेश को, बुद्ध विहित और आवश्यक बनाते हैं, उसके विपरीत को निषिद्ध और अनावश्यक।¹⁴ चित्त और शरीर के कर्मों के घनिष्ठ सम्बन्ध का प्रख्यापन करने वाले जैन साधक कायिक तपस्या पर ही जोर देते हो, ऐसा कहना उनके मन्तव्य को विकृत करना होगा। फिर भी तपस्या जैन साधना का अधिक आवश्यक अंग है अपेक्षाकृत बौद्ध साधना के, यद्यपि बौद्ध साधना में भी उसके महत्व की स्वीकृति है। बुद्ध के विचार का प्राण है, उनका मध्यममार्गी स्वरूप, जो उसकी अपनी विशेषता है।

दोनों दर्शन एक आदि, स्थिर चैतन्य कर्ता की सत्ता में विश्वास नहीं करते। जैसा अभी कहा गया, वेदों का प्रमाण्य दोनों को ही स्वीकार्य नहीं है। दोनों ही अहिंसा पर अधिक जोर देने वाले हैं, यद्यपि जैन दर्शन तो कुछ अधिक है। अब हम क्रमशः व्यवहारपक्ष, तत्त्वपक्ष और प्रमाणपक्ष को लेकर इन दोनों दर्शन के सम्बन्ध पर आते हैं। व्यवहारपक्ष या नीतिपक्ष में जैन दार्शनिकों ने सम्यकदर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य को मोक्ष का मार्ग स्वीकार किया है।¹⁵ अतः बौद्ध दर्शन के साथ उसकी पूरी समानता है। हम आसानी से इस साधना-त्रिपुटी को बौद्ध आर्य अष्टांगिक मार्ग का संक्षेप कह सकते हैं। या इसका विस्तार आर्य अष्टांगिक मार्ग को मान सकते हैं, बिना एक दूसरे पर किसी के ऋण की स्थापना करते हुए। आर्य अष्टांगिक मार्ग के प्रत्येक अंग के आदि में ‘सम्यक्’ शब्द जुड़ा हुआ है और यही बात जैन-साधना की उपर्युक्त त्रिपुटी में है। यह अत्यन्त सार्थक है।

वस्तुतः सम्यकत्व बौद्ध एवं जैन दर्शन-साधनाओं का एक अभिन्न अंग है, यद्यपि केवल सम्यकत्व को लेकर बौद्ध दर्शन की अपेक्षा जैन दर्शन में अधिक विचार है। जैन योग का यदि वर्णन करने लगे तो वह लगभग वैसा की होगा जैसा उपनिषदों का, महर्षि पातंजलि का अथवा बुद्ध का। वही शून्यगारों में ध्यान करने का उपदेश¹⁶, वही हिंसा, असत्य, चोरी आदि से विरति¹⁷, वही सत्य,

अस्तेय, अहिंसा और ब्रह्मचर्य की भावनाएँ¹⁸, वही कर्मों का विभाजन और उस कर्म से मुक्ति-प्राप्ति रूपी जीवन का उद्देश्य। कर्मों का निःशेष किए बिना जैन दर्शन में भी मुक्ति सम्भव नहीं है। उस कर्म का स्वरूप यहाँ पुद्गल रूप में अवश्य दिखता है जबकि बौद्ध दर्शन में चेतना रूपी बौद्ध दर्शन के 'अकुशल' कर्म ही यहाँ ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शनावरणीय कर्म, वेदनीय कर्म और मोहनीय कर्म, इन चार 'घातीय कर्मों' के रूप में प्रकारान्तर से रखे हुए हैं, अपने विशेष दर्शन का एक आवरण पहने हुए। जैन दर्शन में जिन्हें 'अन्तराय' कर्म कहा गया है, वे बौद्ध विचार के तीन बन्धनों अथवा पाँच नीरवरणों से कितनी समानता रखते हैं, इसे भी यहाँ बताने की आवश्यकता हमें नहीं लगता। शुभ कर्म का फल शुभ और अशुभ का अशुभ¹⁹, इस कर्म निगम सम्बन्धी निष्ठा को दिखाने की भी यहाँ क्या आवश्यकता? योग दर्शन के तो वे बिल्कुल 'अन्तराय' और विक्षेप सहभुवः के रूपान्तरण ही हैं। जैन साधना की अशुचि भावना को, जो वहाँ अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित है, बौद्ध धर्म ने 'अशुभ भावना' के रूप में लिया है। डॉ० हरदयाल ने बौद्ध धर्म पर जैन धर्म के ऋण को स्वीकार किया है, सहमत होने में हमें विशेष कठिनाई नहीं है।²⁰ बौद्धों के ब्रह्मविहार स्वरूप मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा की भावनाएँ जैन साधना में भी विद्यमान हैं।²¹

जैन दर्शन के अनुसार कर्म पुद्गल ही जीव और अजीव का सम्बन्ध करता है और जीव तथा कर्म परमाणुओं की गति को ही जैन दर्शन में आस्त्रव कहा जाता है। 'चक्खुना संवरो साधु'²² आदि प्रयोग तो बुद्ध के उपदेशों में भी हमें उपलब्ध होते हैं, जिनके समान कहीं-कहीं जैन व्याख्या भी की गयी है, किन्तु सम्बर (संयम) की तात्त्विक व्याख्या तो जैन दर्शन की अपनी देन है। सम्बर (संयम) का अभ्यास करते-करते जब जीव कर्म परमाणुओं से छूटने लगता है, तो यही 'निर्जरा' की अवस्था होती है। इस निर्जरा की अवस्था प्राप्त होने पर, जो परिपूर्णता संयम के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है, जीव मुक्त हो जाता है और उस दशा में वह अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान और अनन्त वीर्य का भागी होती है। इसी उद्देश्य की ओर जैन साधना जीव को ले जाने की कोशिश करती है और इस अर्थ में न केवल वह बौद्ध दर्शन से ही बल्कि प्रायः सभी भारतीय अन्य दर्शनों से भी भली प्रकार संगत है। यदि निश्चय ही और सभी बातों को गौण स्वीकार कर जैन दर्शन ने भव के हेतु का निदान आस्त्रव के रूप में ही किया है और संवर या संयम को ही मोक्ष मार्ग ठहराया है²³ तो हम कह सकते हैं कि उसका यह निदान और वह भैषज्य-विधान चतुरार्य सत्त्यों के शास्ता उन 'उत्तम-भिषक्', तथागत के औषध-विज्ञान से कुछ भी भिन्न नहीं है, किन्तु समान ही मन्तव्य का अवलम्बन करने वाला है। बौद्ध-साधना में जिस प्रकार लोक को अनित्य और अशरण कहा गया है, वही बात जैन साधना के सम्बन्ध में भी है।²⁴ धर्मास्तिकाय²⁵, प्रत्येकबुद्ध²⁶ और बुद्ध के प्रदेश क्षेत्र²⁷ की कल्पनाएँ स्पष्टतः बौद्ध धर्म से ली हुई जान पड़ती हैं।

तत्त्व-दर्शन के क्षेत्र में आते ही हमें बौद्ध और जैन चिन्तन-शास्त्रों की परस्पर विभिन्न प्रवृत्तियों और रुचियों का पता चलने लगा है। यहाँ विज्ञानवाद या शून्यवाद जैसी कई वस्तु नहीं हैं। जैन दर्शन के अनुसार स्थिरता और विनाश दोनों ही प्रत्येक वस्तु में रहते हैं। कोई भी वस्तु एकान्त नित्य और एकान्त अनित्य नहीं है। सभी वस्तुएँ नित्य और अनित्य दोनों प्रकार की हैं।

“ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णात्थि संभव विहीनो।

उत्पादो वि य भंगो ण विणा धोब्बेण अत्थेण॥”

अर्थात्, उत्पत्ति के बिना नाश और नाश के बिना उत्पत्ति सम्भव नहीं है। उत्पत्ति और नाश दोनों का आश्रय कोई पदार्थ होना चाहिए। एकान्त नित्य पदार्थ में परिवर्तन सम्भव नहीं है और यदि पदार्थ को क्षणिक माना जाय तो 'परिवर्तित कौन होता है?' यह भी बताया नहीं जा सकता। अतः जीवन जैन दर्शन

के अनुसार एकान्त नित्य नहीं है। परमाणुओं के संघात से ही संसर के सारे पदार्थ बने हैं, यह जैन दर्शन का एक मौलिक विचार है। परमाणुओं के पुंज को 'स्कन्ध' कहा जाता है। भौतिक जगत् अपने समष्टि रूप में 'महास्कन्ध' कहलाता है। जैन दर्शन में परमाणु आदि-अन्तहीन और नित्य है। परमाणु अमूर्त है। पृथ्वी, जल, वायु आदि एक ही प्रकार के परमाणुओं के रूपान्तर है। मुक्त जीवन परमाणुओं को प्रत्यक्ष करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन परमाणुवादी हैं और जीवों की अनेकता मानने के कारण अनेक-जीववादी भी, किन्तु जीव को वे व्यापक नहीं मानते। यदि ईश्वर के कर्तृत्व सम्बन्धी विश्वास को आचार्य धर्मकीर्ति केवल मनुष्यों की बुद्धि की जड़ता का चिह्न मात्र समझते हैं तो मल्लिसेन इस प्रकार के विश्वास से बचने के लिए अपने अनुशासक के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित किए बिना नहीं रहते। 'कर्तास्ति कश्चिज्जगतः स चैकः स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः। इमा कुहेवाक विडम्बनाः स्युः तेषां न येषाम् अनुशासकस्त्वम्।'²⁸ जैन आचार्यों के तर्क भी ईश्वरकर्तृत्वाद् के विरुद्ध प्रायः वैसे ही हैं जैसे बौद्ध आचार्यों के। अशरीरी कर्ता की असम्भवता, ईश्वर के पास सृष्टि निर्माण के किसी भी उद्देश्य की अविद्यमानता, ईश्वर की कारुणिकता और जगत् की दुःखमयता में पारस्परिक असंगति आदि बातें ऐसी हैं, जो ईश्वर-कर्तृत्ववाद को जमने नहीं देती।²⁹ जैन दर्शन भी बौद्ध दर्शन के समान ही फल प्राप्त कराने के लिए कर्म मात्र को ही पर्याप्त समझता है। इस प्रकार वेद और ईश्वर दोनों के ही विरोधी होने के कारण जैन और बौद्ध दर्शन 'आस्तिकवादी' लोगों के द्वारा एक ही कोटि में डाल दिए गए हैं और अन्य बातों में उनकी पारस्परिक विभेद की ओर इतना ध्यान नहीं दिया गया।

जैन न्याय-परम्परा अत्यन्त विशाल और विस्तृत है। मध्ययुगीन न्याय के इतिहास में जैनों का एक विशेष भाग है। जैन न्याय की सबसे बड़ी देन भारतीय नैयायिक विचार को उनका 'स्याद्वाद' सम्बन्धी सिद्धान्त है। उसमें सविकल्प मानवीय ज्ञान की अल्पता की अनुभूति कूट-कूट कर भरी है। साथ ही समन्वयवाद की भी। स्याद्वाद को ही अनेकान्तवाद कहते हैं और यह एक प्रकार से जैन दर्शन का दूसरा नाम है। अतः इस सिद्धान्त का जैन दर्शन में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। 'स्याद्वाद को 'स्याद्वादमंजरी में संक्षेपतः इस प्रकार परिभाषित किया गया है- 'स्याद्वादोऽनेकान्तवादो नित्यानित्यादपनेकधर्म-शवलैकवस्त्वभ्युपगम इति' अर्थात् स्याद्वाद अनेकान्तवाद को कहते हैं, जिसके अनुसार एक ही वस्तु में नित्यता, अनित्यता आदि अनेक धर्मों की उपस्थिति मानी जाती है और प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक मानी जाती है। इस प्रकार जैन दर्शन का विचार है कि एक ही वस्तु को देखने की अनेक दृष्टियाँ हो सकती हैं। किसी वस्तु की सत्ता या असत्ता के विषय में हम केवल यही कह सकते हैं- (1) शायद है (2) शायद नहीं है। (3) शायद है और नहीं है (4) शायद अवक्तव्य है (5) शायद है और अवक्तव्य है (6) शायद नहीं है और अवक्तव्य है तथा (7) शायद है, नहीं है और अवक्तव्य है। इसी को सप्तभंगीनय³⁰ भी कहते हैं। कुछ विद्वानों ने इस नय की संदेहवादी व्याख्या की है, जिससे सहमत होना कठिन है। अशेष ज्ञान को सिखलाने वाले शास्ता संदेह की शिक्षा कैसे दे सकते हैं, यह सम्भव नहीं। संजय वेलठिपुत्त के विचारों की झलक सप्तभंगीनय में देखना ठीक नहीं है। हमारी समझ में अशेष, ज्ञान, केवल ज्ञान, को दिखाने का प्रयत्न इस सिद्धान्त में किया गया है। वह दृष्टि में, किसी मत-वाद में, एकांश-निष्ठा से बचने के लिए हैं, जिसका उपदेश भगवन बुद्ध ने भी दिया था। भगवान बुद्ध ने 'है' और 'नहीं' को कोटियों का परिवर्तन करके तत्त्व को अव्याकृत कर दिया था, मध्यम मार्ग को स्वीकार किया था। उदारता और अविवाद धर्म की उसी दृष्टि की अभिव्यक्ति अनेकान्त के रूप में हुई है, ऐसी हमारी विनम्र धारणा है।

उपनिषद् अत्मैकत्वविज्ञान का मानदण्ड लेकर नापने वाले मनीषी डॉ० राधाकृष्णन् ने जैन दर्शन के अनेकान्तवादी यथार्थवाद को बीच मार्ग में ठहर जाने का प्रस्ताव प्रस्तुत किया है।³¹ आचार्य शंकर

ने भी इसी कारण जैन दर्शन को 'असंगत' कहा था।³² श्रवण धर्म अपने मौलिक रूप से साधना-मार्ग ही था, सम्यक्त्व का धर्म था। भगवान महावीर ने जब 'स्यादस्ति स्यान्नास्ति' कहा था तो पूर्ण सत्य के प्रख्यापन में यह उनके द्वारा दूसरे मतों को अपेक्षा देने के परिणामस्वरूप था। 'यही सत्य है' (इदमेव सच्चं, सूर-सुत्त)। इस विवाद की शान्ति का वह एक उपाय था। एक ही वस्तु में दो विरोधी स्वभाव एक साथ नहीं रह सकते। उसे सहानुभूतिपूर्वक समझने का प्रयत्न न कर वे उसकी अनिश्चयवादी व्याख्या कर देते हैं।³³ और उनके अनुकरण पर प्रायः सभी वैदिक विद्वान आज तक ऐसा करते आए हैं। 'अनेकान्त' परिनिष्पन्न सत्य है, परामर्श सत्य है और इस रूप में विरोध भाषा का प्रयोग स्वयं वैदिक दर्शन में भी है।

बौद्ध दर्शन ने तो आत्मवाद से ही पीछा छुड़ा लिया, परन्तु प्रकारान्तर से अद्वय तत्व की सिद्धि उसने भी की। 'निर्गुण' से भी अधिक बलवन् और वरिष्ठ 'शून्य' उसने खड़ा कर दिया। अतः 'सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध' में भले ही उसके सम्बन्ध में भ्रमपूर्वक कह दिया गया हो, बीच के पड़ाव जैसी कोई बात उसके सम्बन्ध में कभी नहीं कही जा सकती थी। वस्तुतः जैन दर्शन भी बीच का पड़ाव नहीं है। वह तो पूर्ण सत्य का, केवल ज्ञान का गवेषी है और उसकी खोज करते हुए वह भी उस अभेद निष्ठा पर पहुँचा है, जो सम्पूर्ण वेदान्तों का लक्ष्य है। दोनों का लक्ष्य मानव है, वह मानव जो पूर्णतः विमुक्त है, केवली है, अर्हत् है, जिसके आस्त्रव क्षय हो गए हैं,³⁴ आस्त्रव-निरोध रूप संवर के द्वारा जिसने निर्जरा की प्राप्ति की है।³⁵ मोह का उच्छेदन कर ज्ञान-दर्शन के आवरणों को हटाकर जिसने केवल परिपूर्ण अवस्था को प्राप्त किया है।³⁶ यही मुक्त पुरुष अर्हत् बौद्ध और जैन दोनों दर्शनों का लक्ष्य है। अतः बौद्ध एवं जैन दोनों आर्हती दृष्टियाँ हैं। जैन साधक का मौलिक विषय बौद्ध साधक के समान यह भावना करना कि 'मुझे मोह की सेना को किस प्रकार जीतना चाहिए',³⁷ उसे मूल साधना के द्वारा यह अनुभूति करना कि 'मैं स्वयं साक्षात् धर्म हूँ'³⁸ यही श्रामण्य का मूल उद्देश्य था, नयों और द्रव्यों का विवेचन नहीं, आत्मा के सिद्धान्त का प्रख्यापन नहीं। राग के प्रहाण और संयम प्राप्ति के लिए श्रमण साधना का प्रवर्तन हुआ था, जो दुःखक्षय का एकमात्र मार्ग है। बुद्ध ने राग, द्वेष और मोह के अकुशल मूल कहा और इसके आत्यन्तिक क्षय को निर्वाण। वीतरागता का इसके अलावा और संदेश क्या हो सकता है? भगवान बुद्ध ने कहा था कि रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान में अपने को मत खोजो, वहाँ अपना नहीं मिलेगा, वह पर वस्तु है, उसे छोड़ दो और यही बात प्रकारान्तर से जैन साधना के 'स्व' और 'पर' के भेद-विज्ञान में है। *णाहं देहोण मनो ण चैव वाणी ण कारणं तेसिं। कत्ता ण पा कारयिदा अनुमन्ता चैव कर्तृणाम्॥ णाहं होमि परोसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि इति णिच्छिदो जिदिन्दो जादो जघाजादरूपधरो।*³⁹

ऊपर हमने भगवान महावीर (निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र) के जीवन और उनके उपदेशों के सम्बन्ध में, जैसे कि वे पालि निकायों में वर्णित हैं, वर्णन किया है। बौद्ध धर्म के वर्णनों के आधार पर जैन धर्म के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में और जैन धर्म के वर्णनों के अनुसार बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में हमें मिथ्या धारणाएँ नहीं बना लेनी चाहिए। शिष्य-प्राप्ति के लिए इनमें काफी होड़ चल रही थी और इसकी प्रतिच्छाया इनके वर्णनों पर भी पड़ी है। पालि वर्णनों के ही अनुसार निर्ग्रन्थ लोग बुद्ध को 'अक्रियावादी' कहते हैं,⁴⁰ जो वह वास्तव में नहीं थे और इसी प्रकार बुद्ध शिष्य चित्त गहपति के साथ निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र के संवाद के सम्बन्ध में⁴¹ तथा बाबेरू जातक में जिस प्रकार निर्ग्रन्थ साधकों को उपस्थित किया गया है, जो ठीक नहीं। यहाँ सन्तोष की बात यही है कि बुद्ध का इससे कुछ भी सम्बन्ध न था। भगवान बुद्ध इस बात में बड़े सतर्क थे कि निर्ग्रन्थों के जो शिष्य उनके मत को स्वीकार भी करें तो उसके बाद भी वे अपने निर्ग्रन्थ गुरुओं का उसी प्रकार दानमनादि से सत्कार करते

रहे जैसा कि वे पहले करते थे। उपालि गृहपति को स्पष्टतः उन्होंने ऐसा आदेश दिया था।⁴² निर्ग्रन्थ साधुओं के प्रति बिना सम्मान की भावना के इस प्रकार का आदेश नहीं दिया जा सकता।

सन्दर्भ ग्रन्थसूची

1. अनेकान्त, अप्रैल 1952, पृ० 120-121.
2. धम्मपदट्ठकथा, जिन्द तीसरी, पृ० 489 (P.T.S.)
3. अम्हाकं गन्थनकिलेसो पलिबुज्झनकिलेसो नत्थि किलेसगण्ठिरहिता मयं हि एवं वादिताय लद्धनामवसेन निगन्ठा। मज्झिमनिकाय, अट्ठकथा, पृ०-423.
4. अगुंतरनिकाय की अट्ठकथा, पृ० 559. (P.T.S.)
5. कुणालजातक, जहाँ सच्चवादी नामक श्रमणी का उल्लेख है, जिसे 'सतेसमणी' कहा गया है।
6. सामगामसुत्त (मज्झिमनिकाय, 3/1/4), संगीतिपरियायसुत्त (दीघनिकाय, 3/10)।
7. चूलदुक्खक्खनधसुत्त (मज्झिमनिकाय, 1/2/4), चूल सुकुलदायिसुत्त (मज्झिमनिकाय, 2/3/9).
8. सन्दकसुत्त (मज्झिमनिकाय 2/3/6),
9. बुद्धचर्या पृ० 263.
10. वही, गाथा 48.
11. देवदहसुत्त (मज्झिमनिकाय, 3/1/1)
12. महासच्चकसुत्त (मज्झिमनिकाय, 1/4/6)
13. सत्यार्थ प्रकाश (द्वादशसमुल्लास)
14. देवदहसुत्त (मज्झिमनिकाय, 3/1/1)
15. सम्यग्दर्शनानचरित्राणि मोक्षमार्गः, तत्त्वार्थ सूत्र 1/1.
16. शून्यागारेषु गिरिगुहतरूकोटरादिषु आवासः। तत्त्वार्थ सूत्र 7/6, मिलाइये बुद्ध की प्रसिद्ध उक्ति 'भिक्षुओं! शून्यागारों में जाकर ध्यान की वृद्धि करो'। गिरि-गुहा, पुआल-पुंज और वृक्ष-मूल में ध्यान करने के उपदेश भी भगवान बुद्ध ने दिया है।
17. हिंसाऽनृतस्तेयान्ब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्ब्रतम्, तत्त्वार्थसूत्र, 7/7.
18. तत्त्वार्थसूत्र, 7/4-7.
19. शुभः पुण्ययस्याशुभः पापस्य। तत्त्वार्थसूत्र 6/3
20. बोधिसत्त्व डॉक्ट्रिन इन बुद्धिस्ट संस्कृत लिटरेचर, पृ० 95, तत्त्वार्थसूत्र 7/12.
21. मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थेन च सत्त्वगुणधिकविलस्यमानाविनेयेषु। तत्त्वार्थसूत्र, 7/11.
22. 'चक्खुना संवरो साधु, साधु सोतेन संवरो। घाणेन संवरो साधु, साधु जिह्वाय संवरो॥ कायेन संवरो साधु, साधु वाचाय संवरो। मनसा संवरो साधु, साधु सब्बत्थ संवरो॥ सब्बत्थ संवुतो भिक्खु सब्बदुक्ख पमुच्चति। -धम्मपद, भिक्खुवग्गो, 25/1-2
कायेन संवरो साधु, वाचाय संवरो। मनसा संवरो साधु, साधु सब्बत्थ संवरो। सब्बत्थ संवुतो लज्जली रक्खितोति पवुच्चतीति'। -संयुक्त निकाय।
जैन दर्शन में 'संवर' की इस रूप में व्याख्या के लिए देखिए, आस्त्रविरोधः पवुच्चतीति'। संयुक्त निकाय। जैन दर्शन में 'संवर' की इस रूप में व्याख्या के लिए देखिए, आस्त्रविरोधः संवरः। -तत्त्वार्थ-सूत्र 9/1.
23. आस्त्रवो भवहेतुः स्यात् संवचरो मोक्षकारणम्। इतीयमार्हती दृष्टिः अन्यदस्याः प्रपञ्चनम्॥ सर्वदर्शनसंग्रहे।
24. तत्त्वार्थ-सूत्र 9/7.
25. वही, 10/8
26. वही, 10/9
27. वही, 10/9
28. स्याद्वादमंजरी।
29. हरिभद्र का षड्दर्शन-समुच्चय और उसपर गुणरत्न की वृत्ति।

30. स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्तिनास्ति, स्यादवक्तव्यः, स्यादस्ति व वक्तव्यः, स्यान्नास्ति चावक्तव्यः, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यः।
31. One thing, however, is clear, that it is only by stopping short at a halfway house that Jainism is able to set forth a pluralistic realism. राधाकृष्णन् : इण्डियन फिलासफी, जिल्द पहली, पृ० 340.
32. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य 2/2/33-34.
33. अनिर्धारितरूपं ज्ञानं संशयज्ञानवदप्रमाणमेव स्यात्। ब्रह्मसूत्र-शांकर भाष्य 2/2/33.
34. तत्त्वार्थ-सूत्र 9/1.
35. वही, 8/1.
36. वही, 10/1.
37. प्रवचन सार, गाथा 80.
38. वही, गाथा सं० 92.
39. वही, 160-61.
40. सीहसुत्त (अंगुत्तरनिकाय 8/1/2/2), अभयराजकुमारसुत्तन्त (मज्झिमनिकाय, 2/1/8).
41. उपालिसुत्त (मज्झिमनिकाय)।
42. महावंश 10/97.

GMO Food: Nutrition and Safety

Sushma Kumari

*Research Scholar, Department of Home Science,
Magadh University, Bodhgaya*

The use of genetic modification in food production is a very controversial topic. Genetically modified (GM) foods could be the super foods of the future. The potentials are endless. Some scientists boast of taking known allergy causing genes out of foods, helping produce last longer, pest protected crops, plants that grow in poor soil, and adding vitamins to make some foods more nutritious are just a few of the ideas. Some scientists and consumers have expressed concern that genetically engineered plants could produce unsafe foods, new food allergies, spur the uncontrollable growth of weeds, and they could be harmful to beneficial organisms. Humans have been using hybridization to create better plants for centuries. Genetic modification is an extension of this. However unlike conventional breeding, in which new assortments of genes are created more or less at random, it allows specific genes to be identified, isolated, copied, and introduced into other organisms in much more direct and controlled ways. Today scientists are able to insert a specific gene or genes into a plant and give it new advantageous characteristics through biotechnology. This is a more accurate technique instead of mixing all the genes from two plants and seeing what comes out. Once in the new plant, the new gene does what all genes do: It directs the production of a specific protein that makes the plant uniquely different. It is now possible to introduce foreign genes (Trans-genes) into crop plants and express these in specific tissues. For example scientists can insert a gene that affects only the root and leaves of a plant not the seeds or fruit.

GM foods are developed and marketed because of their apparent advantage over non-GM foods, including:

- Better taste, nutrition and quality
- Increased profit for growers
- Virus and insect resistance
- Herbicide tolerance
- Increased food yield to alleviate world hunger

Nutritional Content of Food

Gene modification, agricultural growing and feeding practices, conventional plant breeding and selection, and vitamin biofortification are the ways through the nutrient profile and density of a food can be altered. A gene selected for modification can increase or decrease the vitamin, mineral or fatty acid content found in the modified food. For example, golden rice is genetically altered to increase its beta carotene content. Sometimes when one nutrient is increased another will decrease as an unintended consequence. For example, canola oil genetically engineered to contain vitamin A has reduced vitamin E levels. Growing and feeding practices such as grass-fed versus corn-based animal husbandry, and wild versus farm-raised fish, alters the animal's fatty acid profile. The amount of omega-3 fatty acids found in eggs varies depending upon the

chicken's diet. Conventional plant breeding and selection can also change the nutritional profile, and has been practiced for a very long time. Finally, grains and cereals are frequently fortified with iron and vitamins before being marketed without the need for genetic modification.

There are planned and unexpected consequences of gene modification. Some of the intended goals driving the genetic modification of food include an altered nutritional profile, longer shelf life, and better texture and flavor. Other goals include improved agronomic characteristics such as insect and disease resistance, and herbicide and climate tolerance. For example, plant geneticists can isolate a gene responsible for drought tolerance and insert that gene into a different plant. The new genetically modified plant will then be drought tolerant as well. As the world population grows, perhaps genetic modification can increase crop yields.

The unintended consequences of genetic modification include an increased potential for new allergens in the food supply, antibiotic resistance, toxicity and environmental challenges. Genetic modification ultimately results in the introduction of new proteins into the food supply. True antibody mediated food allergies are an important health issue occurring in approximately 2% of adults and nearly 5% of children. Protecting people with food allergies from unwanted exposure to these new proteins represents a major public health challenge for genetically modified sources of food. Additionally, consumption of foods genetically modified by using "antibiotic resistance markers" may reduce the effectiveness of antibiotics to fight bacterial diseases. Antibiotic-resistant genes produce enzymes that degrade antibiotics and might be transferred to human or animal pathogens, also making them resistant to antibiotics. Finally, a gene selected for modification may have two functions, one with the desired effect and one that has an undesired effect like enhancing natural plant toxins. This occurs in legumes, lima beans and canola species.

Some examples of GM plants with improved characteristics designed to improve health and nutrition are Maize with added vitamin C content, Potato with insulin as well as enhanced calcium levels, rice with added iron or zinc and coffee beans with decreased caffeine content.

One study in which a genetically modified green pepper and a standard unmodified pepper were analyzed for their nutrient and mineral contents and showed no significant opposing results between the two peppers. The analysis showed that there was neither significant difference in the energy and the protein levels nor a difference in the mineral content which included calcium, phosphorus, iron, sodium, potassium, magnesium, and zinc. This therefore concluded that, the nutrient composition of the genetically modified green pepper was found to be equivalent to that of the standard unmodified peppers.

Another study that tested genetically modified Bt maize on laying quails also gave a similar conclusion to the green pepper study. The results showed that 'Bt maize did not significantly influence health, hatchability and performances of quails nor did it affect the quality of meat and eggs of quails' compared with the unmodified maize that was also tested. One exception to this study however was the that performed by Piva et al. (2001a,b) who noted that 'significantly improved animal performance was associated with a diet containing the Bt maize.' It is thought that this 'improved performance' demonstrated by the animals fed the genetically modified Bt maize crop, was because it reduced 'secondary fungal infection and, as a consequence, reduced mycotoxin contamination.'

Toxicity

'Publications on GM food toxicity are scarce'. Although there are many arguments and opinions surrounding the toxicity of GM foods, there is little experimental data and analysis to construct such arguments. 'In fact, no peer-reviewed publications of clinical studies on the human health effects of GM food exist. Even animal studies are few and far between' Acute toxicity studies on the 'Flavr Savr' genetically modified tomatoes, required by the FDA, were carried out with rats to determine toxic effects of the GM product. 'It was concluded that mean body and organ weights, weight gain, food consumption and clinical chemistry or blood parameters were not significantly different between GM-fed and control groups.' However it was noted that sections of the stomach in up to 7 of the 20 female rats fed the GM tomato, showed 'mild/moderate erosive/necrotic lesions' and as well as this 7 of the 40 rats involved in the experiment were known to have died a few weeks after for unstated reasons.

Another experiment that tested herbicide-resistant GM maize 'showed significant differences in fat and carbohydrate contents compared with non-GM maize.' Toxicity tests were performed and showed that the 'rats ability to digest was decreased after eating GM corn.' Likewise tests in to 'potatoes transformed with a specific toxin gene or the toxin itself was shown to have caused an array of unwanted effects and showed that, CryI toxin was indeed stable in the gut of the mouse and 'therefore GM crops expressing it need to be subjected to "thorough tests...to avoid the risks before marketing.' Such studies support people's concerns about GM foods and highlight the need for further research in to them and their health effects.

Environmental Risks

The unintended environmental risks of genetically modified crops include herbicide and insecticide resistance, gene transfer to wild and conventionally grown plants through cross pollination, crops that are too genetically uniform and thus susceptible to being wiped out by disease, farmer's limited access to seeds due to patenting of genetically modified food plants, and hard to eradicate "super weeds." As just one example of the unintended environmental consequences of genetically modified food, Bt corn has been genetically modified to create a toxin in the pollen which kills the European Corn Borer. However, when the pollen is disbursed by the wind, it can land on milkweed, the food plant of the Monarch butterfly, killing the caterpillars that feed on the milkweed. This is one of the reasons the Monarch butterfly population has decreased in recent years.

Lablleing of GMO Foods

National and state organic certification rules do not allow genetically engineered foods to be labelled "organic." Organic products cannot be grown from GMO seeds; an organic animal product like beef, chicken or eggs must not have fed on genetically modified food. Common sources of genetically modified food include sugar made from beets; corn, corn syrup and corn tortillas; papayas; tomatoes; rice; potatoes; soy, including tofu, soymilk, soy nuts, soy sauce; milk produced with rBGH ; zucchini and summer squash; and oils such as vegetable, canola, soybean, cottonseed and corn.

Read the labels and know your ingredients. It is a challenge to avoid genetically altered food. The PLU code on the sticker reveals if the fruit or

vegetable was genetically modified, conventionally or organically grown. Bananas labeled with the four digit PLU code 4011 were conventionally grown with the use of pesticides. Bananas labeled with a five digit code beginning with '9' are organically produced without genetic modification (eg. 94011). Genetically engineered produce has a five digit PLU code beginning with the number '8.' For bananas, that code would be 84011.

The Monsanto Corporation accounts for nearly 90% of transgenic traits around the world.

Conclusion

Even though, there being many benefits to genetic engineering and the introduction of genetically modified foods, there are certain possible dangers and hazards leading to concern over their use and potential risks to both the environment and to humans. There are inconsiderable evidences to suggest that there are disadvantages and significant risks of consuming GM foods. A range of testing has been conducted on an array of substances and components of GM crops to test for certain effects, some of these being toxicity and allergenicity. There are contradictory reports; some suggesting GM foods are safe, others that say they are dangerous and a risk to human health.

Even if only minor effects have been observed on the animals tested, it is enough to warrant anxiety over GM foods and their possible implications on humans. Some would argue minor changes and effects on animals doesn't necessarily mean that they would have the same effect, if consumed, on humans, yet, there have also been a number of experiments that contradict this and analysis of which conclude little or no clinical, toxicological abnormalities observed in the animals having been tested.

It has been demonstrated that Genetic modification as well as being advantageous can also increase the nutritional value of a food source, providing useful benefits, such as crops with extra vitamins/minerals etc such as the example of 'golden rice' highlighted above. However there are also significant disadvantages such as possible toxicity and allergic components in some GM food sources. Having looked at the evidence surrounding such factors it is difficult to say whether or not there are nutritional arguments against genetically modified foods. It is safe to say therefore, that new and improved methods are needed to further investigate the 'compositional, nutritional, toxicological and metabolic differences between GM and conventional crops' likewise the 'techniques used in developing GM crops' in order to remove the fears of many and allow for technology in this field to expand safely.

References

1. Plant biotechnology. Ed, Nigel G. Halford (2006) chapter 1 pg5 John Wiley and sons Ltd west sussex, England
1. Risk assessment of genetically modified crops for nutrition and health- Javier A Magaña-Gómez and Ana M Calderín de la Barca
2. Safety and nutritional assessment of GM plants and derived food and feed: The role of animal feeding trials- Report of the EFSA GMO Panel Working Group on Animal Feeding Trials
1. <http://www.greenpeace.org/international/campaigns/genetic-engineering> accessed 26/11/09
3. <http://en.wikipedia.org> accessed 25/11/09
4. <http://www.csa.com/discoveryguides/gmfood/gloss.php> accessed 24/11/09

Nutritional Status of Scheduled Castes School Going Boys and Girls in and around Gaya of Bihar State

Kumari Soni

Ph.D. Scholar, Home Science, Magadh University, Bodh Gaya, Bihar

Suprita Suman

Reader, Department of Psychology, Magadh University, Bodh Gaya, Bihar

Introductions

Children health is the national wealth. The nutrition and health status of the children is the index of what the nation is investing in the development of the future manpower potential (Bhandari, et al, 1975). Malnutrition continues to be a primary cause of ill health and mortality among children in developing country. About 150 million children in developing countries are still malnourished and more than half of underweight children live in South East Asia, Resion (UNICEF, 2004) . The high level of under nutritional condition in children in South Asia pose a major challenge for child survey and development. National education and family poverty also effect the malnutrition among the school going children. (Christinaensel L; and Alderman H, 2001)

The United Nation subcommittee on Nutrition Meeting held in Oslo in 1998 concluded that more data on health and nutrition of school age children are needed to assess their scale of problem (United National, Nutrition of the school aged, July 1988). Amirthaveni and Barikor (2002) suggested that the health of children is dependent upon food intake that provide sufficient energy and nutrients to promote optional physical, social, cognitive growth and development. In children protein and caloric deficient diet results in underweight, wasting and lowered resistance to infection, stunted growth, impaired cognitive development resulting lower Intelligence Quotient (IQ) and behavioural abnormalities (Gowri and Sanguwan, 2005). Therefore, it becomes very important to know the nutritional status of school going children of scheduled castes in and around Gaya of Bihar state. Gaya district has highest schedule caste population among allthe district of Bihar (State census report 2001). The study has been carried out in Gaya with following objectives:-

- 1) To Study dietary intake of student (Boys and Girls) between age group of 13 to 16 years
- 2) Problems related to nutritional deficiency among schedule caste students.

Methods

To undertake the study two hundred students from different primary / secondary schools of Gaya were taken. While conducting study who so ever were available in these category of cast were taken under study. The following parameters were taken under study.

- Children (boys and girls) of various age group between 13 to 16 years going to schools were taken for study.
- Dietary habits and diet intake related to nutritional problems were taken under study through questioners.

Two private and two government school out of four selected for each group were taken for study as stated below:-

Private School

- 1) Primary school, Gaya
- 2) Urdu girl's School, Gaya
- 3) Gaya High School, Gaya
- 4) Tea Modal School, Gaya

Government Schools

- 1) Girl's Primary School, Gaya
- 2) Primary School, Swarajpuri Road, Near Station, Gaya
- 3) Primary school Chandrawati, Gaya
- 4) Zila School, Gaya

The schedule cast students taken from Private and government school has been indicated in table 1

Table 1

Classes	Private school		Government school		Total boys and girls		Total
	Boys	Girls	Boys	Girls	Boys	Girls	
8 th (in no)	30	30	30	30	60	60	120
%	30	30	30	30	50	50	100
9 th (in no)	35	35	35	35	70	70	140
%	35	35	35	35	50	50	100
10 th (in no)	35	35	35	35	70	70	140
%	35	35	35	35	50	50	100
Total	100	100	100	100	200	200	400
%	25	25	25	25	50	50	100

Studies were conducted among 8th, 9th & 10th class students.

Results

Table 2 indicate that the boys and girls going to private is significantly ($P < 0.05$) higher as compared to government school. Vegetarian population is significantly ($P < 0.05$) lower in both type of school going children as compared to non-vegetarian. The pulse intake upto $\frac{1}{2}$ to 1 bowl was all most similar

among boys and girls while more than 1 bowl intake was among boys as compared to girls. The sprouted grains intake was more among girls as compared to boys in both type of school.

Table -2

	<i>Private school</i>		<i>Govt. school</i>		<i>Mean</i>	
Vegetarian (%)	22	21	12	19	17	20
Non-Vegetarian (%)	78	79	88	81	83	80
Pulses 1 bowl of 100g (%)	72	64	65	42	68.5	53
Pulses ½ bowl 100g (%)	32	36	29	58	30.5	47
Pulses More that 1 bowl of 100g (%)	6	1	6	1	6	1
Sprouted grains everyday (%)	15	17	24	33	19.5	25
Sprouted grains weekly (%)	15	13	24	33	19.5	23
Sprouted grains monthly (%)	8	8	12	5	10	6.5
Milk Products daily (%)	18	21	18	10	18	15.5
Milk Products weekly (%)	11	26	22	10	18	18
Milk Products monthly (%)	27	19	5	14	16	16.5
Mean	27.9	27.72	27.73	27.82		
CD					15.62	22.52
CV					25.21	36.39
SEm					4.96	7.15

Milk products being taken in private and government school going boys and girls were all most similar.

Table -3 indicates the nutritional deficiency related problem among children going to private and government school. All the nutritional problems such as headache, pain in eye, water discharge form eyes and other problems were significantly ($P<0.05$) higher among girls going to private or government school as compared to boys. The headache and water discharge were higher in government school going boys and girls as compared to private school. Other problems were higher among government school going children as compared to private school going children.

Table -3

	<i>Private school</i>		<i>Govt. school</i>		<i>Mean</i>	
	<i>Boys</i>	<i>Girls</i>	<i>Boys</i>	<i>Girls</i>	<i>Boys</i>	<i>Girls</i>
Uneducated (96)	15	20	25	27	20.0	23.5
Below Matriculation (96)	7.6	10.6	10	10	8.8	10.3
Above Matriculation (96)	10	10	12	15	11.0	12.5
Above Graduation (96)	2	3	3	4	2.5	3.5
Mean	8.65	10.9	12.5	14.5		
CD					9.32	7.89
CV					27.70	19.92
SEm					2.07	1.7

Discussion

With the changing scenario the non-vegetarian population has increased in the society of Bihar State. In Bihar non-vegetarian population is about 65%

(State census report 2001). The change from vegetarian to non-vegetarian is higher which is in similarity to the state census report. The food intake in private school going children was better as compared to government school going children. It indicates the low economic status of the parent sending their children to government school. Normally the high income group children goes to private school and are well nourished. Through the sprouted grains being given daily, weekly and monthly as well as milk products to boys and girls were almost similar. High protein were being provided more than a bowl to boys as compared to girls.

The nutritional deficiency diseases among school going boys and girls indicate that diseases were significantly ($P < 0.05$) higher in girls as compared to boys. This is due to less nutritional meal being provided to girls as compared to boys. This is in similarity to the report of Chandrika (2006) indicate that over 90% Indian women and adolescent girls are anemic and suffers from diseases more. Headache, pain in eyes, water discharge from eye was more in girls as compared to boys. This is due to understanding of scheduled caste parents with low education that the boys should be given more nutritious diet as compared to girls. However the scenario is changing now and both the boys and girls will be given equally nutrient diet in future time to come.

Conclusion

With change in educational and economic status, the parents of schedule caste will be capable of providing sufficient nutritional food to their school going children. The government is also taking care to provide mid-day meal support to schedule caste children who are building block of the national growth. We hope that in future time to come the status of schedule caste children should change for betterment of nation.

Reference

1. Amrithaveni, M. and C.W. Barikor, 2002, Nutritional status of Meghalaya pre-school children. The Indian Journal of Nutrition and Dietetics, 32:263.
2. Bhandari B., Jain A.M., Padma Karna, Asha Mathur and Sharma V.K. (1975) "Nutrition and health status of rural school boys of Udaipur district." The Indian Journal of Pediatrics, July 1975, Vol-42, No. 7, P.P. 186-193
3. Chandrika S., 2006. Childhood and adolescent anaemia in India. The Hindu Times News, Sunday, March, 5.
4. Christiaensen, L. and Alderman H. (2001) Malnutrition in Ethiopia; can Maternal Knowledge Augment The Role of Income? African Region working paper series 2001; 22. <http://www.worldbank.org/afr/wps/index.html>
5. Growri, A.R. and H.J. Sangunam (2005) Assessment of mental and motor abilities of school going children with anemia. Ind. J. Nutr. Dieted., 42: 99-105
6. State census Report 2001 (Govt. of Bihar)
7. UNICEF (2004) state of world children, 2004
8. United Nations, Nutrition of the school Aged, Administrative committee on Co-ordination Subcommittee on Nutrition (ACC/SCN), July 1998; SCN News No. 16 PP 3-23.

Acceptance of Life: A Recurrent Theme in the Major Novels of Kamala Markandaya

Dr. Dinesh Prasad

M.A.(Eng.), Ph.D.

Vill- Bhairampur, Post-Doriganj, Distt- Chapra(Saran), Bihar

Although Kamala Markandaya is not a novelist to put forward all that she writes on as an organic whole, her major novels in the main are variations on a recurrent theme of 'acceptance of life'. She dives deep into the socio-economic and political condition of life of the Indians and discovers the distinctive feature of their attitude to accept life in its totality. She also tries to distinguish them from the people of other countries in respect of their attitude to accept life. That is why she has brought in characters from the West to compare and contrast the Indians' attitude to life.

Markandaya's novels treat the subtle realities of life of the common man—be he a peasant, a youth lost in the political confusion of the struggle for independence of the country, an Indian traditional house-wife, a government employee, an illiterate peasant boy with a gift of painting, an unfortunate youth wandering for a handful of rice, a tribal chief, a labourer, an Indian immigrant, a virgin or a Maharajah—which are diverting rather than disturbing the apprehension of which makes for acceptance of life.

Nectar in a Sieve(1954), Markandaya's very first novel presents a picture of a peasant's family— a microcosm of the toiling peasantry. The novel shows that it becomes increasingly difficult for the poor to keep their body and soul together. But a closer and careful study of the novel suggests that Kamala Markandaya puts more emphasis on the depiction of the Indian women's attitude to accept life than on the portrayal of their socio-economic condition in the changing phase of social life in India. Rukmani, who typifies the Indian women is the protagonist as well as the narrator of the story. She experiences the irremediable pains of change. There is no illusion in her life and she is disturbed by no desire. To Rukmani misery, sorrow and suffering are essential part of life. This elevated and philosophical vision of her life is the outcome of her attitude to accept life in its totality. Another character who exhibits the spirit of acceptance of life is the Old Granny. She fights with an unending problem of livelihood in her old age. However, she accepts her life and goes on living with her meagre income from selling vegetables.

Kamala Markandaya's second novel, *Some Inner Fury* (1955) is politically a war cry of the Indians against the Britishers. It dramatizes the lives of the Indian

people lost in the political confusion of the struggle for freedom. When Govind is put on the trial in the court with the charge of Kit's murder, Mira decides to leave Richard because he belongs to the community of the West. She could have gone with her fiancé-Richard, despite what happened in the courtroom. But in respect of her attitude to life she is deeply rooted in the native conception of life. Like Rukmani in *Nectar in a Sieve*, Mira's belief in the native conception of life gives her strength enough from within to face the miserable condition of life. She exhibits herself as capable of bearing the extreme pain of her separation from Richard. A woman of fortitude and having a deep understanding, it is she who accepts her fate after her separation from Richard. Her acceptance of fate in an unexpected situation is transmuted into acceptance of life because of which she escapes the imbalances of mind, body and spirit. Thus through the portrayal of Mira Markandaya brings to light the spirit of acceptance of life in her attitude who may opt for suffering and self torturing instead of seeking her personal happiness.

A Silence of Desire (1960), Markandaya's third novel shows how husband and wife embroil each other by silence at times when their real need is to unburden their hearts. The story revolves round the character of Dandekar, a clerk in modern India who centres his whole peaceful life around his adored wife Sarojini and three children. The venue is no longer the village but the city. Sarojini appears as a typical model of Indian house-wife with her hitherto unquestioned loyalty. Since Markandaya's intention is to focus on the spirit of acceptance of life on the part of her Indian characters she portrays them capable of bearing great suffering. On Sarojini's part, it is she who accepts to suffer the risks of Dandekar's dissatisfaction during her several visits to the Swamy. She also shows a quality of acceptance of life which owes itself equally to the strength of her character and the Swamy's final injunction. The Swamy had prepared his devotee for her going. Sarojini also learnt acceptance of life as part of that preparation.

Possession (1963), Markandaya's fourth novel deals with the contradistinctive values of life of the East and that of the West. The scene of events in the novel shifts from India to England and America and again back to India. There are two striking characters in the novel— the wilful woman Caroline Bell and Val (Valmiki), an illiterate peasant boy with a gift of painting. The novel deals with the problem of 'possession' of the Indian boy Val, by the English woman Caroline in fictional mode. But at the end of the novel, Caroline appears with her waning in power of possession and that Valmiki succeeds in extricating himself from her clutches. Valmiki's release and then his departure to wilderness may mean Caroline's defeat but it also means a spirit of acceptance of life on the part of Valmiki's attitude who ultimately accepts to live in his native land. His final return to the Swamy's cave in India after spending many years in England implies his attitude to accept life only in Indian milieu.

A Handful of Rice (1966), Kamala Markandaya's fifth novel is a poignant story of grim poverty and perpetually gnawing hunger. Ravi (Ravishankar), the protagonist is of the view that the economic exploitation begins when people

accept life without any protest against social and economic injustice. And hence having some ambitions for the betterment of life Ravi reacts against social injustice but Nalini, born and brought up in a traditional Indian family, is naturally simple and pleasant, modest and shy to be precise a typical model of an Indian woman. She is so simple that there is no ambition in her life. Moreover, she is fully satisfied with her predicament and accepts her life as it is given to her. Her attitude to life is deeply rooted in the traditional values of life which is a typical trait of a traditional Indian woman.

The *Coffer Dams* (1969), Markandaya's sixth novel marks the juxtaposition and interaction of the Eastern attitudes to life with that of the Western. The plot of the novel revolves round the construction of a dam by a British firm to control and channelise the turbulent river somewhere in South India. Although the Dam is being constructed with the help of the Indian tribals yet Clinton treats them indifferently. The manner in which Clinton at first refuses to accommodate the thinking of Indians about dead bodies is symbolic of his hateful attitude towards them in general. But at the same time Indians' refusal to work in the construction of the Dam unless the dead bodies of forty two men of their own race are retrieved and the due rites are carried out, is suggestive of their spirit of acceptance of life on the basis of the Indian cultural and traditional values of life.

The *Nowhere Man* (1972), Markandaya's seventh novel successfully explores the theme of acceptance of life on the part of the character of Srinivas. His attitude to life is deeply rooted in the Indian soil and culture. When he has to face an identity crisis, he does not hesitate in putting on Dhoti and Kurta as his father did while he was a lecturer and Srinival was a student of B.A. in the Indian college. What makes him heroic is his attitude to accept life based on Indian cultural values even in an adverse and hostile condition of life in a foreign country. Moreover, Shrinivas's wife, Vasantha also appears as a true Indian wife with the same spirit of acceptance of life whose attitude to life is deeply rooted in Indian soil. She also clings to her Indian view of life even while living in England.

Two *Virgins* (1973), Markandaya's eighth novel exhibits two different attitudes to life— either being too traditional or too modern on the part of the various Indian characters. There are the portrayal of Appa and Lalitha who exhibit modern attitude to life. Then there are the portrayal of Amma, Aunt Alamelu, Appa's widowed sister-in-law, Saroja and Manikkam who exhibit a spirit of acceptance of the traditional values of life. All these women characters resemble with Rukmani in *Nectar in a Sieve*, Sarojini in *A Silence of Desire* and Vasantha in *The Nowhere Man* in respect of their thoughts, feelings, sentiments and attitude to life as well.

In *The Golden Honeycomb*, again Markandaya displays the spirit of acceptance of life on the part of Indian characters making focus on their attitude to life. There are characters who are loyal to the country from the core of their heart. Mohini, her son Rabi, the Pandit, the Dewan, Manjula, Dowager Maharani show their attitude to life deeply rooted in the native soil and culture as well.

Some of these characters strive hard to make free their country from the hands of the cruel British Rulers and some of them show their assertion in the traditional Indian cultural values of life. In respect of their attitude to life these Indian characters are deeply rooted in the native conception of life. Their belief in the native conception of life gives them enough strength from within to face the tragic stroke of life. Even among some of these characters who come under the influence of the British rulers prefer to suffer rather than surrender.

In *Pleasure City* (1982), Kamala Markandaya's latest novel, the attitude to accept life on the part of the characters of the two different nations is based on mutual understanding and sympathy for one another. Markandaya is not so much involved in the depiction of the inner conflicts of her characters as she depicts their attitude to accept life in course of her discussion of the common issues that exercise their mind. Tully and Rikki accept their life not with an attitude of a master-worker relationship but with an attitude which is nourished by sincerity, honesty and sympathy for each other. Moreover, such cordial attitudes of the characters of the two different races to life are also observed during their exchanges of small presents for each other. Thus the novel is an indepth study of nature, kind and quality of human relationship with the description of essential conditions for its proper growth and health.

Indeed, the theme of 'acceptance of life' on the part of her Indian characters, particularly Indian women whose attitude to life is deeply rooted in the Indian traditional values and spiritualism imposes on the thematic pattern in the novels of kamala Markandaya within which lives of Indian characters appear to be working themselves out rather than worked out. It is not a 'resignation' that connotes passivity but 'acceptance' that characterizes the attitude of the Indian characters to life which they appear to adopt even in the miserable condition.

References

1. G.S. Balarama Gupta, *Studies in Indian Fiction in English*, JIWE Publications, Gulbarga, 1987.
2. R.K. Dhawan, *Indian Women Novelists*, Set-2, Vol.2, Prestige Books, New Delhi, 1991.
3. A.K. Bhatnagar, *Kamala Markandaya: A Thematic Study*, Sarup & Sons, New Delhi, 1995.

Effects of Problems in Speaking English Language by Students at Graduate Level in India

Dr. Anupama Singh

Associate Professor (English), University College, Kurukshetra University

Girija Shankar

Sr. Research Officer, IGNOU

English symbolizes in Indian minds, better education, better culture and higher intellect. In present times, English is the most preferred language. The Indians and the Indian English language press uses many words derived from Indian language. Indian accent is sometimes difficult for non-Indians to understand. Actually English has co-existed in the Indian sub-continent alongside thousands of local languages. It has remained at the heart of the Indian society. According to recent surveys, approximately 4% of the Indian population use English. That figure might seem insignificant, but out of the total population it represents 35 million speakers. It means India is the largest English speaking community outside USA and the UK. As India celebrates its 60th year of independence from British rule, English continues to expand its empire. English is virtually the mother-tongue for many educated South Asian, but for the vast majority, it remains second language. So English, spoken by such speakers is heavily influenced by speech patterns of their ethnic language.

Language learning is a natural process for the natives. The approach to this learning process is called the 'behaviouristic approach'. But for the students of other languages, deliberate efforts are required to learn a foreign language which requires a 'mentalistic approach'. The students of rural and semi-urban areas in India face such problems because English is not their mother-tongue. It is neither instinctive nor intuitive. Language acquisition seems to be a process of both of analogy and application, nature and nurture.

People from different provinces in India speak different languages. Indians have varied forms of social etiquette, religious-philosophic customs, socio-cultural patterns and socio-linguistic parameters. A multiplicity of language patterns is the hallmark of socio-linguistic reality in India. Language behaviours varies from Socio-geographic group to group, as does the way which languages are officially recognized and used for communication purposes. English is being studied /taught in greater or smaller degree in schools, colleges and the universities all over the country.

Teaching of English suffers from the general malaise that afflicts the educational system of India. It has been dawned upon the country's educational policy-makers that if English is at all learnt and taught then it should be learnt and taught well. This implies the learning and teaching of English in terms of the well-known four basic skills of language learning, viz., speaking listening, reading and writing. Listening and speaking are the two neglected skills in classrooms in India. We cannot expect a uniform standard of pronunciation for a second language in such a vast country, where even the mother tongue is spoken differently by different groups of the people belonging to the same language community. In learning to speak English, the mother tongue generally interferes with its pronunciation. The learners as well as the teachers speak English with regional language habits. Since English is not a medium of instructions in

Indian students cannot practice and perfect their English. Even during the English periods most teachers teach English without giving the students proper practice in speech because they are not properly equipped enough to practice it. The result is that after learning /teaching English for many years at school and college, most people cannot speak and write the language with intelligible accuracy.

To put it in simple words, the barriers are often caused by students' respective mother tongues and their inability to communicate with each other in English. Yes, there is a short period of time, when language and communication can pose problems. Students who wish to live in a group will find ways to overcome barriers. Those who wish to alienate themselves will look for loopholes such as language barriers to isolate themselves. The problem is not with the language but with an individual's ability to surpass it.

Maximizing the learning results of our English students, certain issues have often focused on issues including language teaching, learning theories, teaching materials, teaching approaches and methodologies, syllabus design, etc. Though research is being undertaken everyday, much of it has been powerfully constrained by Western cultural assumptions. Little research has been directed to the topic of how the local educational/teaching environment has influenced students' learning when the students are not English majors, but studying English as non-majors due to educational requirements and professional needs. This fact may at least lead to the result that local English learning problems remain unsolved for long periods of time. Through survey data analysis, students' perspectives about English learning and the fears of learning English that may have grown out of previous experiences are documented. It is the authors' belief that a better understanding of language learners can have a beneficial effect on the process of attempting to help language learners in learning English as a foreign language. Unfortunately, while communicating orally in English, the learners usually encounter varied linguistic problems that evidently hamper their communication. The goal of the present day is to find out the major barriers of communication in English faced by the students at the tertiary level. And also tends to find out some effective and necessary solutions of the problems, so that, both the teachers and the students can be benefited in their objectives. The data for the present study were obtained through some

audio texts and oral presentations. The findings of the study show that unfamiliarity with the sound system of English, inadequate range of vocabulary, inability to form certain grammatical constructions Listening and speaking, two of the four skills of English language, have been considered as a crucial problem for the tertiary level students. They also often find English word formation and sentence construction quite problematic. Moreover, the learners suffer problems in learning vocabulary items and to convey meanings through and/or receive meanings of words, phrases, clauses, sentences/utterances and so forth. Such problems obviously seriously hamper the learners' oral as well as written communication. Therefore, it seems reasonable to take account of and identify what major linguistic barriers the students encounter in oral and written communication and what measures can be taken to overcome those barriers. Only those who have actually taught English in India can visualize the scene of fifty, eighty, even more than hundreds students learning together in a single classroom. English teaching/learning theories, approaches or methodologies established in the past do not often take the reality of large class sizes into consideration. Little credit can be given to their practicality in terms of actual application in such classroom settings. For example, it seems to be the case that whenever big class size is encountered, a much more common language learning environment is missing and local language environment and dialect is seen most, we are also hopeless in attempting to adopt the newest established theory, approach or methodology. This example is strongly related to both social/cultural/economic differences as well as local teaching/learning problems that appear to be insoluble. If the local situation remains unchanged, even after years of local researchers and practitioners advocating of sound teaching and learning theories and methodologies that seem so well established in the West, there must be some facts that require re examination at a more fundamental level than previously thought. The inescapable answer seems to be that current theories are powerfully constrained by Western cultural premises.

Indeed, when discussing any issue about language teaching and learning, cultural differences should contribute tremendously to the thrust of the discussion. Issues may include the differences of educational systems, learning conditions, teaching and learning styles, learning differences between Western and Eastern cultures and differences in needs for language use in the job market.

Those who have had the experience of living or being educated for a period of time in the West may have noticed that students are not afraid of asking questions or using the target language even when producing errors. In Karnataka, most students remain silent even when they want to ask questions and participate. These students are very conscious of making errors in front of their classmates.

India has a Confucian culture, which seeks compromise between people. When it is applied to language learning, it is obvious that students are reluctant to air their views loudly for fear of losing face or offending others. In addition, there are some English sayings, which discourage oral communication in class. The following are some examples: Silence is gold; it's the noisy bird that is easily shot dead; a real man should be good at thinking, but weak at speaking;

don't speak out unless spoken to; keep your mouth shut but your eyes open; keep silent unless you can burst on the scene like a bombshell.

It is found in research with some students responding that they hate English and are afraid of it. Where did these fears arise? Part of that experience included physical punishment dished out by teachers and insulting comments from classmates or friends, and maybe even parents, due to poor performance on examinations. While the situation has been improved somewhat, physical punishment due to poor performance in English examinations is still being practised in some institutions. Another possible source of fear, also related to cultural, was found that even adults who studied English, without grade pressure, did not dare speak English in front of other people due to the fear of making errors. Additionally, fear of making errors and losing face was among seven factors that influenced university students' willingness in participating in classroom oral communication.

References

- P.48. 'Post colonial Literatures in English - History Language Theory' by Dennis Walder, Blackwell Publishing.
- Edward M. Anthony's 'Approach, Method & Technique English as a Second Language' by Allen & Campbell. T.M.H. Edition.
- Collins co builds English Dictionary for Advanced Learners Published by Harper Collins 3rd edition 2001.
- P.6. 'Teaching of English As a second language by J.A. Bright and G.P. McGregor', Published by English Language Books Society and Longman Group Limited.
- Collins co builds English Dictionary for Advanced Learners Published by Harper Collins 3rd edition 2001.
- P.6. 'Teaching of English As a second language by J.A. Bright and G.P. McGregor', Published by English Language Books Society and Longman Group Limited.
- Balasubramanian, Chandrika (2009), *Register Variation in Indian English*, John Benjamins Publishing, ISBN 90-272-2311-4
- Ball, Martin J.; Muller, Nicole (2014), *Phonetics for Communication Disorders*, Routledge, pp. 289–, ISBN 978-1-317-77795-3
- Baumgardner, Robert Jackson (editor) (1996), *South Asian English: Structure, Use, and Users*, University of Illinois Press, ISBN 978-0-252-06493-7
- Braj B. Kachru (1983). *The Indianisation of English: the English language in India*. Oxford University Press. ISBN 0-19-561353-8.
- Gargesh, Ravinder (17 February 2009), "South Asian Englishes", in Braj Kachru et al, *The Handbook of World Englishes*, John Wiley & Sons, pp. 90–, ISBN 978-1-4051-8831-9
- Hickey, Raymond (2004), "South Asian English", *Legacies of Colonial English: Studies in Transported Dialects*, Cambridge University Press, pp. 536–, ISBN 978-0-521-83020-1
- Lange, Claudia (2012), *The Syntax of Spoken Indian English*, John Benjamins Publishing, ISBN 90-272-4905-9
- Mehrotra, Raja Ram (1998), *Indian English: Texts and Interpretation*, John Benjamins Publishing, ISBN 90-272-4716-1.

Teaching English Language in Schools in India– Problems and Remedies

Ms. Poonam Chaudhary

*Assistant Professor (English), SNRL Jairam Girls College,
Lohar Majra, Kurukshetra*

English, although a foreign language is now as much an Indian language as any other. English has been taught in our schools and colleges for many decades. It occupies the position of associate official language.

It is used widely as a link language in offices and among the educated people. It is not only a compulsory subject at school, college and university but is also the medium of instruction to the large extent. It is the language of science and technology. It occupies the position of a second language in the school curriculum and for higher education. English language has been assigned the role of library language. Without exception every secondary school child has to learn English as a subject, usually for six years but in some cases for three years only.

This contemporary position of English in India shows English language teaching occurring at all levels of Education, mainly as a second language.

If language teachers teach as they taught earlier, then one may not achieve the required goals of teaching English in the present global scenario. This paper deals with the importance of teaching English to fulfill the ever growing demands of English. The methods and approaches adopted or followed by teachers in the past to teach English language, the lacunae in their language teaching which is the second language for both teacher and students is discussed.

Challenges before teachers in present day ELT are taken up in this study. The way in which students can put their learning into practice in day-to-day use to fulfill their practical demands through effective communication skills apart from gaining command over English language is highlighted.

Soft Skills are part of Communication Skills. Soft skills comprises of the skills which an individual uses to inform, to persuade, to explain, to present, to understand, elicit information. One may hate soft skills as he / she doesn't possess the essential skills of persuading, explaining, understanding a spoken word. But today one cannot ignore the roll of soft skills in any learning process, more so in learning and teaching a language.

As English has turned into a universal language, its presence and value in the world has expanded enormously in the past decades. Many money-earning activities such as BPO, Medical Transcription and IT add to the importance and relevance of English in every walk of life.

Conventional English Language Teaching

In the past, students were introduced to English only in their sixth standard. Students learned English just as another subject like Physics and Mathematics and got very little opportunity to using it within the school as well as outside the school. The above context was appropriate for the use of methods that did not focus much on communicative competence. Language teachers adopted and followed some or all of the different methodologies listed below to teach the language.

1. Grammar Translation Method

Grammar translation method was used by the teacher to teach young children, where teacher explained every word to students in the native language to make him understand and learn English. But in this method there was at least one disadvantage. Both the teacher and the student concentrated more on L1 rather than L2. In this method English language class seemed to be L1 class rather than L2 class. Students got only limited benefit through this method.

Unfortunately, this method is still in use in many rural schools throughout India. This method is also supported by the methods used to teach mother tongue in our schools.

2. Bilingual Method

Maybe we should declare this as the method, our own favourite method in our schools. Most teachers follow the bilingual method to teach the students in Indian schools, where the teacher first of all explains the entire English sentence in L1 and then asks the students to perform activities in English. Here, it used to be a main assumption that only the teachers have the freedom to take the help of L1 and students are not supposed to use it. However, this constraint is found mostly on paper, not in the classroom. When a student is in the process of composing his or her English sentences, abundant help through the use of mother tongue sentences is provided. This method does not help fluency and naturalness in language expression. Thus, this method became beneficial to, students in learning the second language only up to some extent.

3. Direct Method

Earlier, teachers used to follow the direct method to teach Indian students mostly in private schools, which usually charge a higher tuition fee, etc. These teachers will stick to the practice of using only English, without depending on L1. Here, teacher is not supposed or authorized to use any single word from L1. This forced seclusion made students from many families with no past history of learning or using English face great difficulty in understanding certain words and their meanings. But this method turned to be more useful for the students to learn language than any other method as this method creates more encouraging language environment for students in the class room.

In the Context of English as a Subject

All the above methods have their own advantages and disadvantages, where the students learned English only as a subject rather than as language. They

were also unable to put their learning into practice due to lack of a favourable environment.

In addition to the above constraints, the teachers used to have very limited teaching hours, mostly from three to six hours per week which are not enough to teach the language elaborately giving emphasis for the basic elements of language.

Another limitation seen in Indian teachers is that some of the English teachers are not familiar with the latest developments in ELT pedagogy. The situation is no better even at the college level. The most serious problem in the teaching of English in the country is the appallingly small quantity and atrociously poor quality of English to which learners are exposed. Teaching of English in India is examination-oriented only.

A Challenge in Teaching English Today

Challenges before the English Language teachers in India are enormous and apparent. They should be able to cater to the practical needs of learners, to make them competent enough to interact with one another and also to retrieve information all over the world.

English has a base in several countries and is considered as the most suitable and convenient tool for International Communication. The people who have proficiency in this language could access large number of jobs and also were seen holding high positions in many National and International Organizations.

In the earlier days English was just like a Library language, but now that notion has changed totally. At present the challenges visible before the English language teachers in India are diverse and it is necessary for them to shape up accordingly to meet the demands of the day.

Methods Adapted to Improve Spoken Skills

1. Group Discussions

Now due to the world wide growing trends in English, teachers give more emphasis to communicative approach rather than the lecture mode. Their main goal is to make the students effective communicators in English both inside and outside the class room.

To achieve this, they involve the students to participate more in classroom activities so that they will acquire adequate command over speaking skills. To create this environment, teachers can conduct group discussions, where students are supposed to speak only in English. Here, they can give their views, ideas and thoughts in English due to which they develop the habit of speaking fluently in English like they do in their mother tongue.

Various types of discussions also help students to improve their general awareness and understanding about current affairs. It gives a lot of scope for good imagination and deep thoughts. This type of discussions helps the students to listen to the views of fellow students which in turn helps them to gain knowledge and enrich the vocabulary also.

2. Debates

Debates too play an important role to improve the speaking ability of the students both at school and at higher level. Debates not only make the students to speak boldly and fluently but also help them to take one stand and be firm and consistent on that. Along with this advantage of reasoning, it gives students some experience to control their emotions without losing their temper. This also helps them to organize their thoughts and ideas in a specific way while speaking.

3. Role Plays

Role-plays are another important task that can improve the basic colloquial English of the learners. In role plays, the students assume themselves as one of the characters and behave and speak accordingly involving in the given character completely. In these types of activities teachers have to play a vital role as instructors and guide the students properly so that they can act appropriately to meet the situation. They should help the students now and then to understand and take up the role given to get a grip on the tone of voice.

4. Computer assisted Language Learning (CALL)

Now-a-days computer has become a part and parcel of our day to day life. It plays a vital role in the process of teaching and learning. It can be used to learn a foreign language like English. Computers have made language learning easy and also made the language learning process interesting and enjoyable for both teacher and student throughout the world. CALL has reduced the burden of the teacher whose teaching methods will be out dated to teach language to present day generation of the world. It is described as one of the interactive methods that can help a learner according to their own ability to learn, which enriches their language skills. CALL enables the learner to look beyond the conventional mode of learning and encourages self learning.

English for Specific Purposes

As English has emerged as a global language, it also plays a vital part in every profession with respect its importance and demand. Every profession has its own professional terminology which is used frequently in that particular profession. For example, certain terms used by the doctors, lawyers, et al. are quite different from those of other professionals. So, to benefit these professionals, English for specific purposes is introduced so that specific English words related to that particular profession can be taught by those professionals. Jargon related to one profession is different from the other. Hence every professional is taught in a particular manner that fits in well with his professional demands.

Teaching Language through Visual Aids

One of the innovative methods used by the teacher to teach language in class room is visual aids. The teacher distributes visual aids to students by dividing them into various groups. The students are then given stipulated time to extract relevant information on the given aids. After that, those learners are

supposed to speak about the visual aids given to them. This method expands the analyzing capacity of the students. By looking at the picture, the learner should think and come out with innovative thoughts which also help in learning language by creating fun-filled environment around them. The teacher acts as facilitator who motivates the students to talk freely. As each person gets their own unique thinking it helps to sharpen their thinking process.

Language Games

In addition to the above mentioned methods teachers also use various language games to teach English language apart from the conventional ways of language teaching, which helps in developing vocabulary from the language that is being learned.

1. Crossword puzzles
2. Games to teach basics of grammar to the students through various structures.

Conclusion

To meet the present day challenges in teaching English, first of all, English should not be treated as a subject as it is to be used actively in interacting with one another throughout the world. By using conventional methods, maximum portion of class time will be wasted in exercises and drilling, dealing with grammar and pronunciation which takes away a large portion of class time. These methods were mostly used to develop basic skills of language learning such as Listening, Speaking, Reading, and Writing, but by following these methods listening and speaking skills were neglected as students cannot put their language in practice.

In the era of competitive world, where the majority of the students are attempting GRE & TOEFL, good listening and speaking skills become an absolute necessity. Communicative approach has been totally neglected by teachers and learners which has become a global demand where students are supposed to communicate across the globe. Teachers should act as facilitators, and should observe how well students organize their thoughts while speaking with their fellow members. As language changes geographically due to dialectical variations, the teacher should take adequate steps to teach their student about neutral accent and their importance while communication. Clear pronunciation, not perfect pronunciation, is the goal. Students are also now facilitated by software to practice pronunciation through phonetics. To achieve the goals of language learning today every college should be provided with language lab, sophisticated equipment like computers, LCD Projectors.

In addition to these, our faculty too should update their knowledge, skills and should acquire thoroughness over their syllabus to meet the demands of globalization since English is seen as a key educational investment in this world. If provided with the latest language teaching tools and with the support of technology, one can teach the language effectively and motivate the students towards language learning.

References

- Bansal R. K. 1965 The Intelligibility of Indian English, Orient Longmans, New Delhi.
- Chomsky N. 1965 Aspects of the Theory of Syntax, The M.I.T. Press, Massachusetts.
- Corder S. Pit. 1981 'Error Analysis and Inter-language', Oxford University Press.
- Gokak V. K. 1952 English in India, Orient Longmans, New Delhi.
- Krashen, Stephen. D. 1972 'Second Language Learning', Oxford University Press.
- Vishvanthan Gauri 1972 Masks of conquest, Faber and Faber.
- Yardi V. V. 1977 'Teaching English in India Today', Samarth Prakashan, Aurangabad.
- L .N. Kinnock.2006. The "English factors in globalization", Those Who Wish To Influence The Future Must Prepare For It. Page 7.

Problems Faced by Students at Graduate Level Study in Hindi Speaking States in India through Open & Distance Learning System

Dr. Neelam Chaudhary

Sr. Analyst, P& DD, IGNOU, New Delhi

Distance education or distance learning is a mode of delivering education and instruction, often on an individual basis, to students who are not physically present in a traditional setting such as a classroom. Distance learning provides "access to learning when the source of information and the learners are separated by time and distance, or both."

The open and distance education system is a crucial vehicle in the sustained development of a knowledge society. Its potential for flexible education delivery, scope for self and life-long learning and cost effectiveness make it instrumental in meeting the needs of individual and communities at this juncture - in the rapid transition being made from the industrial to the information age.

In order to meet challenges of access and equity to higher education for large segments of the population, and in particular, the disadvantaged groups such as those living in remote and rural areas including working people, housewives and other adults who wish to upgrade or acquire knowledge through studies in various fields, academic institutions and government sector were looking for an alternative system of education that can provide access to learning of information as well as a degree for recognition like traditional system of education.

However, as India prepares to face the knowledge challenges of the 21st century, higher education presents a rather dismal picture. According to the Ministry of Human Resource Development, India, only about 10% of the population in the relevant age-group is enrolled in higher education, and a mere 5% graduate with degrees. With the rapid growth of the service, knowledge and associated sectors in the economy, it is imperative that the populace is equipped to contribute to and benefit from these developments. This requires a radical overhaul of the higher education system, with regard to access, enrolment and most importantly, quality. Failure to address this need and foster more inclusive growth will adversely affect India's future economic prospects and the welfare of its citizens.

The biggest challenge faced in higher education, therefore, is the provision of quality higher education to the greatest number, at the lowest possible cost

to the learner. And this is where ICT enabled open and distance education has significant advantages. Using

ICT effectively for higher education can bridge the distance between the learner, instructor and the market by transcending barriers of space and time. Seamless access, flexible schedules, quality content and inclusive delivery mechanisms have enormous potential to increase the scale of access and, in that process, bring down the cost of higher education for the individual learner.

The hallmark of pedagogy in the ODE system is the creation of self-instructional material (SIM), transmissible through several modes. However, the pedagogical process in the Indian ODE system is fraught with problems of poor quality and low learnability. Moreover, there remains a heavy reliance on the textual mode, and while ICT infrastructure exists (and is more extensive than it appears), its utilization and management for pedagogical (and administrative) purposes leaves much to be desired. The limited nature of pedagogical delivery through the textual mode also implies excessive reliance on face-to-face and temporal interactivity.

The Indira Gandhi National Open University was established in 1985 by an act of Parliament (IGNOU Act, 1985) as the first national university to impart open and distance education and also the nodal agency to coordinate, encourage and set standards for the same. Its degrees are recognized to be at par with other universities by the UGC (as of 1992). In addition, IGNOU also allocates and disburses funds for open universities and distance education systems in India through the Distance Education Council (DEC). Authority to do so has been granted to IGNOU under Clause 16 and Statute 28 of the IGNOU Act 1985.

Presently, there are 14 open universities and about 130 distance education institutions (DEIs) of conventional universities in operation. The entire system is fraught with serious disparities – between open universities and DEIs, in the quality of different institutions and even in different programs of the same institutions.

In addition, the national open university (IGNOU) is simultaneously responsible for arbitration of standards and allocation/disbursement of funds.

However, different survey reports reveal that the number of students completing higher education with adequate quality is not satisfactory. To improve the quality Govt. has changed education policy time to time. However, simultaneous improvement in quality and quantity will not be possible unless we consider the following real problems before implementing any education policy/ technique.

- 1) Lack of knowledge in using technology: With the progress of time technology for communication system is being developed and ODL system is adopting this. However, students especially from rural area are enrolling in ODL system without proper training of the tools to be used for successful program. These students, due to lack of technology skills, mostly become unsuccessful or drop outs.

- 2) Vast curriculum area: Online courses are normally not restricted to an upper size. As a result traditional teaching method cannot be applied here. Both teachers and students face problems.
- 3) Lack of sufficient infrastructure: Distance learning program is quite new and it does not have sufficient infrastructure and learning environment like traditional system. For this reason instructors are facing problems in organizing and planning distance learning programmes, especially for new courses.
- 4) Scarcity of counsellors near study centre: Although care has been taken in opening study centres near the door steps of learners, the availability of skilled and knowledgeable counselors near the study centre is not checked in most cases. As a result study centres as well as the learners are facing difficulties.
- 5) Hidden Cost: For online learning, students need training to use technology. They must have their own or rented computer and internet connection. Again if they want hard copy of any study materials downloaded from web site extra cost has to be paid. To attend live video program they have to do proper time management. When contact programs are not arranged nearby or become obscure then learners look for private coaching, paying extra money.
- 6) Unavailability of desired course in nearby study centre: There is a difficulty to run practical based subjects in Open Education as it needs permanent Laboratory set up. Again there are some courses like nursing, clinical which are not available through distance learning. Thus distance learning is not suited for all subjects.
- 7) Lack of oral communication skill: Distance learners do not get opportunity to interact with their classmates and with the professors like traditional system. Hence their oral communication and presentation skills do not develop properly.

In conclusion, it can be said that the Distance Learning system of education is being more popular around the world and in India day by day. Central Open University of India IGNOU by name is securing top position enrolling 7000 students per year from 36 countries around the world. Use of updated communication technology is making the methodology more attractive to the learners.

In spite of its remarkable success, one can still find some constraints in this learning system.

References

- Infrastructure: S&T Education", *Science and Technology in India* edited by R.K. Suri and Kalapana Rajaram (2008), New Delhi: Spectrum, ISBN 81-7930-294-6.
- India 2009: A Reference Annual (53rd edition)*, New Delhi: Additional Director General (ADG), Publications Division, Ministry of Information and Broadcasting, Government of India, ISBN 978-81-230-1557-6.

- Prabhu, Joseph (2006), "Educational Institutions and Philosophies, Traditional and Modern", *Encyclopedia of India (vol. 2)* edited by Stanley Wolpert, 23–28, Thomson Gale: ISBN 0-684-31351-0.
- Raman, S.A. (2006). "Women's Education", *Encyclopedia of India (vol. 4)*, edited by Stanley Wolpert, 235–239, Thomson Gale: ISBN 0-684-31353-7.
- Setty, E.D. and Ross, E.L. (1987), "A Case Study in Applied Education in Rural India", *Community Development Journal*, 22 (2): 120–129, Oxford University Press.
- Sripati, V. and Thiruvengadam, A.K. (2004), "India: Constitutional Amendment Making The Right to Education a Fundamental Right", *International Journal of Constitutional Law*, 2 (1): 148–158, Oxford University Press.
- Vrat, Prem (2006), "Indian Institutes of Technology", *Encyclopedia of India (vol. 2)* edited by Stanley Wolpert, 229–231, Thomson Gale: ISBN 0-684-31351-0.
- Holmberg, Börje (2005), The evolution, principles and practices of distance education Studien und Berichte der Arbeitsstel Fernstudienforschung der Carl von Ossietzky Universität Oldenburg [ASF] (in German) 11. Bibliotheks- und Informationssystem der Universität Oldenburg. p.13. Retrieved 23 January 2011. ISBN 3-8142-0933-8
- Honeyman, M; Miller, G (December 1993). "Agriculture distance education: A valid alternative for higher education?". Proceedings of the 20th Annual National Agricultural Education Research Meeting: 67–73.

The Sea in Nineteenth-Century English and American Literature

Dr. Anupama Sahay

Chapra, Saran

Throughout its development in both England and the United States, sea literature has traditionally involved three elements: the sea, the sailor, and the ship. At various times, any one of these has emerged as the dominant of the three. The ship has symbolized life itself—representing the background against which many youths, who looked to the sea for adventure and excitement, matured into independent men. The ordinary seaman has held a place of honour, acting as a first-hand witness to the realities of labour exploitation and the brutal conditions at sea. Yet the sea has inspired the greatest amount of interest among writers. Endowed with human qualities, the sea has been portrayed as indifferent, hostile, welcoming, and fickle. It has generated stories involving the challenge of the sea as a force to be conquered and overcome. It has afforded writers the material for adventurous tales of romance and courage. It has been celebrated for its beauty, honoured for its mystery, and likened to a mother who offers security to those who seek refuge upon her “heaving bosom.” The sea has provided a vast and powerful landscape for American and English writers alike, and although the histories of the two countries differ, their emphasis on these basic themes is quite similar.

Known in its early history as a seafaring nation, England has had its identity shaped in large part by the sea. Having established and defended a naval empire throughout the course of its history, the nation by the eighteenth century took great pride in its navy, considering it an agent of God. The English seaman, too, was revered as courageous, just, and moral, and considered a prime example of the best of his race. These attitudes were reflected in the novels of Tobias Smollett (1721-1771), one of the country’s dominant literary figures of the time, who in such works as *The Adventures of Peregrine Pickle* (1751) and *The Life and Adventures of Sir Launcelot Greaves* (1762) focused his nautical writing—although limited in extent and rather satirical—on the Royal Navy.

Toward the end of the eighteenth century and the turn of the nineteenth century, English writings about the sea were influenced greatly by the Romantic movement, which found writers and artists looking to nature for inspiration. The Romantic poet Samuel Taylor Coleridge (1771-1834) wrote his masterwork *The Rime of the Ancient Mariner* (1798) during this time. A supernatural story of guilt and punishment, retribution and repentance, *The Ancient Mariner* narrates the sea voyage of an old sailor who kills an albatross near the South Pole. This act is an affront to the spirit of Nature, who relentlessly pursues and torments the Mariner. Serving as a living warning to others who would defy divine law, the Mariner is doomed to relive his experience through the continual retelling of it throughout the remainder of his life. Romantic poet Percy Bysshe Shelley

(1792-1822) treated the theme of man versus nature in his gothic "A Vision of the Sea" (c. 1820), a gruesome narrative of a doomed ship's voyage and the ghastly deaths of its crew.

By the first part of the nineteenth century, English novelists like Captain Frederick Marryat (1792-1848) were writing picaresque narratives based on their firsthand experiences. Marryat, who went to sea at the age of fourteen, spent over two decades aboard ship. Writing in the tradition of Sir Walter Scott (1771-1832), whose Scottish novels revealed an intimate knowledge of his country's history and people, Marryat included in his sea stories real geographical and nautical details. Popular with young Victorian boys in particular, his adventure tales such as *Mr. Midshipman Easy* (1836) and *Masterman Ready* (1841), written with a vivid imagination and an eye toward providing accurate information for his youthful audience, opened up the world of the British naval service to the English. By the latter part of the Victorian era, the English love of the sea was flourishing. Building upon the romanticism of the late eighteenth and early nineteenth century, the Victorians developed mythic notions of the sea, including its symbolic association with Christian redemption and spiritual rebirth and the assigning of female qualities to the water—based on its mystery, emotion, and sense of restlessness.

The early history of the original thirteen colonies of North America was heavily dependent on water as well. Transplants from England were accustomed to maritime enterprises and relied on the sea for imports and exports—specifically shipping timber from the New World to shipbuilders across the Atlantic—and for the growing whaling and fishing industries. By the late eighteenth century, the newly formed United States entered what has been called the "heroic age." Lasting from 1775 to 1815, this national era saw the U.S. at war with Great Britain during both the Revolutionary War and the War of 1812, making maritime activity on the Atlantic hazardous. However, as a result of the need to seek new trading relationships because of trade embargoes and blockades, the U. S. began to emerge as a powerful shipper to the world. After 1812 the maritime industry flourished, buoyed by immigration, westward expansion (including the gold rush), and the overall growth of the world trade market. By the beginning of the Civil War, U.S. ships accounted for about three-quarters of the world's ships. By World War I, however, this number had dropped substantially due to the increased self-reliance of the country.

Early American sea literature is believed to have begun with the oral traditions of Native Americans, who recited stories of the common experiences of whaling and fishing, cultural folklore of how the land had been created from the great waters, and seminal encounters with others from across the sea. Early American settlers wrote of their experiences at sea—recalling their treacherous journeys across the ocean in poems, narratives, and journal entries. By the first half of the nineteenth century, the sea occupied the same place in the American psyche as the American frontier occupied after 1850. Seen as a place of freedom and soul-searching for the individual, the sea was largely romanticized by Americans who heralded it as a safe haven far from the evils and distractions of society. This romantic view extended to the life of the sailor, a way of life that seemed to offer adventure, freedom, and escape from the increasing industrialization of society. In reality, the majority of seamen, many of whom

signed on as inexperienced youngsters, were hardly prepared for the harsh environment onboard ship, and accompanying low wages. In fact, most sailors made one trip and never went to sea again. One of the most significant nineteenth-century pieces of literature documenting these truths is *Two Years Before the Mast* (1840) by Richard Henry Dana, Jr. (1815-1882). A sailor from 1834 to 1836, Dana recounted his transformation from a bookish, effete young man into a self-reliant and mature individual during his years at sea. More importantly, however, Dana spoke of labour abuses toward merchant seaman, including the serving of bad food, the harsh physical punishments meted out for minor infractions, and the abuses of authority onboard ship. Ultimately, Dana claimed that the seamen were considered nothing more than indentured servants or slaves.

It was the romantic view of the sailor and of life at sea that prevailed throughout this first half of the nineteenth century, however, and it was during this time that American sea fiction was born. Known as the originator of the genre, James Fenimore Cooper (1789-1851) dominated American sea fiction, eventually writing twelve maritime sea novels. Cooper was a well-educated and wealthy young man when he went to sea as a common sailor at age sixteen, after having been expelled from Yale for misconduct. Five years later, in 1811, he resigned his commission and in 1824 published his novel *The Pilot*, which scholars agree marked the beginning of the genre. As a forerunner to Herman Melville, Cooper wrote during the height of the Romantic movement in America, and these romantic, idealized notions were reflected in his novels. To Cooper, the sea was a positive force, offering freedom and building character in those who chose to experience maritime life.

Although Cooper is remembered for establishing the genre, Melville (1819-1891) is arguably the best known writer of American sea fiction. With several years of experience at sea—including two years as a harpooner on a whaling ship in the southern Pacific—Melville used many of the settings and events from his own life in his novels, reshaping them as fiction in an effort to understand the world around him. Melville published his masterpiece, *Moby-Dick*, in 1851. In essence an epistemological quest, the novel is, on the surface, the story of Ahab the mad captain of a whaling ship and his zealous search for the great albino whale who had maimed him earlier. With *Moby-Dick*, scholars have argued that Melville provided a romanticized and inaccurate picture of the whaling industry, depicting a world in which men traded the monotony of their lives in the city for the excitement and adventure of the sea. In reality, most whalers led lives that were monotonous, dirty, and even brutal.

From the mid-nineteenth century to the turn of the twentieth century, sea fiction reflected several significant changes in the American social and cultural landscape: the end of the use of sailing ships, the closing of the Western frontier, and the publication of Charles Darwin's controversial *On the Origin of Species* in 1859. Sea literature was most profoundly affected by this latter development, with attention turned toward investigating the biological origins of man and attempting to resolve the conflict between the theme of brotherhood among seamen and the question of survival of the fittest. Furthermore, in abandoning romantic notions of a coming to terms between man and the natural power of the sea, late nineteenth-century writers of sea fiction took the position that man

was no match for the powerful, hostile, and unfeeling natural environment. During this realist-naturalist period, from 1870 to 1910, writers such as reporter and journalist Stephen Crane (1871-1900) portrayed the gloomy and disheartening view of the individual as helpless against the forces of nature. In his short story "The Open Boat" (1898), Crane told a tale of shipwreck and survival, recounting the narrative of four men of varying intellectual and physical powers who are stranded on a boat in the ocean. Not one of the men is able by his own powers to overcome the hostility of the sea—only chance or fate can save them.

Themes in American maritime literature changed after the writing of *Moby-Dick* as the focus shifted from the recounting of adventures at sea to the contemplation of questions of consciousness. Walt Whitman (1819-1892), for example, in his *Sea-Drift* sequence of poems (first published in the 1881 edition of *Leaves of Grass*), examined the theme of individual identity. In poems such as "Out of the Cradle Endlessly Rocking," "On the Beach at Night," and "As I Ebbd with the Ocean of Life," Whitman addressed the narrator's experience with the power and vastness of the sea, exploring questions of the known and unknown and the mysteries of the natural world. By the end of the nineteenth century and into the early twentieth century, sea literature shifted again, as writers like Jack London (1876-1916), Richard Matthews Hallet, and Archie Binns began again to recount their own adventures at sea.

Referenes

- Eagleton, Terry: *Literary Theory: An Introduction*. Minneapolis: University of Minnesota Press, 1983.
- Empson, William: *Seven Types of Ambiguity*. London: Chatto and Windus, 1947.
- Feldstein, Richard, and Judith Roof: *Feminism and Psychoanalysis*. Ithaca, N.Y.: Cornell University Press, 1989.
- Fletcher, Angus: *Allegory: The Theory of a Symbolic Mode*. Ithaca, Cornell University Press, 1964.
- Foucault, Michel: *The Archaeology of Knowledge*. New York: Pantheon, 1972.
- Fredric, J.: *Postmodernism; or, The Cultural Logic of Late Capitalism*. Durham, N.C.: Duke University Press, 1991.
- Frye, Northrop: *Anatomy of Criticism: Four Essays*. Princeton, N.J.: Princeton University Press, 1957.
- Goldberg, David Theo: *Multiculturalism: A Critical Reader*. Oxford, U.K., and Cambridge, Mass.: Blackwell, 1994.
- Grossberg, Lawrence, Cary Nelson: *Cultural Studies*. New York: Routledge, 1992.
- Guha, Ranajit: *A Subaltern Studies Reader, 1986–1995*. Minneapolis: University of Minnesota Press, 1997.
- Hegel, G. W. F.: *The Phenomenology of Mind*. New York: Macmillan, 1931.
- Hirsch, Marianne: *Conflicts in Feminism*. New York: Routledge, 1990.
- Jakobson, Roman: *Fundamentals of Language*. The Hague: Mouton, 1971.
- Kenneth, B.: *The Philosophy of Literary Form: Studies in Symbolic Action*. University of California Press, 1974.
- Kester-Shelton, Pamela: *Feminist Writers*. Detroit: St. James Press, 1996.
- Lemon, Lee T.: *Russian Formalist Criticism: Four Essays*. Lincoln: University of Nebraska Press, 1965.

Convergent and Divergent Thinking

Rajnish Kumar Sinha

Research Scholar, Department of Psychology, J.P. University, Chapra

Thinking is the highest mental activity present in man. All human achievements and progress are simply the products of thought. The evolution of culture, art, literature, science and technology are all the results of thinking. Thought and action are inseparable - they are actually the two sides of the same coin. All our deliberate action starts from our deliberate thinking. For a man to do something, he should first see it in his *mind's eye* — he should imagine it, think about it first, before he can do it. All creations — whether artistic, literal or scientific — first occur in the creator's mind before it is actually given life in the real world.

Convergent and divergent production are the two types of human response to a set problem that were identified by J.P. Guilford (1967).

Guilford observed that most individuals display a preference for either convergent or divergent thinking. Others observe that most people prefer a convergent closure. As opposed to TRIZ or lateral thinking divergent thinking is not about tools for creativity or thinking, but a way of categorizing what can be observed.

Convergent thinking is a term coined by Joy Paul Guilford as the opposite of divergent thinking. It generally means the ability to give the “correct” answer to standard questions that do not require significant creativity, for instance in most tasks in school and on standardized multiple-choice tests for intelligence.

Convergent thinking is oriented towards deriving the single best (or correct) answer to a clearly defined question. It emphasizes speed, accuracy, logic, and the like, and focuses on accumulating information, recognizing the familiar, reapplying set techniques, and preserving the already known. It is based on familiarity with what is already known (i.e., knowledge), and is most effective in situations where a ready-made answer exists and needs simply to be recalled from stored information, or worked out from what is already known by applying conventional and logical search, recognition and decision-making strategies.(OWAIS).

Bringing facts and data together from various sources and then applying logic and knowledge to solve problems, achieve objectives or to make informed decisions is known as thinking convergently. The deductive logic that the fictional character Sherlock Homes used is a good example of convergent thinking. Gathering various tidbits of facts and data he was able to put the pieces of a puzzle together and come up with a logical answer to the question: Who done it?

“When you have eliminated the impossible, whatever remains, however improbable, must be the truth.” ~ Sir Arthur Conan Doyle

Divergent Thinking is thinking outwards instead of inward. It is the ability to develop original and unique ideas and then come up with a problem solution or achieve an objective.

Einstein was a strong divergent thinker. He asked simple questions and then did mental exercises to solve problems. For example, as a young man Einstein asked himself what it would be like to ride on a beam of light. It took him many years of thought experiments, however the answer helped him develop the special theory of relativity.

Standard IQ tests gauge convergent thinking. Pattern recognition, testing knowledge, logic thought flow and the ability to solve problems can all be tested and graded.

However, there are no accurate tests able to measure divergent thinking skills. It's not surprising that creative skills can't be tested.

How would one construct a test to determine divergent thinking capabilities?

Did Leonardo da Vinci's creation of the Mona Lisa take more brain power than Einstein's equation $E=MC^2$? Is the design of the Opera house in Sydney Australia more creative than Margaret Mitchell's novel *Gone with the Wind*? Is Alvin Toffler's book *Future Shock* more inspired than Salvador Dali's painting of the melting clocks?

Who's to say which of these examples is more creative? Does public opinion decide what how much creativity was required for something, or is in the eye of the beholder?

These are interesting philosophical questions, and ones that are enjoyable to talk about at parties, however aren't useful to discover how to creatively think. A more useful question is: How can divergent and convergent thinking be improved and utilized to strengthen your critical thinking skills?

Divergent and convergent thinking skills are both important to critical thinking. Not only that, they are interrelated.

Deductive reasoning looks inward to find a solution, while divergent reasoning looks outward for a solution. Following the facts and data to determine the answer to a problem is not significantly different than having a spark of a thought and then coming up with a solution. Some of the same mental processes are used.

Both require critical thinking skills to be effective. Both are used for solving problems, doing projects and achieving objectives.

In other words, Divergent and Convergent thinking skills are two sides to the same coin—of critical thinking. One without the other doesn't make sense. Both start with asking simple questions from a curious mind. Both can be strengthened by an insatiable curiosity and strong willingness to learn about the world and the people in it.

Here is an example:

The dream of traveling beyond the reaches of earth's gravity has been around since men and women first looked up at the stars. It wasn't until the middle of the 20th century that technology became available that would make space travel possible.

On October 14 th of 1957 Sputnik was launched by the Russians and the space race began. The United States was shocked when beaten by the Russians in technology. In response the US formed the National Aeronautics and Space Administration in 1958. In the early 1960s John Kennedy sent letters to top people in the aerospace industry including Wernher von Braun. He asked how the US could beat the Russians in the space race.

Von Braun answered saying that the United States couldn't beat them in building a space station; however we could beat them in a race to the moon.

John Kennedy had done his homework by getting expert advice before giving his famous speech vowing to transport a man to the moon and bring him safely home by the end of the decade.

His speech helped galvanize almost 400,000 NASA employees and contractors to work as a cohesive team and accomplish one of the greatest feats of history in less than a decade!

Kennedy used facts and data to determine how we could beat the Russians into space. That was primarily convergent thinking.

The required development of many new technologies to design and build the rockets, spacesuits, lunar modules and other equipment to perform this amazing feat required a great deal of divergent thinking.

References

- Allen, H.: *Justice Unbalanced Gender, Psychiatry and Judicial Decisions*, Open University Press, Milton Keynes, 1987.
- Beloff, J.: *Psychological Sciences. A Review of Modern Psychology*. London: Crosby Lockwood Staples, 1973.
- Dobzhansky, T.: *Studies in the Philosophy of Biology*. Berkeley: University of California Press, 1974.
- Edwin G. Boring: *A History of Experimental Psychology*, Cosmo for Genesis Pub, Delhi, 2008.
- Fenichel, O.: *The psychoanalytic Theory of Neurosis*. New York: Norton, 1945.
- Mead, G. H.: *Mind, self, and society*. Chicago: University of Chicago Press, 1934.
- Neelam Yadav: *A Handbook of Educational Psychology*, Anmol, Delhi, 2003.
- Neisser, U.: *Cognitive Psychology*. New York: Appleton-Century-Crafts, 1967.
- P N Roy: *A Textbook of Abnormal Psychology*, Dominant, Delhi, 2008.
- Pratt, C.C.: *The Logic of Modern Psychology*. New York: MacMillan, 1948.
- Ram Nath Sharma and Rachana Sharma: *Advanced Applied Psychology*, Atlantic, Delhi, 2004.

“Suicidal Feelings in Human beings”

Mahendra Kumar Ravi

Research Scholar, Bettiah, West Champaran, Bihar

Introduction

In this world we live in more often than not, people do not believe. They have the power to change much that they witness. In truth this, this is not the case. As we change and grow, the world around us changes and grows. Because we can not escape problems, the most powerful thing we can do is learn how to deal with them effectively and powerfully. This, in turn, guides us to intelligent responses and actions which inevitably lead to peaceful solutions, which then feeds our own empowerment.

There are times in life when we might, feel totally, hopeless, helpless, overwhelmed with emotional pain. It can seem like there is no other way out of problems, we have run out of ideas, possible solutions. Our problems seem inflexible. The pain feels like it will never end. We believe we have run out of options, and suicide is the only answer left. Over 90% of people who survive a potentially lethal suicide attempt, do not go on to kill themselves. It is a temporary crisis, an attempt to stop the inner pain.

We need to access our own emotions in relationship to the challenge and then drive them intelligently and appropriately. Problems and difficulties are often opportunities and lessons. Our personal power is directly connected to our ability to problem solve.

Suicidal Feelings

Very few sensitive people have not felt suicidal at a moment or two in their lives. This world is filled with incidents and accidents that gave tremors to our hearts. For all of us, there are times when it just seems too much, or we get too tired and fed up, or someone betrays and hurts us to a point of no return. What strength we cannot find within ourselves, we must find outside of ourselves, such as angels, ancient masters, reggae, workshop, therapy, books, films that we feel can feed our spiritual and emotional hunger.

There are many different emotions that stir a sense of deep despair. Because suicide is so on the rise, we feel that we would be doing an injustice not to give some promising suggestions. We do not have the answer but we do care enough to try and SHARE some of the things that have worked for ourselves and others.

The human is made up of four elements MIND, BODY, EMOTIONS and SPIRIT. When these four elements are in balance we feel a wholeness that may become disrupted through difficulties but not dismantled. Some of the emotions that can stimulate suicidal feelings.

- (a) *Hopelessness*: Not seeing anything positive in our future.
- (b) *Helplessness*: Feeling like there is nothing that can be done about something we do not like.
- (c) *Fear*: Fear creates an extremely feeling, a sense of not feeling safe in this world.
- (d) *Bullying*: Feeling intimidated, tyrannized, creates extreme fear.
- (e) *Loss of Inspiration*: Emptiness and feeling void of creativity.
- (f) *Depression*: A feeling of “nothing seems to be worth any-why bother”, which usually comes from unexpressed and unresolved pent-up-anger.
- (g) *Attitude*: This can lead to belonging that it is better on the other side.

Suggested Solution

The key of successful journey of life does not come from anything external; as most people think. It comes from our being and our beliefs. The only thing that can change our life is ourselves. The faster we realize that are cannot change another and often we cannot change a situation, the faster we become empowered to implement the very things that can bring us happiness and contentment. We are here as humans to live listerizing, learning and loving.

(a) *Hope*: Hope is the fuel for out strength. There fare, the more hopeful we are, the more of peace we become. He is like a light house. I keeps steering us to the right course and lightens our way, as we soil through life.

(b) *Wisdom*: Our thoughts create our actions. If we have negative thoughts, then we will manifest negative events and relationships. The expression - “Watch your thoughts” is much more powerful than people realize.

(c) *Willpower*: Only will makes for change and growth. Observe everything, study, diligently and put that crucial knowledge in to positive action. Our will to maintain our positivity and hopefulness is what keeps us thriving and healthy. Sickness is most associated with hate, deceit, hurt and hopelessness. The more me face these challenges in a direct manner with honesty and truth, the healthier we become.

(d) *Emotions*: Our feelings are directly connected to our heart and our heart is directly connected to out soul. Therefore, the more me know our feelings, the more we know our soul. If one are to use our “heart intelligence”, we must be more aware of our feelings. When we expose our heart intelligence we expand our feelings of hope.

(e) *Spirit*: We are here to learn and if We let our errors become the doorway to a better life unfolding, we will indeed be filled with hope and happiness. When we lose our spirit we lose all.

(f) *The Role of the Family*: Parents or caretakers help to ensure a safe environment in the home, monitor the suicidal adolescent, and are needed to help resolve family conflicts or stresses that may be related to suicidal behaviour. Parents also play an important role in suicide prevention by recognizing the sings of mental health difficulties among youths and seeking help when appropriate.

(g) **Collectivism and Individualism:** Collectivism or interdependence among peoples may offer support or provide a sense of belonging for at-risk individuals that may mitigate risk for suicidal behaviours.

(h) **Religion and Spirituality:** People of different cultural backgrounds understandably may not seek help or respect intervention efforts in they do not perceive that their faith or beliefs will be honoured or respected. Partnerships with faith communities may provide many opportunities for suicide prevention activities within a culturally acceptable context.

(i) **Different Manifestations and Interpretations of Distress:** Different cultural group may manifest distress and interpret signs or distress differently.

(j) **Cultural Mistrust, Stigma and Help Seeking:** In each of the groups reviewed, there appeared to be stigma associated with health difficulties, including sociability and often with help-seeking. Education provided in faith communities in the schools or in the wider communities may be helpful in reducing stigma and raising awareness of potential mental health problems among youth and the availability of culturally sensitive resources for youths at risk for suicidal behaviour.

(k) **Making a Safety Plan:** A safety plan helps you plan ahead for the times when you may feel particularly low and at risk of acting on your suicidal thoughts. A safety plan supports your healthier self-the bit of you that wants to hold on and survive-when things are hard and you are feeling overwhelmed.

(l) **Make a Commitment to Yourself:** When you notice thoughts of suicide, challenge the self-bullying habit and make a commitment to taking care of yourself as best you possibly can for the moment.

(m) **Attend to Yourself Care Needs:** Be prepared for non-professionals to be shocked by what you tell them and don't expect a 'perfect' response. It is always better to make human contact than to stay isolated and alone with your thoughts.

(n) **Reduce the Risk:** Protect yourself from impulsively acting on your thoughts by putting dangerous objects out of immediate reach.

(o) **Plan to Get Professional Help :** Doctors and counsellors help many people move on from depression and get appropriate help. You may need to challenge yourself about what's stopping you getting help.

(p) **Check Medication Side Effects:** When the medication first starts taking effect it can increase your energy and motivation before improving your mood, increasing, the risk of acting on suicidal thoughts.

(q) **Check Alcohol and Drugs:** Check your alcohol/drug consumption and try to cut down. Try not to drink alone or to end up alone after drinking.

(r) **Minimize Time Spent Alone:** Minimize time spent alone in your room-take work to the library, ask friends to be with you at vulnerable times, make plans ahead for weekends and other lonelier times, generally work on building your support network.

(s) **Give Yourself Small Goals:** Each evening set yourself small task or goals for the next day. Set yourself another task as soon as you have completed one.

(t) *Start Breaking the Suicidal Thinking Habit:* Use self soothing or distraction techniques when you notice thoughts about suicide bothering you, or practice other techniques for challenging depressed thinking.

(u) *Work on Rebuilding Meaning:* Depression work to drain assumed meaning out of life and challenges us to take responsibility for making our lives meaningful. Challenge the cynicism of perfectionism which may be preventing you from embracing hopeful or constructive ideals and goals for your life.

Conclusion Sum

India has witnessed a change in family structure, with people moving out of joint families into nuclear families. "Families now are fractured and the support systems in place earlier are not the support systems in place earlier are not working."

In last 45 years, suicide rates have increased by 60%, says the WHO, and suicide is among the three leading causes of death among people aged 15 to 44. Female suicides in India are often linked to Relationships, including domestic violence and forced marriage. For men the major reasons were related to work and financial difficulties.

In India, people carry out suicide mainly by self-poisoning with pesticide and hanging, which are more lethal than methods typically used in the west like overdosing on non-prescribed drugs. India's suicide rate is about 16 per 1,00,000/- people a year.

Suicidal behaviour and help-seeking occur in a cultural context and are likely associated with different precipitating factors, different vulnerability and protective factors, differing reactions to and interpretations of the behaviour, and different resources and options for help seeking; Awareness of the interface of culture, adolescent suicidal behaviour, and help seeking is essential for culturally competent professionals and an important step a route to the development of effective culturally sensitive interventions to reduce suicidal behaviours. The details of succeeded cases in India is presented by following table.

<i>Year</i>	<i>Total cases</i>
2008	125017
2009	127151
2010	134599
2011	135585
2012	135445

Corporate Social Responsibility: In Indian Commercial Banks

Kumar Sudhanshu

Abstract

The main purpose of the study is to analyze the corporate social responsibility (CSR) activities carried out by Indian commercial banks. The study is based on the secondary data taken from the annual reports of the banks for the year 2009-10 to 2011-12. Variables used in the study are: rural branch expansion, priority sector lending, environment protection, community welfare, women welfare, new initiative related to CSR, financial literacy, education and farmers' welfare. The analysis shows that though the Indian banks are making efforts in the CSR areas but still there is a requirement of more emphasis on CSR. There are some banks which are not even meeting the regulatory requirements. The public sector banks have overall highest contribution in CSR activities. Private sector banks and foreign banks are still lagging in this area. The study has a scope of further research where the CSR performance of banks can be related to financial performance of the banks.

Introduction

According to Friedman (2006) "There is one and only one social responsibility of business- to use its resources and engage in activities designed to increase its profits so long as it stays within the rules of the game, which is to say, engages in open and free competition without deception or fraud". In contrast to Friedman's statement, Robbins and Coulter (2007) explained that the management's social responsibility goes beyond making profit to include protecting and improving social's welfare of its stakeholders and the environment in which the firm carries out its operations. This statement is based on the belief that corporation are not independent entities responsible only to stockholders. They also have the responsibility to the society that allow their formation through various laws and regulations and support them through purchasing their products and services (Carroll, 2008). Zain (2008) extending the Carroll's statement said that ethical standards play an important role in a firm's success in the long-run. The social responsibility standards and moral activities by a firm can create a positive rapport between the firm and all its stakeholders.

In the late 1960s and early 1970s, the term "corporate social responsibility or CSR" came into common use. Holmes and Watts (1999) defined CSR as the continuing commitment by business to behave ethically and contribute to economic development while improving the quality of life of the workforce and their families as well as of the local community and society at large. Some

researchers argue that corporations make more long term profits by operating with a CSR perspective, while others argue that CSR distracts from the economic role of businesses. However, Mitten & Crane (2005) emphasized that the firms will experience divergent degrees of internal, external and lateral pressures to engage in CSR, as firms are embedded in different national business systems.

Regarding the banking sector Bhatt (2008) stated that banks do not exist in a vacuum. They make a large contribution to the country's GDP growth, meet the demand of the growing middle class, contribute to infrastructure spending, and reach out to the semi urban and rural areas. The Reserve Bank of India (RBI) (2011) on stressing the need for CSR, suggested the banks to pay special attention towards integration of social and environmental concerns in their business operations to achieve sustainable development. RBI also pointed out to start non financial reporting (NFR) by the banks which will cover the work done by the banks towards the social, economic and environmental betterment of society. The CSR in Indian Banking Sector is aimed towards addressing the financial inclusion, providing financial services to the unbanked or untapped areas of the country, the socio-economic development of the country by focusing on the activities like, poverty eradication, health and medical care, rural area development, self employment training and financial literacy trainings, infrastructure development, education, and environmental protection etc.

Review of Literature

This section provides a review of the theoretical literature on CSR activities in banking sector in India and in other countries. Wise and Ali (2009) in their study on corporate governance and corporate social responsibility in commercial bank of Bangladesh, through analysis of the annual reports of these banks, found that the corporate social responsibility disclosures by the banks focus on initiatives undertaken to support two critical sectors within Bangladesh's economy: agriculture and the SME sector. Sharma (2011) made an attempt to analyse CSR practices and CSR reporting in India with special reference to banking sector and concluded that banking sector in India is showing interest in integrating sustainability into their business models but its CSR reporting practices are far away from satisfaction. Ventura and Vieira (2007) made a study to understand the dynamics of institutionalizing corporate social responsibility in the field of Banking Organizations in Brazil and found that from being an isolated marginal action, CSR in the past ten years is now a structured action in banking organizations. Narwal (2007) made a study to highlight the CSR initiatives taken by the Indian Banking Industry. The findings suggest that banks have an objective view-point about CSR activities. They are concentrating mainly on education, balanced growth (different strata of society), health, environmental marketing and customer satisfaction as their core CSR activities.

The researchers have also attempted to find out the relation between CSR and financial performance of the banks. Margolis and Walsh (2002) pointed out in his study that one hundred twenty-two published studies have been made between 1971 and 2001 which measures the relationship between the corporate

social responsibility and financial performance. Heinz (1976), Bowman and Haire (1975), Waddock and Graves (1997), Cochran and Wood (1984), Mcguire et al. (1988) and Aupperle (1985) reported a positive association between the corporate social responsibility and the profitability of the companies. Lee and Douglas (1997), Simpson and Kohers (2002), McWilliams and Siegel (2000), Marc et al (2003), and Allouche and Laroche (2005), Wu (2006), and Margolis et al (2007) performed various analyses and found an overall positive effect between CSR and financial performance. Ahmed et al. (2012) suggested that the CSR can increase both long term profitability and sustainability of the banks as well as enhance the reputation of the banks. Keffas and Oulu-Briggs (2011) found that, the banks which incorporate CSR have better asset quality; capital adequacy; and are more efficient in managing their asset portfolios and capital. McDonald and Thiele (2007) in their study on the relationship between CSR and customer outcomes found that the CSR strategies and customer satisfaction have a positive relationship. However, Vance (1975) found an inverse relationship between the corporate social responsibility and the profitability of the companies in short run.

Interpretation

A comparative analysis of CSR score of all the banks for the year 2009- 10 to 2011-12 has been given in table 2. As per the CSR score of 2009-10, the highest score is recorded for public bank i.e. 16 by Syndicate bank, while the lowest CSR score is recorded for private bank i.e. 3 by YES bank. The mean value of CSR score on the basis of highest and lowest score is 10. 13 public banks out of a total of 15 have scored above or equal to the mean value of score on the basis of highest and lowest CSR score. Only one foreign bank out of a total of five has achieved the CSR score above the mean value. 7 private banks out of a total of 10 have achieved the CSR score above the mean value. The highest CSR score for private bank is 15 of ICICI bank, and highest CSR score of foreign bank is 11 of Royal Bank of Scotland. As per the CSR score of 2010-11, the highest score is recorded for public bank i.e. 25 by Punjab National bank, while the lowest CSR score is recorded for foreign bank i.e. 5 by Standard Chartered bank. The mean value of CSR score on the basis of highest and lowest score is 15. Only 2 public banks out of a total of 15 have scored above the mean value of score on the basis of highest and lowest CSR score. Only one foreign bank out of a total of five has achieved the CSR score equal to the mean value. 3 private banks out of a total of 10 have achieved the CSR score above and equal to the mean value. The highest CSR score for private bank is 18 of ICICI bank, and highest CSR score of foreign bank is 15 of Royal Bank of Scotland.

As per the CSR score of 2011-12, the highest score is recorded for public bank i.e. 20 by Punjab National bank, while the lowest CSR score is recorded for foreign bank i.e. 7 by Deutsche bank. The mean value of CSR score on the basis of highest and lowest score is 14. Only 2 public banks out of a total of 15 have scored above the mean value of score on the basis of highest and lowest CSR score. No foreign bank out of a total of five has achieved the CSR score

equal to the mean value. 2 private banks out of a total of 10 have achieved the CSR score above and equal to the mean value.

Rural Branch Expansion

This variable is used to measure the extent up to which the banks are following the financial inclusion policy formulated by the Reserve Bank of India to promote balanced growth of the economy. Chakraborty (2009) explained financial inclusion as the process of ensuring access to appropriate financial products and services needed by vulnerable groups such as weaker sections and low income groups at an affordable cost in a fair and transparent manner by mainstream Institutional players. However, illiteracy and the low income savings and lack of bank branches in rural areas continue to be a road block to financial inclusion in many states. Apart from this there is inadequate legal and financial structure. According to Vijay Mahajan (2008), private ownership, good governance, professional management, no caps on interest rates, and most importantly, commitment to local areas and local community are a few factors that could lead to financial inclusion.

Priority Sector Lending

As described by the Reserve Bank of India, Priority Sector lending means lending to the agriculture, small scale and ancillary industries, new and renewable sources of energy, cottage industries, artisans, food and agro based processing, education, housing and weaker section. While for domestic banks, both the public and private sectors are required to lend 40 per cent of their net bank credit (NBC) to the priority sector, foreign banks are required to lend 32 per cent of their NBC to the priority sector. It has been observed that while banks often tend to meet the overall priority sector targets, they sometimes tend to miss the sub-targets. This is particularly

true in case of domestic banks failing to meet their sub-targets for agricultural advances. One of the reasons banks often site for not lending to this sector is that recovery is often difficult. From the table 3 it can be interpreted that PSL Priority sector lending ratio was 35.70 (Maximum) and 22.43 (Minimum) in the year 2011-12 for public banks, while the PSL ratio has increased from 35.70 to 35.75 in the year 2012-13. The top performer among public banks in PSL ratio variable is Oriental Bank of Commerce while the least performer bank is Bank of India as per the PSL ratio of 2012-13. Priority sector lending ratio was 37.44 (Maximum) and 20.24 (Minimum) in the year 2011-12 for private sector banks, while the PSL ratio has decreased from 37.44 to 36.53 in the year 2012-13. The top performer among private sector banks in PSL ratio variable is Karnataka Bank while the least performer bank is South Indian Bank as per the PSL ratio of 2012-13. Priority sector lending ratio was 45.24 (Maximum) and 26.55 (Minimum) in the year 2011-12 for foreign banks, while the PSL ratio has decreased from 45.24 to 40.56 in the year 2012-13. The top performer among foreign banks in PSL ratio variable is Royal Bank of Scotland while the least performer bank is Deutsche bank as per the PSL ratio of 2012- 13. Thus overall

it can be interpreted from table 3 that foreign banks are leading in the PSL ratio variable, then private sector banks and at last public banks.

Environment Protection

This variable includes all the activities carried out by the banks for the purpose of environment protection or to reduce the environmental harm by adopting different initiatives, replacing traditional activities by eco friendly processes or activities in day to day business. Adenekan (2007), Joyner and Payne (2002), concluded that a growing number of companies in many sectors and geographic regions have discovered concrete value and competitive advantage from socially responsible practices in pollution prevention, energy efficiency, environmentally oriented design, supply chain management, and health and sustainable agriculture initiatives, among others. For these firms, CSR has had a positive impact on profits. The World Bank has also pressurized the banks not to finance the projects, which are causing harm to the environment either directly or indirectly.

Education

This variable is used to measure the contribution of banks in the field of education. In India Rao (1964) and the Education Commission (1966) emphasised the links between education and development. Fields (1980) and Tilak (1978) explained that education and poverty are inversely related: the higher the level of education of the population, the lower would be the proportion of poor people in the total population, as education imparts knowledge and skills that are associated with higher wages.

Financial Literacy

As per the Reserve Bank of India, Financial literacy is providing familiarity with and understanding of financial market products, especially rewards and risks, in order to make informed choices. It is the ability to know, monitor, and effectively use financial resources to enhance the well-being and economic security of oneself, one's family, and one's business. Financial literacy has assumed greater importance in the recent years, as financial markets have become increasingly complex and as there is information asymmetry between markets and the common person, leading to the latter finding it increasingly difficult to make informed choices. In India, the need for financial literacy is even greater considering the low levels of literacy and the large section of the population, which still remains out of the formal financial set-up. Credit Counseling can be defined as counseling that explores the possibility of repaying debts outside bankruptcy and educates the debtor about credit, budgeting, and financial management. In view of the above two points the RBI has initiated a scheme for setting up of Financial Literacy and Credit Counselling (FLCC) Centres by the banks. Certain banks have not just opened the FLCC centers but have also taken other measures to promote finance education among people.

Conclusion

The analysis shows that though the Indian banks are making efforts in the CSR areas but still there is a requirement of more emphasis on CSR. There are some banks which are not even meeting the regulatory requirement of Priority sector lending and rural branch expansion. Even after the RBI's guidelines for financial literacy programs the banks have not take substantial steps in this direction. The RBI may be more stringent in enforcing such regulatory requirements. The banks have focused on the community welfare and farmers' welfare programs but the efforts for women welfare and education are not sizeable. Moreover, the public sector banks have overall highest contribution in CSR activities. Private sector banks and foreign banks are still lagging in this area. Banks are usually judged from the point of view of their financial performance but this study has explored a new dimension for analyzing the performance of banks. It could be inferred from the study that certain banks like ICICI bank, HDFC bank and State Bank of India which are top performers in terms of profitability and growth are not at the top in CSR activities.

References

1. Abbott, W. F. and Monson, J. R. (1979), "On the measurement of corporate social responsibility: self reported disclosure as a method of measuring corporate social involvement", *Academy of Management Journal*, Vol.22, pp.501-515.
2. Addock, S.A., and Graves, S.B. (1997), "The Corporate Social Performance-Financial Performance Link", *Strategic Management Journal*, Vol.18 (4), pp. 303-319.
3. Ahmed, Homayara Latifa, Alam, Md. Jahangir and Jafar, Saeed Alamgir Zaman Sawlat Hilmi (2008), "A Conceptual Review on Corporate Governance and its Effect on Firm's Performance: Bangladesh Perspective", *AIUB Bus Econ Working Paper Series*, Vol.2008- 10, pp.1-24.
4. Bharti School Programme, *Management & Change*, Vol.13, No.1, 2009, pp.1-4.

Economic Development and Loss of Biodiversity

Dr. Sabita Kumar

M.A., Ph.D., Department of Economics, J.P. University, Chapra

An Overview of International Measures

Our generation has the singular misfortune of living during—and helping to create—a period of biological simplification. Generations from now it will be hard for people to appreciate what has been lost, but we have ringside seats for the event. It is happening during our watch, a fact that will not soon be forgotten by our descendants. There is virtually no place on Earth where biodiversity is not under siege from the combined pressures of human population growth, excessive resource demands, exotic species introductions, and atmospheric pollutants.

Although we often dwell on biodiversity loss in the tropics, major problems exist in the temperate, arid, and semiarid zones as well. Worldwide, an estimated 2 to 5 percent of species will be committed to extinction per decade in the near future and habitats and genetic resources are disappearing at least as rapid a rate. With growing populations and growing demands on resources, the magnitude of the problem is overwhelming. Even the United States, which has the resources to tackle the problem and the benefit of a declining rural population, is at best only slowing the rate of loss of biodiversity; more likely, we are only slowing the rate of *increase* in the loss of biodiversity.

If the resource-rich United States is losing the battle, how are countries without abundant resources and with growing rural populations to meet the challenge? Even if we stopped cutting forests, filling wetlands, and damming rivers worldwide today, species extinctions caused by historic habitat destruction would continue for centuries. Yet it is unrealistic, given a global human population that is growing by nearly a billion people every ten years, to think of halting habitat loss anytime in the near future. If we were to halt the loss of biodiversity at a level somewhere near today's, we would need not only to stop habitat loss immediately but also to restore a substantial fraction of the habitat that already has been lost. So, what will it take to stop biodiversity loss? Although population growth and resource consumption are the proximate threats to biodiversity today, over the long run biodiversity's fate will in fact lie with social and economic progress around the world.

The steps countries take to improve literacy, empower women, invest in health and child survival, and stimulate sustainable economic development will in the end determine the level where human populations stabilize and what demands those populations place on natural resources. And that is what

ultimately will define the amount of the planet's biodiversity that survives to pass through the bottleneck we are entering.

Categories of International Action for Biodiversity

We can influence both the rate of loss of biodiversity and the final levels of diversity that survive through actions we take today to protect species, genetic resources, and critical habitats and to use them sustainably to meet social and economic needs. International action can help the conservation and sustainable use of biodiversity to the extent that it helps nations (1) anticipate and prevent threats to biodiversity, and (2) align the goals of biodiversity conservation with local and national development goals. The four major types of international action that influence biodiversity conservation today are:

International Resource Management Coordination. A long history of treaties and agreements seeks to promote coordinated and complementary actions among countries that share resource management goals or concerns. For example, Mexico's efforts to maintain its shorebird populations would fail if the U.S. and Canada did not protect habitats for the birds during migration. Similarly, U.S. efforts to protect sea turtle populations would fail if other countries did not ban the import of turtle shells. Thus, nations have reached such agreements as the Convention on the Conservation of Migratory Species of Wild Animals, the Convention on International Trade in Endangered Species of Wild Fauna and Flora (CITES), the Convention on the Conservation of Antarctic Marine Living Resources (CCAMLR), and the International Undertaking on Plant Genetic Resources, and have established numerous regional and species-specific councils and agreements addressing transboundary resources or migratory species, such as UNEP Regional Seas programs.

"Bargains" Among Nations. Another set of international mechanisms seeks not only the coordination of action, but also the establishment of reciprocity among nations. In a sense, these treaties or agreements strike "bargains" among countries with different needs and different resource pressures. For example, the Ramsar Convention on Wetlands of International Importance obliges countries to take steps to conserve their wetland resources and provides funding from relatively wealthy countries to support the conservation activities in poorer nations. The pilot phase of the Global Environmental Facility provided financial support for conservation in developing countries; in return, those countries took steps to protect their biodiversity, actions that result in both national and global benefits. The recently negotiated Convention on Biological Diversity establishes obligations for parties to undertake conservation activities and ensures that wealthy countries will support conservation with financial and technical resources in return for maintaining their access to these resources. And a number of bilateral development assistance programs provide financial resources to countries to assist their conservation efforts.

International Financial and Trade Agreements. Although we don't typically think of their influence on biodiversity, international agreements that influence economic development and trade policies can have important conservation

consequences, both positive and negative. Such agreements include structural adjustment programs, regional and global trade agreements, and commodity agreements such as the International Tropical Timber Agreement (ITTA). It is already standard for such agreements to address economic issues related to resource use, but increasingly the argument is being made to address conservation concerns as well. Because of their major influence on patterns of development, these agreements may offer a far more valuable opportunity to promote the conservation and sustainable use of biodiversity than more narrowly focused conservation agreements.

For example, Bob Repetto at World Resources Institute (WRI) has proposed a mechanism for making commodity agreements such as ITTA instruments for promoting the sustainable use of resources. For decades, Southern producers have sought to improve their commodity terms of trade through commodity agreements designed to “stabilize” (i.e., reduce) supply, efforts that have been resisted by consuming Northern countries such as the U.S. However, producers could improve export prices and revenues if they jointly agreed to adopt more sustainable production practices and to internalize the full environmental costs of production in their pricing structure. Northern countries could not complain about agreements among producers to reduce logging to sustainable levels or to protect biodiversity, and Southern producers could pass on the costs of these measures to Northern importers.

International Science. Finally, much of the basis for both the concern over the loss of biodiversity and for knowledge of what steps need to be taken to protect biodiversity stems from the results of the international scientific community’s research in systematics, ecology, and conservation biology. Although we often don’t think of this as an international “measure,” international scientific cooperation provides a model for the type of cooperation needed in such areas as technology and capacity building.

The Biodiversity Convention

Although economic and trade agreements provide significant opportunities to imbed concerns for sustainability in development plans and despite the potential for other treaties to help coordinate resource management among nations, all attention is now focused on The Convention on Biological Diversity, one of the notable achievements of the United Nations Conference on Environment and Development (UNCED) held in Rio de Janeiro in June 1992. The 157 countries signing the Convention believed that it struck a balance among the interests of nations differing widely in development needs, biodiversity endowments, and environmental threats. The Convention is a framework agreement, meaning that it establishes an international legal structure for a coordinated response to the loss of biological diversity. It establishes general obligations for the parties to the Convention rather than legally binding targets for specific actions.

But even as a framework agreement, its impact will be significant. The Convention increases the economic incentives for conservation, a key element

of the long-term strategy to slow the loss of biodiversity. It also establishes short-term obligations to meet pressing conservation needs. Signatories have already begun to develop the required biodiversity action plans, which detail how they will meet obligations to identify, monitor, and conserve biodiversity and identify their priorities for training, education, and capacity-building. The Convention establishes a multilateral mechanism to provide financial support for these conservation needs in developing countries and sets up a scientific panel to help governments guide limited resources to the highest priorities.

The Convention marks a basic change in the international status of genetic resources. Before it, these resources were considered to be the “common heritage of mankind.” This principle is a central tenet of the International Undertaking on Plant Genetic Resources and the FAO Commission on Plant Genetic Resources, both of which were established in the 1980s and together involve some 135 countries. Under this regime, countries that violated the common heritage principle and restricted access to unimproved germplasm (such as Ethiopia, which placed an embargo on the export of its coffee germplasm in 1977) were soundly criticized.

Though the intent of the open access regime was to ensure the widespread availability of genetic resources for agriculture and industry, it had one major flaw: by allowing free exchange of genetic resources, the source country received no direct benefit from their use. As a result, commercial use of these resources provided no additional economic incentive for conservation.

The Convention on Biological Diversity corrects this policy failure by establishing that states have sovereign rights over their genetic resources, although it affirms that the *conservation* of biodiversity is a “common concern of humankind.” It thus enables market incentives to be used to complement the various multilateral mechanisms that might directly fund biodiversity conservation. The Convention adopted the principle that a portion of the benefits stemming from the productive use of genetic resources should flow back to the nations that act to conserve and provide access to these resources.

Not surprisingly, the negotiators envisioned that the flow of benefits would include both financial resources (i.e., royalties) and technologies. Given the central role of new technologies in addressing many environmental concerns, the inclusion of technology transfer articles is now commonplace in international agreements—including, for example, the Montreal Protocol on Substances that Deplete the Ozone Layer, Agenda 21 (another product of UNCED), and the United Nations Framework Convention on Climate Change. Such provisions aid biodiversity conservation in two ways: (1) technologies like seedbanks, tissue culture, and data management systems help meet conservation objectives directly, and (2) technologies enabling countries to make greater use of biodiversity in agriculture and industry add even greater economic incentives for conservation.

The technology transfer envisioned under the Convention is not a hand-out to poor countries but a recognition that simple cash payments for access to resources are rarely the most effective mechanism to support their conservation.

Indeed, the first country to take action to ensure technology transfer consistent with the convention was not even a developing country. After the U.S. National Cancer Institute extracted a chemical showing promise against HIV from an Australian shrub, Western Australia aggressively pursued its right to benefit from the resource. Australian scientists will now be involved in the research and Australia will receive a share of any potential commercial benefits. There is no dispute that countries that obtain genetic resources from other countries assume the obligation under the Convention to compensate those countries, both financially and by facilitating technology transfer. Because developed countries successfully negotiated for language in the agreement to ensure that compulsory licensing is not authorized to meet these objectives, the burden falls squarely on the developed countries to take the actions needed to facilitate technology transfer.

An array of policy tools, including tax incentives and cooperative research programs, can meet the Convention's objectives without infringing on property rights. Rather than continuing to stress what actions developing countries *can't* take to meet the Convention's objectives, it is essential that developed countries quickly demonstrate what actions developed countries *will* take.

References

- Arrow, Kenneth J. and D. Pines: *The Economy as an Evolving Complex System*, Addison-Wesley, Redwood City, 1998.
- Arrow, Kenneth J.: *The Limits of Organization*, New York, Norton, 1974.
- Barnett, Raymond A. and Michael R. Ziegler: *Finite Mathematics*, Macmillan Publishing Co., New York, 1993.
- Clark, J.B.: *The Distribution of Wealth*, Macmillan, London, 1899.
- Dwivedi, D.N.: *Macroeconomics: Theory and Policy*, Tata McGraw, New Delhi, 2001.
- Eaton, B. Curtis; Eaton, Diane F.; and Douglas W. Allen: *Microeconomics*, Prentice Hall, NJ, 2002.
- Grassl, W. and B. Smith: *Austrian Economics: Historical and Philosophical Background*, New York University Press, New York, 1986.
- Hayek, F. A. von: *Profits, Interest and Investment*, Routledge and Kegan Paul, London, 1939.

E-Commerce: A Systematic Approach

Mohammed Rubani

Research Scholar, Department of Commerce, Kalinga University, Raipur

Introduction

Electronic commerce, or simply e-commerce, is changing the way in which banks and consumers interact and transact. E-commerce provides consumers the ability to bank, invest, purchase, distribute, communicate, explore, and research from virtually anywhere an Internet connection can be obtained.

Given the explosive growth of the Internet, most e-commerce providers are migrating from proprietary networks and dial-up servers to the Internet in order to capture larger market shares. The World Wide Web, or simply the Web, has become the vehicle of choice for conducting commerce over the Internet because of the user-friendly and rich multi-media interface provided by Web browsers.

The vast growth potential for e-commerce in the banking and financial services industry is tempered by legitimate concerns over the security of such a system. Most diners are not too concerned about the possibility of a waiter keeping an imprint of their credit card number. Similarly, most of us feel comfortable about giving our credit card numbers over the phone to an operator.

Why should e-commerce be any different? The answer lies in the scale by which fraud or theft can be perpetrated by flaws in the software systems that facilitate e-commerce transactions. The very nature of computing has the ability to amplify many-fold the effect of a simple error in e-commerce software into large-scale fraud, theft, or security intrusions. A simple error in configuring a commerce site's Web server can lead to the compromise of thousands of credit card numbers which can be quickly and widely distributed.

A recent criminal case illustrates this vividly. Carlos Felipe Salgado Jr. pleaded guilty to have been paid \$260,000 in an FBI sting for a diskette containing personal information for over 100,000 credit-card holders. The data was allegedly obtained by Salgado hacking into company databases through the Internet. To protect e-commerce systems from these types of abuses, the systems must be secured systematically.

Securing e-commerce must occur on four fronts:

- (1) securing the Web clients,
- (2) securing the data transaction,
- (3) securing the Web server, and
- (4) securing the network server operating system.

To date only the data transaction protocols have gained recognition and development of secure properties. The security of e-commerce systems, though, are only as strong as their weakest component. A failure to secure any one of these four components of electronic commerce may result in the entire system being insecure. If one component is much more secure than others (e.g., the data transaction protocol versus the network servers), then criminals will attack the weakest component (the path of least resistance).

The benefits of providing goods and services over the Internet are immediately apparent. However, placing a server on the Internet also opens the potential for malicious criminals to break into systems, steal files, deny service and possibly destroy the host systems. Erecting firewalls can prevent attacks against internal computer systems (at least initially); however, firewalls can only provide trivial security assurance against data-driven attacks through the Web.

This article highlights critical vulnerabilities in Web security that providers of e-commerce will find invaluable. First, the security issues for banks and other providers of e-commerce have in using the Internet and the Web are discussed. These issues include: setting up and maintaining a secure Web server, vulnerabilities in web servers, and the dangers of CGI scripts and Web applications in general. Also addressed are the client-side security issues in e-commerce transactions for consumers as well as for employees who use the Web. Security and privacy breaches are a concern when using commercial Web browsers, downloading programs, viewing images, and surfing to Web pages with active content applications. Future articles will address the data transaction security and network server operating system security.

Web Server Vulnerabilities

What are the security issues that companies must be concerned about in using the Web for electronic commerce? First, the setup and configuration of a Web server can be complex and the security implications of a misconfigured server are severe. Take as an example a system administrator who installs and configures a Web server. The system administrator knows that the server must start up as the super user in order to listen to the privileged HTTP port. Without necessarily thinking of the security implications, the system administrator sets the executing privilege of the Web server to the super user. Now, any actions the server takes will have the weight and privilege of the super user. So, if an attacker is able to subvert the server, the attacker will now have super user privileges.

Flaws, shortcomings, or even features in a Web server can provide a gateway for a malicious intruder to break into corporate systems. The Web server is responsible for accepting and responding to requests over the Internet—similar to other network programs which allow users to remotely log into systems.

However, the range of functions handled by the Web server is quite large. An axiom of software development is that the more complex the software, the more likely flaws exist in the software code.

Security professionals are now beginning to recognize and embrace the idea that most security breaches are made possible by flaws in software code. As an example, the HTTP Web server version 1.4 released from the National Centre for Supercomputing Applications (NCSA), which is popularly used at many sites, contained a software flaw that has been a favourite target of many computer crackers.

The flaw is in a software routine that is intended to remove possibly malicious input characters in Web server requests. However, when the routine was coded, an ASCII character was omitted from the list of possibly malicious input. This particular character can be used in a simple attack that enables an intruder to execute arbitrary commands on the server. Given this ability, a hacker may retrieve files, write files, and possibly erase files, depending on the privilege with which the Web server is executing. A patch for this problem has since been released; however, the extent to which the vulnerability has been patched in installed versions is unknown.

Web Client Vulnerabilities

Equally important to e-commerce security is the security of client-side software, specifically Web clients. Active content applications such as Java applets, Active controls, Java Scripts, VBScripts, browser plug-ins, and e-mail attachments all pose potential security and privacy hazards for e-commerce end-users.

The first issue companies must wrestle with is whether or not to trust the Web browser itself. Most browsers are given the privilege to execute programs locally, to write to user disks, to upload and download files and programs from the Internet. Since the source code is usually not distributed with the browser, the consumer must trust that the browser software is not performing any malicious actions such as corporate espionage on a file system. Often times, when installing the software, the user must agree not to hold the browser vendor responsible for any damages resulting from use of the browser. Netscape Navigator versions 2.x, 3.x, and 4.1 as well as the Internet Explorer versions 3.x and 4.0 browsers have all had serious flaws that have permitted complete security violations.

Beyond the issue of the browser source itself, companies must be concerned with the features that many browsers provide. The most popular browsers come with options for plug-ins that automatically execute files viewed from remote Web sites. Certainly, this provision makes surfing the Web interesting as far as multimedia presentations; however, executing an untrusted application opens the door for malicious attacks.

Perhaps the most popular form of active content available on the Internet is Java applets. When viewing a Web page which has a Java applet attached, the Java applet is downloaded to the client's disk and automatically executed unless this default feature is disabled in the browser.

While Java was designed with security measures to prevent unauthorized access to client file systems, this security model has been repeatedly violated. Java Script has also been shown to contain very serious security holes in previous releases. Corporate users should not download active content unless the source is trusted—and even then, no assurance of security is provided.

In order for corporations to begin to address the security concerns of Web browsing, a security policy must be established and enforced at corporate sites regarding downloading files from the Internet. It is easily conceivable that an employee could unknowingly download a virus, a malicious program that opens a backdoor in the system, or even images which have programs encoded in them that are executed once downloaded.

This malicious use of images to store programs is a focus of a field of research called steganography. Java security is expected to improve over the long term, but until the security issues are resolved, it is safest to disable Java and Javascript unless you are viewing trusted applets. System-wide filtering solutions are also available for preventing executable content from being downloaded over the Internet.

Conclusions

The Internet today is a vast frontier of unknown elements including new types of software, new discoveries of security flaws, and unfriendly neighbours. The most secure technical solution to preventing attacks launched from the Internet is to unplug the network from the computer. This solution is not viable in today's business climate. Rather, the components that comprise e-commerce systems must be adequately secured. Two components of e-commerce that are often overlooked in security are the network server software and the Web clients. For mis-configured servers (mail, news, Web, FTP, and others), breaking into a site becomes as simple as following a recipe (usually published in underground sites). Armed with the facts about security, corporate MIS managers and system administrators can begin to make appropriate decisions to secure e-commerce.

References

- Albert, Ethel, Theodore, Denise & Shelby, Peterfreund : *Great Traditions in Ethics*, Delhi, Eurasia, 1987.
- Ball, C. & Dunn, L. : *Non-Government Organization: Guidelines for Good Policy and Practice*, London, The Commonwealth Foundation, 1995.
- Cheruniam, F. : *Global Economy and Business Environment*, New Delhi, Himalaya Publishing House, 2001.

- Dunfee, T. : *That Bind: A Social Contracts Approach to Business Ethics*, Boston, HBS
HBS Harvard Business School, 1999.
- Gowdy, J., *Coevolution Economics: The Economy, Society and the Environment*, Kluwer,
Boston, 1994.
- Hausman, D. M.: *The Inexact and Separate Science of Economics*, Cambridge,
Cambridge University Press, 1992.
- Mohanty, R. : *Civil Society and Governance: A Research Study in India*, New Delhi,
2000.
- Nyberg, M. : *Green Capital: A Report on Large Corporations and the Environment*,
Friends of the Earth Sweden: Gothenburg, 1998.
- Pennings, J. M.: *Decision Making, An Organizational Behaviour Approach*, New York,
Markus Wiener Publishing, 1983.

The Internet Intermediary: Gateway to Internet Commerce Opportunities

Neha Chadha

Research Scholar, Department of Commerce, Kalinga University, Raipur

Introduction

Given the projections that internet commerce will grow astronomically over the next four years, firms of all sizes must become proactive in not only seeking out Internet opportunities, but in determining ways to exploit this revenue generating medium. The environment presents such opportunities right now in the form of the Internet intermediary.

Trends indicate that firms should already be involved in Internet commerce. At minimum, firms should be beyond the information-seeking only stage and actively involved in Internet commerce to some extent.

They should already be experimenting with the Internet as a medium for conducting business transactions. Although the possibilities of being an industry leader have already passed, there still is time to become an active player in Internet commerce. That entry point could easily be the use of Internet intermediaries to acquire the non-production consumable materials/services, a segment of every firm's operational, repair, and maintenance materials and services needs (ORM/MRO).

The clock is ticking and necessity seems to be clearly dictating that Internet commerce needs to become part of one's business thinking now and woven into the fabric of the firm's strategic business plan.

Internet Commerce

Depending on which trade journal one picks up and to whom you make reference, Internet commerce is predicted to have tremendous growth into the 21st century. Even as far back as late 1997 Blane Erwin, director of Forrester's Business Trade & Technology Strategies authored a report with highlights in the September 1997 "Computer Dealer News" that predicted I-commerce growth to rise from \$8 (U.S.) billion in 1997 to \$327 billion (U.S.) by the year 2002.

At the same time International Data Corporation (IDC), Framingham, MA., provided a more conservative projection of electronic commerce being \$10 billion in 1997 rising to more than \$220 billion by the year 2001. More recent predictions, September 1998, John Gantz, IDC senior vice president, announced his projection that this number will approach one trillion dollars by 2002. It is also felt that 80% of that volume is business-to-business transactions with

expectations of that growing to 92% by 2003. Regardless of which projection one values, the reality is a significant increase of Internet commerce activity within the next two to three years. The bottom-line is that substantial growth in Internet commerce is inevitable.

It is suggested that an evolution not unlike that of EDI when it first evolved is taking place but with the emphasis on the buyer and not the seller. It is also clear that the opportunity to be a player does not carry the same restrictions of EDI, nor is one limited by current participation in EDI. Generating revenue on the Internet is much more opportunistic. This trend is re-affirmed in a study done by Forrester Research, Inc., where they predict the growth of Internet commerce as a channel of revenue to increase from 15% in 1997 to 42% in 2001.

Research shows that most sellers will be dragged into Internet Commerce by their customers [Gurley 1997]. There is a fast growing interest to have options for both on-site and off-site transactions with the expectations that off-site will include Internet commerce. Several models are put forth as having potential, but the most pertinent deals with automated purchasing; it prescribes the use of the Web as a medium to acquire non-production goods and services through established business partners, not unlike current EDI methods. Another model suggests a more anonymous exchange where the product is considered homogenous.

In this model, decisions will be based on the information and not on the identity of either the seller or the buyer. Current trends also suggest that Internet commerce is clearly dominated by the buyer, making it a buyer's market (buyer-centric). However, the ground rules for leveraging the new buyer-centric model have yet to be established.

Internet commerce is past the experimental stage and it may even be past the early-adopter stage in spite of the continued threat of prohibitive technology barriers and operational problems. Although ongoing discussions on standards, interoperability, security, bandwidth, intellectual property protection, content regulation, fraud, import/export controls, taxation etc. continue to happen, it is recognized that their impact has an overall global effect on Internet commerce. As such the impact will be felt as a whole and will thus require ongoing tweaking by developers of any solution application(s) put into use as regulations and standards are enacted.

Even after considering all of the valid issues that the use of technology imposes, there is another possible non-technology threat that certainly needs to be taken into consideration. One must take into account the threat to the current reseller-intermediary "middle-man".

The question is raised as to whether one can expect resellers to take this predicted shift of manufacturer-to-consumer buying in stride (dis-intermediation). It is believed that any significant migration of consumer to manufacturer activity is a good reason for resellers to penalize web-based manufacturers for abandoning the traditional reseller by threatening with a

possible move to their competition. This has serious impact when it is based on the perception that the majority of the public does not buy over the Web yet, and therefore manufacturers cannot afford to alienate traditional resellers.

In spite of the above concerns and issues, Internet commerce continues to grow and solutions are being developed to address most of the identified problems. This is recognized as a continuous effort as new issues surface. Experts agree that Internet commerce is fast becoming a popular medium in which to conduct business-to-business transactions. At minimum the Internet will be evaluated as to how it can bolster the firm's competitive edge. Research addresses this in particular by presenting the discussion that firms need to use technology as a means to expand their "bounded rationality" [Bakos & Treacy 1986], more specifically, technology will allow a firm to go beyond its information processing limitations by using what technology and now the Internet have to offer.

Considering the projections for Internet commerce and the observed growth of the Internet itself, there are reasonable expectations that Internet commerce is more than a fad. In addition, the adoption of the Open Buying Internet (OBI) standard further supports that big firms who are EDI players now are looking at ways to utilize the Internet for more commerce. It becomes a safe assumption that Internet commerce must be incorporated into the business strategy of all firms. It is also predicted that once the use of Internet commerce becomes a commonplace activity, the advantage quickly switches to a strategic necessity [Green et al. 1998, Bakos 1991]. Firms can no longer ignore this means of potential revenue-generating medium. All firms must look for the most efficient mechanism to enter into the Internet commerce market whether they intend to buy or sell.

The Internet Intermediary

One can ask how a firm might make the transition from predominately retrieving information from the Internet to actively using it for commerce. The novice is being cautioned not to just jump in and attempt to partake without some planning and a strategy. A possible solution that already exists is in the form of currently available Internet intermediaries. The intermediary concept is not new to the Internet, and it is far from being fully exploited. Players are moving in and out of this market niche as opportunities permit. Besides providing an entry point of access to Internet commerce, the Internet intermediary provides a multitude of critical benefits. To formulate an action plan, an organization needs to have a strategy based on key factors which can be supported by the roles of an Internet intermediary.

Whether one intends to buy, sell or take on the function of the Internet intermediary, the roles are important factors against which to measure business strategies. To get a better understanding of these roles, the beneficial attributes can be categorized under each defined role stated above which provides further clarification and definition. The roles of the Internet intermediary can then be further refined by their corresponding benefits as follows:

Access: Provides access 24 hours, 7 days/week, 365 days/year. Prohibits movement of unwanted information (junk mail). Serves as a means to curtail information overload. Provides, establishes, and enhances communications standards. Provides for a secure channel to transact business.

Extends business from local to global market. Promotes the use of new technology. Makes available a scalable architecture. Takes care of the infrastructure needs for all clients (guaranteed uptime). Provides a training ground for the novice firms entering the Internet. Authenticates and validates genuine business users.

Aggregation: Provides a forum for transactions of multiple products from multiple sellers. Ongoing recruitment of clients (buyers & sellers). Ongoing search for new potential markets/products. Bundles multiple services/products into a single priced package. Allows for side-by-side product comparison.

Costs: Reduces Costs: Coordination of players (link buyer & seller), Searching (looking for best fit, product features), Processing transactions (quicker and less resource consuming), Information gathering to determine product prices (includes manufacturing costs and all distribution costs), Helps to avoid "Deadweight" costs (lost costs due to unsuccessful searching), Provides for economies of scale investing in technology.

Facilitation: Provides a dictionary of terms for merchandise/services. Improves chances for linking best fit for buyer & seller. Facilitates information exchange between producer and end-user. Collects information on buyers' preferences. Tracks market information and transaction data. Provides for a controlled information link from end-user back to manufacturer. Handles the interfaces for accounting and financial. Provides the forum which relieves the manufacturer from the obligation of dealing directly with the end-user. Provides forum for end-user to avoid having to sift through large quantities of information to determine important decision factors.

Trust: Prevents opportunistic behaviours & unfair trade practices. Buffers/mediates interests of buyers against interests of sellers. Assures against transaction failures. Allows for the complete processing of business transaction(s). Enhances business activity by reputation. Provides some commerce regulation where there is none now. Extends credibility to products/service.

Value-Added: Introduces/identifies uniqueness of services & products. Enhances product-line with differentiation. Informs buyers about availability. Provides detailed product specifications. Makes available a forum for advertising and marketing new or existing products. It is also understood that the intermediary will avoid limited partnerships which lock out potential clients.

Some of the additional benefits include the direct involvement to risk aversion, tracking of market information, providing product information, providing a forum for multiple products from multiple sellers, monitoring of transaction data, and promoting new technology after being tested.

What one sees is that the Internet provides for additional options and/or enhances the role of the intermediary in dealing with the attributes of the functions prescribed. Action on the part of either the buyer, seller, or a third party can become the first step in the foundation upon which firms can begin to exploit what the Internet has to offer.

Intermediaries are already well-entrenched in the business model of most firms where they play an active role in the supply chain. This is also supported by a survey conducted by "Purchasing Online" magazine in May 1999 [Avery 1999], where the respondents affirmed the ongoing interest in using distributors (intermediaries) to continue to acquire the supplies/materials which fall into the category of maintenance, repair, and operations.

The acceptance of the potential role of the intermediary leads us into determining what type of products can and should be made available over the Internet. If the products/services are simple to describe and/or they can be described via industry standards, or more specifically if products/services are not asset specific, and are low in description complexity, then these products/services will tend towards the Internet which promotes an open market [Williamson 1991, Malone et al. 1987].

It is from this theory that the suggested area of concentration be the non-production consumable materials and services that are traditionally categorized in the MRO.

This category of expenses is grouped in the operating resources budget of the firm and can include such commodities as: office supplies, travel, electronics, groceries, apparel, audio/video equipment, computers, gifts, etc.

This category of merchandise, which is low in complexity and low in asset specificity, and viewed as meeting the conditions prescribed above, are a very likely channel for Internet commerce [Peterson et al. 1997].

This is already being observed by the research of Forrester Research, Inc. where they have captured and compiled a listing of the high revenue generators in the Internet commerce market to date.

It is further suggested that efforts in capturing savings by improving efficiencies in the managing of operating resources which includes the MRO categories can be realized and that these savings can affect the profit line directly [Killen & Associates 1997].

The value of these operating costs is identified by a corporate cost breakdown developed by Forrester Research and Killian.

Speculation on what type of firm would be the best intermediary is another item for further discussion. Time is already proving what research has proposed, that new ventures will be formed and/or existing institutions will step up to fill the gap in Internet commerce [Galbraith, 1977].

Simply stated, new entities form to fill information gaps and needs. Possible entities that could easily become the intermediary are unlimited. There is

however a natural attraction to this role for existing non-Internet intermediaries, financial institutions, parent corporations of conglomerates, governmental agencies, and consortiums of buyers or sellers.

Conclusion

The conclusion that can be drawn from the discussion is that firms must take immediate action and get involved with Internet commerce. However, one should do so prudently and with a defined business strategy. One such entry point is via intermediaries.

The Internet intermediary provides an immediate opportunity for most firms to engage in Internet commerce. The Internet intermediary in turn becomes a business partner dealing with the specifics of transacting business via the Internet. In the business-to-business market, it is also believed that one of the initial market areas that will be influenced is the maintenance repair and operations (MRO) type of products and services. It behooves those firms which are not actively engaged in Internet commerce to not delay their entry for much longer or risk missing the boat.

A note of caution is advised that one should address Internet commerce based upon identified benefits which can be attributed to specific Internet intermediary roles. The concern is no longer whether the time has already come and gone for the industry leaders; instead the focus is now on Internet commerce for future business survival. As the Internet opens what once were restricted geographical markets to what is now being viewed as a global playing field, delaying entry into Internet commerce could prove to be fatal regardless of the type or size of the firm.

References

- Aguilar, Francis J. : *Managing Corporate Ethics*, London, Oxford University Press, 1994.
- Ball, C. & Dunn, L. : *Non-Government Organization: Guidelines for Good Policy and Practice*, London, The Commonwealth Foundation, 1995.
- Lindblom, C. E.: *A Strategy of Decision: Policy Evaluation as a Social Process*, New York, The Free Press, 1970.
- Loomes, G.: *Current Issues in Microeconomics*, New York: St. Martin's Press, 1989.
- Manuel, G. Velasquez : *Business Ethics Concepts and Cases*, Delhi, Pearson Education, 2002.
- Utting, P. : *Business Responsibility for Sustainable Development*, Geneva, 2000.
- Wartick, S. and Wood, D. : *International Business and Society*. Blackwell: Malden, 1998.

Instructional Technology and Design

Ram Tirath

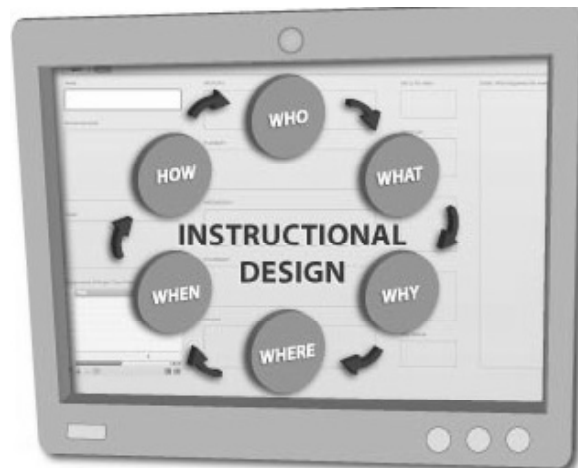
*Research Scholar, Department of Education,
Kalinga University, Raipur*

In education, instructional technology is “the theory and practice of design, development, utilization, management, and evaluation of processes and resources for learning,” according to the Association for educational Communications and Technology (AECT) Definitions and Terminology Committee. Instructional technology is often referred to as a part of educational technology but the use of these terms has changed over the years. While instructional technology covers the processes and systems of learning and instruction, educational technology includes other systems used in the process of developing human capability.

The first use of instructional technology cannot be attributed to a specific person or time. Many histories of instructional technology start in the early 20th century, while others go back to the 17th century. This depends on the definition of *instructional technology*. Definitions that focus on a systems approach tend to reach further back in history, while those definitions focused on sensory devices are more recent. The use of audio and visual instruction was boosted as a military response to the problems of a labor shortage during World War II in the United States. There was a definitive need to fill the factories with skilled labor. Instructional technology provided a methodology for training in a systematic and efficient manner. With it came the use of highly structured manuals, instructional films, and standardized tests. Thomas Edison saw the value of instructional technology in films but did not formalize the science of instruction as the US military did so well.

Current Status

Instructional technology is a growing field of study which uses technology as a means to solve educational challenges, both in the classroom and in distance learning environments. While instructional technology promises solutions to many educational problems, resistance from faculty and administrators to the use of technology in the classroom is not unusual. This reaction can arise from the belief — or fear — that the ultimate aim of instructional technology is to reduce or even remove the human element of instruction. However, most instructional technologists would counter that education will always require human intervention from instructors or facilitators. Many graduate programs are producing instructional designers, who increasingly are being employed by industry and universities to create materials for distance education programs.



These professionals often employ e-learning tools, which provide distance learners the opportunity to interact with instructors and experts in the field, even if they are not located physically close to each other. More recently a new form of Instructional technology known as Human Performance Technology has evolved. HPT focuses on performance problems and deals primarily with corporate entities.

Relation to Learning Theory

The purpose of instructional technology, of course, is the promotion of learning. Learning theory (education) has influenced Instructional design and Instructional designers (the practitioners of Instructional Technology). Instructional Technologies promote communication and interactivity. These two come together under the general heading of Interaction.

Moore (1989) argues that there are three types of learner interaction (learner-content, learner-instructor, and learner-learner interactions). In the years since Moore's article, several philosophical views have surfaced that relate Instructional technology to these types of interaction. Most traditional researchers (those subscribing to Cognitivism) argue that learner-content interaction is perhaps the most important endeavor of Instructional technology. Some researchers (those subscribing to constructivism) argue that Moore's social interactions, (learner-instructor and learner-learner interactions), are as useful as learner-content interaction.

Areas

Razavi (2005) advocates the idea that educational technology covers instructional technology. It includes instructional technology and the field study in human teaching and learning. So educational technology is broader than instructional technology. Instructional technology itself consists of two major parts: one is teaching technology and the other is learning technology. In the

education industry, the term “instructional technology” is frequently used interchangeably with “educational technology.” Human Performance Technology (HPT) has a focus on corporate environments. Learning sciences is a growing area of focus dealing instructional techniques and learning theories.

ADDIE Model

The ADDIE model is the generic process traditionally used by instructional designers and training developers. The five phases—Analysis, Design, Development, Implementation, and Evaluation—represent a dynamic, flexible guideline for building effective training and performance support tools. It is an Instructional Systems Design (ISD) model. Most of the current instructional design models are spin-offs or variations of the ADDIE model; other models include the Dick & Carey and Kemp ISD models. One commonly accepted improvement to this model is the use of rapid prototyping. This is the idea of receiving continual or formative feedback while instructional materials are being created. This model attempts to save time and money by catching problems while they are still easy to fix.

Instructional theories also play an important role in the design of instructional materials. Theories such as behaviorism, constructivism, social learning and cognitivism help shape and define the outcome of instructional materials.

Analysis Phase

In the analysis phase, the instructional problem is clarified, the instructional goals and objectives are established and the learning environment and learner’s existing knowledge and skills are identified. Below are some of the questions that are addressed during the analysis phase:

- Who are the learners and what are their characteristics?
- What is the new behavioral outcome?
- What types of learning constraints exist?
- What are the delivery options?
- What are the online pedagogical considerations?
- What are the Adult Learning Theory considerations?
- What is the timeline for project completion?

Design Phase

The design phase deals with learning objectives, assessment instruments, exercises, content, subject matter analysis, lesson planning and media selection. The design phase should be systematic and specific. *Systematic* means a logical, orderly method of identifying, developing and evaluating a set of planned strategies targeted for attaining the project’s goals. *Specific* means each element of the instructional design plan needs to be executed with attention to details.

These are steps involved in design phase:

- Document the project’s instructional, visual and technical design strategy

- Apply instructional strategies according to the intended behavioral outcomes by domain (cognitive, affective, and psychomotor).
- Design the user interface and/or user experience
- Create prototype
- Apply visual design (graphic design)

Development Phase

The development phase is where instructional designers and developers create and assemble the content assets that were blueprinted in the design phase. In this phase, storyboards and graphics are designed. If elearning is involved, programmers develop and/or integrate technologies. Testers perform debugging procedures. The project is reviewed and revised according to the feedback received.

Implementation Phase

During the implementation phase, a procedure for training the facilitators and the learners is developed. The facilitators' training should cover the course curriculum, learning outcomes, method of delivery, and testing procedures. Preparation of the learners includes training them on new tools (software or hardware) and student registration. This is also the phase where the project manager ensures that the books, hands-on equipment, tools, CD-ROMs and software are in place, and that the learning application or website is functional.

Evaluation Phase

The evaluation phase consists of two parts: formative and summative. Formative evaluation is present in each stage of the ADDIE process. Summative evaluation consists of tests designed for domain specific criterion-related referenced items and providing opportunities for feedback from the users which were identified.

References

- Anderson, L.W.: *International Encyclopedia of Teaching and Teacher Education*, Oxford, Pergamon Press, 1995.
- Bentley, T.: *Learning beyond the Classroom: Education for a Changing World*, London, Routledge, 1998.
- Carr, W. & Kemmis, S.: *Becoming Critical: Education, Knowledge and Action Research*, London, Falmer, 1986.
- Donaldson, Gordon A. : *Cultivating Leadership in Schools*, New York, College Press, 2001.
- Elliott, J.: *Action Research for Educational Change*, Milton Keynes, Open University, 1991.
- Furth, H.G. : *The World of Grown-ups: Children's Conceptions of Society*, New York, Elsevier North Holland, 1980.
- Nadler, L.: *Designing Training Programs: The Critical Events Model*, Reading, PA: Addison-Wesley, 1982.
- Okech, J.G.; Asiachi, A.J. : *Curriculum Development for Schools*, Nairobi, Educational Research Publications, 1992.
- Paul, Richard: *Critical Thinking Handbook: High School, A Guide for Redesigning Instruction*, Foundation for Critical Thinking, Santa Rosa, CA, 1995.

Rethinking–Election Finance Reform, A Critical Review

Dr. Binay Soren

*Associate Professor, Dept. of Political Science,
Patna University, Patna - 800005*

During the last half of the twentieth century the world witnessed an extraordinary and unprecedented political change. All of the main alternatives to democracy disappeared. Earlier in the century the pre-modern enemies of democracy – centralized monarchy, hereditary aristocracy, oligarchy based on narrow and exclusive suffrage – had lost their legitimacy in the eyes of much of humankind. The main antidemocratic regimes of the twentieth century – communist, fascist, Nazi – disappeared in the ruins of calamitous war and even the Soviet Union, collapsed from within. India bequeath democracy as a legacy from the British rule. The rationale behind adopting democracy, as a form of government by framers of the Indian constitution was that democracy had some inherent and intrinsic good qualities. Democracy ensured virtues such as, peace, harmony and justice because it took along diverse ethnic, cultural religious minorities into the national mainstream. Democracy was also desired because it ensured political equality by which any citizen could strive for political office. Democracy as of now is well entrenched into our conscience and our Indian polity.

Indian democracy during the last 68 years after independence have witnessed several ups and downs, the most prominent episode was the implementation of the emergency during the 70's where civil liberties were suspended. Democracy in theory is not a self-regulating system but it needs to be nurtured and amended according to the times. In Indian democracy several anomalies have crept in such as, influence of caste, religion and regionalism, moreover the role of money power and muscle power, in short criminalization of politics have taken place. Thus it has become imperative to bring about electoral reforms in India so that our democracy becomes more robust and people of India have faith and develop legitimacy of our rulers and our political system.

Over the years, a number of committees have examined some of the major challenges and issues affecting India's electoral system and have made suggestions accordingly. Both the Law Commission in its 170th Report on "*Reform of the Electoral Laws*" in 1999 and the ECI in its seminal 2004 "*Proposed Electoral Reforms*" report have addressed some of these challenges. Other Committees and Commissions, which have examined these issues, are :

- The Goswami Committee on Electoral Reforms (1990)
- The Vohra Committee Report (1993)

- The Indrajit Gupta Committee on State Funding of Elections (1998)
- The Law Commission Report on Reform of the Electoral Laws (1999)
- The National Commission to Review the Working of the Constitution (2001)
- The ECI – Proposed Electoral Reforms (2004)
- The Second Administrative Reforms Commission (2008) (hereinafter (“ARC”))

Unfortunately, their recommendations were not followed by legislative action, required for the enhancement of the quality of democracy, by reducing the influence of money and media in politics and ensuring free and fair elections.

The Consultation Paper prior to the 255th Law Commission report, listed eight major issues for consideration, including, de-criminalisation of politics and disqualification of candidates; false affidavits; state funding of election expenses and donations to political parties; regulation of the conduct of political parties; adjudication of elections disputes and enhancement of punishment for electoral offences; issues pertaining to the role of the electronic and print media, and various other issues.

The Commission received over 157 responses, with the largest number of responses being received from individuals, followed by civil society organisations. The Election Commission of India (ECI) was the only commission that sent its response, and former Chief Election Commissioners were also consulted. However, the response from the political class was discouraging, with only one national party, being the Indian National Congress, and one registered party, being the Welfare Party of India sending in their views. Further, only eight Members of Parliament, four each from the Lok Sabha and Rajya Sabha, responded.

While the Commission was working towards preparing a Report to submit to the Government, the Hon’ble Supreme Court passed an order on 16th December 2013 in Public Interest Foundation vs. Union of India, W.P. (Civil) 536 of 2011, vide D.O. No. 4604/2011/SC/PIL(W) dated 21st December, 2013 requesting the Law Commission to “expedite consideration” for giving a report on the two issues of (a) de-criminalisation of politics and (b) disqualification for filing false affidavits by the end of February 2014.

This culminated in the submission of the first part of the Commission’s work on decriminalisation of politics and disqualification for filing false affidavits in the form of the 244th Report titled “Electoral Disqualifications” on 24th February 2014. The Commission’s recommendations were subsequently forwarded to the Hon’ble Supreme Court.

After submitting the 244th Report, the Commission circulated another questionnaire to all the registered national and State political parties requesting their views on issues such as possible amendments to the Tenth Schedule of the Constitution to do away with the concept of ‘merger’ and ‘split’; expediting the

disposal of election petitions; giving statutory status to the Model Code of Conduct; incorporating the right to recall in the Representation of People Act, 1951 (hereinafter "RPA"); the right to reject principle and the None of the Above Option (hereinafter "NOTA"); the status of independent candidates; whether candidates should be allowed to contest elections from more than one constituency; making 'paid news' an electoral offence/ corrupt practice; and regulating opinion polls during the election period. The 255th Law Commission report is the second part of the Commission's work, which sought to examine these issues; the issues raised in the earlier consultation paper; and other related issues; to suggest amendments to the Constitution, the RPA, 1951 and other laws to strengthen Indian electoral system further.

It is now well established that money plays a big role in politics, whether in the conduct, or campaigning, for elections. The Election Commission of India, in its guidelines issued on 29th August 2014, recognised that "concerns have been expressed in various quarters that money power is disturbing the level playing field and vitiating the purity of elections." What gives rise to these concerns about the role of big money in politics? These are not mere theoretical debates but are actual problems afflicting the electoral process in India. Money, often from illegitimate sources, results in "undisguised bullying" when it is used (both authorised and unauthorised) to buy muscle power, weapons, or to unduly influence voters through liquor, cash, gifts. Currency notes come first in containers, then in truckloads, moving to wholesale/ small retail forms, and finally to suitcases and in people's pockets. Mr. Qureshi, in his book, documents instances of Returning Officers and Chief Electoral Officers in Tamil Nadu seizing crores of rupees in cash, bundles of saris and dhotis and hundreds of gas stoves. It is evident that money is used in myriad of forms in today's election process, but what are its consequences? Why is there a need for election finance reform? The answers to these questions are articulated below.

First, is the undeniable fact that financial superiority translates into electoral advantage, and so richer candidates and parties have a greater chance of winning elections. This is best articulated by the Supreme Court in *Kanwar Lal Gupta vs. Amar Nath Chawla* (hereinafter "Kanwar Lal Gupta"), when it explained the influence of money as follows :

"...money is bound to play an important part in the successful prosecution of an election campaign. Money supplies 'assets for advertising and other forms of political solicitation that increases the candidate's exposure to the public.' Not only can money buy advertising and canvassing facilities such as hoardings, posters, handbills, brochures etc. and all the other paraphernalia of an election campaign, but it can also provide the means for quick and speedy communications and movements and sophisticated campaigning techniques and is also "a substitute for energy" in that paid workers can be employed where volunteers are found to be insufficient. The availability of large funds does ordinarily tend to increase the number of votes a candi-

date will receive. If, therefore, one political party of individual has larger resources available to it than another individual or political party, the former would certainly, under the present system of conducting elections, have an advantage over the latter in the electoral process".

Second, and connected to the above point is the issue of equality and equal footing between richer and poorer candidates. This can be explained with the help of the Court's observations in *Kanwar Lal Gupta* on the rationale behind expenditure limits :

"...it should be open to individual or any political party, however small, to be able to contest an election on a footing of equality with any other individual or political party, howsoever rich and well financed it may be, and no individual or political party should be able to secure an advantage over others be reason of its superior financial strength.

Third, in complete contravention to the various laws and ECI notifications, there is widespread prevalence of black money, bribery, and quid pro quo corruption; this helps candidates fund their campaigns. The Supreme Court, affirming the conclusions of the 2002 report of the National Commission to Review the Working of the Constitution recognized this reality in *PUCL vs. Union of India* and stated :

"One of the most critical problems in the matter of electoral reforms is the hard reality that for contesting an election one needs large amounts of money. The limits of expenditure prescribed are meaningless and almost never adhered to. As a result, it becomes difficult for the good and the honest to enter legislatures. It also creates a high degree of compulsion for corruption in the political arena. This has progressively polluted the entire system. Corruption, because it erodes performance, becomes one of the leading reasons for non-performance and compromised governance in the country. The sources of some of the election funds are believed to be unaccounted criminal money in return for protection, unaccounted funds from business groups who expect a high return on this investment, kick-backs or commissions on contracts etc."

Candidates and political parties have devised ingenious ways to disguise the illegitimate sources and expenditure of money by holding community feasts, organising birthday parties and marriages, giving costly gifts, or topping up mobile phones. Money is sometimes transferred through cash packets slipped in newspapers, through rural moneylenders and pawnbrokers of organising 'fake aartis'. In fact, Tamil Nadu gained notoriety for the "Thirumangalam formula", when Rs. 5000 was paid per voter in Thirumangalam in Madurai in the 2009 bye-elections and other methods were used to distribute money and earn votes.

Fourth, the current system tolerates, or at least does not prevent, lobbying and capture, where sort of *quid pro quo* transpires between big donors and

political parties/ candidates. While the problem of bribery, corrupt practices and black money are important, to some extent, they have distracted from the larger problem of election finance and the capture of government by private individuals and interest groups. The Supreme Court, citing a note from Harvard Law Review on campaign finance regulation, articulated this concern.

Finally, the argument for election finance reform is premised on a more philosophical argument that large campaign donations, even when legal, amount to what Lessig terms “institutional corruption”, which compromise the political morally norms of a republican democracy. Here, instead of direct exchange of money or favours, candidates their views and convictions in a way that attracts the most funding. This change of perception leads to an erosion of public trust, which in turn affects the quality of democratic engagement.

References

1. Mr. S.Y. Qureshi's An Undocumented Wonder: The Making of the Great Indian Election ix (2014).
2. ECI, Guidelines on Transparency and Accountability in Party Funds and Election Expenditure, No. 76/PPEMS/Transparency/2013, 29th August 2014, at http://eci.nic.in/eci_main1/PolPar/Transparency/Guidelines_29082014.pdf.
3. Report of Association of Democratic Reforms, *Lok Sabha Elections 2014: Analysis of Criminal Background, Financial, Education, Gender and Other Details of Candidates*, 9th May 2014.
4. The Hindu, 25th January 2014; L. Srikrishna, AIDMK, DMK Rerty Thirumangalam Formula, The Hindu, 19th April 2014; Sarah Hiddleston, Cash for Votes, a Way of Political Life in South India.
5. John Hanson and David Yosifon, *The Situation: An Introduction to the Situational Character, Critical Realism, Power Economics, and Deep Capture*, 2003
6. Lawrence Lessig, Republic Lost, 107-114 (2011).

Locating Dalits in Media Sector: In Search of a New Identity

Swadesh Singh

Indus Research Centre, Delhi

Introduction

Undeniably, caste is a major feature of Indian society. It not only reflects in social life of Indian people but also economic and political behavior of people. In India, exclusion or inclusion in the economic activities such as production, distribution or any gainful job of a particular person depends sometime on his caste.

Dr. Ambedkar said in Constituent Assembly on 26 Nov, 1949:

"On the 26th of January 1950, we are going to enter into a life of contradictions. In politics we will have equality and in social and economic life we will have inequality... We must remove this contradiction at the earliest moment, or else those who suffer from inequality will blow up the structure of political democracy which this Assembly has so laboriously built up."

He was well aware that political democracy won't be able to serve the goal for which that constituent assembly was formed. He wanted to remove duality of political equality and socio-economic inequality as soon as possible from Indian society. Indian constitution provides equality of opportunity in public employment (Art.16). Through positive discrimination (popularly known as reservation) policy of Government of India (Art. 335) and various other measures undertaken by state governments as well as central government a sizable number of Dalits have become part of new middle class in last 63 years of Indian independence.

Dalit Middle Class: Formation and Aspiration

Roy-Berman considered the 'new middle class' (NMC) a section of people belonging to the scheduled castes which avail of the reservation facilities and belong to families of marginal farmers. In first forty years of independence almost all of this new middle class emerged with the support of the 'protective discrimination' policy of the Indian state. However, for Leela Fernandes the new Indian middle class represents a specific social category that has emerged in the context of economic policies of liberalization that were initiated in India in the early 1990s. This social group refers to a culturally constructed category. Advertisement and media images have contributed to the creation of this image of the liberalizing middle class as a social group that has transcended the limits of state protection and austerity associated with Nehruvian and Gandhian

visions of the Indian nation. She argues the NMC has been forged at the intersection of liberalization and a political context marked by organized political challenge from below.

Member of this new middle class suffer, in one way or other, from their 'stigmatized identity' in the caste system. People of this new phenomenon acquired space through reservation policy of government so the 'other' middle class look down upon them and occasionally mingle with them. There are evidences that government employed Dalit middle class people who did not return to their respective villages were not welcome in the areas inhabited by older middle class and had to move to other areas where they have to create their own spaces (residential society) and lived there together. This problem did not exist in the case of old middle class people who were drawn from the various strata of society.

At central and state level seats are reserved for Dalit community in government jobs and educational institutions. The Dalit middle class played a great role in establishing Dalit polity and assert the identity of Dalits. Even for all scheduled, ex-untouchables, depressed castes this term Dalit-which was militant in nature and symbol of self-respect was popularized by *Dalit middle class intellectuals*.

Dalit community got political representation in parliament and state legislatures and acquired huge political space. Lok Sabha and Vidhan Sabha seats are reserved for the Scheduled Castes under the article 330 and 332 of the Indian constitution. Dalits asserted their identities in various form and through different platforms. Dalit Panthers, Republican Party of India and BAMCEF were such types of platforms. BAMCEF was the first trade union movement which successfully transformed into a political party that is Bahujan Samaj Party (BSP).

Socio-Economic Status of Dalits in India

In political arena, equality of opportunity for Dalit community is very much visible but even today it is also very true that Dalit community has lot to achieve at socio-economic level. The new wave of liberalization, privatization and globalization (LPG) which is touching each and every life in the country since last two decades has opened new avenues, opportunities for educated youth but the Dalits are not able to reap the benefits in fullest possible terms.

Although the statistics indicate that Dalits have made a significant progress on almost all parameters during the 67 years of independence, the relative distance between them and non-Dalits seems to have remained the same or increased. More than 75 per cent of the Dalit workers are still connected with land; 25 per cent being the marginal and small farmers and balance over 50 percent are the landless laborers. In urban areas, they work mainly in unorganised sector. Out of the total Dalit population of 162 million (census 2001), the number of Dalits in services falling in the domain of reservations does not exceed 1.3 million; a mere 0.8 per cent. In social terms however, all Dalits, irrespective of their economic standing, still suffer oppression. This social oppression varies from the crudest variety of untouchability, still being practised

in rural areas. Most of the youths from Dalit community are aspiring for government jobs; however, there are still young persons from Dalit community who are also trying their luck in private sector. As we are very much aware that there is no policy of mandatory reservation in private sector but educated class in Dalit community is increasing and government jobs are reducing day by day by the neo-liberal policy of the government of India. This is what compelling Dalit community to aspire for jobs in private sector.

The representation of Dalits in private sector is very poor. They are far behind from other communities in owning enterprises. In 2004-05, in the rural areas, according to the National Sample Survey data, the proportion of households engaged in self-employed enterprise was 34.3% among the scheduled castes (SC) compared to 45.7% for the scheduled tribes (ST), 56.2% for the other backward classes (OBC) and, 61.4% for "others". In urban India the proportion of self-employed households among SC, ST, OBC and others were 29.4%, 26.3%, 40.3% and 38.6%, respectively, indicating a significantly lower share of SCs and STs in ownership of private capital. There are various reasons behind this fact. Unlike the public sector there is no reservation for scheduled castes in private sector. There are issues of literacy also within the Dalit community.

Even today most of the Dalits are taking their primary education in vernacular languages. 79.2% of Dalit population is living in the villages where medium of instruction is not English. Even if there are few convent schools in that area, students of Dalit family are not capable of affording the high fees charged by them. This situation has led to several repercussions for Dalits. In many sectors they are not able to compete with general candidates (like BPO sector) due to their disadvantaged position. In this situation they are unable to take the benefits of the opportunities created by open and free market because even open market has not given them equal opportunities.

Question arises here that what is the impact of economic reforms on the lives of Dalits? This is also one of the major questions which should be a necessary area of research. A study conducted by Centre for Advanced Studies of India (CASI) shows that life of Dalits has improved in the era of economic reforms. Scholars like Narendra Jadhav (Member, Planning Commission) support this claim. Even he went to the extent of saying that Dr. Ambedkar would have been a great supporter of liberalization.

The study says that in terms of product ownership, between 1990 and 2007, the proportion of Dalit households in the sample with a television set jumped from 0.8% to 34%. And the number of Dalits in the sample making a livelihood by removing the carcasses of animals—considered impure in most parts of India and, hence, a task once reserved for Dalits—has fallen from 39.9% to 2.4% in the same period. Still there are a number of scholars who argue that process of social change can't be left to the mercy of the market. Planning Commission member K.S. Chalam has different opinion on economic reforms. According to him economic reform has not abolished the traditional classification of society based on birth, rather it has further strengthened the already capitalized castes.

Vivek Kumar in further consonance opines that, "Without skill development and proper stress on education, there is risk of Dalits in cities being treated worse than in villages. The market is cruel and insensitive."

It is a debatable issue that whether the life of Dalits has been improved by liberalization or not. But it can be safely assumed that Dalits are still grossly under-represented in private sector and with the advent of globalization new opportunities and spaces have been created for youth but Dalits are still not accommodated in this set up and thereby are not able to reap the fruits of globalization due to their socio-economic background.

There is an argument that government jobs are limited and as numbers of educated Dalit youth are increasing, their demands can't be fulfilled only through jobs in government sector. However, on the other side it is also argued that still there are thousands of vacancies in terms of backlog in the government sector. However, the fact remains that government sector cannot be a way out for *gen-next Dalits*. They have to look beyond the government jobs. Scholars like Sukhdeo Thorat argue for reservation policy for Dalits in private sector too. He argues that "less representation of Dalits in private sector ... is not just a residue of the past clinging to the margins of the Indian economy, nor is it limited to people of little education. On the contrary, it appears that caste favouritism and the social exclusion of Dalits and Muslims have infused private enterprises even in the most dynamic modern sector of the Indian economy."

Liberalization and Media Sector

Indian economy opened its doors for multi-national and private sector in early 1990s. Millions of job opportunities have been created for youth but Dalits are not fairly represented in this whole process. This growth in the economy has also trickled down to the media industry and as a result private sector media industry also saw a great boom. An Annual Report of Price Waterhouse Coopers (PWC) on the Indian Entertainment and Media Industry projects that the print media will grow with 13 percent compound annual growth rate, from the present size of Rs. 85 billion to Rs. 232 billion. Between 2000 and 2007 the circulation of Indian daily newspapers grew by 66% to exceed 95 million copies a day. A media professional went to the extent of saying that, 'earlier the market was driving media and by the late 1980s media started driving the market'. In 1991, there was only one TV channel and two Radio channels but today we have more than 1000 TV channels and thousands of Radio Channels. Since the onset of satellite television and the end of government monopoly over the air waves in India, which happened in 1990 and 1995 respectively, there has been a major transformation in media ownership and control.

Dalits in Media Sector

Media is also one of the sectors where representation of Dalit community is very marginal. Robin Jeffrey in one of his interview observed, "There is not a single Dalit newsreader or weather person on any television channel. When will we get, say, a national Dalit weekly, doing what the *Chicago Defender* did

for African-Americans from the 1920s to the 1950s?" It is also very much clear from a survey conducted few years back by CSDS that there was not a single person from Dalit community on the position of decision maker in national media. In the survey of the social profile of 315 senior journalists in 37 Hindi and English newspapers and television channels in the national capital, it was found that "Hindu uppercaste men" - who form eight per cent of the country's population - hold 71 per cent of the top jobs in the national media. The survey notes that Dalits and Adivasis "are conspicuous by their absence among the decision-makers. Not even one of the 315 key decision-makers belonged to the Scheduled Castes or Scheduled Tribes".

In the words of Robin Jeffrey, India has undergone 'newspaper revolution' in the two decades (1977-1999) because of which newspapers reached even small and far-flung regions of the country. Increase in literacy also contributed to increased interest of people in newspapers. It enhanced their political awareness. Proliferation of news channels and newspapers in the last two decades also influenced the public awareness in the Hindi belt. In the meanwhile, a Dalit middle class who depended on these communication means and was advocating Dalit politics came to the forefront.

But on the overwhelming majority of Indian newspapers in the 1990s there simply were no Dalits working in newspapers. "Practices designed to diversify newspaper staffs have no currency in India." Kenneth Cooper, the New Delhi Bureau Chief of the Washington Post, concluded in 1996. The absence of Dalit reporters, sub-editors and editors, much less owners, meant that stories involving Dalits lacked the insights that Dalits themselves could provide.

Kenneth Cooper's research for his *Washington Post* piece in 1996 started a reaction that was still working itself out three years later. It led to a column in *The Pioneer* by B.N. Uniyal. He described his reaction to Cooper's question, "Suddenly, I realized in all the thirty years I had worked as a journalist I had never met a fellow journalist who was a Dalit; no, not one. And worse still was the thought that it had never occurred to me that there was something so seriously amiss in the profession." After going through the names of nearly 700 journalists accredited to the press Information Bureau in New Delhi, Uniyal was unable to identify a single Dalit.

In another analysis of the editorial pages of the Times of India and Hindu for the first nine month of 1996 found that each had carried only four articles about Dalits out of 717 articles in the Times of India and 478 in The Hindu.

In 1998, a group of Dalit intellectuals presented a memorandum to the Editors' Guild and the Press Council demanding that the US experience be used as an example and targets be set for Dalit representation in Indian Newsrooms by the year 2005. The chairman of the Press Council replied that action of the kind demanded in the memorandum was beyond the powers of the council because the print media is run by the private sector.

Case Study: Blacks in American Media

There are so many scholars who have raised the demand of reservation for Dalits in private sector on the lines of 'affirmative action' policy in USA.

Affirmative action in US means that a certain proportion of black (or other minority) people are supposed to be there in private sector. Dalit organizations are also demanding that a diversity department should be set up in the country by the Central and the State Governments to ensure that all weaker sections get their due share and adequate representation in the private sector on the lines of the diversity department in United States of America, which ensures justice to all sections of society, particularly in private sector jobs.

In the United States, Blacks constitute about 13 percent of the population, comparable to the 15% of India's people that Dalits constitute. However, the place of Blacks in American journalism in the 1990s contrasts sharply with the near-absence of a Dalit press and Dalit presence in newspapers in India. The first Black publication in the United States dated from 1827. By 1891 there were more than 150 such publications, and the Black press was extensive enough to warrant a survey entitled *The Afro-American press and its Editors*. Two broad groups spearheaded African-American newspapers: business people and clergy. They had the essential qualifications: advanced literacy, wider connections and a little money. Successful Black Newspapers like *The Atlanta World* and the *Chicago Defender* were businesses first and *social crusaders* second. Robert Sengstacke Abbott, founder of the Defender, who had started out as a publisher with only his Kitchen and parlour, became a millionaire.

American newspapers in the 1980s sometimes crackled tension between African-American and white reporters, but it could be interpreted as a necessary, creative tension, stemming from the fact that Blacks and other minorities now were a presence in newspapers office. In the 1970s, the American Society of Newspaper Editors (ASNE) set a goal that by the year 2000 American minorities would be represented in newsrooms in proportion to their numbers in the general population. That would have meant 26 percent minority representation and 13 percent Black. The goal would not be met. In 1998, a survey in the Columbia Journalism Review found that Blacks accounted for 5.4 percent of newspapers staffs; minorities, 11.5 percent. Nevertheless, major newspapers sought to recruit top African-American journalists to satisfy affirmative action targets, and Blacks were publishers and managing editors of major publications across the United States.

Conclusion

Media has also become an arena where more and more private industries are investing in large amounts and whose main motive is to reap profit. Irrespective of this fact, the role of media as watchdog of society and democracy cannot be overstated. That is to say that although mainstream media is capital dominated, there is no point in writing off the whole system as a lost cause. There are still some useful spaces within mainstream media, which can be used. These spaces exist because mainstream media needs coverage of social issues also, to survive in today's competitive environment.

Despite having the emergence of a Dalit middle class bestowed with enough intellectual capital, Dalits are still excluded and grossly under-represented in

the media in general and in the vernacular newspapers in particular. Exclusion and under-representation of Dalits do adversely affects the nature of reporting and the coverage of Dalit issues, which hinder the growth of Dalit consciousness.

Media institutions should ideally be more democratic than others because they have to raise the voices of all. However, the real time situation is quite contrary to that. Social exclusion of Dalits in media sector cannot be denied and thus need our attention. There is a strong possibility of occurrence of undercurrent of social discrimination in the apex decision making bodies in media regarding the recruitment of people from weaker sections and it might be the case that this is not visible from outside.

The absence of Dalits from Indian newsrooms highlighted characteristics of a free press in liberal, capitalist democracies. Freedom depended on paying the bills, and free newspapers needed readers with purchasing power- first to buy newspapers and then to hold out the promise of buying the advertisers' product. BR Ambedkar contended, "With the press in hand it was easy to manufacture greatmen." From this VK Narayanan concluded, "As there is no proper media for the Dalits, there will not be any 'press-made' great men among the Dalits."

References

- Anil Chamaria, Jitendra Kumar & Yogendra Yadav, "Survey of the Social Profile of the Key Decision Makers in the National media", Media Study Group, 2006
- Constituent Assembly Debates, New Delhi, Lok Sabha Secretariat, 1989, Vol. IX
- Leela Fernandes, 'The Politics of Forgetting: Class Politics, State Power and the Restructuring of Urban Spaces in India', Urban studies, vol. 41, No. 12, November, 2004, p. 2420
- Nandu Ram, 'Resume: The Rise of a New Middle Class' in The mobile scheduled castes, Rise of New Middle Class, Delhi: Hindustan Public Corporation, 1988, p.118.
- PWC report cited in N. Ram, 'Newspaper Futures: India and the World', The Hindu, 15 August, 2007 <http://www.hinduonnet.com/af/india60/stories/2007081550100300.htm>
- Robin Jeffrey, 'The Revolution continues, 2000-09' in Robin Jeffrey, India's Newspaper Revolution, Capitalism, Politics and Indian Language Press, New Delhi: Oxford University Press, 2009
- G. Krishnan, cited in Vanita Kohli, The Indian Media Business, New Delhi: Response Books, 2003
- Arvind Rajgopal, Politics after Television: Hindu Nationalism and Reshaping of the Public in India, New York: Cambridge University Press, 2001
- Gail Omvedt, Reservation in Private Sector, <http://www.ambedkar.org/gail/Reservationin.htm>
- Dalits demand reservations in private sector, threaten violence, <http://www.dailypioneer.com/archives/secon33.asp?cat=\nt4&d=Nation&t1=Jan2301>
- Dr. Anand Teltumbde, Globalization and the Dalits <http://www.ambedkar.org/research/GLOBALISATIONANDTHEDALITS.pdf>

- Santosh Joy, 'Study claiming liberalization helped Dalits stokes debate' <http://www.livemint.com/2009/12/01224932/Study-claiming-liberalization.html>
- Gail Omvedt, 'Dalits and economic Policy: Contributions of Dr. B.R. Ambedkar' in S.M. Michael (ed.), *Dalits in Modern India: Vision and values*, New Delhi: Vistaar Publications, 2007
- K.S. Chalam, 'Caste and Economic reforms', *Seminar*, Number 471, November, 1998
- Sukhdeo Thorat and Nidhi Sadana, 'Caste and Ownership of Private Enterprises' *Economic and Political Weekly* vol. xlv, no.23, 6 June, 2009
- B.N. Uniyal, "In Search of a Dalit Journalist", *Pioneer*, 16 November 1996
- Chandrabhan Prasad and Sheoraj Singh Bechain, *End Apartheid from Indian Media: Democratize Nation's Opinion*, New Delhi, 1998
- Mita A., 'Television and the Nation: Doordarshan's India', *Media Asia*, 1993, No.20
- Guru, Gopal, 'New Phase of Dalit-Bahujan Intellectual Activity' *Economic and Political Weekly* vol.35, no.3
- Guru, Gopal, 'Dalits from Margin to Margin', *IIC Quarterly*, Vol.27, No.2, Summer 2002
- Harris, John, 'Middle Class Activism and the politics of the Informal working Class: A Perspective on Class Relations and Civil Society in Indian Cities', *Critical Asian Studies*, vol. 38, no.4, 2006
- Jeffrey, Robin, '[Not] Being There: Dalits and India's Newspaper', *South Asia*, vol. 24, no. 2, 2001

Problems of Public Amenities in Slum (Squatter Settlement): A Case Study of Saharsa Municipal Area

Anant Kumar

*UGC-NET Qualified, Ph. D Research Scholar,
Deptt. of Geography, Patna University*

Introduction

Urbanisation has been taking pace significantly in developing countries and India is no exception. In India, the Urban population increased by almost ten times between the years 1901 to 2011 and number of urban settlements increased by two and half times from 1916 urban centre in 1901 AD to 7,935 in 2011 AD. Although small towns are numerous, the 400 odd class I cities (100 thousand and more) harbour on (68.48 percent). These urban centres offering diverse employment opportunities and means of livelihood are the main centres of attraction for migration, despite the fact that physical infrastructure in terms of housing, drinking water supply and drainage are inadequate.

Also, unchecked land prices and unaffordable housing forced the poor to search for informal solutions resulting in mushrooming of slums and squatter settlements. Slum develop on peripheral and marginal lands on the outskirts of city, on hills, slopes and low lying areas, and also on the land which has little use to the owner in near future. They also developed on the land left unused by public bodies like Railways, Municipal corporations etc.

The problem of slums (squatter settlement) faced at some point of time by almost all the cities throughout the developing world. Today 3 billion people, nearly half of the world's population lives in cities. One third of them are slum dwellers. Moreover, four out of ten inhabitants in the developing world are living in informal shelters. They experience manifold deprivations; not only house unfit for habitation but also lack of adequate food, education, health and basic amenities. As such, slum improvement is not only a goal for a better quality of life, but also provides a positive impact on the health, burden and the economic development of a country. Slum in the world are the face of urban poverty in the new millennium.

Aims and Objective

- I. Identification of slum (squatter settlement) in different words in Saharsa Municipal area.

- II. Analysis of public amenities developed in slum (squatter settlement) in Saharsa municipal Area.
- III. Assessment of the requirements of basic public amenities in slum in different words of the municipal area.

Hypothesis

- I. The condition of Public Amenities are highly underdeveloped in slum (squatter settlement)
- II. Rapid population growth and Migration is responsible of inadequacy of Public amenities.

Data Base

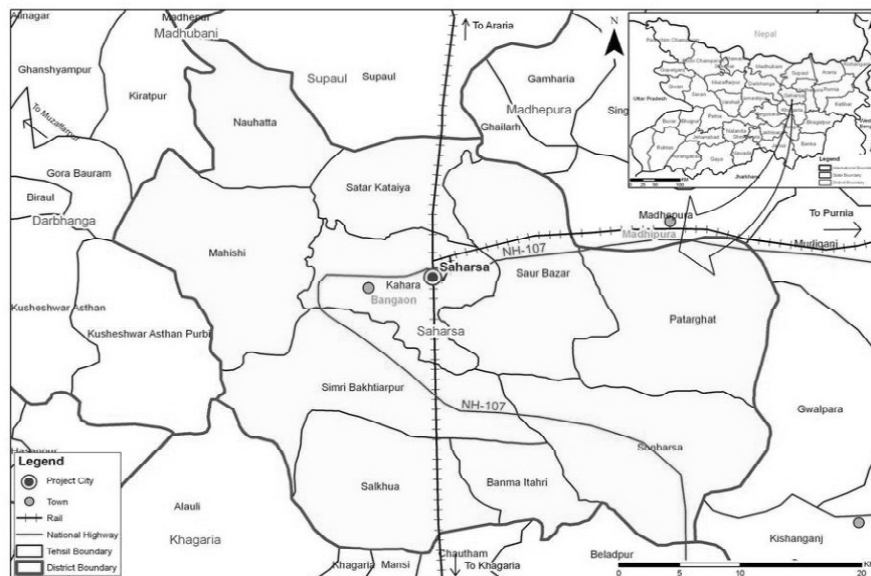
For arriving at valid conclusion and attempt will be made to take use of both primary and secondary source of data. Primary data will be collected through interview schedule method of selected respondents in slum of Saharsa Municipal Area. secondary data will be collected from census office, Municipal office and other governmental and non governmental agencies.

Methodology

- a. Prefield survey, literature review
- b. Field survey – I have used interview schedule method of 100 respondent in 10 wards. I have used randomly sample method in which 10 wards selected. In this sample I have choosed 60 men and 40 womens.
- c. Post field survey – on the basis of above sample survey, I have prepared different tables and charts on this basis, I have concluded the study.

Study Area

LOCATION MAP - SAHARSA TOWN



The study Area 'Saharsa municipal area' is the part of Saharsa district. Saharsa town is situated in north Bihar plain to the west of 'Kosi River'. It is flat alluvial plain. Saharsa town is situated between 25° 50' N to 25° 55' N latitude and 86° 33' E to 86° 39' E longitude. Average elevation of this area from sea level is 41 metres. Saharsa Municipal Area, also known as Saharsa town, is divided into 40 wards and covers an area of 21.13 sq. km. It is an urban centre. The population of the town was 1.56 lakh as per census 2011.

Definition and Concept of Slums

The Encyclopedia Britannica defines slum as "residential area that physically and socially deteriorated and in which satisfactory family life is impossible. Bad housing is a major index of slum conditions by bad housing is meant dwellings that have inadequate light, air, toilet and bathing facilities; that are in bad repair, damp and improperly heated; that do not afford opportunity for family privacy; that are subject to fire hazard and that overcrowd the land, leaving no space for recreational use."

According to census of India 2001, the definition of slum is as follows :-

- i. All specified areas in a town or city notified as 'slum' by state, UT administration or local Government under any act including a 'slum act'
- ii. All areas recognised as 'slum' by state, UT Administration or local government, Housing and slum Boards, which may have not been formally notified as slum under any act.
- iii. A compact area of at least 300 population or about 60-70 households of poorly built congested tenements, in unhygienic environment usually with inadequate infrastructure and lacking in proper sanitation and drinking water facility. Criteria of slum like household based on census 2011 house listing and census data:-
 - a. Predominant material of Roof of the house; Roof made of any material other than concrete. Concrete would include both RBC and RCC (Reinforced Cement Concrete)
 - b. Availability of drinking water source : source of drinking water not available within the premises.
 - c. Type of latrine : household not having latrine facility within the premises.
 - d. Type of drainage : household having no drainage facility.

According to STATE SLUM POLICY, 2010 in the context of Bihar, main characteristics of a slum are:

Essential Characteristics

1. High overall household density – at least 40 families per acre and predominately small plot/house; High occupancy rate, single-room houses, cohabitation by two or more families.

2. Quality of housing and location :
 - Building material: House built with non- permanent materials; in dilapidated condition.
 - Location: unsafe on account of inappropriate location i.e. along major roads, highways, railway lines, HT lines, prone to flooding, water-logging, housing around high industrial pollution areas and on or near a designated garbage dumping site.
3. Inadequate access to safe drinking water and improved sanitation.
 - Less than 50% households have access to safe drinking water supply.
 - Less than 50% families have individual toilet or access to a community toilet.
 - Less than 50% households having legal electric connection.

Additional Characteristics

1. Inadequate availability of settlement level infrastructure – street light, storm water drainage, garbage collection, and predominance of narrow and kutcha streets.
2. At least 60% of families living below the poverty line (as per the criteria of the state government)
3. Insecurity of tenure
4. Inadequate access to education and basic health care facilities.

Slum (Squatter Settlement) in Saharsa Municipal Area

Some of the worst slum in the world can be found in Indian cities. Due to the lack of infrastructure and planning in the cities. They are helpless of accommodating the increasing flow of migrants from the Rural areas.

In my study area, the perfect example of slum are not present in Saharsa municipal Area. It disperse like as squatter settlement along the region. A squatter settlement is a residential area which house developed without legal claims to the land and permission from the concerned authorities to build; as a result of their illegal or semi-legal status, infrastructure and services are useually inadequate.

Saharsa municipal area has 101 slums with 8410 households. It is estimated that 22% of town's population lives in slum. All slums are known as 'TOTAL'.

In this study area, wards wise distribution of slum (squatter settlement) is follows :-

Table 1: Total wards- 40, Total slum (squatter settlement) 101

No. of wards	No. of slum (Squatter settlement)	No. of wards	No. of slum (squatter settlement)
1	No	21	No
2	14	22	5

Contd...

No. of wards	No. of slum (Squatter settlement)	No. of wards	No. of slum (squatter settlement)
3	5	23	No
4	5	24	6
5	8	25	4
6	6	26	No
7	4	27	4
8	No	28	4
9	No	29	3
10	6	30	3
11	No	31	6
12	No	32	4
13	No	33	3
14	11	34	3
15	6	35	7
16	5	36	5
17	No	37	7
18	5	38	No
19	2	39	5
20	No	40	6

SLUM LOCATION – SAHARSA TOWN



Public Amenities in Slum

Urban centre offer many public amenities which attract people. Public Amenities include many services like accessibility, Communication, Health amenities, sewerage, drinking water, electricity etc. In recent year specially after globalization, maximum cities in India have grown in size and importance. with unabated population growth, unemployment, migration, slum have grown haphazardly in urban centre without any public amenities and planning.

Classification of Public Amenities

Urban centre offer many public amenities. like:

- i. Accessibility – Road, Railways, Airways.
- ii. Health Amenities – Hospital, Nursing Home, Primary Health centres, Ambulance facility.
- iii. Electricity supply and alternate means of electricity.
- iv. Sewerage (a) Strurm drainage (b) Solid drainage
- v. Drinking water
- vi. Communication
- vii. Educational Amenities.
- viii. Environmental Amenities – Garbage disposal, dust bin, clealiness drive, solid water management etc.

Condition of Primary Public Amenities in slum (squatter settlement) of Saharsa municipal area:

Slum needs lots of public amenities. but here, we will discuss primary amenities like:

Drinking water: Ground water is the main source of water in Saharsa Urban area. The town has 900 hand pump to supply water to about 98.4% of the population. Piped water supply covers a small part of the town – 1.56% - and coters to select offices in the collectorate and sadar Hospital. But in slum area, the condition of drinking water is very poor. Some wards like ward No. 2, ward No. 14, Ward No. 3, ward No. 5 etc are facing inferior condition of drinking water. Slum dwellers are sharing a tube well more than hundred person but some wards like ward No. 16, ward No. 32, ward No. 28 etc reported better position when compared to other wards.

Electricity Connection: Some words reported only small percentage of households not having electricity facility i.e. ward No. 5, ward No. 9, ward No. 1. These slum households are in a better condition. Some noted slum areas reported households with no electricity facility are : ward No. 39, ward No. 36, ward No. 22, ward No. 17, etc. maximum householders used illegal electricity connection. This shows that these slums are worse in case of accessibility to electricity.

Toilet facility: Toilet is the symbol of hygiene and sanitation in human life. It can be easily accessed by the number of toilet in slums and type of toilet

whether it is private or public. In this study area number of private toilets is very scanty, only few households reported private toilets. Most of them have community toilets shared by many households.

As Community toilets are shared by many households so in forms of hygiene it is not as good as the private toilets. Some households of this slum like ward no. 1, ward no. 4, ward no. 3 etc. has better Toilet facility in compare to other wards like ward no. 17, ward no. 12, ward no. 19 ward no. 29 etc. we can say that Toilet facility in this squatter settlement in very worst condition.

Sewerage and Sanitation: Saharsa town has no system for wastewater management. It is estimated that the town generated about 16.28 MLD sewerage. All wastewater including effluents from septic tanks are discharge into storm water drains that finally flow into 'river tilawe'. In slum of Saharsa Municipal Area maximum sewerage are open surface drains. Some of them covered and open surface drains both only few sewerage covered.

Road and Transportation: Saharsa town has 236 Km of roads including all major and internal road. The NH 107 traverses the town in an east to west direction and connects the town with other urban centres of the state. In slum areas maximum roads are kachha. Water logging is a very big problem of this squatter settlement.

Health Amenities: The Health amenities of the Saharsa municipal area is not in better condition. There is only one Government Hospital (Sadar Hospital) is located in the town it is a 207 bed facility. The health condition of slum dwellers are very poor. They are depend only on government hospital.

Education facilities: Saharsa Municipal area has 42 primary schools, 22 middle school and 6 high school. In slum area, education condition is not good. Maximum children are depend on government primary school and they do not received better education.

Conclusion

Finally, we conclude that, a large number of slum people are migrants; most of them belong to the lower socio-economic group and come from different part of the villages of the district. Most of places where slum dwellers live are unhygienic. The condition of basic amenities of this slum in worst condition. These slums are not only congested places, but also have open sewerage and take of drinking water, private toilets, electricity connection, sewerage, sanitation, Health emenities and education.

References

1. Registrar General, India, (2001), Analytical Report on Housing Amenities, Series 1, Census of India, Delhi.
2. Ratnaraj, D., (2001) "Fast Growing Cities, Spurt in Land Prices and Urban Slums: The Kerala Experience." IASSI Quarterly Vol 20, No. 2, Pages 123-133.

3. United Nation Human settlements Programme (UN-HABITAT), (2003), Slums of the World; The face of urban poverty in the new millennium/ Working Paper accessed on 18 May 2009.
4. Agrawal, S., A. Satyavada, S. Kaushik, and R. Kumar, (2007), "Urbanization, Urban Poverty and Health of the Urban Poor: Status, Challenges and the Way Forward" Demography India, Vol 36 No. 1, Pages 121-134.
5. Desai, A. R., and S.D. Pillai, (1970), Slums and Urbanization, Popular Prakashan, Bombay, pages, 149-152.
6. Ahmad, Enayat. 1965, A- Physical, Economic and Regional Geography. Catholic Press, Ranchi University, Ranchi, PP- 9-10.
7. Gallion. A.B. 1984. The Urban Pattern-City Planning and Design. 5th Ed. Von Hostrand Reinhold, 115 5th Avenue NY-10003, pp-93.
8. Pacione, Michael. 2010. Urban Geography – A Global Perspective (2nd ed.) Routledge, 270 Madison Ave, New york, NY 10016, PP – 26
9. Dkshit, J.K. 2011. The Urban Fringe of Indian Cities, Rawat Publication, Jawahar Nagar, Jaipur – 302004, PP – 55-56.
10. City development Plan. (2010-30) Saharsa, Ministry of urban development govt. of Bihar, Patna.
11. Report Ministry of Urban development, Govt. of Bihar, Patna.
12. Department of census, Govt. of India, Delhi.

Role of Media in Promoting Human Rights during J&K Assembly Election

A Study of 2008 & 2014 Assembly Elections

Praveen Kumar

Ph.D Scholar, Shri Venkateshwara University, Gajraula, Uttar Pradesh

Dr. Manoj Kumar Singh

Associate Professor, Vivekananda Institute of Professional Studies (G.G.S.I.P University, Delhi). Pitam Pura, New Delhi.

Dr. Devender Bhardwaj

Senior Journalist

Abstract

We often watch Human Rights debate on various news channels & read news and articles about Human Rights violations in Newspaper, news websites and some other places. We always blame media that media has sold their soul of actual, fruitful and public interest journalism. We always discuss that the issues related to lay man, people living in remote areas and villages are now being invisible in the media debates. We often discuss that sensible issues like human rights violation are missing in news these days. But the questions raises that is this the whole truth? Is media not covering even a single issue of human rights violations and issues related to lay man? The answer is that media is giving enough space for issues related to human rights, lay man time to time as per requirement. This is also truth that the space what should have given to human rights and other issues is not being given in the appropriate numbers. But it doesn't mean that media is totally ignoring these issues. This research paper will highlight the Role of Media in promoting human rights in Jammu & Kashmir during Election : A study of 2008 & 2014 Assembly election of J&K. This paper will help readers to know about the role of the Media in promoting human Rights during these two J&K assembly elections with few incident and examples. Apart from this, this research paper will help us to know the concept of human rights in respect of National and International Laws related to Human Rights.

Introduction

In this paper I have first tried to understand the meaning and relevance of media and society. In this I have tried to locate and contextualise media in society. Further then the definition and discussion on Human rights is done using the classic UN declaration of Human Rights and the UDHR of 1948. Further then the case of media and its role in society has been discussed with some examples of other states and then with Jammu Kashmir. The case of media and Jammu Kashmir has been tried to dealt with the perspective of UDHR 1948. Then after the discussion on Jammu Kashmir elections of 2008 & 2014 has been done which is followed by putting the case of media in this elections and then how it has played an important role in democracy. At end the linkages between media, democracy and Indian Army has been reflected.

Understanding Media and Society

Media is something which is so important in today's world that there is hardly any aspect of human society which it doesn't try to address. "The media's the most powerful entity on earth. They have the power to make the innocent guilty and to make the guilty innocent and that's power. Because they control the minds of the masses." Malcom X. (American black militant leader who articulated concepts of race pride and black nationalism in the early 1960's.)

Since the ancient days, various forms of media have been influencing the lives of people in one way or the other. Allocation of power decides the social relationships that exist in our society. This relationship binds a man or a woman with certain norms and customs, and to ensure that the person stays within the ascribed framework, various means of social control are introduced. To give a rigid shape to these means of social control, various institutions are formed such as family, marriage (informal institutions) and police etc. (formal institutions). Now in this modern world, another informal means which controls the behaviour of the people is media. Media has the agenda or goal of social change, and could easily change or maintain the societal norms and structure. But this has been always analysed that media covers the interest of some sections of the society. Media plays the role of mediator and facilitator for the elite and middle class people but generally denies the issues and the interests of subalterns or marginalized. It has the power of creating collective consciousness in the people's mind but the question which could be asked here is that who holds the power of media the powerful or the voiceless.

In this era of globalization, we are not away from the impact of advanced form of communication and technologies. The role of communication and media has become a part of larger debate about the process of social change and the nature of development itself. The internet had become one of the most important means of communication in today time, may it be access to knowledge, contact or to spread a movement. Although the access to internet is limited to a few groups in some countries it has a critical role to play in the spread of information. Media with its different forms have influenced the lives of people both at micro and macro level. Theory and research suggest that media could act as a positive change agent as well as a negative change agent in the society. Media is becoming more powerful, with its capacity of influencing people easily. We have to understand whether this change does any help to the people.

Levels of democratization and adherence to human rights vary widely across the region. Democracy and human rights has become important element in today's world especially in the post- cold war era. Now, more than ever before, we live in a global information era, and people throughout the world can easily get to know the various challenges and problems faced by different parts of the world. In this context, governmental and non-governmental organisations, international organisations and major players of the world should address these problems fairly and must come forward with solution.

What are Human Rights?

International Human Rights Law

The International Bill of Human Rights consists of the Universal Declaration of Human Rights, the International Covenant on Economic, Social, and Cultural Rights, and the International Covenant on Civil and Political Rights and its two Optional Protocols (UNHCHR). The first article of the Declaration outlines the basic assumptions of the Declaration: that the right to liberty and equality is a birthright and cannot be alienated and that man is different from other creatures on earth and entitled to certain special rights and freedoms. Article 1 says, "all human beings are born free and equal in dignity and rights. They are endowed

with reason and conscience and should act towards one another in a spirit of brotherhood "(UNHCHR).

Article 2 defines the basic principles of equality and non discrimination and it forbids "distinction of any kind, such as race, colour, sex, language, religion, political or other opinion, national or social origin, property, birth or other status". It also states that there are "no exceptional circumstances whatsoever, whether a state of war or a threat of war", thus making it virtually impossible for any defense of these actions to take place. Article 3 is a cornerstone of the Declaration because it proclaims the right to life, liberty, and security of person, which are essential rights needed for the enjoyment of all other rights. Article 3 also introduces Articles 4-21, which cover other political and civil rights, such as freedom from arbitrary arrest, freedom from torture, cruel, inhuman or degrading treatment or punishment, and freedom of opinion and expression, all of which have been broken at some point in Nepal's conflict. Nepal's participation in almost all aspects of the Declaration of Human Rights would lead one to believe that the country is committed to preventing and punishing actions that threaten the rights of the citizens. Yet, both the Maoist rebels and government forces have participated in a variety of activities such as arbitrary arrests, "disappearances", intimidation of the press, and judicial interference, all of which are not compliant with the standards set forth by the Declaration.

The concept of human rights came after the UDHR 1948. The UDHR has thirty articles and the part three and four of the Indian constitution covers these articles. The Indian preamble too mentions pillars of human rights like dignity, life, liberty, equality. All human rights are fundamental rights but all fundamental rights are not human rights. Human rights are for all but fundamental rights are nationality specific. 12th October 1993 the national human rights commission was established under the parliamentary act. Human rights includes three generation of right 1st generation is the civil and political rights, the second generation is the socio cultural rights and the third is the environment right.

Role of Media and Human Rights

Understanding the role that media plays in various social movement is crucial. Is it helps the spread of movements in various ways. This can be also used to understand with help of many social movements human rights are being protected and promoted. Be it the Narmada Bachao Andolan, Spreading awareness about RTI, making people more participative in political issues and many other aspects which are helped in society with help of media is somewhere also related to promotion and protection of human rights. One such effort was taken by the alternative for India development with the support of National Foundation for India. They produce a program called 'Chala Ho Gaon Mein' in the local language which made a fast impact on the people of Palamu district of Jharkhand. This project was a unique experiment in using media technologies for development of rural communities. This was designed as a community driven project, it takes on special significance in an economically derived area, marked by illiteracy and relatively different attitude of the state and mainstream media towards the problem of the region. In this programme, they used to discuss the problems of alcoholism, dowry, superstition, bribery, literacy and child marriage etc. The study has proved that some attitudinal changes have been seen in the lives of people in that village. But certain questions arise as to why certain issues such as roads, water, electricity, land problems of middle man were not covered here. Whether the organizer wanted to remain aloof from the political issues or they themselves had some political agenda behind helping the people. Though many such questions could be asked here, but the study has shown that changes have happened in the village such as suppressed local artists have come to fore, women caught up within the feudal social structures are beginning to find a voice of their own.

The Case of Jammu Kashmir

Taking the definition of Human rights from UDHR 1948 which includes three generation of rights, 1st generation is the civil and political rights, the second generation is the socio- cultural rights and the third is the environment rights. Media has been able to express and promote the these rights of people of Jammu Kashmir. Even though world thinks that India tries to suppress various human rights of people of Jammu Kashmir which is not true. Media with help of its extensive cover of programs newspapers, radio, television and the latest internet news media has always showed that people of Jammu Kashmir are always given their political and civil rights under the ambit of the constitution of India and their own constitution of Jammu Kashmir. The second group of rights which fall under the category of UDHR 1948 is the socio-cultural rights which people of Jammu Kashmir are always free to follow and practice. There is no restriction of faith and religion and no discrimination on the basis of religion and culture. The third category of rights being the environmental rights is rights related to environmental surroundings and settings in which people live. People of Jammu Kashmir are free to use under the ambit of rule and law the surrounding environment.

The Jammu & Kashmir Assembly Elections

2008

The 8th Jammu Kashmir assembly elected in 2002 was due to be over in 2008 and the elections were scheduled accordingly. But there was a one important political and religious factor which led to withdrawal of PDP support from the ruling INC government. The issue which made political rifts between these two parties was the case of land transfer to Amarnath shrine board. In mid of this issue becoming more visible and strong the INC government resigned on July, 2008 before its due date of its tenure and the state was brought under president's rule having the control of the central government. After sometime the election commission of India announced elections in the state which was called for boycott by the separatist outfits and leaders like All Parties Hurriyat Conference and Jamaat-e-Islami. But the hypocrisy of some of this separatist outfits like Jamaat-e-Islami was apparently visible when many of its supporters came to vote for the PDP in the elections. The elections took place in seven stages, 61 % polling in the state which has its own difficult problems of insurgency, militancy and cross-border problems reflects the faith and the trust of people in the power of democracy. In spite of the fact calls of boycott of elections and threats from militant organizations people came out in large numbers and voted.

<u>PARTY WISE SUMMARY</u>	
Jammu & Kashmir	
PARTY NAME	SEATS
Bharatiya Janata Party	11
Communist Party of India (Marxist)	1
Independent	4
Indian National Congress	17
Jammu & Kashmir Democratic Party Nationalist	1
Jammu & Kashmir National Conference	28
Jammu & Kashmir National Panthers Party	3
Jammu & Kashmir Peoples Democratic Party	21
People's Democratic Front	1

Source: Election Commission of India, 2008 Jammu Kashmir Assembly Elections

As we can see from the above figure from Election commission of India, Jammu Kashmir National Conference was the single largest party and obtained the majority of the seats (28). The second party was PDP followed by the Congress and BJP. This election also showed the seat increase of BJP also due to the fact of land transfer controversy related to Amarnath shrine board.

Regarding the security and the peaceful conduct of the elections the Election commission of India expressed major concerns. Separatist leaders and militant organizations had given a call for boycott of elections and there was a lot of issue created due to land transfer to Amarnath shrine board. It was also due to this reason the election was conducted in 7 phases which provided adequate security measures to be placed. It was also due to this thousand of security forces were deployed and stationed for the peaceful conduct of elections and countering any militant attacks hindering election process. Army, Jammu Kashmir Police and Central Police forces played an important role in providing security for elections. During the phase of election police was more active and which resulted in arrest of three militants of Jaish-e-Mohammed who were planning a suicide attacks in Jammu. There was also linkages with Pakistan army where one of the men arrested who earlier served Pakistan army.

After the final phase of elections were conducted, the counting and results were declared in some days. The National Conference party obtained largest chunk of the seats and was the single largest party. Farooq Abdullah being considering the need to provide a young leadership for the state made way for his son Omar Abdullah. After the results came there was also discussions between Congress and PDP where PDP proposed the Chief Ministerial candidate to the Congress party. But it was Sonia Gandhi and Manmohan Singh who favored the coalition with the largest party to respect the mandate of the elections. On 30 December, 2008 Congress and the National Conference agreed to form a coalition government, with Omar Abdullah as Chief Minister.

2014

The 2014 Jammu Kashmir assembly election was held in five phases from 25th November 2014 to December 20th, 2014. The elections took for 87 seat Jammu Kashmir legislative assembly. In some assembly seats voter verified paper audit trail along with EVMs was used. Among the key developments before the elections, the breaking of alliance between Congress and National Conference. The reason was weak position of National Conference and Congress will to contest from all assembly seats. This election also shows the resurgence of BJP, which few months earlier won a massive landslide victory in general elections for the Lok Sabha. It was also the rise of Modi and the 'Modi wave' which played a crucial role in Lok Sabha elections. With this reason and success story BJP heavily focused in winning and getting a clear mandate in Jammu Kashmir elections. Even though much of his effect didn't work in Kashmir valley but much of the Hindu votes and large portion of Jammu showed clear interest in BJP. This election also was important since it was this year only when Kashmir faced devastating floods which caused a lot of damage and destruction to the people of Jammu Kashmir more specifically the people of Kashmir valley. It was this flood which played a important role where people showed and expressed their anger and displeasure for the ruling National Conference which was largely unable to provide relief and help to the people badly affected with floods. This was one of the main reason which made BJP confident in getting a good mandate and winning maximum number of seats. This was due to the expected backlash against the incumbent Omar Abdullah government and its poor flood relief operation. The BJP winning 3 of the 6 Lok Sabha seats in Lok Sabha elections and due to above reasons coupled with Modi wave has managed to become the second largest party in the Jammu Kashmir Assembly. This

election also showed employment of double verification system for the voters using the 'paper trail' in three assembly seats.

The paper trail or voter-verified paper audit trail (VVPAT) is intended as an independent verification system for voting machines designed to allow voters to verify that their vote was cast correctly and rule out election fraud or malfunction of electronic voting machines (EVMs). The call for boycotting elections was given by separatist leaders and organizations like Hurriyat Conference and JKL. The final elections results were declared on December 23rd, 2014. Very recently the final round of settlement of discussions with PDP and BJP has been finalized and the government formation is taking place with Mufti Mohammad Sayeed of PDP being the Chief Minister of Jammu Kashmir. The final point of settlement and agreement has been upon the issues of AFSPA and Article 370. Where BJP has not agreed to withdraw AFSPA from Jammu Kashmir but to only have discussion and debate on its systematic or phased removal.

Role of Media in Jammu and Kashmir Assembly Elections

The case of Jammu Kashmir can be discussed with many examples where the media has helped to bring in the information and news of various stake holders to rest of India. Media has always tried to show the problems of people of the state. The problems faced by them due to insurgency and militancy. Media has helped people of Jammu-Kashmir to get connected with mainstream India and also has always shown and addressed the concerns of the people of Jammu Kashmir. It is media which should be credited for reporting the news of politics and democracy in the state. It is with help of media only people from different parts of the state get to know how people have participated in the elections and how political developments are taking place in Jammu-Kashmir.

As far as Jammu – Kashmir Legislative Assembly Elections of 2008 & 2014 are concern; Media continuously and positively made efforts to create confidence in J&K People towards Clean and Fair Electoral process, which was being done by Election Commission of India and also towards Indian Constitution, Indian Army and Paramilitary forces. Media is the key Player behind bumper Voting turnout in 2014 Assembly Election of Jammu-Kashmir. If we see comparatively, we shall get to know that on one side in 2008 assembly election, there was 61.16 % total Voting turnout, while on the other side, Voters of Jammu-Kashmir come out from their home in Large number to cast their vote and use their right to vote. Consequently, the voting turnout in 2014 Assembly election reach out to approximately 65.23 %. This was not possible without Media and their coverage. Another important thing in 2014 J&K assembly election is that J&K Chief Electoral Office launched special Registration Camps for Kashmiri Migrants to get registered themselves as Voter of Jammu-Kashmir. The Concern People, who became voter later on, get to know this special camp through different medium of Media. Because of these camps around one thousand Kashmiri Migrants got themselves registered as voter of Jammu-Kashmir. While number of this kind of new electoral was less during 2008 J&K legislative assembly election. Here Media played an important role to protect Kashmiri Migrants political rights. After knowing these facts, do we still think that Media dint play an important role in promotion of Human Rights in Jammu-Kashmir?

As we see currently the deal for Jammu-Kashmir government formation has been finalised and there is an alliance formation between PDP and BJP, this alliance holds crucial linkages between role of Media and how its important in the state politics. It was the role of electronic media which covered the entire devastation of floods in Kashmir. It is with help of media the whole world comes to know that democratic rights of the people of Jammu Kashmir is not

repressed and it is media which helps in a great extent to bring out the democratic aspirations of people in the state.

Recently on 01st march 2015, the day when Leader of Jammu-Kashmir Peoples Democratic Party Mr, Mufti Mohammad Sayeed sworn-in as chief Minister of Jammu-Kashmir gave an statement that the 2014 state assembly election was successfully conducted because separatist, terrorist and others provide a conducive atmosphere. This statement was taken as against the Nation and Constitution of India by Indian media and various political parties also. Media present this issue as a burning issue throughout the country. This was the only reason that political parties and theirs had to take this issue seriously. Opposition raised this issue and parliament on 2nd March and demanded for Prime Minister statement on this issue.

During both the elections of 2008 and 2014 media be it print and electronic covered the entire gamut of elections. Taking the concerns of fear and life risks still media people manage to report election news throughout the election process. Without the help of media whole world and rest of India will never get to know how are things happening in Jammu Kashmir and even defying the fear of militants organisations people come out in large numbers to vote.

Another important thing which media has successfully been able to show is the double standard and hypocrisy of separatist leaders and organisations. Organisations like JKLF and Hurriyat Conference at one hand call for elections boycott but on the other hand they come in support of PDP. Their supporters in large numbers come and vote for PDP in elections. It because of true nature of reporting related to this type of organisations. Media has been able to show their real face and intentions. Media has also played one another important role by showing to the world that how people of Jammu Kashmir still have good faith and trust in democracy and still believe in the power of vote.

In both the elections it was with help of media many of hidden agendas, double standards and false arguments of separatist leaders, Pakistan's propaganda and intentions of militant organisations was never been able to materialise. In both the elections Pakistan though willing to interfere in elections and disrupting the elections could do much as the people of Jammu Kashmir showed more interest in elections and voting then in boycotting the polls. Separatist leaders though always talking for the cause and issue of Kashmiri people never tried to address and bring the issue of Kashmiri pundits in their discussion.

Media, Democracy and Indian Army

When we talk these two elections of 2008 and 2014 in Jammu Kashmir and the role played by media then we should not sideline the fact that there is crucial linkage between media, democracy and the role of Indian Army in the state of Jammu Kashmir. Indian Government from the time of its intervention in Jammu Kashmir in 1947 till 2015 has been one single force which has never tried to repress and crush the democratic rights of the people of Jammu Kashmir. It with help of Indian Army many of hindrances and interruptions in elections in both 2008 and 2014 was thwarted and election were conducted successfully. It is the essential linkage between Indian Army and its positive role in promotion of political and democratic rights and non-interference in socio-cultural rights has earned Indian Army one of the most respected and decorated Army of the world and also one among the best in track records of not interfering with political and democratic process. In both the assembly elections of 2008 and 2014 there was call for boycott and threats for not allowing the elections to take place. But then it was one of the main reasons because of the presence of Indian Army in the valley such calls for boycott never materialises and the role of army becomes evident.

Conclusion

In concluding remarks I would just like to highlight the key points which I have discussed in this paper. How to understand media and society in today's time and how to contextualise it. To understand the role of media in Jammu Kashmir it becomes necessary to first understand the media and society. Then the framework of UDHR has been taken to further discuss many of the points and arguments related to media, democracy and the role of Indian Army with respect to Jammu Kashmir assembly elections of 2008 and 2014.

References

- United Nations Universal Declaration of Human Rights 1948, United Nations (UN)
<http://www.supremecourt.ge/files/upload-file/pdf/act3.pdf>
http://en.wikipedia.org/wiki/Jammu_and_Kashmir_Legislative_Assembly
http://en.wikipedia.org/wiki/Jammu_and_Kashmir_Legislative_Assembly_election,_2008
<http://archive.indianexpress.com/news/despite-boycott-call-jamaat-cadres-come-out-in-support-of-pdp/401699/>
<http://www.iht.com/articles/ap/2008/12/24/asia/AS-Kashmir-Elections.php>
http://news.bbc.co.uk/2/hi/south_asia/7798556.stm
<http://www.thehindu.com/todays-paper/tp-national/article1404758.ece>
<http://www.rediff.com/news/2008/oct/19jk.htm>
<http://timesofindia.indiatimes.com/india/BJP-fields-more-Muslim-candidates-in-JK-to-shrug-off-communal-tag/articleshow/45178103.cms?>
http://en.wikipedia.org/wiki/Jammu_and_Kashmir_Legislative_Assembly_election,_2014
http://zeenews.india.com/news/india/ec-announces-five-phased-polls-in-jk-jharkhand-counting-on-december-23_1489504.html
<http://jammu.greaterkashmir.com/news/2015/Jan/29/npp-to-challenge-validity-of-jk-assembly-polls-in-sc-35.asp>
<http://www.dailypioneer.com/todays-newspaper/5-phase-polls-in-jandk-jkhand-from-nov-25.html>
<http://www.kashmirobservers.net/news/opinion/kashmir-elections-our-pm-without-real-dialogue>
<http://www.thehindu.com/elections/assembly2014/jammu-and-kashmir-records-historic-polling-percentage-ec/article6711311.ece?ref=sliderNews>
<http://timesofindia.indiatimes.com/home/specials/2014-assembly-elections/jammu-kashmir-news/JK-assembly-polls-Voters-defy-separatists-election-boycott-call-71-28-turnout-in-first-phase/articleshow/45273423.cms>
<http://m.timesofindia.com/home/specials/2014-assembly-elections/jammu-kashmir-news/Omar-Abdullah-resigns-as-JK-CM-says-onus-of-govt-formation-on-PDP-BJP/articleshow/45627940.cms>
Deibert, Ronald, Rohozinski, Rafal, "Liberation Vs. Control, The future of Cyberspace", *Journal of Democracy*, Volume 21, Number 4, pp. 43-57, 2010.
William N. Eskridge, Jr., "Some Effects of Identity-Based Social Movements on Constitutional Law in the Twentieth Century", *Michigan Law Review*, Vol. 100, No. 8, pp. 2062-2407, 2002.
Asato, Noriko, "The Origins of the Freedom to Read Foundation: Public Librarians' Campaign to Establish a Legal Defense against Library Censorship", *Public Library Quarterly*, 30:4, 286-306, 2011.
Seth F. Kreimer "Technologies of Protest: Insurgent Social Movements and the First Amendment in the Era of the Internet", *University of Pennsylvania Law Review*, Vol. 150, No. 1, pp. 119-171, 2001.
William N. Eskridge, Jr., "Channeling: Identity-Based Social Movements and Public Law", *University of Pennsylvania Law Review*, Vol. 150, No. 1, pp. 419-525, 2001
Hamburger, Philip, "The New Censorship: Institutional Review Boards", *The Supreme Court Review*, Vol. 2004, pp. 271-354, 2004.
Howard, Philip N., Agarwal, Sheetal D, Hussain, Muzammil M, "When Do States Disconnect Their Digital Networks? Regime Responses to the Political Uses of Social Media", *The Communication Review*, 14:3, 216-232, 2011.
Statistical Report on General Election, 2008 to the Legislative Assembly of Jammu & Kashmir, Election Commission of India, New Delhi.
<http://www.ndtv.com/cheat-sheet/mufti-sayeed-takes-oath-as-chief-minister-of-jammu-and-kashmir-743375?pfrom=home-lateststories>
<http://www.dnaindia.com/india/report-militants-try-to-derail-democracy-in-jammu-and-kashmir-multiple-attacks-kill-20-including-11-security-men-2041271>